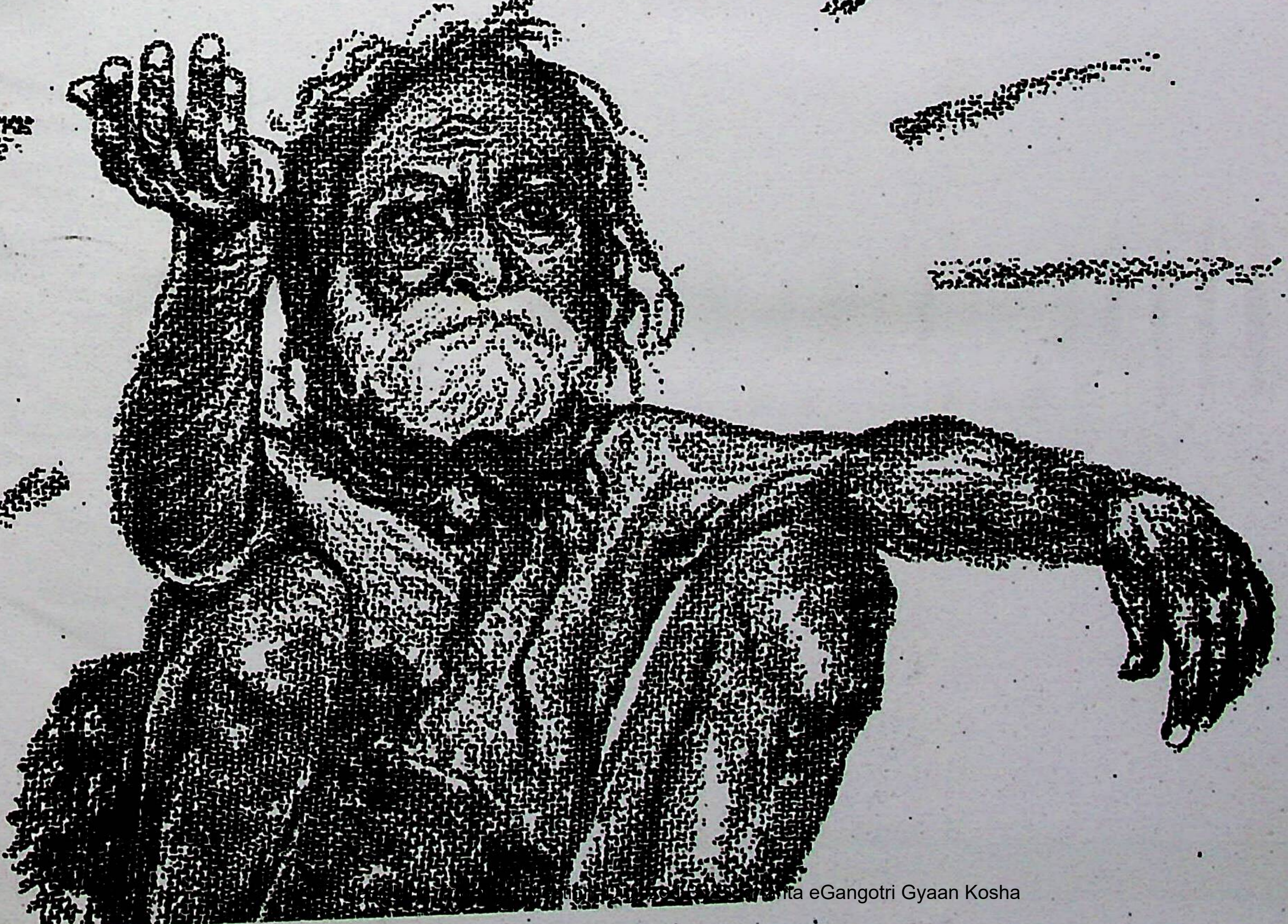
श्री देवराहा दिव्य दर्शन

G.I.



ब्रह्मर्षि योगिराज अध्यात्म तत्त्ववेत्ता

श्री देवराहा
दिव्य दर्शन



ब्रह्मर्षि योगिराज अध्यात्म तत्ववेत्ता

श्री देवराहा
दिव्य दर्शन

[जीवनमुक्त सहज संत, ज्ञान के आगार और अनुभूति के रत्नाकर की दिव्य वाणी]





श्री देवराहा दिव्य दर्शन

प्रकाशक :

श्री द्वारकाधीश मंदिर धर्मार्थ ट्रस्ट

अस्सीघाट, वाराणसी (उ०प्र०)

मूल्यः

कृपा प्रसाद



प्रस्तावना

पूज्य देवराहा बाबा भारत के महान् संत हैं। उनकी महिमा अपार है। उनका वर्णन करना किसी के लिए सम्भव नहीं है। उनके मानवीय गुण इतने अनन्त हैं कि उनके आकलन की कल्पना नहीं की जा सकती। यदि तीनों लोक के सभी प्राणी पूज्य बाबा के गुणों की गणना का कार्य आरम्भ करें और गणना करने वाले प्राणियों के आयु-जीवन की समाप्ति कभी न हो और गणित अपनी अन्तिम सीमा की परिधि को पार कर जाय तो भी बाबा के गुण निःशेष नहीं हो सकते।

गुणों की अनन्तता बराबर बनी रहेगी। शिव महिम्न स्तोत्र के रचयिता पुष्पदन्त के शब्दों में यह कहा जा सकता है—

असितगिरि समं स्यात् कज्जलं सिन्धुपात्रे,
सुरतरुवरशाखा लेखनीपत्रमुर्वी।
लिखति यदि गृहीत्वा शारदा सर्वकालं,
तदपि तवगुणानामीश पारं न याति॥

समुद्र की दवात में हिमालय पहाड़ के बराबर मसि घोली जाय, महान् देववृक्ष की विशाल शाखा को कलम बनाया जाय और समूची पृथ्वी को कागज बना लिया जाय और स्वयं सरस्वती उनके गुणों का समूचे कालावधि में उल्लेख करें तो भी गुणों का अन्त नहीं हो सकता। ऐसी स्थिति में बाबा के गुणों की महिमा, उनकी यौगिक उपलब्धियों के सम्बन्ध में तथा उनके व्यापक एवं वृहत्तम स्वरूप के सम्बन्ध में कुछ कहने, सुनने, लिखने का प्रयास करना, विडम्बना मात्र है। किन्तु यह होने पर भी मनुष्य मानता नहीं। अपनी पहुँच के अनुसार इन बातों के लिये प्रयत्न करता ही है।

भगवान् को, जगतपिता परमेश्वर को सम्पूर्ण रूप से कौन जान सकता है? किसी ऋषि, मुनि, ब्रह्मर्षि में क्या ऐसी क्षमता है जिससे उनकी प्रभुता, महत्ता, विशालता तथा अनन्तरूपता का वर्णन हो सके, फिर भी लोगों ने अपनी पहुँच के अनुसार बहुत कुछ कहा है, ग्रन्थ लिखे हैं, शास्त्रोक्त विवेचनाएँ की हैं। जब अपौरुषेय अथवा परमेश्वर की प्रत्यक्ष वाणी वेद, 'नेति नेति' मात्र ही उस सच्चिदानन्द, सकल प्रपंचाधिष्ठान परब्रह्म परमात्मा के बारे में कह पाते हैं तो फिर दूसरा कोई उनके बारे में क्या कह सकता है। यह जानते हुए भी मनुष्य भगवान् के बारे में कुछ-न-कुछ कहकर अपने मन, वचन और कर्म को पवित्र करना चाहता है।

ठीक यही बात पूज्य बाबा के सम्बन्ध में भी घटित होती है। इतना तो सम्भव ही है कि उनके विषय में जिसको जो कुछ जानकारी है, वह उसे प्रकट करे। इसका फल यह होगा कि मनुष्य बाबा के बारे में जिन बातों को स्वयं नहीं जान सका है, उन्हें जान सकेगा और दूसरों को स्वयं अर्जित अपनी जानकारी का लाभ दे सकेगा।

इस दृष्टि से बाबा के कुछ भक्तों ने 'श्री देवराहा सत्संग समिति' की स्थापना की और उसके माध्यम से 'श्री देवराहा दिव्य दर्शन' नामक एक ग्रन्थ प्रकाशित करने का निश्चय किया। तदनुसार भिन्न-भिन्न भक्तों से बाबा के सम्बन्ध में सामग्री का संग्रह किया गया जिससे बाबा के विभिन्न रूपों के सम्बन्ध में कुछ परिचय प्राप्त हो सकता है।

प्रस्तावित ग्रंथ के प्रकाशन से पूर्व यह आवश्यक था कि इस सम्बन्ध में बाबा की सम्मति प्राप्त की जाय और उनकी सम्मति उपलब्ध हो जाय तो उसके लिए उनसे आवश्यक निर्देश भी प्राप्त किये जायं। यह इसलिए आवश्यक था कि पूज्य श्री देवराहा बाबा स्वरूपावस्थित सिद्ध योगी हैं और ऐसे योगी स्वभावतः लोकैषणा, यश की कामना से दूर रहने के कारण, अपने सम्बन्ध में ऐसे कार्यों को पसन्द नहीं करते। अनेक बार ऐसा देखा गया है कि जब बाबा की सिद्धियों और उनके विस्तृत व्यापक ज्ञान एवं उदात्त चरित्र के विषय में, कोई चर्चा होने लगती है तो वे तत्काल उसे रोक देते हैं और राम नाम जपने और भगवान् का कीर्तन करने का आदेश देते हैं। वे बहुधा कहते हैं—'मनुष्य को मन, वाणी और बुद्धि जो भगवान् की कृपा से प्राप्त हुई है उसका उपयोग किसी मनुष्य की प्रशंसा में नहीं करना चाहिए। किंतु जिस परमात्मा ने मनुष्य को यह सब साधन दे रखे हैं उनके गुणानुवाद, उनकी कीर्ति, कीर्तन तथा उनकी चारित्रिक चर्चा में उपयोग करना चाहिए।' अतः समिति के सदस्यों को यह भय था कि उनकी सम्मति प्राप्त किये बिना यदि यह कार्य किया जायगा तो पूज्य बाबा को अरुचिकर होगा और वे हम सभी से रुष्ट हो जायंगे। इसी दृष्टि से समिति के सदस्यों ने पूज्य बाबा के देवरिया जिले में लार रोड स्टेशन से कुछ दूरी पर पतित पावनी सरयू के पवित्र तट स्थित तपोभूमि में उनका दर्शन किया और विनीत शब्दों में उक्त ग्रन्थ के प्रकाशन की अनुमति देने की प्रार्थना की। पूज्य बाबा सदस्यों की प्रार्थना सुनकर कुछ देर मौन रहे। सदस्य अपनी प्रार्थना की अस्वीकृति की आशंका से उद्विग्न हो रहे थे किन्तु बाबा ने अपना मौन भंग कर सहज-स्नेहमयी वाणी में आदेश दिया—'तुम लोगों की कामना है और इस कार्य से तुम्हें लोककल्याण की आशा है तो इस कार्य को कर सकते हो।'

आदेश के साथ ही बाबा ने कई बहुमूल्य निर्देश भी प्रदान किये। एक निर्देश उनका यह था कि इस कार्य के लिए जो समिति बनी है, उसका अध्यक्ष किसी मनुष्य को, चाहे वह बड़ा विद्वान् हो, देश का प्रतिष्ठित नेता हो अथवा संत-महात्मा ही क्यों न हो, न बनाया जाय और साथ ही इस प्रस्तावित ग्रंथ के ऊपर सम्पादक के रूप में किसी के नाम का उल्लेख भी न हो। बाबा ने इस निर्देश का कारण भी स्वयं बताया। उनका कहना था कि यदि अध्यक्ष या

सम्पादक के रूप में किसी का नाम अंकित होगा तो उसमें दो दोष हो सकते हैं—एक तो यह कि कुछ लोगों को अध्यक्ष और सम्पादक के रूप में मनोनीत किये गये व्यक्तियों के प्रति असन्तोष हो सकता है। इस कार्य से उनका विशेष सम्मान मानकर उनके प्रति कुछ लोगों के मन में ईर्ष्या हो सकती है। इसके साथ ही यह भी सम्भव है कि जिन्हें अध्यक्ष अथवा सम्पादक बनाया जायगा, उन्हें अपने मन में अपने वैशिष्ट्य की धारणा भी उत्पन्न हो सकती है, जो मिथ्या अहंकार का ही एक रूप है। बाबा ने कहा—'मनुष्य स्वभावत: ऐसे संस्कारों से आवृत्त होता है और संसार के कार्यक्षेत्र में रहते समय उनमें ऐसे भावों का उदय बहुधा देखा भी जाता है। किसी सर्वसमानदर्शी निस्पृह योगी के लिए यह उचित नहीं है कि उससे सम्बन्धित किसी कार्य से लोगों के मन में ऐसा भ्रम उत्पन्न हो कि अमुक लोग बाबा के अत्यन्त निकटवर्ती हैं और अन्य लोग दूरस्थ हैं। जब बाबा से यह निवेदन किया गया कि ऐसे कार्यों के संचालनार्थ किसी को अध्यक्ष बनाना लोकमान्यता के अनुसार आवश्यक होता है एवं प्रकाशन के लिए प्रस्तावित ग्रंथ के सम्बन्ध में लोगों की आदर भावना के परिरक्षण हेतु किसी विशिष्ट विद्वान् को अथवा किसी भी प्रतिष्ठाप्राप्त व्यक्ति को सम्पादक बनाना आवश्यक होता है। अत: पूज्य बाबा अपनी ओर से किसी व्यक्ति को एतदर्थ मनोनीत कर देने की कृपा करें। तब बाबा ने कहा—मेरी दृष्टि से यह बहुत आवश्यक नहीं है किन्तु फिर भी तुम लोग ऐसा सोचते हो तो किसी वनस्पति को, जैसे पीपल या वटवृक्ष को, इस कार्य के लिए मनोनीत कर लो क्योंकि जो परमात्मज्योति देवताओं और मनुष्यों में है, वही पशु-पक्षी, कीट-पतंग तथा वनस्पतियों में भी है। बाबा ने कहा—'**तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्**' इस शास्त्र वचन पर विश्वास रखना चाहिए। इसका आशय यह है कि भगवान् ने जब सृष्टि की रचना की तब वे सृष्टि के सम्पूर्ण पदार्थों में स्वयं अनुप्रविष्ट हो गये। यहाँ तुम लोगों के मन में सहज रूप से शंका उठ सकती है—संसार में कहीं भी ऐसा नहीं देखा जाता कि जो जिसकी रचना करता हो, वह स्वयं भी उसमें प्रविष्ट हो जाय। संसार में बड़े-बड़े मकान बनते हैं, मशीनें बनती हैं किन्तु किसी में भी उनके निर्माताओं का प्रवेश होना नहीं देखा जाता। बाबा ने इस शंका का स्वयं ही समाधान करते हुए कहा—यद्यपि स्थूल रूप से यह देखने को नहीं मिलता कि रचना करने वाले का अपनी रचित वस्तुओं में प्रवेश भी हो किन्तु विवेकदृष्टि से देखने पर यह बात अनायास हृदयंगम हो सकती है। रचना में रचयिता के प्रवेश का यह अर्थ नहीं है कि वह अपने शरीर से अपने द्वारा रचित वस्तुओं में प्रवेश करता है, किन्तु यह नितान्त सत्य है कि वह संकल्पात्मना अवश्य ही अपनी रचनाओं में प्रवेश करता है। कहने का आशय यह है कि मनुष्य जब किसी वस्तु का निर्माण करता है तब उसकी यह आकांक्षा होती है, संकल्प होता है कि हमारे द्वारा निर्मित वस्तु चिरकाल तक स्थायी हो और इससे लोकहित का सम्पादन हो। निश्चय ही यह संकल्प, वस्तु की स्थिरता और लोकोपयोगिता में सहायक होता है क्योंकि रचयिता के मन में जब इस प्रकार का संकल्प उदित होता है, तब वह बड़ी लगन, बड़ी तत्परता और निष्ठा से वस्तु की सुदृढ़ और लोकहितकारिणी रचना करता है। इस कथन से सृष्टि के सभी पदार्थों में परमेश्वर के प्रवेश का रहस्य समझा जा सकता है। परमेश्वर ने जगत् की रचना की तो इसी प्रकार के संकल्प के रूप में उनका उसमें प्रवेश हुआ और परमेश्वर के इस संकल्पात्मना प्रवेश से ही जगत् व्यवस्थित रूप से अपने स्वरूप में अवस्थित है। अन्यत्र भी कहा गया है—'**यो लोकत्रयमाविष्य विभरत्यव्यय ईश्वरः**' देश के महान् तार्किक शिरोमणि श्री रघुनाथ ने भी '**ॐ नमः सर्वभूतानि विष्टभ्य परितिष्ठते अखण्डानन्दवोधाय पूर्णाय परमात्मने**' कहकर परमात्मा को समग्रभूतों का धारक बताया है तो फिर जब वनस्पतियों में भी परमात्मा का सन्निवेश है, उनमें भी ईश्वरीय चेतना का अंश विद्यमान है एवं मनुष्यों के समान उनमें भी प्राणशक्ति का स्पन्दन निर्विवाद है तो फिर उन्हीं में से किसी को अध्यक्ष एवं सम्पादक के रूप में वरण करने में क्या बाधा है? बाबा ने कहा—'मेरे विचार से तो उनका वरण करने में केवल बाधा का अभाव ही नहीं है, किन्तु उसी में औचित्य भी है क्योंकि उन्हें यह पद देने से न तो किसी के मन में ईर्ष्या होगी और न उन्हें अपने वैशिष्ट्य के बोध रूप में अहंकार ही होगा।'

उपरोक्त निर्देशों के अतिरिक्त पूज्य बाबा ने यह भी निर्देश दिया—'ग्रन्थ के प्रकाशन में किसी से चन्दा आदि के रूप में धन की माँग न की जाय' और न ग्रन्थ का कोई मूल्य ही रखा जाय और उसके साथ ही यह भी व्यवस्था हो कि इस ग्रन्थ के लिए जो भी मनुष्य अपने विचार भेजें उनके लेखक के रूप में उनका नाम न प्रकाशित किया जाय। इन निर्देशों के अतिरिक्त बाबा ने बड़ी दृढ़ता से यह भी निर्देश दिया कि ग्रन्थ में उनकी सिद्धियों तथा किसी प्रकार के चमत्कार, उनके देश-काल, जन्म, सम्प्रदाय आदि का उल्लेख न किया जाय। पूज्य बाबा ने यह भी अवश्य पालनीय निर्देश के रूप में प्रदान किया कि पूरे ग्रंथ में किसी भी संदर्भ में कोई ऐसी बात न आये जो विवाद का विषय हो अथवा जिसमें मतभेद हो। शास्त्रीय सिद्धान्तों के मतभेद की चर्चा अवश्य आ सकती है किन्तु वह चर्चा समन्वयपरक होनी चाहिए। ग्रंथ में किसी मत का खण्डन करके अन्य मत की स्थापना का प्रयास न होना चाहिए। ग्रन्थ में वर्तमान युग की राजनीति द्वारा उद्भावित भाषा, प्रान्त, दल, जातिवाद आदि की भी कोई गंध न होनी चाहिये। इन सब निर्देशों को ध्यान में रखते हुए यदि यह कार्य किया जा सके तो तुम लोग इसे प्रकाशित कर सकते हो।'

समिति के सदस्यों ने पूज्य बाबा के निर्देशों के अनुसार ही ग्रंथ के प्रकाशन की प्रतिज्ञा की और उनसे आशीर्वाद माँगा जिससे इन

निर्देशों के पालन में किसी प्रकार का प्रमाद न हो और जनता में त्याग, सेवाभाव, भगवद्भक्ति और आध्यात्मिकता के जागरण हेतु ग्रंथ का समुचित रूप में प्रकाशन हो सके।

यह बताते हुए प्रसन्नता हो रही है और पूज्य बाबा के आशीर्वाद की शक्ति पर प्रथमतः विद्यमान आस्था और भी बलवती हो रही है कि यह ग्रंथ उनके अमोघ आशीर्वाद से मुद्रित एवं प्रकाशित होकर भक्तजनों के समक्ष प्रस्तुत होने जा रहा है।

इस ग्रन्थ में कुल पाँच खण्ड हैं—**अर्चना, ब्रह्म एवं योग दर्शन, आचार-व्यवहार दर्शन, भक्ति-दर्शन एवं प्रकीर्णक।** प्रथम खण्ड '**अर्चना**' में पूज्य बाबा की वन्दना और स्तुति के संस्कृत एवं हिन्दी पद्यों का संकलन है जिनमें पूज्य बाबा की महिमा के संबंध में भक्तजनों की धारणाओं और मनोभावों का वर्णन है। इस खण्ड से बाबा के अलौकिक एवं दिव्य रूप की झाँकी मिलती है और भागवती विभूति के रूप में एवं भगवान् के अवतार के रूप में उनका स्वरूपावबोध होता है। इस खण्ड में ऐसी कई रचनाएँ हैं जिनमें उनके योगीश्वरत्व का, उनकी अपार दयाशीलता का और उनकी जनमन को भगवद् उन्मुख बना देने की दिव्य शक्ति का परिचय होता है। यह ऐसा खण्ड है जिसके अध्ययन से मनुष्यों का हृदय बाबा की ओर तत्काल आकृष्ट हो सकेगा और उनके चरणों में पहुँचने, उनके उपदेशामृत सुनकर अपने जीवन का परिष्कार और उन्नयन करने की आकुलता मनुष्य में बरबस उत्पन्न होगी। इस प्रकार यह खण्ड अत्यन्त उपयोगी एवं महत्वपूर्ण है।

दूसरे खण्ड, '**ब्रह्म एवं योग-दर्शन**' में जैसा कि उसके नाम से ही विदित होता है, ब्रह्म एवं योग का विस्तृत विवेचन हुआ है और यह समग्र विवेचन पूज्य बाबा के समय-समय पर दिये गये ब्रह्मोपदेशों और योगोपदेशों पर आधारित है। जो लोग बाबा के दर्शन के लिए उनके निकट जाते हैं और जिन्हें उनके चरणों में बैठने और उनके वचनामृत पान करने का अवसर मिला है वे जानते हैं कि बाबा कितनी सरल भाषा और कितनी सुन्दर रीति से वेद शास्त्र के गूढ़तम तत्त्वों का उपदेश देते हैं और शास्त्र के कठिनातिकठिन रहस्यों को कितनी सुगमता से श्रोताओं के मन में उतार देते हैं। ब्रह्म और योग भारतीय वाङ्मय के अत्यन्त महत्वपूर्ण विषय हैं। ब्रह्म उस तत्व को कहा गया है जो अद्वय चैतन्य रूप में स्वयं प्रकाशवान् है, सारे जगत् का प्रकाशक है, जिसकी सत्ता शाश्वत है और जिसका स्वरूप विशुद्ध आनन्द है। वही सारे दृश्य प्रपंच का मूल कारण है और उसी के अधिष्ठान में सम्पूर्ण चराचर जगत् का विकास हुआ है। वही सारे सृष्टि की रचना, स्थिति और लय का आधारभूत कर्ता है। क्योंकि श्रुति ने '**यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, एन जातानि बिवन्तु यत प्रयन्त्यानि संविशन्ति तद् विजिज्ञासस्य**' कहकर उसी का बोध प्राप्त करने के लिए मनुष्य को प्रेरित किया है। भागवतकार ने उस तत्व को बड़े सुन्दर शब्दों में श्रीमद्भागवत में प्रस्तुत किया है—

वदन्ति तत् तत्वविदो तत्वम् यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥

जगत् का मूल कारण ब्रह्म, प्रस्तुत खण्ड में वर्णित हुआ है और उसका वर्णन इस कारण किया गया है कि इस तत्व का साक्षात्कार करने में ही मानव जन्म की कृतार्थता है। मनुष्य इसलिए नहीं पैदा हुआ है कि वह संसार में भोग्य वस्तुओं के संग्रह में और उनके भोगों में आसक्त रहकर ही अपना बहुमूल्य जीवन नष्ट कर डाले अपितु उसका जन्म इसलिए हुआ है कि वह शास्त्रों, आचार्यों, मुनियों एवं संत-महात्माओं के सम्पर्क से जगत् के मूल तत्व सच्चिदानन्द, परब्रह्म, परमात्मा का परिचय प्राप्त करे श्रवण, मनन, निदिध्यासन और शास्त्रों में वर्णित नवधा भक्तियों का आश्रय लेकर उसका साक्षात्कार करे और अपनी सम्पूर्ण सीमाओं और संकीर्णताओं का विलय कर भगवन्मय हो जाय। पूज्य बाबा मानव जन्म के इस उद्देश्य को समझते हैं, अतः संसार के विषयों में, सांसारिक भोग एवं लौकिक पद, प्रतिष्ठा की लिप्सा में डूबे हुए मानव को उबारने के लिए उसे इस तत्त्व का उपदेश करते रहते हैं। ब्रह्म के निरूपण के सन्दर्भ में उन सभी शास्त्रीय वचनों का उल्लेख इस खण्ड में किया गया है जिन्हें पूज्य बाबा अपने ब्रह्मोपदेश में उद्धृत करते रहते हैं। उद्धृत वचन श्रुतियों, स्मृतियों, दर्शन-ग्रन्थों और संत-महात्माओं के उपदेशों से सम्बद्ध हैं।

पूज्य बाबा स्वयं महान् योगी हैं। योगाभ्यास से उन्होंने ब्रह्म का साक्षात्कार कर ब्रह्मनिष्ठता अर्जित कर ली है। मनुष्य अपने मन को संसार में नितान्त निमग्न हो जाने से कैसे बचा सकता है और कैसे अपने ब्रह्मात्मक स्वरूप के चिन्तन में उसे स्थायी रूप से लगा सकता है, यह उन्हें भली-भाँति विदित है। उन्होंने यह अपने अनुभव द्वारा निश्चित रूप से जान लिया है कि उसका एकमात्र उपाय योगाभ्यास ही है। अतएव पूज्य बाबा अपने भक्तों को ब्रह्म का उपदेश करते समय योग का भी उपदेश करते रहते हैं क्योंकि योग से ही ब्रह्म का दर्शन प्राप्त किया जा सकता है। प्रस्तुत खण्ड में योग का विस्तार से विवेचन हुआ है और उसके अभ्यास की विधियाँ बतायी गई हैं। महर्षि पतञ्जलि ने '**योगः चित्तवृत्तिनिरोधः**' कहकर यह प्रतिपादित किया है कि चित्त की बाह्यवृत्तियों का, संसार के विषयों की ओर से चित्त की भाग-दौड़ की प्रवृत्तियों को रोकना ही योग है। श्रीमद्भगवद्गीता में भी कहा गया है—

यतो यतो निश्चरति मनश्चंचलमस्थिरम्
ततस्ततो नियम्यैतद् आत्मन्येव वशमनयेत्।

इसका आशय यह है कि चंचल और अस्थिर मन, संसार में जिस किसी भी दिशा में जाय वहाँ से तत्काल उसे लौटाने का प्रयत्न किया जाय और अपने आत्मस्वरूप में उसे लगाया जाय। पूज्य बाबा महर्षि पतञ्जलि और गीताकार दोनों ही के कथन को

सामान्य मानव के लिए कष्टसाध्य समझते हैं। वे सोचते हैं कि मनुष्य अनन्त जन्मों से सांसारिक विषयों को भोगता आया है। संसार के सम्बन्ध में उसके अनन्त संस्कार हैं जो अनन्त जन्मों से उसके मन में अपना पैर जमा चुके हैं, अतः मनुष्य के लिए यह सहसा संभव नहीं है कि वह अपने चित्त की संसारोन्मुख वृत्ति का निरोध कर सके। उसे आत्मस्वरूप का अवबोध भी नहीं है जिससे वह संसार की ओर से अपना चित्त हटाकर आत्मस्वरूप में लगा सके। अतः पूज्य बाबा अपने भक्तों को यह उपदेश देते हैं कि उनका मन संसार की जिस वस्तु को पसंद करे, जिस ओर उसका ज्यादा झुकाव हो, उसी में वे उसे स्थिर करने का अभ्यास करें, क्योंकि मन की पहली बुराई है उसकी चंचलता, उसकी अस्थिरता। अपनी इस बुराई के कारण ही मन मनुष्य को संसार में इतस्ततः भटकाता रहता है। अतः इसे दूर करना मनुष्य का पहला कर्तव्य है। उचित तो यह है कि मन को कोई श्रेष्ठ आलम्बन जैसे—देव, गुरु अथवा वीतराग योगी, प्रदान किया जाय किन्तु संसारी मनुष्य का मन संसार की ओर ही दौड़ता है, उन श्रेष्ठ अवलम्बनों की ओर उसका आकर्षण स्वभावतः नहीं होता। श्री बाबा के अनुसार इस सम्बन्ध में मन के साथ बलात्कार नहीं किया जाना चाहिये वरन् मन संसार की जिस वस्तु को पकड़ता है उसी में उसे स्थिर किया जाना चाहिए। इसका फल यह होगा कि जब मन को किसी स्थान में स्थिर होने की आदत बन जायगी तो फिर वह उस वस्तु को सहसा त्याग देगा जिसकी नश्वरता का उसे बोध हो जायगा। उससे जब वह हटेगा तो वह अवश्य ही किसी ऐसी वस्तु को आलम्बन बनायेगा जो नश्वर न हो किन्तु जिसमें स्थायित्व हो, सौन्दर्य हो एवं शिवत्व हो। प्रथमतः मन सत्यं शिवं सुन्दरं को पकड़ लेगा। स्थिर रहने की उसकी आदत बन जाने के कारण वह उस वस्तु में चिर प्रतिष्ठित हो जायगा। चित्त को स्थिर करने और परमात्मा में लगाने की बाबा द्वारा बतायी गयी यह विधि पूर्णतः मनोवैज्ञानिक है और इस रीति से लाखों मनुष्यों ने लाभ उठाया है। इस खण्ड को ऐसे ढंग से प्रस्तुत किया गया है जिससे ब्रह्म और योग का केवल शाब्दिक परोक्ष ज्ञान ही न होगा अपितु योग का आश्रय लेकर ब्रह्म दर्शन की ओर उन्मुख होने की मनुष्य को निश्चित रूप से प्रेरणा भी प्राप्त होगी।

तीसरा खण्ड **'आचार-व्यवहार दर्शन'** है। उसमें आचार और व्यवहार का विशद वर्णन हुआ है। आचार और व्यवहार के सम्बन्ध में समय-समय पर पूज्य बाबा ने जो बातें कही हैं, जिन शास्त्रीय वचनों अथवा संत वचनों को उद्धृत किया है उन सबका उल्लेख करते हुए इस खण्ड में आचार-व्यवहार का वर्णन किया गया है। पूज्य बाबा के ये सर्वसाधारण के कल्याणार्थ परमावश्यक उपदेश हैं कि मनुष्य को सर्वप्रथम आचारनिष्ठ और व्यवहार कुशल होना चाहिये। **'आचारः प्रथमो धर्मः'** और **'आचारप्रभवो धर्मः'** इन दो मान्यताओं का बाबा की दृष्टि में अत्यधिक महत्व है। पहली मान्यता के अनुसार आचार पहला धर्म है, उस धर्म का पालन जो मनुष्य नहीं करता वह किसी अन्य धर्म का अधिकारी नहीं हो सकता। आचार का अर्थ है क्रिया। वह क्रियां जो शास्त्र और लोक उभयानुमोदित हो। जिस क्रिया के जिन कर्मों की शास्त्र में त्याज्यता न बताई गयी हो और लोक में जिनकी निन्दा न हो, ऐसी क्रिया और ऐसे ही कर्म को आचार कहा जाता है। यह व्यक्ति और समाज का धारक होने से धर्म है। जो मनुष्य आचारहीन होता है उसे पवित्र करने की विधि बताने में वेद भी मौन हैं—**'आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः'**। आचार पालन के लिये पूज्य बाबा अपने भक्तों को सदैव प्रेरणा देते हैं और आचारवान् को बड़े स्नेह और आदर से आश्रय देते हैं। पूज्य बाबा अपने उपदेशों में निरन्तर यह कहा करते हैं—आचार का बोध और आचार में मनुष्य की प्रवृत्ति वेद और शास्त्रों से होती है। आचार की शिक्षा देने के लिए ही वेद और शास्त्रों का आविर्भाव हुआ है। जिस कर्म से मनुष्य के इष्ट की सिद्धि हो और किसी बलवान् अनिष्ट होने की सम्भावना न हो, वही आचार होता है और ऐसे ही कर्म में मनुष्य की प्रवृत्ति होती है। निश्चय ही किसी कर्म के किए जाने के पहले मनुष्य को यह ज्ञान हो कि अमुक कर्म से मनुष्य का इष्ट होगा और इससे कोई बलवान् अनिष्ट नहीं होगा संभव नहीं है। कर्म हो जाने के बाद, उससे इष्ट की सिद्धि हो जाने पर और किसी बलवान् अनिष्ट के न होने पर मनुष्य को यह ज्ञान हो सकता है कि अमुक कर्म उसके इष्ट का साधक है। स्पष्ट है कि कर्म में लगने के पूर्व मनुष्य को स्वतः यह ज्ञान नहीं हो सकता, यह ज्ञान तो वेद और शास्त्र से ही संभव है। यही कारण है जिससे भगवद्गीता में श्रीकृष्ण ने अर्जुन से स्पष्ट कहा है—

'तस्मात् शास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्य व्यवस्थितौ।

क्या कार्य है, क्या अकार्य है, क्या आचार है, क्या अनाचार है, किस कार्य से मनुष्य को बचना चाहिए और किस कार्य में मनुष्य को लगना चाहिए इस बात को जानने का एकमात्र उपाय वेद और शास्त्र ही हैं। पूज्य बाबा वेद-शास्त्रों की इस महत्ता का मुक्त कंठ से प्रतिपादन करते हैं और तदनुरूप ही वे मनुष्य को कर्मनिष्ठ होने की प्रेरणा प्रदान करते हैं। पूज्य बाबा ऐसा कहते हुए उन आधुनिक आलोचकों की चर्चा करते हैं जो वेद-शास्त्रों को मनुष्य के लिए अनावश्यक बन्धन समझते हैं और प्रगति एवं उन्नति में बाधक मानते हैं। पूज्य बाबा का कहना है कि वेद-शास्त्रों के सम्बन्ध में इस प्रकार के विचार रखने वालों को प्रेम से समझाने का प्रयत्न किया जाना चाहिए कि वेद-शास्त्रों से दूर रहने के कारण ही वे इस प्रकार की आलोचना करते हैं। अतः वेद-शास्त्रों का निष्ठापूर्वक अध्ययन और वेद-शास्त्र के विद्वानों से उनके मन्तव्यों के विषय में विचार-विमर्श करना चाहिए। निश्चय ही ऐसा करने पर वेद-शास्त्रों के विषय में उनके विचारों में परिवर्तन होगा। वेद और शास्त्र भारतीय सनातन मान्यता के अनुसार परमेश्वर की किंवा त्रिकालदर्शी सर्वज्ञ महर्षियों की पवित्र वाणी हैं। उनमें समग्र देश और काल के अनुकूल मनुष्य के विकास और अभ्युदय के उपाय बताये गये हैं। आधुनिक समाज

जैसे मार्ग की खोज में है वैसा मार्ग भी अन्वेषण करने पर शास्त्रों में उपलब्ध हो सकता है। आवश्यकता केवल इस बात की है कि इस मार्ग को मनमाने ढंग से ग्रहण न कर शास्त्र निर्दिष्ट व्यवस्थित दृष्टि से उसका ग्रहण किया जाय।

आचार यहाँ मुख्य रूप से व्यक्तिनिष्ठ है एवं व्यवहार समाजनिष्ठ है। आचार के लिए व्यक्ति को किसी अन्य के सहयोग की अपेक्षा अनिवार्य रूप से नहीं है किन्तु व्यवहार के लिए अन्य व्यक्ति का होना अनिवार्य है। व्यवहार मुख्यत: भाषा और क्रिया के माध्यम से होता है। भाषा का प्रयोग अपने लिये नहीं दूसरों के लिए होता है। मनुष्य अपने विचारों को भाषा के माध्यम से दूसरों के पास सम्प्रेषित करता है, किन्तु कभी ऐसा भी होता है जब वह भाषा के माध्यम की अपेक्षा क्रिया के माध्यम को अधिक उपादेय समझता है और अपने विचारों के अनुसार ऐसी क्रियायें करता है जिन्हें देखकर दूसरे मनुष्य उसके विचारों को समझ सकते हैं। मनुष्य की व्यवहार कुशलता इस बात में है कि वह ऐसी नपी-तुली मधुर भाषा का प्रयोग करे जिससे किसी को किसी प्रकार का उद्वेग न हो और उसके मनोभावों की जानकारी हो जाय। क्रिया भी उसकी वैसी होनी चाहिए जो देखने में दूसरे को अप्रिय न लगे और जिससे दूसरों के हित का किंचित् भी विरोध न हो।

मनुस्मृति याज्ञवल्क्य आदि ग्रन्थों में आचाराध्याय और व्यवहाराध्याय के नाम से ऐसे दो विस्तृत प्रकरण हैं जिनमें आचार और व्यवहार का विस्तृत वर्णन किया गया है। कुलाचार, देशाचार, व्यक्तिगत आचार, मनुष्य की विभिन्न अवस्थाओं के आचार, स्त्री-पुरुष के आचार, ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि वर्णों के आचार, ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यास आश्रमों के आचार, सन्त-महात्माओं के आचार आदि का विशद निरूपण है। व्यवहाराध्याय में विभिन्न प्रकार के व्यवहारों का विस्तृत निरूपण है। प्रजा और राजा का व्यवहार लोक संस्था तथा राष्ट्र की दृढ़ता एवं समृद्धि का आधार है, उसका विशद वर्णन इस अध्याय में किया गया है। प्रस्तुत खण्ड में आचार और व्यवहार का जो विवेचन संकलित किया गया है, वह मनुष्य को मानवता के प्रथम सोपान पर पग जमाने में सहायक है। इस खण्ड के अध्ययन से मनुष्य को अपने आचार-व्यवहार को परिमार्जित करने की प्रेरणा मिलेगी और वह आचार-व्यवहार के माध्यम से अपने चित्त का परिष्कार कर राष्ट्रसेवा, आध्यात्मिकता और भगवद्भक्ति की ओर उन्मुख हो सकेगा।

चौथा खण्ड **'भक्ति-दर्शन'** है। इसमें पूज्य बाबा के उपदेशों के आधार पर भक्ति की व्याख्या की गयी है। भक्ति का स्वरूप, उसके साध्य-साधन रूप में विभाग आदि का स्पष्ट और मनोरम वर्णन है। पूज्य बाबा मुख्य रूप से भक्ति को भगवत् सेवा के रूप में व्याख्यायित करते हैं और भगवत् सेवा वेद-शास्त्रों के आदेश के पालन से अथवा जन-सेवा से साध्य मानते हैं। पूज्य बाबा का कहना है कि भक्ति शब्द भज् धातु से क्तिन् प्रत्यय द्वारा निष्पन्न हुआ है। क्तिन् प्रत्यय भावार्थक होने से किसी अतिरिक्त अर्थ का बोधक नहीं है किन्तु प्रकृतिभूत भज् धातु के अर्थ का ही स्वरूप बोधक है। भज् धातु का पाणिनीय धातु पाठ के अनुसार सेवा अर्थ है जैसा कि **'भज सेवायां'** इस वचन से स्पष्ट है। सेवा का अर्थ है प्रत्यनुकूल व्यापार। वह क्रिया जिससे सेव्य की प्रीति हो, उसे सुख मिले ही उसकी सेवा है। निश्चय ही किसी व्यक्ति के हाथ पैर दबाने, उसके कपड़े आदि धोने, उसे खाद्य, पेय देने आदि की अपेक्षा उसका कहना मानने से उसे अधिक सुख मिलता है। किसी मनुष्य के साथ उक्त सारी क्रियायें की जायं किन्तु उसका कहना न माना जाय तो उन क्रियाओं से वह सुखी या प्रसन्न नहीं हो सकता। कहना मानने में सारी क्रियायें समाहित हो जाती हैं। अत: स्पष्ट है कि किसी की आज्ञा का पालन करना ही उसकी वास्तविक सेवा है। भगवान् का कहना है कि **'श्रुति-स्मृति ममैव आज्ञे'** वेद और धर्मशास्त्र भगवान् के ही आज्ञा वचन हैं, अत: उन्हें मानना, उनमें निषिद्ध कार्यों का परित्याग और विहित कार्यों का अनुष्ठान करना ही वास्तव में भगवान् की सेवा है। सेवा की इस परिभाषा के अनुसार विभिन्न वैष्णव सम्प्रदायों में प्रचलित भक्ति की सारी विधायें समाविष्ट हो जाती हैं। इस खण्ड में कतिपय भक्तों के चरित्र का संकेत करते हुए और विभिन्न वैष्णव सम्प्रदाओं का निर्देश करते हुए भक्ति की व्याख्या की गयी है। निश्चित ही उससे मानव मन भक्ति के रसास्वादन करने को परिव्याकुल हो उठेगा और वह केवल संसारोन्मुख न होकर भगवद् उन्मुख भी होगा।

पाँचवाँ खण्ड **'प्रकीर्णक'** है। इसमें कई उपखण्ड हैं—जैसे दिव्य-दर्शन के विशिष्ट प्रकरण, अमृतोपदेश, अमृतसूक्ति संचयन और बोध कथायें। इन उपखण्डों के नामानुसार इनमें पूज्य बाबा के दिव्य-दर्शन के कतिपय विशिष्ट प्रकरणों का उल्लेख है। उन प्रकरणों के अध्ययन से पूज्य बाबा के दर्शन की दिव्यता, उनकी यौगिक महाशक्ति और उनकी अपार करुणा और असंकीर्ण महामानवता किंवा उनके महापुरुषत्व का परिज्ञान होगा।

अमृतोपदेश उपखण्ड में बाबा के उन उपदेशों का संकलन जो उनके द्वारा लार रोड, प्रयाग, वृन्दावन, हरिद्वार, देहरादून, काशी आदि स्थानों पर दिये गये हैं, ये वास्तव में अमृत हैं। अमृत शब्द 'नय' और 'मृत' शब्दों के योग से बना समस्त पद है। मृत शब्द 'मृ' धातु भाव में क्त प्रत्यय द्वारा निष्पन्न होता है जिसका अर्थ है मृत्यु। 'अ' व्याकरण के नियमानुसार 'नय' का परिवर्तित रूप है, उसका अर्थ है विरोधी। इस प्रकार अमृत शब्द का अर्थ है मृत्यु विरोधी। इस उपखण्ड में बाबा के जिन उपदेशों का समावेश हुआ है, वे वस्तुत: मृत्यु विरोधी हैं। उपदेशों को जीवन में उतार कर मनुष्य मृत्यु पर विजय प्राप्त कर सकता है। मृत्यु पर विजय पुनर्जन्म के परिहार से ही हो सकता है क्योंकि जन्म होने पर तो **'जातस्य ही ध्रुवो मृत्युः'**। भगवान् श्रीकृष्ण के अनुसार मृत्यु होना आवश्यक है।

अतः मृत्यु तभी रुकेगी जब मनुष्य का पुनर्जन्म बन्द हो और यह भगवत्तत्त्व के साक्षात्कार और भगवद्भक्ति से ही संभव है। यह उपखण्ड इन दोनों की प्राप्ति की दिशा में निर्विवाद रूप से प्रेरक है।

तीसरा उपखण्ड **अमृत सूक्ति संचयन** है। इसमें ऐसी अनेक सूक्तियों का संकलन है जिनमें कुछ बाबा की अपनी हैं, कुछ शास्त्रों, पुराणों, आगम ग्रन्थों एवं योग तंत्र की हैं, तथा कुछ अन्य सन्त महात्माओं की हैं। इन सारी सूक्तियों में जो बातें उपदिष्ट हैं वह सब अमृत स्वरूप हैं एवं उनके अध्ययन और उनके अनुसार जीवन के परिष्कार से मनुष्य को अमृतत्व की निश्चित प्राप्ति हो सकती है।

चतुर्थ उपखण्ड में बाबा की **बोध कथायें** हैं। इस उपखण्ड में ऐसी बोध कथाओं का संग्रह है जिन्हें बाबा ने समय-समय पर सुनाने की कृपा की है। उन कथाओं में सन्त महात्माओं एवं सत्जनों के चरित्र का वर्णन है जो अतीव बोधप्रद हैं तथा जिनसे आचार-व्यवहार, धर्म, भक्ति आदि का रहस्य बोध होतां है। ये कहानियाँ सूक्ति और विधि-निषेधात्मक वाक्यों की अपेक्षा मनुष्य के हृदय पर अधिक प्रभाव डालती हैं और उसके जीवन की गतिविधियों के परिवर्तन और संशोधन में सहायक हैं। इस खण्ड के अध्ययन से मनुष्य को विशिष्ट बोध की प्राप्ति होगी और उसे चारित्रिक प्रेरणा मिलेगी।

इस ग्रन्थ में पूज्य बाबा के विभिन्न स्थानों की विभिन्न भाव मुद्राओं के चित्रों का भी समावेश किया गया है जिससे भक्त हृदय पर उनके दर्शन की अनिर्वचनीय अनुभूति होगी।

प्रस्तुत ग्रंथ के संबंध में जो कुछ संक्षिप्त बातें इस प्रस्तावना में कही गयी हैं, उनसे निश्चय ही पूज्य बाबा के विराट् स्वरूप का अध्येताओं को किंचित् आभास प्राप्त होगा जो पूज्य बाबा के श्री चरणों की ओर अध्येता को आकृष्ट भी करेगा और उनके उपदेशों को जीवन में उतारने में सहायक भी होगा। पूज्य बाबा चेतना, आनन्द और सत्ता के मूर्तरूप हैं। उनका शरीर पूर्ण चिन्मय और आनन्दमय है। जो मनुष्य शुद्ध हृदय से उनके निकट जाता है और श्रद्धापूर्वक उनका दर्शन करता है, उसके हृदय में एक दिव्य-ज्योति की किरण चमक उठती है और उसका मन नये संस्कार से परिमण्डित-सा हो उठता है। वह पूज्य बाबा के प्रत्येक शब्द को वेद के रूप में श्रद्धावनत् होकर ग्रहण करता है और ऐसा लगता है कि बाबा के शब्द साधारण शब्द नहीं हैं अपितु ऐसे दिव्य अंजन हैं जिनसे उनकी आँखों की ज्योति बढ़ जाती है। उसके मन की शक्ति वर्धित होती है और उसके मस्तिष्क की धारणाशक्ति बलवती हो जाती है। भक्त के ऊपर पूज्य बाबा की दृष्टि पड़ते ही उनके मुखारविन्द से 'कहाँ से आये हो बच्चा', 'क्या नाम है', 'क्या करते हो' यह शब्द सुनते ही उसे अपनी अन्तरात्मा में एक दिव्य शक्ति के अवतरण का अनुभव होने लगता है। प्रस्तुत ग्रन्थ इसी उद्देश्य से तैयार किया गया है कि जो व्यक्ति बाबा के सम्पर्क में आ गये हैं, वे इसके द्वारा बाबा के दर्शनों एवं उपदेशों से प्राप्त अपनी शक्ति का संवर्धन करें और जो अब तक बाबा के पास नहीं पहुँच पाये हैं, वे इस ग्रन्थ के माध्यम से पूज्य बाबा की दिव्य शक्ति और उनकी अमृत वाणी का परिचय प्राप्त कर उनके चरणों में पहुँचने और वचनामृतों से अपने जीवन को धन्य और चरितार्थ करने का प्रयत्न करें।

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चित् दुःखभागभवेत्॥

-भक्तगण

लार रोड आश्रम
मंगलवार, ११ दिसम्बर '८४





श्री देवराहा बाबा



'जड़ चेतन गुण दोषमय बिस्व कीन्ह करतार
संत हंस गुण गहहिं पय परिहरि बारि विकार'

—भावविभोर श्री बाबा

अनुक्रमणिका

विषय	पृष्ठ-संख्या

विषय	पृष्ठ-संख्या

विषय	पृष्ठ-संख्या

विषय	पृष्ठ-संख्या

दिव्य-दर्शन के कुछ विशिष्ट प्रकरण

अर्चना

(प्रथम खण्ड)



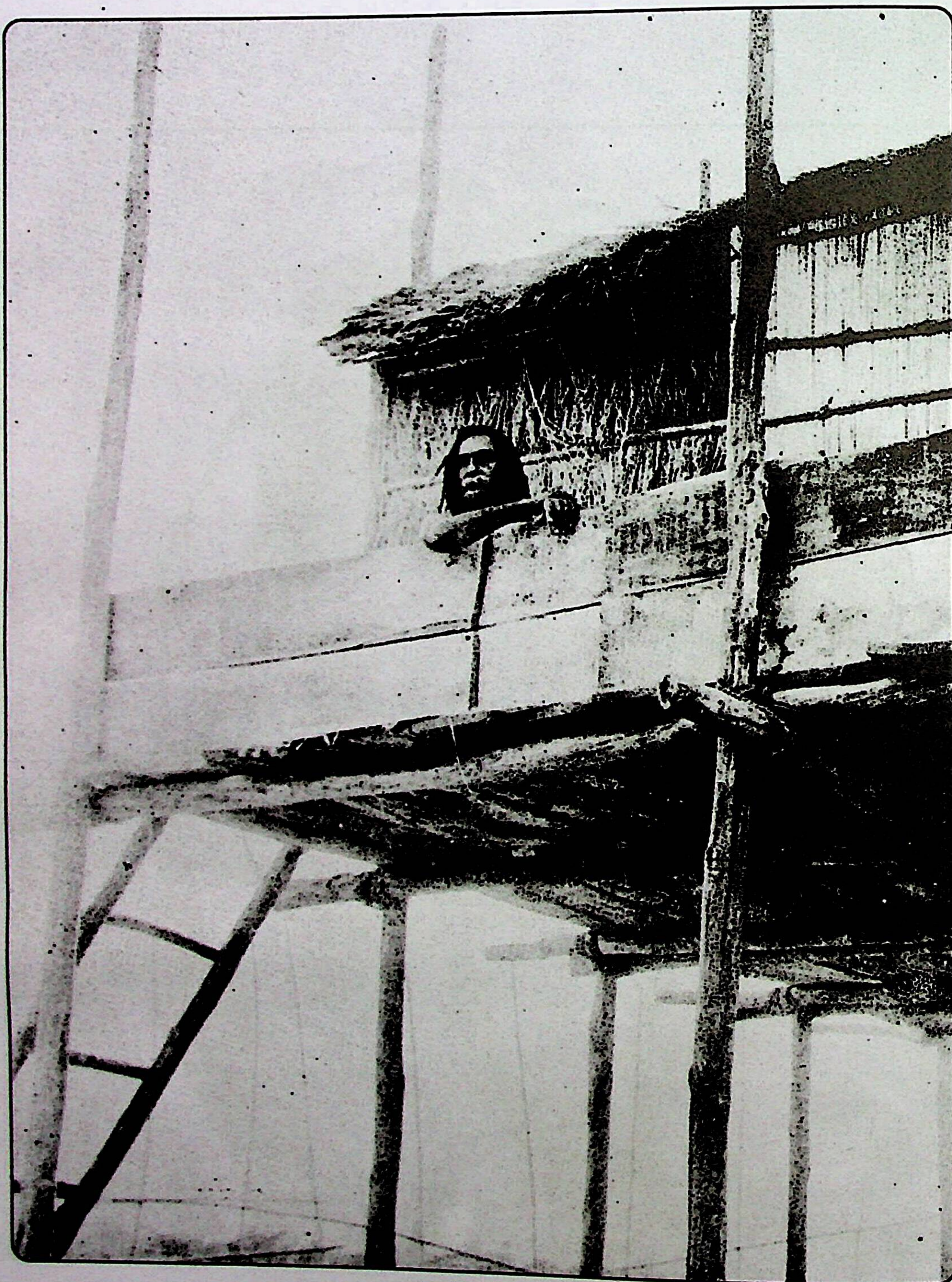
अर्चना वन्दना दिव्या लोककल्याणहेतवे।
श्री देवरहवा योगी वर्चस्यास्तु निरन्तरम्॥

'लोक कल्याण के निमित्त योगिवर श्री देवराहा बाबा की दिव्य अर्चना और वन्दना निरन्तर होती रहे।'





श्री बाबा-लहर में



मंचासीन श्री बाबा

अर्चना

१. ब्रह्मर्षि योगिराज देवराहा स्तुति शतकम्

नमोऽस्मदाचार्यपरम्पराभ्यो
नमो नमो भागवत व्रजेभ्यः।
नमो नमोऽनन्तपुरस्सरेभ्यो
नमः श्रियै श्रीपतये नमोऽस्तु॥

हमारी आचार्य परम्परा तथा समस्त भगवद् भक्तों को हमारा नमस्कार हो। भगवान् शेष नाग से लेकर भगवती श्री जी तथा श्रीपति नारायण को भी हमारा बारम्बार नमस्कार हो।

नमोऽस्तु देववन्दितांघ्रिपङ्कजाय योगिने,
पुनर्वियोगिने प्रपञ्चपङ्कदोषदर्शिने।
सदा नमांसि सन्तु तत्परागरेणुराशये,
सुवासिताय शोभनाय रोचनाय चेतसे ॥१॥

देवताओं के द्वारा भी जिनके चरणारविन्द वन्दनीय हैं, जो संसार के दोषों को जानते हुए उससे पृथक् रहते हैं उन्हें हमारा नमस्कार हो। पुनः उनके चरणों की रज को जो कि सुगन्धित, सुन्दर तथा रुचिकर है हमारा बारम्बार नमस्कार हो॥ १॥

अनेकजन्मपुण्यपुञ्जसञ्चयेन साम्प्रतम्,
अहो सुलब्धमुत्तमं यदद्य सत्फलं ध्रुवम्।
गुरोर्मया कृतं हि दर्शनं महत्सुदुर्लभम्,
समस्तपापतापनाशकं सुशान्तिदायकम् ॥२॥

आज अनेक जन्मों के पुण्य पुञ्जों के सञ्चित हो जाने के कारण ही मुझे गुरुवर के पवित्र तथा अत्यन्त दुर्लभ दर्शन प्राप्त हुए हैं, जिनसे मेरे सारे पापों और तापों का नाश हो गया है तथा परम शान्ति की प्राप्ति हुई है॥ २॥

सुमञ्चपीठराजितास्ति कापि मूर्तिरुत्तमा,
दयाक्षमादिपूरितातिवत्सला सुपेशला।
न चोपमास्ति क्वापि कापि शक्यते च कल्पितुम्,
सदाप्यसीमवर्षिणी सदैव दक्षिणाकृतिः ॥३॥

मैं देख रहा हूँ कि सुन्दर मञ्च पर एक सर्वोत्तम देवमूर्ति विराजमान है जो दया-क्षमा से परिपूर्ण अत्यन्त वत्सल तथा कोमल स्वभाव से परिपूर्ण है तथा कोई भी कहीं भी इसकी उपमा नहीं मिल रही है और न कल्पना तक भी की जा सकती है। यह असीम दया की वृष्टि करने वाली सदा ही अनुकूलता प्रदान करने वाली देवप्रतिमा है॥ ३॥

यदैव तन्मुखोत्थिता सुधाधरी विधायिनी,
श्रुता भवेद्धि वत्स वत्स पावनी गिरा क्वचित्।
तदैव देहगेहसंस्मृतिं विहाय यां गतिम्,
प्रयाति सास्ति दुर्लभा न वर्णने क्षमा तथा ॥४॥

दर्शनोपरान्त जबकि उनके मुखारविन्द से अमृत से भी मीठी 'बच्चा! बच्चा!' की पवित्र ध्वनि होती है तो उसी समय मनुष्य अपने तन-मन की सुधि भूल कर जिस अद्भुत आनन्द का अनुभव करता है, वह अत्यन्त ही दुर्लभ है तथा किसी भी प्रकार उसका वर्णन हो ही नहीं सकता॥ ४॥

कदापि धन्यतां प्रयाति देववन्दिता धुनी,
यदा हि योगिवर्य्यदर्शनोत्थसौख्यमण्डिता।
भगीरथोऽपि तान्तदा विभाव्य भावभूषितः,
स्वकं महत्कृतं तपः फलान्वितं विभाव्यते ॥५॥

जब कभी यह योगिराज गंगा तट पर विराजमान होते हैं तो भगवती गंगा जी भी अपने आपको धन्य मानती हैं और योगिराज बाबा के दर्शनों से परम सुख का अनुभव करती हैं। ऐसी अवस्था में महाराज भगीरथ गंगाजी को सुखी देखकर परम प्रसन्न हो उठते हैं और अपनी महती तपस्या को सफल मानने लगते हैं॥ ५॥

क्वचिद्धि तीर्थराजनाम सार्थकं कृतं मतम्,
प्रयागराजनायकोऽपि याति धन्यतां मुहुः।
महर्षियोगिवृन्दवन्दितांघ्रिपंकजो मुनिः,
यदा हि दृक्पथं प्रयाति तस्य योगिराडयम् ॥६॥

इसी प्रकार जब कभी यह यतिवर तीर्थराज प्रयाग में पहुँचते हैं, तो यह तीर्थराज प्रयाग अपने तीर्थराज नाम को सफल मानते हैं; और अपने को धन्य मानते हैं। क्योंकि महर्षियों-योगियों के द्वारा भी जिनका वन्दन किया जाता है, उनके दर्शनों का प्रत्यक्ष लाभ उन्हें प्राप्त होता है॥ ६॥

मुनीन्द्रसिद्धदेवमण्डली मुदान्विता मुहुः,
प्रसून पुञ्जवर्षिणी प्रहर्षिणी दिविस्थिता।
विलोक्य योगिवर्य्यसिद्धिमीदृशीमलौकिकीम्,
स्वयं शिरःप्रकम्पिनी प्रजायते पुनः पुनः ॥७॥

आकाश में विराजमान मुनिजन सिद्ध और देवता आनन्दविभोर होकर पुष्पों की वृष्टि करने लगते हैं। जब वे लोग इन महान् योगिराज की अलौकिक सिद्धि के दर्शन करते हैं तो झूम-झूमकर प्रशंसा करने लगते हैं॥ ७॥

न देहबन्धनं कदापि गेहजापि संस्मृतिः,
न लौकिकी कथा कदापि कर्णगोचरा क्वचित्।
सदेव जन्म पावना हरेजपस्य सद्ध्वनिः,
दहन्त्यघौघमद्भुतं कलेर्गतिञ्च शाश्वतीम् ॥८॥

श्री महाराज के दर्शनों में मानव को न तो अपने देह-गेह की ही सुधि रहती है और न संसार की दूषित कथा ही सुनने को मिलती है। एक सुंदर जन्म को सफल बनाने वाली हरिनाम की ध्वनि ही सुनाई पड़ती है जो कि पाप-पुञ्ज को जलाकर कलियुग की शक्ति गति को भी जला डालती है॥ ८॥

जना महान्ति पातकानि जन्मनाद्य बिभ्रति,
न चात्मनि न चेश्वरे न चापि धर्मवत्मनि।
मतिर्दृढ़ा हि दृश्यतेऽथ शान्तिसौख्यदायिनी,
अहो तथापि दर्शनेन ते भजन्ति सन्मतिम् ॥९॥

आज मनुष्यों में जन्म से लेकर पापमयी वृत्ति दिखाई देती है। अतः वे अपने आत्मा-परमात्मा तथा धर्ममार्ग से विमुख होकर सुखदायिनी बुद्धि से वंचित हो गए हैं। परंतु ऐसी अवस्था में भी परम-पवित्र योगिराज के दर्शनों से उनकी बुद्धि सुधर जाती है॥ ९॥

प्रकाममस्तु दर्शनेन गुप्तपापक्षालनम्,
तथापि बुद्धिसंस्थितं न चाशु नाशमेति हि।
गुरोर्गिरं निशम्य तत्तमः प्रणाशमाप्नुयात्,
सुनिर्मला मतिस्तथा समस्तदोषवर्जिता ॥ १०॥

यद्यपि श्री बाबा के दर्शन मात्र से ही पाप भाग जाते हैं; परन्तु फिर भी बुद्धि में विद्यमान पाप शीघ्र नष्ट नहीं हो पाता है। श्री महाराज की वाणी से जब उपदेशामृत होता है तो वह भी शीघ्र नष्ट हो जाता है। बुद्धि सब दोषों से रहित, परम पवित्र हो जाती है॥ १०॥

अतो व्रजन्ति ये जना हि तीर्थराज संगमे,
ध्रुवं समाश्रयन्ति तेऽपि योगिराजसन्निधिम्।
विनैव योगिदर्शनं न पूर्णतां प्रयाति तत्,
इतीव निश्चितं मतं मिथो जनैर्विभाव्यते ॥ ११॥

श्री महाराज के दर्शनों के इस प्रकार अद्भुत प्रभाव के कारण जो लोग तीर्थराज प्रयाग में जाते हैं, वे सभी अवश्य श्री महाराज के दर्शन भी करते हैं। क्योंकि श्री महाराज के दर्शनों के बिना वे अपूर्ण ही रहते हैं। यह भावना सबमें विद्यमान रहती है॥ ११॥

न यत्र भेदबुद्धिरस्ति देशजातिसम्भवा,
न चाश्रमादिवर्णजापिवासना प्रदृश्यते।
मतान्धतां विहाय यत्र सर्व एव सज्जनाः,
व्रजन्ति ह्यात्मशान्तये कथन्न सेव्यतामसौ ॥ १२॥

श्री महाराज के दर्शनोपरान्त लोगों में न तो देश और जाति आदि को लेकर बुद्धि भेदभाव दिखाई देता है, न वर्ण और आश्रम आदि के कारण ही कुछ राग द्वेषादि रह जाता है। वहाँ पर तो सब प्रकार के मत-वादों से दूर होकर सभी सज्जन आत्म-शान्ति प्राप्त करते हैं। वह महापुरुष अवश्य ही परमसेव्य हैं॥ १२॥

यथा समस्तजीवमात्रदेवरक्षणेरतः,
पितेव पालको विभुर्जनै सदाविचिन्त्यते।
तथैव रक्षको गुरुः सदैव योऽवलम्व्यते,
नताः स्म पादपद्मयोस्तमेव चेश्वरं हरिम्॥ १३॥

जैसे श्री भगवान् नारायण जीव मात्र की रक्षा पिता के समान करते हैं और लोग भी उन्हें पुकारते हैं, इसी प्रकार श्री महाराज को भी लोग पिता के ही समान मानकर ईश्वर भावना से सेवा करते हैं। हमारा भी उन्हें नमस्कार॥ १३॥

अथो कदापि गोचरो भवेदसौ सुपावने,
सुरादिवृन्दवन्दितेऽपि भानुजातटे शुभे।
ध्रुवं सुभक्तिपूरिते व्रजे व्रजेन्द्रनन्दनः,
स्वयं यथाविराबभौ तथा जनैः सुतक्यते ॥ १४॥

और जब कभी ये महापुरुष पवित्र यमुना तट पर सुरमुनिवन्दित वृन्दावन में विराजते हैं तो इस व्रजभूमि भक्ति से पूर्ण लोग यही समझते हैं कि मानो भगवान् श्रीकृष्ण ही पुनः प्रकट हो गये हैं॥ १४॥

यथा सुवेणुनादतोऽत्र चित्तवृत्तिकर्षकः,
तथामृतोपमैर्वचोभिरेष कर्षयन्मनः।
द्वितीयनन्दसूनुरेव योगिराडनुत्तमः,
समाश्रितोऽप्यसंख्यदिव्यसौख्यकांक्षिभिर्नरैः ॥ १५॥

जैसे भगवान् श्रीकृष्ण के वेणुनाद को सुनकर लोग उनकी ओर आकृष्ट होते थे, वैसे ही श्री महाराज की सुधामयी वाणी से भी लोगों के मन उनकी ओर आकृष्ट होते हैं और भगवद् बुद्धि से ही लोग अनन्त सुख की कामना से इनकी शरण में पहुँचते हैं॥ १५॥

यथा च मोहग्रस्तपाण्डुनन्दनस्य भूतये,
जगौ जगद्गुरुः सुगीतमद्भुतं हरिः स्वयम्।
तथैव योगिराडयं सुधोपदेशदानतः,
जगन्ति भासयत्यहो गुरुत्वमेव दर्शयन् ॥ १६॥

और जैसे मोह में पड़े हुए अर्जुन के लिए भगवान् ने श्रीमद्भगवद्गीता का उपदेश दिया था, जिससे कि उन्हें जगद्गुरु भी माना जाता। वैसे ही श्री महाराज का अमृतोपदेश भी इनके जगद्गुरुत्व को प्रकट करता है॥ १६॥

अहो! यदेष दृक्पथं प्रयाति भाग्यशालिनाम्,
कदापि यामुने तटे दिगम्बरो महामुनिः।
बिहाय भेददर्शनं समस्तदेशजातिजम्,
स्वकीयमेव दैवतं विभाव्य पूज्यते गुरुः ॥ १७॥

और जब कभी श्रीधाम वृन्दावन में यमुना के किनारे बाबा जी का मंच होता है तो देखा जाता है कि लोग देश, जाति, सम्प्रदाय आदि भावनाओं को छोड़कर, अपने ही वर्ग का पूज्य समझकर पूजा करने लगते हैं॥ १७॥

स्वयं सुतीर्थसेवनेन तीर्थमेव पावयन्,
जनानपि प्रशिक्षयन्विराजते महामुनिः।
न तीर्थसेवनं मुधा तदा जनैर्हि मन्यते,
वसन्ति तत्र हीदृशाः महायतीश्वरा अपि ॥ १८॥

वस्तुतः तीर्थों में जाने से श्री महाराज के द्वारा तीर्थों की ही महिमा बढ़ जाती है। लोग समझते हैं कि तीर्थों में जाना व्यर्थ नहीं है, जबकि श्री महाराज जी जैसे महामुनि जन भी तीर्थों में जाते हैं॥ १८॥

सनाथिता भवेदथो तदा निलिम्पनिर्झरी,
यदा प्रयात्ययं हरेः प्रियंहि द्वारमुत्तमम्।
न केवलं जनास्तदा हि जाङ्गलाश्च जन्तवः,
महोत्सवं विधाय यान्ति धन्यतां मुदान्विताः॥ १९॥

और जब कभी श्री महाराज गंगा तट हरिद्वार में विराजते हैं, तो न केवल मनुष्य ही अपितु जंगली जानवर भी धन्य हो जाते हैं। वे लोग प्रसन्न होकर उत्सव मनाते हैं॥ १९॥

क्वचित्तदा भ्रमन्वने वनीयशिष्यमण्डलीम्,
तमिस्त्रुव्याघ्र सिंहवन्यदन्तिभिर्दुरासदाम्।
कृपाप्रसादमर्पयन् स्वदर्शनेन पावयन्,
प्रयात्यहो न कस्यचित् सचेतसेऽपि रोचनम् ॥ २०॥

और तब कभी वनों में घूमते हुए ही जंगली शिष्यों की मण्डली को जो कि हिंसक बाघ, सिंह और जंगली हाथियों की ही मण्डली होती है,

अपनी कृपा प्रसाद देते हुए तथा अपने दर्शनों से हर्षित करते हुए जब ये मुनिवर विराजते हैं तो ऐसे में वह किस बुद्धिमान् विचारक को भी अति अद्भुत नहीं लगते अपितु सबके ही प्रीतिजनक हो जाते हैं॥ २०॥

अहिंसयास्ति साध्यमत्र किं विदन्ति नो जनाः,
निदर्शनं हि योगिराडयं प्रदृश्यतामिह।
न संशयोऽस्तु शास्त्र वर्णनेषु यस्य कस्यचित्,
इति स्वयं प्रदर्शिता समानभावना पुनः ॥२१॥

और लोगों यह भी ज्ञान नहीं है कि अहिंसा के आचरण से क्या लाभ होता है। परंतु उदाहरण स्वरूप ही श्री महाराज के सामने हिंस्र जंतुओं द्वारा भी वैर त्यागने की बात को देखकर किसी को भी शास्त्रों में विश्वास बढ़ेगा। इसीलिए श्री महाराज ने सबके प्रति समान भावना का आचरण किया॥ २१॥

कदापि कुम्भपर्वणि यदा हि कुञ्जरो महान्,
चकार संकटं महज्जनान्विमर्दयन्मुहुः।
तदा च राजकीयकोपसम्भवं भयं महत्,
निवारयन् दयापरो ररक्ष प्राणसङ्कटात् ॥२२॥

तथा एक बार (सन् १९६२) हरिद्वार के कुम्भ पर्व पर जबकि एक मतवाला हाथी लोगों को कुचल रहा था तथा संकट उपस्थित कर रहा था तो उसे प्रशासन की ओर से गोली मारने का आदेश हो गया था। ऐसे महान् संकट में पड़े जन-समाज और हाथी दोनों की रक्षा श्री महाराज के द्वारा ही हुई थी॥ २२॥

वनेषु निर्जनेष्वपि गुहासु कन्दरेष्वपि,
मुनीन् मृगान् वनेचरानपि कृतार्थयन्नसौ।
करीन् करेणं संस्पृशन् कृपा कटाक्षकोटिभिः,
मृगेन्द्रवृन्दवन्दितो जयत्यसौ महामुनिः ॥२३॥

तथा यह योगिसम्राट्—वहाँ पर निर्जन वन-पर्वतों की गुफाएँ तथा कन्दराएँ—सब जगह विचरते हुए मुनिजनों, जंगली पशुओं आदि को कृतार्थ करते हैं। जंगली हाथियों को अपने हाथ से शुभाशीर्वाद और प्रसाद वितरण करते हुए तथा कहीं पर मृगेन्द्र सिंहों आदि द्वारा वन्दित यह मुनिवर वन्दनीय एवं सर्वश्रेष्ठ हैं॥ २३॥

महोत्सवेषु कुम्भपर्वसु स्वयं समागताः,
व्रजन्ति तत्र कोटिशो जनाः समस्तभूतलात्।
तदा मुनीन्द्रमण्डलेऽतुलो द्वितीय एव वा,
विराजते शशी यथोडुमण्डले प्रभान्वितः ॥२४॥

कुम्भ पर्वो में जहाँ कि प्रायः सारे संसार के लोग आते हैं, वहाँ पर भी सारे सन्त समाज में बाबा अनुपम तथा श्रेष्ठ प्रतीत होते हैं। आकाश में तारों के बीच में चन्द्रमा के समान ही प्रकाशित होते हैं॥ २४॥

न रागजादिसम्भवा हि सम्प्रदायभावना,
मुनीन्द्रसन्निधौ कदापि गोचरास्ति कस्यचित्।
अतः समस्तसाधवो नमन्ति भावनान्विताः,
यतीश्वरं हरिं यथा स विश्ववन्दितो गुरुः ॥२५॥

यह भी देखा जाता है कि श्री महाराज के समीप रागद्वेष आदि की जननी साम्प्रदायिक भावना का सर्वथा अभाव है। यही कारण है कि किसी भी सम्प्रदाय के महात्मागण श्री महाराज के चरणों में अवनत होते हैं। जैसे कि भगवान् नारायण के चरणों में सभी नमस्कार करते हैं। अतः श्री महाराज विश्व के ही वन्दनीय महान् गुरु एवं सन्त हैं॥ २५॥

अहो! नमन्ति राजमौलयो यतीन्द्रपादयोः,
तथा च राष्ट्रनायका मुदा वहन्ति शासनम्।
न सोऽस्ति पूरुषः क्वचिन्न यस्य कर्णगोचरः,
प्रकाममस्तु नास्तिको नमेत्तथापि ते पदे ॥२६॥

आश्चर्य है कि राजशासनारूढ़ महान् व्यक्ति भी श्री महाराज के चरणों में सादर अवनत होते हैं। अनेक राष्ट्रों के नायकगण भी आज्ञा की प्रतीक्षा में रहते हैं। ऐसा व्यक्ति कोई विरला ही होगा जिसके कानों में श्री महाराज का नाम न पड़ा हो। फिर चाहे वह नास्तिक ही क्यों न हो, श्री महाराज के चरणों में वह अवश्य ही नमित होता है॥ २६॥

व्रजन्ति यत्र कोटिशो जना हि यद्दिदृक्षवः,
कृते च दर्शने मुदा सदाप्नुयुर्जनैः फलम्।
जयत्यसौ जयत्यसौ हि घोषगर्जनो ध्वनिः,
अपि प्रयान्ति नाकिनामपीह विस्मयावहा ॥२७॥

जिन योगिराज के दर्शन को करोड़ों दर्शनार्थी प्रतिदिन जाते हैं तथा दर्शनोपरांन्त जन्म का लाभ प्राप्त करते हैं तथा सर्वत्र जय हो! प्रभु जय हो! इस प्रकार गगनचुम्बी ध्वनि सुनाई पड़ती है जो कि देवताओं के लिए भी अत्यन्त विस्मयाधायक होती है॥ २७॥

पुनः सदैव पावनी वशिष्ठनन्दिनी नदी,
अतीव नन्दिता भवेद्यतो हि साधिकं प्रिया।
पुरा यथा हि राघवेण सादृता प्रहर्षिता,
पुनश्च योगिराजमाप्य मानिनी प्रदृश्यते ॥२८॥

और वशिष्ठ नन्दिनी भगवती सरयू नदी अत्यन्त पवित्र तो है ही। वह श्री महाराज को पाकर अत्यन्त प्रसन्न हो उठती है। श्री महाराज जी को भी अतीव प्रिय है। वह पूर्वकाल में जैसे श्रीराम जी को प्राप्त कर प्रसन्न हुई थी, वैसे ही अब योगिराज बाबा को पाकर मानवती हो उठी है॥ २८॥

भवन्ति भाग्यशालिनोऽधिकं हि तत्रवासिनः,
विना प्रवासमाप्नुवन्ति पुण्यदर्शनान्यहो।
गुरोः प्रसादमाप्य ये समस्तदुःखवर्जिता,
भवन्ति ते सुरोपमा हि विष्णुना सुरक्षिताः॥२९॥

सरयूतट वासी जन जो कि श्री महाराज के आश्रम के समीप ही रहते हैं, सचमुच महान भाग्यशाली हैं। क्योंकि वे लोग बिना प्रयास के ही श्री महाराज के दर्शन पा जाते हैं। श्री महाराज का दिव्य प्रसाद पाकर वे लोग सब दुःखों से छूट जाते हैं तथा श्री विष्णु भगवान् जैसे देवताओं की रक्षा करते हैं, उसी प्रकार बाबा के द्वारा वे लोग सुरक्षा पाते हैं॥ २९॥

कथन्न गौरवं गता अपीह ग्रामवासिनः,
मुदा प्रदत्तमाद्रियेत नाम यैरिदं शुभम्।
नदीतटे निवासिनं हि ग्रामभाषया गुरुम्,
वदन्ति देवराह नाम विश्वख्यातितां गतम् ॥३०॥

यहाँ के ग्रामवासी जन सचमुच ही महान् भाग्यशाली हैं, क्योंकि श्री महाराज ने इनका दिया हुआ नाम स्वीकार कर लिया है। वस्तुतः ये लोग अपनी ग्रामीण भाषा में नदी के तट को दीयर कहते हैं और श्री

महाराज को ये लोग पहले दीयरहवा बाबा कहकर पुकारने लगे जो कि बाद में देवराहा बाबा के नाम से ही विश्व ख्याति स्तर तक पहुँच गया॥ ३०॥

प्रिया हि ग्रामवासिनस्तथा च ग्रामवासिनाम्,
अतीव रक्षको गुरुर्हि प्राणतोऽपि प्रीतिभाक्।
यतो न तादृशोऽस्ति क्वापि कश्चिदार्त्त रक्षकः,
इदं सुनिश्चितं मतं हि सर्व एव बिभ्रति ॥३१॥

श्री बाबा जी को ग्रामवासी अधिक प्रिय हैं तथा ग्रामवासियों को भी बाबा प्राणाधिक प्रिय तथा संरक्षक लगते हैं। क्योंकि उस प्रकार का संरक्षक कहीं कोई दीखता ही नहीं, यह सभी लोग भली प्रकार से जानते हैं॥ ३१॥

यतो विपत्तिकाल एव रक्षको मुनिर्महान्,
अभूद्यथा तथा जनैर्हि यत्र तत्र गीयते।
अवर्षणे कदापि दैवसंकटेऽतिदुर्दिने,
विनान्नपानकर्षिताश्च कर्षकाः सुदुःखिताः॥३२॥

क्योंकि उन लोगों को श्री महाराज के दर्शन भी घोर विपत्ति के समय ही हुआ था। वह ऐसी घनघोर विपत्ति का समय था, जबकि वृष्टि के अभाव में लोग यत्र-तत्र बिना अन्न और जल के दुःखी थे और किसान लोग अत्यन्त कष्ट में थे॥ ३२॥

अहो न कश्चिदस्ति नोऽद्य रक्षकोऽत्र दृश्यते,
अतीव दीनमानसा निराशया च पीड़िताः।
यदेदृशीं दशां गतास्तदैव सर्वरक्षकः,
मुनीन्द्रवेश एष दृष्टिगोचरोऽप्यभूद्धरिः ॥३३॥

अहो आज ऐसा कोई नहीं है जो हमारी रक्षा करे। इस प्रकार जब लोग दीन-हीन और निराशा से परिपूर्ण हो रहे थे तभी मानो स्वयं भगवान् ही सन्तवेश में वहाँ प्रकट हो गये थे॥ ३३॥

जटा प्रकीर्णमूर्धजो दिगम्बरो मुनीश्वरः,
तथामितेन तेजसा विभासयन्दिशोऽन्तरम्।
प्रलम्बबाहुरेष व्याससूनुरद्य दृश्यते।
स्वयं समागतोऽत्र किं हि शंकरो दयानिधिः॥३४॥

जिनके मस्तक पर विशाल जटाजूट था तथा जो दिगम्बर मुनिवर अपने अद्भुत तेज से समस्त दिशाओं को भी प्रकाशित कर रहे थे। लोग उन्हें देखकर व्यास पुत्र शुकदेव जी अथवा स्वयं शंकर भगवान् के रूप में ही आया हुआ अनुमान कर रहे थे॥ ३४॥

ससम्भ्रमो जनस्तदा न तर्कितुं क्षमोऽभवत्,
तथापि सन्ततस्तदा तदीयपादपङ्कजे।
निजां तथार्तिजां व्यथां मुहुर्निवेदने रतः,
मुहुर्दयानिधिस्तदाशुसंकटं न्यवारयत् ॥३५॥

और तब जनसमूह उतावली में कुछ भी अनुमान नहीं कर पाया तो भी बारम्बार मुनीश्वर के चरणों में अवनत होने लगा तथा अपने आभ्यन्तर की पीड़ा को बारम्बार सुनाने लगा और तब दयानिधान प्रभु ने उस संकट का शीघ्र ही निवारण कर दिया॥ ३५॥

अभूत् तदैव व्यापिनी सुवृष्टिरुत्तमा यदा,
समन्ततो हि योगिराजदर्शनोत्सुका जनाः।
गृहे कथा तथा च प्रसृतेयमद्भुता,
जयं वदन्ति संघशोऽथ यान्ति धन्यतां तथा॥३६॥

और तभी व्यापक वृष्टि उत्तम कोटि की हो गई और तब इन महान् योगिराज के दर्शनार्थ जनसमूह उमड़ने लगा और यह बात भी घर-घर व्याप्त हो गई। लोग मिलकर जहाँ-तहाँ जयकार मनाने लगे और अपने आप धन्य होने लगे॥ ३६॥

पुरा गुहैव निर्मिता समस्तग्रामवासिभिः,
जिहासया जनस्य याति मञ्चपीठतां पुनः।
तदा जले निवासतो जलेश्वरोऽभवन्मुनिः,
जलौकसामुपास्य एष सर्वरूप ईश्वरः ॥३७॥

पहले ग्रामवासियों ने श्री महाराज के निवासार्थ एक गुफा का निर्माण किया। पुनः वे जनसंग का परित्याग करने की इच्छा से बिलकुल धारा के बीच में मञ्च बनवाकर रहने लगे और तब जल में निवास करने के कारण महाराज जलेश्वर के नाम से विख्यात हुए तथा वहाँ पर भी जल-जन्तुओं (नक्र-मकर) द्वारा भी उपासनीय बन गये। क्योंकि वह तो सर्वरूप और सर्वेश्वर ही हैं॥ ३७॥

मधूनि जाङ्गलीयकैः पिबन्ति क्षुद्रपादपैः,
इति द्विरेफजातयोऽनुकम्पनीयतां गताः।
दयांतु भृंगजातिषु तथा च वृक्षराजिषु,
ररक्ष क्षुद्रपादपानतो मुनीन्द्रनायकः ॥३८॥

तब अति दयालु बाबा का ध्यान वहाँ पर विराजमान क्षुद्रपादप (झाऊ के पेड़ों) तथा मधुमक्खियों पर गया। मधुमक्खियाँ इन छोटे झाऊ के पेड़ों से मधुपान करती हैं। अतः इन झाऊ के वृक्षों की रक्षा होनी चाहिए। (इससे पूर्व वह ठेकेदारों द्वारा काटे जाते थे) श्री महाराज की दया मधुमक्खी और झाऊ दोनों पर ही थी। अतः श्री महाराज ने उन झाऊ वृक्षों को काटने का राजाज्ञा द्वारा निषेध करवा दिया। उनकी रक्षा हुई॥ ३८॥

मुहुर्नमामि दैवतं सदा शरण्यवत्सलम्,
कृपापरो हि रक्षति पशूनतो विहिंस्त्रकान्।
महासुरप्रकल्पकं महामहिष्यसम्भवम्,
चकार योऽतिनिर्मलं सुभक्तिभावभूषितम् ॥३९॥

मैं पुनः-पुनः शरणागतवत्सल उन परम देवतास्वरूप श्री महाराज की वन्दना करता हूँ, जो कि कृपा परवश होकर एक महाभयंकर हिंस्र महमहिष की भी रक्षा करते हैं। उसे परम भक्त भी बनाया गया। वह सुंदर भक्ति भाव से परिपूर्ण हो उठा था।॥ ३९॥

कदाचिदेष योगिराट् सुसोहनागनामके,
महाध्वरे महात्मभिर्निमन्त्रितो ययौ यदा।
तदा हि तत्र संस्थिताज्जनौधतोऽपि संगमात्,
ररिक्षुरेष चात्मनश्चकार कूपकूर्दनम् ॥४०॥

और एक समय (सन् १९३७) में जबकि सोहनाग नामक ग्राम में महान् यज्ञ हुआ था। उसमें महात्माजनों (श्री राघवदासजी आदि) के विशेष आग्रहवशत् जब श्री महाराज ने इस यज्ञ में भीड़ की अधिकता से अपनी एकान्तप्रियता की रक्षा करनी चाही तो और कोई उपाय न देखकर कूप में ही कूद गये, जो कि महान् आश्चर्य है॥ ४०॥

न सोऽस्ति जन्तुरत्र योऽनुकम्पया प्रवञ्चितः,
जलेचरो नभश्चरोऽथ भूचरोऽपि वा क्वचित्।
जलेषु नक्रजातिनां सुकीर्तनं प्रकुर्वताम्,
स्वसुशृङ्गतालवादिनामहो न कस्य रोचनम्॥ ४१॥

श्री महाराज की दया से वंचित कोई भी जीव नहीं है। फिर चाहे वह—जलचर हो, आकाशगामी अथवा भूचर—पृथ्वी पर रहने वाला। श्री महाराज की आज्ञा से सरयू के अगाध जल में रहने वाले घड़ियाल और मगरमच्छ भी—अपने सींग बजाकर (दाँत आदि कटकटाकर) ताल के अनुसार अनुसरण करते हुए कीर्तन करते हुए देखे जाते थे। यह कौतुक भला किसे आश्चर्य में नहीं डाल सकता॥ ४१॥

न शूकरा न गर्दभा न कुक्करा अपि क्वचित्,
मुनीन्द्रदृष्टिमध्यगा भवन्ति दुःखभागिनः।
पुनः कुतो नु धेनवो नरेषु वापि सन्ति ये,
भवेयुरत्र दुःखिता जनैः कथन्न सेव्यताम्॥ ४२॥

दुःख में पड़ा हुआ कोई भी प्राणी क्यों न हो, वह श्री महाराज की दृष्टि में पड़ जाने पर दुःख से छूट जाता है। यहाँ तक कि पाप जीव सूकर, गधे, कुत्ते आदि भी श्री महाराज की कृपा के बहुशः पात्र बनते हैं, तो फिर गौ आदि पवित्र पशु अथवा मनुष्य योनि का कोई भी प्राणी का तो कहना ही क्या है! ऐसे दयालु महापुरुष की सेवा भला कौन नहीं करना चाहेगा॥ ४२॥

क्वचिद्धि पंकमध्यगाः सरित्सु शूकरादयः,
मुनीन्द्रदृक्पथं प्रयान्ति तेऽपि कष्टभागिनः।
तदा दयार्द्रवत्सलः समुद्धरेन्मनीषया,
परस्य दुःखदर्शनं न सोढुमन्यथा क्षमः॥ ४३॥

और फिर कहीं पर कीचड़ में फँसे हुए सूकर आदि प्राणी भी यदि श्री महाराज की दृष्टि में पड़ जायं तो बिना उनकी रक्षा किये श्री महाराज नहीं रह सकते। उनको भी अवश्य बचाने की चेष्टा करते हैं। क्योंकि श्री महाराज दूसरों का कष्ट देखकर सहन करने में असमर्थ हो जाते हैं॥ ४३॥

गवान्तु संकटं निशम्य नूनमेष योगिराट्,
द्रवेद्धुदा च सर्वमेव कल्पनेऽपि चाक्षमम्।
विधातुमुद्यतो भवेदिति प्रथा च शाश्वती,
भृशं सुप्रीतिमान् भवेद् गवां सुसेवया ध्रुवम्॥ ४४॥

और गौओं का संकट तो श्री महाराज सुनते ही अत्यन्त द्रवीभूत हो जाते हैं। जिस बात की कोई कल्पना भी नहीं कर सकता, उतना छोटा काम भी करने को तैयार हो जाते हैं। यह बात प्रायः उस क्षेत्र में सर्वत्र प्रसिद्ध हो गई है। लोग यह भी जानते हैं कि गौ सेवा से श्री महाराज बहुत प्रसन्न हो जाते हैं॥ ४४॥

तथा च रोगशोकतप्तलोकमोह शान्तये,
तपश्चकार लोमहर्षणं महत् सुदुर्लभम्।
इदं हि लोकमंगलाय नेह स्वार्थसिद्धये,
तथापि दुष्करं कलौ न शक्यतेऽपि कल्पितुम्॥ ४५॥

तथा संसार के अनेक प्रकार के रोग, शोक, मोह आदि की निवृत्ति के लिए ही श्री महाराज ने अति कठिन रोंगटे खड़े कर देने वाली तपस्या की है और यह तपस्या अपने किसी प्रयोजन के लिए नहीं अपितु लोक मंगल के लिए ही की गई है। परन्तु तो भी कलियुग में ऐसी तपस्या की तो कोई कल्पना भी नहीं कर सकता॥ ४५॥

अगाधनीरपूरिता महानदी सुसेव्यते,
स्वमातुरंकगो यथा शिशुः सुखं समेधते।
न शीतवारणं कदापि नोष्णतापरक्षणम्,
तथा न वातजा व्यथा मुनेर्मनो विचालयेत्॥ ४६॥

अगाध जल से परिपूर्ण महानदियों का ही सेवन प्रायः श्री महाराज करते हैं, जैसे कि माता की गोद में बालक निश्चिन्त रहता है। शीत-उष्ण एवं वायु आदि के कारण भी कभी श्री महाराज का मन तपस्या से विरत नहीं होता॥ ४६॥

सुमञ्चमध्यसंस्थितेऽपि पंचहस्तमात्रके,
महाल्पकेऽपि क्षेत्रके वसन्नयं हि योगिराट्।
कदाचिदेति नो व्यथां विषादजञ्च संस्थितिम्,
सदा प्रसन्नमानसो हि लोकरक्षणे रतः॥ ४७॥

मंच के ऊपर जहाँ पर केवल पाँच हाथ भर जगह होती है, उस अत्यन्त छोटी जगह में रहने वाले इन महामुनि का मन कभी भी दुःखी नहीं होता। वे सदा प्रसन्न मन से लोक संग्रह के कार्य में लगे रहते हैं॥ ४७॥

सदा दिगम्बरो मुनिस्तपः परं समास्थितः,
द्वितीय एष भास्करः प्रकाश पुञ्जदायकः।
महान्धकारनाशने तु तुल्यता न कुत्रचित्,
रवेर्गतिर्न यत्र तत्र योगिनो गतिर्ध्रुवा॥ ४८॥

यह महामुनि दिगम्बर रूप में घोर तपस्या में विरत रहते हैं तथा दूसरे सूर्य के समान ही तेजस्वी हैं। परन्तु अन्धकार दूर करने में इनकी तुलना किसी से भी नहीं की जा सकती। जहाँ पर रवि की गति नहीं, वहाँ पर भी योगिराज की गति है॥ ४८॥

अहो जगत्सु जीवसंघ एव दुःखतापितः,
न चात्मनो हि वेत्ति यत्र निर्वृत्तिं प्रयाति हि।
प्रकाशको गुरुर्महानयं च विश्वदेशिकः,
शरण्यतां गतो ह्यतो यथा हरिः सतां गतिः॥ ४९॥

अहो! संसार में जीवमात्र बहुत ही दुःखी हैं तथा वह अपना हित साधन अपने आप नहीं जानते। अतः जीवमात्र के हित साधन का उपदेश देकर श्री महाराज प्राणिमात्र के मार्गदर्शक हैं; और जैसे भगवान् नारायण सबके आश्रयणीय हैं, वैसे ही श्री बाबा भी सबके आश्रयणीय हैं॥ ४९॥

समस्तयोगशास्त्रवर्णिताश्च ये महागुणाः,
नयन्ति सिद्धकोटितामथोऽपि विश्वबन्द्यताम्।
गुरौ हि ते समाश्रिता व्रजन्ति धन्यतामहो,
यतो हि शास्त्रमन्यथा न याति पूर्णतां क्वचित्॥ ५०॥

योग शास्त्रों में जो महान् गुण वर्णित किये गये हैं, जो गुण सामान्य व्यक्ति को भी सिद्ध बना देते हैं तथा विश्व में वन्दनीय बनाते हैं, परम योगीश्वर श्री महाराज का आश्रय पाकर वे गुण भी धन्य हो जाते हैं, क्योंकि वे गुण यदि श्री महाराज ऐसे महापुरुष का आश्रय न लें तो पूरा योग शास्त्र ही अपूर्ण रह जायगा, उसे उदाहरण के लिए कोई ऐसा व्यक्ति ही नहीं मिल सकता॥ ५०॥

यमास्तथा परे च सार्वभौमका महाव्रताः,
नितान्तदुर्लभास्तथापि विद्यतेऽत्र पूर्णता।
अहिंसयैव प्राणिनां विरोधशून्यता भवेत्,
न चात्र श्रूयते कदापि हिंस्रजन्तुजं भयम् ॥५१॥

योगियों में यम और नियम आदि जो सार्वभौम महाव्रत माने जाते हैं, ये गुण नितान्त दुर्लभ हैं तो भी उनकी पूर्णता यहाँ योगिसम्राट् में पूरी तरह पाई जाती है। जैसे कि यमों में सर्वप्रथम अहिंसा ही मानी जाती है और उसका फल होता है प्राणिमात्र में विरोध की शून्यता। श्री महाराज के समक्ष हिंस्र प्राणियों द्वारा भी कोई उपद्रव देखने को नहीं मिलता ॥ ५१ ॥

तथा च सिंहव्याघ्रभल्लुकादयोऽपि योगिनम्,
सुशिष्यवत्समाश्रिता व्रजन्ति वैरशून्यताम्।
जनेष्वपि मिथोऽत्र प्रेमदर्शनं प्रजायते,
प्रतिष्ठिताऽस्ति सत्यमेव सात्र दृश्यतां जनैः ॥५२॥

तथा अहिंसा की प्रतिष्ठा होने पर जो फल मिलता है उसके अनुसार ही श्री महाराज के आश्रम में सिंह व्याघ्र, रीछ आदि भी शिष्यों के समान उनके आश्रित होते हैं। यहाँ जाने पर मनुष्यों में भी परस्पर वैर शून्यता हो जाती है। अतः उसकी प्रतिष्ठा यहाँ पर प्रत्यक्ष देखी जा सकती है ॥ ५२ ॥

तथैव सत्यसंज्ञकं यदुच्यते महाव्रतम्,
क्रियाफलाश्रयत्वमस्य तत्फलं विभाव्यताम्।
अमोघवागृषिर्महानसौ जगत्तु गीयते,
क्षमोऽप्यनुग्रहे गुरुस्तथा च निग्रहे क्वचित् ॥५३॥

यमों में सत्य का जो वर्णन मिलता है उसका फल है क्रिया के फल की प्राप्ति अर्थात् योगी की कोई क्रिया व्यर्थ नहीं जाती, वह जो कहते हैं वह सत्य होता है और श्री महाराज के सम्बन्ध में यह तो प्रसिद्ध ही है कि वह कभी व्यर्थ नहीं बोलते, उनकी वाणी अमोघ है। वे अनुग्रह (कृपा करना, आशीर्वाद आदि) तथा निग्रह (दण्ड आदि देना) में पूर्ण समर्थ हैं ॥ ५३ ॥

यमेषु यं तृतीयकं वदन्ति योगिनो गुणम्,
स्वयं हि सर्वरत्नसन्निधानमेव तत्फलम्।
न चात्र संशयोऽस्ति यन्न तत्र कापि रिक्तता,
कदापि दृश्यतेऽनुभूयतेऽथवापि केनचित् ॥५४॥

और जो यमों में तीसरा अर्थात् अस्तेय नामक यम है उसी का फल योगशास्त्रों में सब रत्नों की उपस्थिति होना माना जाता है। यह तो सब कोई जानता है कि श्री महाराज के समक्ष सभी प्रकार से परिपूर्णता विद्यमान रहती है। वहाँ कभी कोई अभाव नहीं अनुभव होता ॥ ५४ ॥

परं प्रधान लक्षणं तु ब्रह्मचर्यसंज्ञकम्,
यथास्ति तन्न शक्यतेऽपि कल्पने प्रभुः क्वचित्।
गजेन्द्रवत् सुपुष्कलं बलं हि तेन सद्गुरौ,
अनेकधानुभूयते हि वीर्यलाभमुत्तमम् ॥५५॥

और सबसे प्रधानता तो ब्रह्मचर्य की मानी जाती है और इस सम्बन्ध में ब्रह्मचर्य की प्रतिष्ठा यहाँ कितनी है यह तो कहने की बात ही नहीं। उसकी अन्यत्र कल्पना भी अतिदुर्लभ है। यही कारण है श्री महाराज में हाथियों के समान के अपूर्व शक्ति का दर्शन यदा-कदा होता रहता है ॥ ५५ ॥

परिग्रहो हि योगिनामहंममादिदुःखदः,
अपीह तस्य वर्जनादनेकजन्मसंस्मृतिः।
गुरौ त्वनेकजन्मनां समक्षबद्धि दर्शनम्,
यतोऽस्ति तस्य नायुषोऽपि शक्यमत्रकल्पनम् ॥५६॥

योगियों को अहं आदि के परिग्रह से अनेक दुःख होते हैं और परिग्रह के त्याग से अनेक जन्मों की स्मृति प्रत्यक्ष विद्यमान जन्म के समान ही हो जाती है। श्री महाराज जी में तो अपरिग्रह की सिद्धि के कारण अनेक जन्मों का दर्शन प्रत्यक्ष के समान ही होता है। अतः उनकी आयु की इयत्ता की कल्पना करना भी कठिन है ॥ ५६ ॥

परस्य संगवर्जनं तथात्मनो जुगुप्सनम्,
फलं हि शौचपालनस्य भूरि तत् प्रदृश्यते।
तथेन्द्रियादिनां जयस्तथात्मदर्शनादिकम्,
श्रुतं फलं तदत्र भूतिमिच्छुभिर्विलोक्यताम् ॥५७॥

शौच की सिद्धि होने पर दूसरों से संग का त्याग और अपने शरीर से भी घृणा उत्पन्न होती है और उसके दर्शन भी श्री महाराज में भरपूर हैं। इसी से इन्द्रियों पर विजय और आत्मदर्शनादि के भी जो फल शास्त्रों में बताये हैं, वह कल्याणकामी लोगों को यहाँ प्रत्यक्ष देखना चाहिये ॥ ५७ ॥

तथा च याः प्रकीर्तिता हि सिद्धयोऽपि योगिनाम्,
समस्तदर्शनं हि शक्यमत्र योगिपुङ्गवे।
तथापि चात्मगोपनाय नास्ति तत्प्रदर्शनम्,
यतो महात्मनामयं निसर्ग एव तादृशः ॥५८॥

यद्यपि योगशास्त्रों में जिन सिद्धियों का वर्णन प्राप्त होता है उनका श्री महाराज में दर्शन किया जा सकता है, परन्तु तो भी अपनी सिद्धियों को यहाँ पर सर्वथा छिपाया ही जाता है। उनका कोई प्रदर्शन नहीं किया जाता। क्योंकि अपने को छिपाना महात्माओं का स्वभाव ही होता है ॥ ५८ ॥

नमामि सिद्धविग्रहं तदासने प्रतिष्ठितम्,
जयेन ह्यासनस्य यस्य सिद्धिरीदृशी कृता।
समस्तबन्धवेधयोगमुद्रयाद्यलङ्कृतम्
मुहुस्तु प्राणरोधजन्यचक्रबोधने क्षमम् ॥५९॥

अब मैं सिद्ध स्वरूप सिद्धासन में समासीन श्री महाराज को पुनः नमस्कार करता हूँ। क्योंकि सिद्धासन की विजय से स्थिरता आदि महती सिद्धि श्री महाराज को प्राप्त है तथा सब प्रकार के बन्ध वेध और मुद्राओं आदि से सम्पन्न तथा प्राणायाम के प्रभाव से षट् चक्रों का वेधन करके श्री महाराज परम सिद्ध हैं, उनको पुनः नमस्कार ॥ ५९ ॥

पुनश्च खेचरीविधानजातनादसंस्फुटम्,
सदैव शाम्भवीं भजन्तभाश्रये दयानिधिम्।
न यस्य दृष्टिरस्ति बाह्यचिन्तने कदाचन,
भयामि तं गुरुं सदा हृदि प्रकाशकारकम् ॥६०॥

खेचरी मुद्रा के कारण ही जिनका नाद प्रबुद्ध हो गया है, जो सदा शाम्भवी मुद्रा में विराजमान रहते हैं, जिनकी दृष्टि बाह्य चिन्तन में कदापि नहीं जाती, ऐसे परम प्रकाशदाता गुरुदेव की हम शरण जाते हैं ॥ ६० ॥

नमोऽस्तु ते यतीश्वराय न्यस्तदण्डरूपिणे,
समस्तभूपमौलिरत्नघृष्टपंकजाघ्रये ।
कदाप्यलंघ्यशासनाय विश्वपूजिताय वै,
अशेषलोकमोक्षणाय चात्रविग्रहाय ते ॥६१॥

हे न्यस्त दंड यतिवर, आपको हमारा नमस्कार हो। समस्त राजाओं के मणिमुकुटों से समर्चित पाद पंकज प्रभो! आपको नमस्कार हो। जिनकी आज्ञा का उल्लंघन करने की सामर्थ्य किसी में भी नहीं है तथा जो विश्वपूज्य हैं। जो समस्त लोकों को मुक्त करने के लिए शरीरधारी हैं, उन परमेश्वरस्वरूप गुरुदेव को हमारा नमस्कार ॥ ६१ ॥

नमोऽस्तुतारुरूपिणे तथा च मातृकात्मने,
समस्तयोगकांक्षिणे नमोऽस्तु सर्वसाक्षिणे।
अनेकरूपधारिणे नमो महोपकारिणे,
नमस्त्रिदेवमूर्तयेऽथ मंगलस्य सूतये ॥ ६२ ॥

ऊँकार स्वरूप-अ उ म् के रूप में तथा अर्धमात्रा के रूप में विराजमान प्रभु को हमारे नमस्कार हों। जो समस्त योगों को पूर्ण करने वाले तथा महान् उपकार करने वाले गुरुदेव हैं, जो अनेक रूप धारण करने वाले हैं; सब योगों के साक्षी तथा त्रिदेवों के रूप हैं तथा सब प्रकार के मंगलों को देने वाले हैं ॥ ६२ ॥

अभिज्ञता न मेऽस्ति ते कथं करोमि पूजनम्,
न योगसाधनोपयोगिसंयमस्य संस्थितिः।
न चापि सद्विचारणेऽप्रि मे मतिः प्रधावति,
अतो व्रजामि ते पदेऽरणं शरण्यवत्सल ॥ ६३ ॥

हे प्रभो! मैं आपकी पूजा का विधान नहीं जानता, अतः पूजन कैसे करूँ और मेरे पास संयम के अभाव में योग साधना की भी शक्ति नहीं है और मेरी बुद्धि तत्त्वचिन्तन की सामर्थ्य से भी शून्य है। अतः हे भगवन्, मैं आपके चरणों की ही शरण हूँ ॥ ६३ ॥

शिशुस्तवास्म्यकिञ्चनो न भावभक्तिरस्ति मे,
प्रतोषणेऽप्यपेक्षितं न साधनं ममास्त्यहो।
अतो गतेर्ममाद्य किं भविष्यतीति साम्प्रतम्,
न चिन्तयामि निर्भरो यतस्त्वमेव रक्षकः ॥ ६४ ॥

हे प्रभो! मैं आपका अबोध बालक हूँ। मेरे पास न भाव है न भक्ति, आपको प्रसन्न करने योग्य मेरे पास कोई साधन नहीं है। अतः सब प्रकार से साधनरहित मेरा क्या होगा, इस सम्बन्ध में भी मुझे चिन्ता इसलिए नहीं है, क्योंकि आप ही हमारे संरक्षक हैं ॥ ६४ ॥

इयं नदी त्वगाधनीरवाहिनी पुरो मम,
तरी च जीर्णतां गता न प्रत्ययस्तथात्मनि।
अवश्यमत्र मज्जने न संशयस्तथाप्यहम्,
निशम्य नाविकं भवन्तमद्य चास्मि निर्वृतः ॥ ६५ ॥

हे प्रभो! मेरे सामने यह अगाध जल से पूर्ण नदी है। मेरी नौका भी पुरानी हो गई है और अपने पर भी मुझे भरोसा नहीं है। अतः यद्यपि मेरे डूबने में कोई सन्देह नहीं है फिर भी केवल यही भरोसा है कि आपने इस नैया की पतवार संभाल रखी है ॥ ६५ ॥

न निर्बलोऽस्ति मादृशस्तथा भवादृशो बली,
न मत्समोऽस्ति पातकी न मोचकश्च त्वत्समः।
इदं विचित्रसंगतं हि दैवनिर्मितं प्रभो!,
कदापि नैव मुच्यतामतीव दुर्लभं महत् ॥ ६६ ॥

प्रभो! मेरे जैसा कोई निर्बल व्यक्ति नहीं है और आप जैसा बलवान् भी कोई नहीं है। मेरे समान कोई पातकी नहीं और आप जैसा कोई पातकों से छुड़ाने वाला भी नहीं है। प्रभो! यह विधाता द्वारा विचित्र संयोग ही रचा गया है। हे भगवन्, आप इसे कभी भी न छोड़ें, यह अत्यन्त दुर्लभ ही है ॥ ६६ ॥

सकृत्प्रपन्नरक्षणं प्रसिद्धमेव ते व्रतम्,
श्रुतं मया च भूरिशो भवामि तेन निर्भयः।
अतो न दोषदर्शने प्रभुर्भवान् हि साम्प्रतम्,
नवीन मार्गसंश्रयो न शोभनं भवेदिह ॥ ६७ ॥

भगवन्, एक बार भी शरण में आये हुए जीव की रक्षा करने की आपकी प्रतिज्ञा प्रसिद्ध है; और मैंने भी इसे सुना है, इसी से मैं निर्भय हो गया हूँ। अतः भगवन्! इस समय आप मेरे दोष नहीं देख सकते। क्योंकि नवीन मार्ग अपनाने में बड़ी कठिनाई होगी और शोभा भी नहीं है ॥ ६७ ॥

प्रभो! हि मेघमण्डली कृपामयी तवास्ति या,
सदा प्रवर्षति शुभं कृपाम्बुसर्वपोषकम्।
उपेक्षितो भवाम्यहं तयापि भाग्यवर्जितः,
तदा ममैव दूषणं न भूषणं तथा तव ॥ ६८ ॥

भगवन् आपकी कृपामयी मेघ मण्डली सबको पुष्टि देने वाले कृपामृत की वृष्टि सर्वत्र करती है। यदि मैं भाग्य विहीन उससे वंचित हो जाता हूँ, तो यह मेरा ही अनन्त जन्मार्जित दोष है। परन्तु प्रभो! यह आपके लिए भी तो कोई भूषण नहीं है ॥ ६८ ॥

शिशुस्तनन्धयो यदा न मातुरङ्कगो भवेत्,
न चैव क्रन्दनं चरेत् दतङ्कसेवनेच्छया।
स्वतो न तस्य दृश्यते तथापि कापि वा क्षतिः,
यतो हि तस्य चिन्तनं तु मातुरेव जायते ॥ ६९ ॥

जैसे दुधमुँहा छोटा बच्चा कदाचित् माता की गोद में न जाय और माँ की गोद में जाने की इच्छा से रोये भी नहीं, तो भी उसकी कोई हानि नहीं होती; क्योंकि उसकी सारी चिन्ता उसकी माता को ही होती है ॥ ६९ ॥

उपेक्षितो भ्रमामि चेदितस्ततोऽपि दुःखितः,
प्रभो! हि दुःखितं निशम्य यत्र तत्र ते जनाः।
भवन्तमेव रक्षणे च पोषणेऽपि दोषिनम्,
वदेयुरेव निश्चितं दयस्व तेन मय्यपि ॥ ७० ॥

और यदि मैं आपके द्वारा उपेक्षित होकर इधर-उधर घूमूँगा तो मुझे दुःखी देखकर लोग मेरे भरण-पोषण के लिए आपको ही दोष लगाएँगे। ऐसा वह निश्चित ही कहेंगे। अतः आप मेरे ऊपर भी दया करें ॥ ७० ॥

असीमयानुकम्पया धृतं वपुश्च पावनम्,
सदा प्रसन्नमुद्रया च पामरान् जनानपि।
यतो हि रक्षणे रतोऽत एव सर्वरक्षकः,
क्षमापरो न वीक्षसेऽपराधसन्ततिं क्वचित् ॥ ७१ ॥

हे प्रभो! असीम अनुकम्पा के कारण ही आपने यह शरीर धारण किया है, तथा पामर जनों को भी सदा प्रसन्न मुद्रा से देखते हैं। अतः आप सदा ही क्षमापरायण होकर लोगों के अपराधों को नहीं देखते ॥ ७१ ॥

तथापि मेऽपराधसंख्यया हि चेदुपेक्षसे,
कदापि तुल्यतां तथा न चोभयोर्भवेत्क्वचित्।
क्षमा क्षणेन दीयते महागसां यथान्तिके,
जयत्यसौ हि तावकी दया हि तेन सर्वदा ॥ ७२ ॥

तो भी हे नाथ! यदि आप मेरे अपराधों की लम्बी संख्या के कारण ही मेरी उपेक्षा कर रहे हो तो भी आपकी दया और मेरे अपराध दोनों में कभी बराबरी नहीं हो सकती। आपकी दया क्षणभर में ही बड़े-बड़े अपराधों को क्षमा दे देती है। अतः सर्वदा आपकी दया ही बलवती है। उसकी जय हो॥ ७२॥

निजाज्ञतावशेन कूपमध्यमज्जनं मम,
स्वयं क्षमो न चास्मि नाथ पातुमात्मनस्तथा।
न चापि त्वां विहाय कश्चिदत्र रक्षको मम,
समुद्धरेन्मनीषया जनोऽत्र तेन क्रन्दति॥ ७३॥

प्रभो! मैं अपनी अज्ञानता के कारण कूप के बीच में गिर पड़ा हूँ और स्वयं अपने आप बाहर आने में भी असमर्थ हूँ और आपके अतिरिक्त दूसरा कोई मेरा रक्षक भी नहीं है, जो अपनी इच्छा से मुझे बचा सके। अतः हे नाथ! यह दास इसीलिए रो रहा है॥ ७३॥

अहो तमिस्रपूरिता विभावरी तमोमयी,
न चात्र दर्शने निजाङ्गकेऽपि कोऽप्यलं जनः।
तथा च चौरदस्युभिः समावृतोऽस्मि सर्वतः,
प्रभो! भवाद्य रक्षको गतिः शरण्यवत्सल॥ ७४॥

हे नाथ! यह घोर अन्धकार वाली घनघोर रात्रि है जिसमें लोगों को अपना अंग भी दिखाई नहीं दे रहा है और यहाँ चारों ओर से मैं चोर-डाकुओं से घिरा हुआ हूँ। हे शरणागत वत्सल! आप ही हमारी रक्षा करें॥ ७४॥

सुपात्रतां विचिन्त्य क्वापि ते दया प्रसर्पति,
विशेषता न तत्र कापि सा न तत्र सत्फला।
अपीह पात्रताविहीनमादृशेषु सा स्वयं,
स्वविक्रमं विलोक्य भूरि हर्षिता भवेन्नु॥ ७५॥

हे प्रभो! यदि सुपात्रों के ऊपर ही आपकी दया होती तो उसमें कोई विशेषता नहीं रहेगी और यदि वह पात्रता रहित मेरे जैसे लोगों पर फलवती होगी तो उसे भी अपना पराक्रम देखकर प्रसन्नता होगी॥ ७५॥

वन्दे देवरहाख्यमद्भुततमं देवं सुमञ्चे स्थितम्,
कारुण्यातिभरेणं चार्द्रहृदयं सत्पालने तत्परम्।
सिद्धं योगसमाधिजन्यपरमानन्दे निमग्नं प्रभुम्,
अन्तर्दृष्टिपरं तथाप्यभयदं प्रत्यक्षतो दैवतम्॥ ७६॥

अनन्तश्रीविभूषित योगिराज जी जो अत्यन्त अद्भुत देवता हैं तथा मंच पर विराजमान हैं तथा जिनका हृदय करुणा के कारण अत्यन्त कोमल है, जो सत्पुरुषों के पालन में तत्पर हैं तथा जो योग समाधि के द्वारा उत्पन्न परमानन्द में निमग्न रहते हैं, जो सदा अन्तर्मुखी दृष्टि से रहते हुए भी लोगों को अभयदान देते रहते हैं, जो प्रत्यक्ष में देवस्वरूप हैं—को मैं नमस्कार करता हूँ॥ ७६॥

यं दृष्ट्वातिबलं प्रयाति परमं सौख्यं सुधीनां गणः,
सामान्या अपि यं विदन्ति शरणं ग्रामीणलोका निजम्।
सर्वेषां सुलभः सदा शिवकरो ज्ञानाब्धिचन्द्रोदयः,
सर्वैश्चाखिलजन्तुभिर्निजप्रभुः संरक्षको ज्ञायते॥ ७७॥

जिनको देखकर सुधीजन प्रसन्न होते हैं तथा सामान्य ग्रामीणजन भी जिन्हें अपना आश्रयदाता मानते हैं, जो सबको सुलभ हैं, मंगलकारक हैं, तथा ज्ञान के समुद्र को चन्द्रोदय के समान हैं। जिन्हें सब अपना स्वामी और संरक्षक मानते हैं, उन्हें हमारा नमस्कार॥ ७७॥

श्रूयन्तेऽपि गुहासु क्वापि विजने ये योगिवर्य्याश्रिताः,
नूनं ते हितमात्मनो विदधति नास्त्येव शङ्कोदयः।
सर्वेषामपि मंगले निहितधीर्यो योगिनामग्रणीः,
देवो देवरहाभिधो यतिवरस्तस्मै नमो भूरिशः॥ ७८॥

जो लोग एकान्त गुफाओं में रहकर समाधि का अनुभव करते हैं, निश्चय ही वे लोग अपना हित करते हैं। इसमें संशय नहीं है। परन्तु जो सबके भले के लिए ही साधना में लगे हैं, ऐसे महान् योगिराज देवतुल्य देवरहा बाबा को हमारा विशेष नमस्कार हो॥ ७८॥

एकेचात्र पुनः प्रदर्शनपरा भोगाधिकाः केचन,
वैराग्यादिविवर्जिताः सुप्रथिता देहेन्द्रियाध्यासिनः।
लोकानां परमं हितं कथमहो तैः शक्यते कल्पितुम्,
यस्मान्नास्ति हि केवलं क्षितितले कामार्थपूर्तिः सुखम्॥ ७९॥

और कुछ लोग योग का मात्र प्रदर्शन करने वाले भोगपरायण- वैराग्यादि से शून्य, देहेन्द्रियादि के ही सुख साधन में लगे हैं, भला वे लोग संसार का परम हित क्या कर सकते हैं। क्योंकि संसार में मात्र काम और अर्थ की प्राप्ति ही तो परम सुख नहीं है॥ ७९॥

धर्मः सत्यदयान्वितोऽत्र निहितो ज्ञानञ्च लोकोत्तरम्,
निर्मानञ्च विमत्सरञ्च सकलैर्दूरं पुनर्दूषणैः।
वैराग्यं परमं भजन्नपि सदा लोकस्य सन्मंगलम्,
विभ्राणो यतिराडयं गुरुवरः प्रत्यक्षतो दृश्यते॥ ८०॥

यहाँ श्री महाराज में, सत्य एवं दया से युक्त धर्म विद्यमान है तथा लोकोत्तर ज्ञान-मान से रहित मत्सरशून्य तथा सब दोषों से रहित तथा परमवैराग्य से युक्त होते हुए भी जो संसार के हित में लगे हुए हैं, ऐसे ये महान् यतिवर सद्गुरुदेव प्रत्यक्ष में ही दर्शन दे रहे हैं॥ ८०॥

जाने नात्महितं प्रवञ्चनपरः पुण्यादिभिर्वञ्चितः,
तेनाहं भ्रममाण एव सततं नाद्यापि यातः शमम्।
त्वत्पादौ शरणं व्रजाम्यशरणः संदिश्यतां मे हितम्,
यस्मान्नात्मविनाशजन्यकुफलं नोपैमि दीनो जनः॥ ८१॥

प्रभो! मैं पुण्यविहीन तथा प्रवञ्चना में निरत रहने वाला अपना हित भी नहीं जानता हूँ इसीलिए इधर-उधर घूमता हुआ आज तक कहीं भी शान्ति नहीं प्राप्त कर सका। अब मैं लाचार होकर आपके चरणों में आया हूँ। आप ही मेरे हित का उपदेश करें जिससे कि मैं आत्मविनाश के भयानक कुफल का भागी न बनूँ॥ ८१॥

देहो दिव्यतमः सुश्यामलछटायुक्तश्च संदृश्यते,
आजानु प्रविलम्बि चापि रमणं बाहुद्वयं पावनम्।
दृष्टश्चापि विशालभालललितं दिव्यं वपुस्तेऽद्भुतम्,
कस्याहोऽत्र मुदं करोति, न परं कल्याणलिप्सोः क्षितौ॥ ८२॥

हे भगवन् आपके शरीर की दिव्य श्यामल छटा तथा आजानुबाहु, सुन्दर विशाल भाल वाला अद्भुत शरीर भला किस कल्याणकामी के लिए आनन्ददायक नहीं होगा॥ ८२॥

यस्मिन् दृष्टिगते प्रणश्यति तमो यत्सञ्चितं जन्मभिः,
शान्तिश्चाप्यभियाति तामभिमतां कल्याणसूतिं दधत्।
दोषाश्चापि लयं प्रयान्ति हृदिजाः कामादयो नित्यशः,
तं देवराहाख्यमहो प्रयामि शरणं देवाधिदेवं गुरुम्॥ ८३॥

जिनके दर्शन से जन्म जन्मान्तर का संचित अज्ञानान्धकार नष्ट हो जाता है तथा कल्याण की जननी परम आत्म शान्ति को प्राप्त करता है तथा हृदय में विद्यमान काम आदि दोष नष्ट हो जाते हैं। मैं ऐसे देवराहा बाबा जी महाराज जो देवाधिदेव हैं, की शरण में जाता हूँ॥ ८३॥

कामं ये च बलान्विता मुनिवरा अप्यात्मनो निग्रहे,
जित्वा यान्तु शमं तथेन्द्रियगणं दुष्टं पुनः क्लेशदम्।
अस्माकन्तु बलं त्वदीयचरणौ स्यातां सदा मंगलौ,
हे योगेश्वर! नान्यदस्ति विदितं तस्मान्न चान्या गतिः॥८४॥

जो महात्माजन आत्मनिग्रह में समर्थ हों तथा अपनी दुःखदायक एवं दुष्ट इन्द्रियों को जीतकर शान्ति प्राप्त कर सकें, वे निश्चय ही बलवान् माने जाएँगे। परन्तु भगवन्! हमारा बल तो केवल आपके मंगलमय चरणारविन्द ही हैं। क्योंकि हे योगेश्वर भगवन् हमें इसके अतिरिक्त और कुछ विदित ही नहीं है। इसलिए हमारी वही शरण है॥ ८४॥

सन्ति ये प्रथिता हि देवनिवहास्तान्नास्मि तोष्टुं क्षमः,
यज्ञादीनपि कर्मकाण्डनिपुणान्सम्पादने चाक्षमः।
ये वा शास्त्रविधौ श्रुता बहुविधा जीवस्थ सौख्यप्रदाः,
तान् सिर्वान् वहाय सुन्दरगुणान्स्त्वांमेकमेवाश्रये॥ ८५॥

और प्रभो! जो अनेक देवगण हैं उन्हें प्रसन्न करने में मैं असमर्थ हूँ। यज्ञादि जो कर्मकाण्ड बहुल साधन हैं, वह भी करने में मैं शक्त नहीं हूँ और शास्त्रों में जो कल्याणकारी साधन सुनायी देते हैं, उन सब सुन्दर गुण वाले साधनों को छोड़कर बस मैं तो एकमात्र आपकी ही शरण लेता हूँ॥ ८५॥

माता या खलु वत्सला भवति साऽप्यज्ञासमर्था तथा,
वत्सानामिह पोपणं प्रकुरुते स्वार्थेन पूर्णेन तत्।
तस्याः कोटिगुणं हि वत्सलतमं सर्वज्ञता भूषितम्,
जीवानामिह मातरञ्च पितरं सर्वस्वमेवाश्रये॥ ८६॥

प्रभो! संसार में जन्म देने वाली माता यद्यपि पुत्र को वात्सल्य भाव से प्यार करती है। परन्तु वह अल्पज्ञ, असमर्थ तथा कुछ न कुछ स्वार्थ बुद्धि से ही बच्चों का पोषण करती है। उससे भी कोटि गुणित वात्सल्य से परिपूर्ण सर्वज्ञ, समर्थ आप ही वास्तविक माता-पिता हैं। अतः मैं आपकी ही शरण ग्रहण करता हूँ॥ ८६॥

न जाने त्वां देवममितगुणपूर्णं गुणनिधे!
तथा भक्तेर्भावं मनसि मम नोदेति भगवन्!
सदा दोषैर्दृप्तं बहुविधिविधानैश्च रहितम्,
स्वयं दीनं दृष्ट्वा परम दयया स्वीकुरु प्रभो!॥८७॥

प्रभो! अनन्त कल्याणकारी गुणों से युक्त मैं आपके स्वरूप को नहीं जानता हूँ तथा मेरे मन में भक्तिभाव का भी उदय नहीं हो रहा है। मैं तो सब प्रकार के दोषों से ही अपने आपमें अभिमान से भरा हूँ। भगवन्! मुझे तो आप दीन जानकर स्वयं अपनी करुणा से ही अपना बना लें॥ ८७॥

दयालोर्यद् दुःखं परजनव्यथा सम्भवमहो!
तदेवं में पीड़ा तव भवति दुःखाय नियतम्।
अतो दुःखं स्वीयं स्वयमपि समर्थः क्षययितुम्,
स्वया शक्या तूर्णं तदिह सहसोत्सारणविभो!॥८८॥

हे भगवन्, दयालु पुरुषों को दूसरे के दुःख भी देखकर ही दुःख होता है। तो निश्चय ही आपको मेरे कष्ट से भी कष्ट ही होगा। तो भगवन्! आप अपने दुःख को दूर करने में अपने ही समर्थ हैं। आप अपनी शक्ति से ही इसे शीघ्र दूर कर दें॥ ८८॥

अथापीत्थं दुःखं परमिह नवीनं न भगवन्!
सदा प्राप्तं जन्ममृतिरिपुसमुत्थं विधिवशात्।
इदानीं त्वां प्राप्य पुनरनुचरेच्चेदिदमहो,
महत्त्वं ते नूनं किमपि जगदूनं कथयति॥८९॥

और फिर भगवन्, मेरा यह दुःख तो कोई नया है नहीं। यह तो जन्म-मरण, मित्र-शत्रु आदि के रूप में मुझे सदा से ही मिल रहा है। परन्तु अब आपके दर्शनोपरान्त भी यदि यह मुझे नहीं छोड़ेगा तो निश्चय ही लोग आपकी महिमा को ही कम मानने लगेंगे॥ ८९॥

महाम्भोधेस्तुल्यं किमपि महिमानं पुनरहो!
न शक्तस्ते नाथ कथमपि च स्प्रष्टुं प्रभुरहम्।
परन्तस्मिञ्श्रुत्वा विपुलनिचयं रत्ननिवहम्,
प्रवृत्तोऽहं लोभात्तदपि कृपया मर्षय प्रभो!॥९०॥

और फिर आपकी महिमा तो समुद्र के समान है। भला मैं कभी भी उसको स्पर्श करने में कहाँ समर्थ हूँ। परन्तु तो भी मैंने यह सुन रखा है कि उस (महिमा के समुद्र में) में अनेक रत्नों का भी भंडार है। तो मैं लोभ से ही इस समुद्र में कूद पड़ा हूँ। तो भगवन्! इसे आप अपनी कृपा से ही सहन करें॥ ९०॥

अथो गङ्गा चेयं तृषितहृदयेनापि च शुना,
स्वयं लीढ़ा क्वापि नहि व्रजति न्यूनत्वममला।
परन्त्वस्य तृप्तिर्भवति परिपीतेन नियतम्,
अतो मे दौरात्म्यं भवतु भगवन्क्षम्यमपि ते॥९१॥

और भगवन् यदि पवित्र गंगा जी को प्यासा कुत्ता छूकर अपनी प्यास बुझा ले तो गंगा जी की महिमा कम नहीं होती है। इधर कुत्ते की तृप्ति हो जाती है। अतः हे भगवन् इस (आपकी महिमा को छूने की) दुष्टता को आप ही क्षमा करें॥ ९१॥

रजोराशीरम्या गुरुचरणजाता सुरभिता,
क्वचित्स्पृष्टा भाग्यं बहुजन-सुकाम्यं वितनुते।
तथा चेयं न्यस्ता सपदि कुरुते दृष्टिममलाम्,
सुधन्यानां भोग्या मम भवतु योग्या क्वचिदहो!॥९२॥

श्री गुरुदेव के चरणों की धूलि अत्यन्त सुगन्धित होती है। कभी दैवयोग से स्पर्श करते ही मानव के भाग्यों को अनेक जनों द्वारा लोभनीय बना देती है और यदि कभी इसका नेत्रों में अञ्जन किया जाय तो दृष्टि को ही निर्मल बना देती है। यह भाग्यशालियों द्वारा सेवनीय कभी मेरे भी योग्य हो जाय। यही प्रार्थना है॥ ९२॥

तथा कान्तिः कापिः चरणनखजा मोहजनितम्,
तमोनाशे दक्षा जनयति तथा बोधमतुलम्।
ममाग्रे सा ज्योत्स्ना ह्यनुदिवसमेवास्तु विमला,
प्रभो! यस्यां स्नातोऽप्यहमनुभवेयं हि प्रशमम्॥९३॥

और हे भगवन्! आपके चरणों के नख की कान्ति मोह जनित अन्धकार को दूर करके अमिट ज्ञान को उत्पन्न करती है। हे प्रभो! प्रार्थना यही है कि मेरे सामने वह चरणों के नख की चाँदनी सदा ही प्रकाशित रहे, जिसमें नहाकर मैं भी शान्ति का अनुभव करूँ॥ ९३॥

अभूवं धन्योऽहं सकृदपि निमग्नो गुणगणे,
तथा चेयं वाणी जगदघनिपातादपि धृता।
सुपूता संजाता किमपि दधती पुण्यमतुलम्,
अतो भूयः किम्वा पुनरभिलषेयं कृपणधीः॥ ९४॥

आपके गुणगणों में एक बार डूबने पर भी मैं तो सचमुच धन्य हो गया हूँ और इस रसना की भी संसार के पाप पुञ्जों में पड़ने से रक्षा हो गई है। आज यह असीम पुण्य की भागी बनकर पवित्र हो गयी है और मैं बुद्धिरहित व्यक्ति और कुछ क्या चाहूँगा॥ ९४॥

अहोरात्रं पापैर्यदपि परिपूर्णोऽयमनिशम्,
अविन्दन् हृच्छान्तिं परमुपगतः क्लेशनिबहम्।
इदानींत्कां लब्ध्वा नहि कथमपि व्यक्तुमशकम्,
यथा पोतं काको विपुलजलराशौ न त्यजति॥ ९५॥

हे भगवन्! मैं तो पापों से सदा परिपूर्ण रहता हूँ, अतः मेरे हृदय में शान्ति नहीं आती और सब प्रकार के क्लेश भी प्राप्त हो रहे हैं; परन्तु इस समय मैं आपको पाकर कभी छोड़ नहीं सकता। जैसे कि जहाज में बैठा काक उसे समुद्र में छोड़ने में असमर्थ होता है॥ ९५॥

इदन्तु प्रार्थ्यं मे भवतु भगवँस्ते करुणया,
पवित्रौ ते पादौ शरणबरणी मे कृतवतः।
न भूयः संसारे पुनरपि परस्यास्तु शरणम्,
तथा चान्ते काले विलसतु मतिस्ते चरणयोः॥ ९६॥

परन्तु भगवन् आपकी कृपा से मेरी अभिलाषा पूर्ण हो जाय। प्रभो! मेरी इच्छा यही है कि एक बार आपकी शरण में आने के बाद संसार में अब मुझे किसी दूसरे की शरण न लेनी पड़े तथा अन्तिम समय में भी आपके चरणों में मन लगा रहे॥ ९६॥

मुनिवर मम वृत्तं यादृशं तादृशंवा,
तव चरणनिपातेनाद्य धन्यं बभूव।
यदि मिलति कदाचिद् वारि रथ्याप्रसूतम्,
सुरधुनिजलमध्ये तद्धि नूनं प्रशस्तम्॥ ९७॥

हे भगवन्! मेरा आचरण चाहे जैसा भी है परन्तु आज आपके चरणों में आ जाने से वह धन्य हो गया है। यदि गलियों का गन्दा जल गंगा जी में आ जाय तो निश्चित ही धन्य हो जाता है॥ ९७॥

अपि च शुकवदेवं पाठितं यत्त्वया मे,
तदिह किमपि नूनं मन्मुखाज्जातमस्ति।
तव तु पुनरनेन कौतुकं सम्प्रजातम्,
भवति च शुकवृत्तिः पाठकाधीनमेव॥ ९८॥

हे प्रभो! मैंने तो तोते की तरह जो आपने पढ़ाया था वही कुछ अपने मुँह से सुना दिया है और आपका भी इससे कौतुक हो ही गया है। इसका गुण-दोष मुझे ज्ञात नहीं है, क्योंकि तोता तो मालिक का पढ़ाया हुआ ही बोलता रहता है॥ ९८॥

अपि भवतु तथेयं दोषपूर्णापि मे गीः,
नहि तदपि जनोऽत्र याति वैराग्यभावम्।
यदिह खलु सुदृष्टं त्वद्यशः पावनं तत्,
बुधजनपरितुष्ट्यै स्यादलं मे प्रतीतिः॥ ९९॥

अथवा हे भगवन्! मेरी वाणी भले ही दोषों से भरी हुई हो, लोग इससे मन नहीं हटायेंगे; क्योंकि इसमें जो आपका नाम है, वही बुद्धिमानों को पूर्णरूप से सन्तुष्ट करेगा यही मेरा विश्वास है॥ ९९॥

परिवदतु जनो वा भूरिवालङ्करोतु,
शिशुजनभणितीयं तोषदात्री तवास्ताम्।
भवतु किल विरूपः शोभनं मन्यमानः,
गृहपतिरपि नूनं सर्वथा स्वीकरोति॥ १००॥

लोग भले ही मेरी निन्दा करें अथवा प्रशंसा करें। यह बालक की तोतली वाणी आपको अवश्य प्रिय लगेगी। चाहे किसी का बालक कितना ही कुरूप क्यों न हो, तब भी वह उसका त्याग नहीं करते॥ १००॥

भूयः समर्प्यते सेयमञ्जली तव पादयोः।
मञ्जुपद्यप्रसूनानां स्यान्नूनं मंगलायना॥ १०१॥

हे प्रभो! यह श्लोकों के पुष्पों की माला आपके चरणों में समर्पित है, इसी से सबके लिए मंगलकारिणी हो जाय॥ १०१॥

२. ब्रह्मर्षि योगिराज देवराहा स्तुति

मंचात्प्रयच्छन् विपुलं प्रसादं
लोकेवितन्वन् शुभदां सुबुद्धिदम्।
जीवेषु कुर्वन्निह चानुकम्पां
स पातु नः शक्तिपतिर्हि बाबा॥

मंच से विपुल प्रसाद प्रदान करते हुए, लोक में शुभ प्रदान करने वाली सद्बुद्धि का विस्तार करते हुए, सभी जीवों के ऊपर अनुकम्पा प्रदान करते हुए वे शक्तियों के स्वामी महाराज देवराहा बाबा हमारी रक्षा करें।

न शक्तिर्न भक्तिः न युक्तिः न मुक्तिः
समृद्धिर्न सिद्धिर्न मे निर्मला धीः।
ममाज्ञस्य त्राणं त्वदीयानुकम्पा
परित्राणदाता प्रसीद प्रसीद॥

हे महाराज! न मुझमें शक्ति है, न भक्ति है, न युक्ति है, न मुक्ति है, न सुखोपभोग, न ऐश्वर्य है, न ही कोई सिद्धि है और मेरी बुद्धि भी निष्कलुष नहीं है। मुझ अज्ञ की रक्षिका एकमात्र आपकी अनुकम्पा ही है। हे त्राणदाता! आप मेरे ऊपर प्रसन्न हों।

व्रीडा न मे विश्वमृतं हि याचे,
बाबामचिन्त्यं स्वगुणैर्निगूढ़म्।
यः सर्वशक्तिः करुणार्णवस्तं
मंचाधिरूढं सततं नतोऽस्मि॥

विश्व का भरण करने वाले, अचिन्त्य शक्तिसम्पन्न, अनन्त गुणों से युक्त होने के कारण अगम्य योगिराज देवराहा बाबा से याचना करने में, मुझे कोई लज्जा नहीं है। मंच पर रहने वाले, सर्वशक्तिमान्, करुणावरुणालय, ब्रह्मर्षि देवराहा बाबा को मैं निरन्तर नमन करता हूँ।

३. ब्रह्मर्षि योगिराज देवराहा अभिनन्दन स्तवः

श्रीमत्पदाब्जमकरन्दसुधां निपीय,
प्रीतात्मनां शुभधियां सुधियां प्रमोदः।
पाथोधिपूरमपि चन्द्रकरैस्समिद्धं,
न्यक्कृत्य नाकपदवीमवगाहतेऽसौ॥ १॥

श्री बाबा के चरण कमल के मकरन्द रस के पान से—उनके चरणारविन्द के दर्शन से शुभ बुद्धि सम्पन्न विद्वानों को आत्मप्रीति होती

है और उनके हृदय में ऐसा हर्ष उद्वेलित होता है, जो चन्द्रमा की किरणों से पूर्ण वृद्धिगत जलनिधि को भी अपनी समृद्धि से अभिभूत कर स्वर्ग सुख का महत्त्व प्राप्त करता है।

देवर्षिकल्पकमनीयकलेवराणां,
देवार्चिपां नृजनुषामपि चिन्मयानाम्।
ब्रह्मीभवच्चिरमुमुक्षुपदं गतानां,
ब्रह्मर्षितां प्रभजतां ननु कश्चिदेकः ॥२॥

पूज्य बाबा उन महापुरुषों में एक हैं जो देवर्षि के समान सुन्दर शरीरधारी हैं, पार्थिव होते हुए भी चिन्मय हैं तथा चिरकाल की मुमुक्षारत साधना के बल से ब्रह्मीभूत हो ब्रह्मर्षि पद प्राप्त कर चुके हैं।

कार्श्य व्रजद्वपुरपि प्रथितप्रभावात्,
उच्चैस्तपोन्तरुपगूहितदिव्यकान्तिः ।
शान्तिश्चिरं वितरतीव च 'देवराह्वा'-
बाबाभिधो मुनिवरो भुवि कामपूर्वाम् ॥३॥

मुनिवर देवराहा बाबा का शरीर यद्यपि पर्याप्त कृश है, फिर भी उसमें उच्चतम तपस्या से दिव्य कान्ति दैदीप्यमान है और वे अपने विपुल प्रभाव से संसार को एक अद्भुत अपूर्व शक्ति का दान करते रहते हैं।

विश्वात्ममानवकुलेष्वपिधन्य धन्यं
यद् भारतं तदपि विप्रकुलस्य तेजः।
पुञ्जीकृतं त्वदनुरूपमिव प्रपन्नं,
प्राशस्त्यमञ्चति मुने! पुनरद्य सद्यः ॥४॥

संसार की सम्पूर्ण मानव जाति में भारतवर्ष अतीव धन्य समझा जाता है, उसमें भी विप्रवंश का तेज सर्वापेक्षा उत्कृष्ट होता है और वह सारा तेज पूँजीभूत होकर देवराहा बाबा के रूप में प्रशस्त रूप से प्रादुर्भूत है।

आस्तां तवायुरमितं नियमोन्नतं च,
प्रेष्ठं प्रकृष्टतरमस्तु तपोबलं च।
भूयाज्जगद् भवदनुग्रहमाप्य शश्वद्,
विश्वाभिराममनिशं शिवमाविरस्तु ॥५॥

मनुष्य मात्र की कामना है कि बाबा की आयु नियमों से प्रोज्ज्वल और अपरिमित हो तथा तपोबल अत्यन्त प्रिय और प्रकृष्ट हो तथा उनका अनुग्रह सम्पूर्ण संसार के सारे लोगों के लिए सुखद हो और प्रतिदिन शुभ कल्याण का उदय हो।

४. ब्रह्मर्षि योगिराज देवराहा स्तोत्रम्

प्रशान्तं सद्गुरुं वन्दे प्रत्यक्षं रामरूपिणम्।
शिरसा मञ्चपीठस्थं धर्मकामार्थसिद्धये॥

धर्म, अर्थ और काम इस त्रिवर्ग की सिद्धि के लिए शान्त, प्रत्यक्ष राम-रूप तथा मंच पर विराजमान श्री गुरुदेव को शिर से प्रणाम करता हूँ।

गुरुं देवराहासंज्ञं नमाम्यानन्दविग्रहम्।
यस्य सान्निध्यमात्रेण चिदानन्दायते वरम्॥

मैं आनन्दविग्रह गुरु देवराहा बाबा को प्रणाम करता हूँ जिनकी सन्निधिमात्र से सामान्य वस्तु भी आनन्दमय हो जाती है।

नवाय नवरूपाय परमार्थैकरूपिणे।
सर्वाज्ञानतमोभेदानवे चिद्घनाय ते॥

जो सदा नवीन है, नवरूपशाली है, परमार्थ ही जिनका स्वरूप है तथा जो सभी प्रकार के अज्ञानान्धकार को दूर करने के लिए सूर्य के समान हैं, ऐसे चैतन्यघन श्री बाबा को मैं नमस्कार करता हूँ।

स्वतंत्राय दयाक्लृप्तविग्रहाय परमात्मने।
परतन्त्राय भक्तानां भव्यानां भवरूपिणे॥
ज्ञानिनां ज्ञानरूपाय प्रकाशाय प्रकाशिनाम्।
विवेकिनां विवेकाय विमर्शाय विमर्शिनाम्॥

जिन्होंने दयावश शरीर धारण किया है, जो परमात्मरूप है, जो भक्तों के पराधीन है, जो भव्यजनों के लिए भवरूप है, जो ज्ञानियों के लिए ज्ञानरूप है, प्रकाशवानों के लिए प्रकाशरूप है, जो विवेकीजनों के लिए विवेकरूप हैं और विमर्शकों के विमर्शरूप है, उन श्री देवराहा बाबा को नमस्कार है।

आर्त्तानां शरणं त्रितापहरणं शोकाग्निनिर्वापणम्,
भीतानामभयं प्रसन्नवदनं प्रेमामृतास्वादनम्।
नित्यं ब्रह्मरसप्रलीनहृदयं शान्तं जगत्पावनम्,
ज्ञानानन्दघनस्वरूपममलं वन्दे गुरुं वत्सलम्॥

आर्त व्यक्तियों को शरण देने वाले, त्रिविध दुःखों का हरण करने वाले, शोक की अग्नि का शमन करने वाले, डरे हुए व्यक्तियों को अभय देने वाले, प्रसन्नमुख, प्रेमामृत का आस्वादन करने वाले, सदा ब्रह्मानन्द में निमग्न रहने वाले, शरणागत की रक्षा करने वाले ज्ञान एवं आनन्दस्वरूप, निर्मल तथा कृपालु गुरु को मैं नमस्कार करता हूँ।

प्रशांतं निरहंभावं, निर्मानं मुक्तमत्सरम्।
देवराहेति विख्यातं, योगिराजं नमाम्यहम्॥

जो सदा शांत रहते हैं, जिनमें अहङ्कार नहीं है, जिनमें मान आदि की भावना नहीं है तथा जो द्वेषभाव से मुक्त है, बाबा के रूप में विख्यात ऐसे योगिराज को मैं प्रणाम करता हूँ।

हर्षामर्षभयोद्वेगकामक्लेश विवर्जितम् ।
आत्मनात्मनि संतुष्टं योगिराजं नमाम्यहम्॥

हर्ष, क्रोध, भय, उद्वेग तथा कामक्लेश से रहित एवं अपने में ही संतुष्ट रहने वाले योगिराज को मैं नमस्कार करता हूँ।

समदुःखसुखं नित्यं समलोष्टाश्मकाञ्चनम्।
समनिन्दास्तुतिं धीरं योगिराजं नमाम्यहम्॥

जिनके लिए दुःख एवं सुख, मिट्टी का ढेला तथा सुवर्ण, निन्दा और स्तुति बराबर हैं, ऐसे धैर्यगुण-सम्पन्न योगिराज को मैं प्रणाम करता हूँ।

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
रजस्तमोवियुक्तं तं योगिराजं नमाम्यहम्॥

जिनसे लोग उद्विग्न नहीं होते तथा जो लोगों से उद्विग्न नहीं होते, ऐसे रजोगुण तथा तमोगुण से रहित योगिराज को मैं नमस्कार करता हूँ।

सर्वेच्छाः सकलाश्चिन्ताः सर्वेहाः सकलाः क्रियाः।
चित्तान्निर्वासिता येन योगिराजं नमाम्यहम्॥

जिन्होंने समस्त इच्छाओं, चिन्ताओं तथा क्रियाओं से चित्त को मुक्त कर लिया है, ऐसे योगिराज को मैं नमस्कार करता हूँ।

सर्वत्र विगतस्नेहं सर्वत्र समदर्शनम्।
सर्वत्र प्रेमवन्तञ्च योगिराजं नमाम्यहम्॥

जिन्हें कहीं भी आसक्ति नहीं है, जो सभी को समान भाव से देखते हैं, जो सभी के लिये प्रेम भाव रखते हैं, ऐसे योगिराज को मैं नमस्कार करता हूँ।

निःशेषितजगत्कार्यं परिपूर्णमनोरथम्।
आसक्तत्वेऽप्यनासक्तं योगिराजं नमाम्यहम्॥

जिन्होंने समस्त लौकिक कामों को समाप्त कर लिया है और जिनके सम्पूर्ण मनोरथ पूरे हो चुके हैं तथा जो आसक्त होते हुए भी अनासक्त हैं, ऐसे योगिराज को मैं नमस्कार करता हूँ।

विश्वमात्मनि पश्यन्तं सर्वज्ञानसमन्वितम्।
प्राकृतवच्चरन्तं तं योगिराजं नमाम्यहम्॥

जो समस्त विश्व का आत्मा में ही दर्शन करते हैं तथा जो समस्त प्रकार के ज्ञान से युक्त हैं, तथापि जो साधारण मनुष्य के समान आचरण करते हैं, ऐसे योगिराज को मैं नमस्कार करता हूँ।

सचिन्तत्त्वेऽपि निश्चिन्तं सक्रियत्वेऽपि निष्क्रियम्।
ब्रह्मस्थं देहवत्वेऽपि योगिराजं नमाम्यहम्॥

जो चिन्ता से युक्त होते हुए भी निश्चिन्त हैं, क्रियाशील होते हुए भी निष्क्रिय हैं, जो देह धारण करते हुए भी ब्रह्म में लीन हैं, ऐसे योगिराज को मैं नमस्कार करता हूँ।

उदासीनवदासीनं सदान्तर्दृष्टिसंयुतम्।
ईप्सयानीप्सया हीनं योगिराजं नमाम्यहम्॥

जो उदासीन (तटस्थ) की भाँति विराजमान हैं, सदा अन्तर्मुख दृष्टि से युक्त रहते हैं, जो इच्छा अथवा अनिच्छा से रहित हैं, ऐसे योगिराज को मैं नमस्कार करता हूँ।

संन्यस्तसर्वसंकल्पं योगारूढमनाश्रितम्।
सच्चिदानन्दरूपञ्च योगिराजं नमाम्यहम्॥

जिन्होंने सभी प्रकार के संकल्पों को त्याग दिया है, जिनका मन योग में आरूढ़ है तथा जो सच्चिदानन्दस्वरूप हैं, ऐसे योगिराज को मैं नमस्कार करता हूँ।

पुरस्तात्पार्श्वयोः पृष्ठे नमतस्त्वामुपर्यधः।
गुरो सदैव मे चित्ते विधेहि भवदासनम्॥

सभी प्रकार से—सामने रहते, पार्श्व में रहते, पीछे रहते तथा ऊपर और नीचे से—आपको प्रणाम करते हुए मुझ सेवक के हृदय के मध्य आप सदैव अपना आसन बनाइये।

५. ब्रह्मर्षि योगिराज देवराहा स्तुति-मालिका

यस्य दर्शनयोगेन सर्वा बाधा पलायते।
वंदे देवराहा बाबां लोकानुग्रहकारिणम्॥

जिनके दर्शन से सभी बाधाएँ दूर हो जाती हैं, ऐसे लोक कल्याणकारी श्री देवराहा बाबा की मैं वन्दना करता हूँ।

अनुपमशिवशीलं निम्नगातीरसंस्थम्,
कलिमलंहरशोभं ज्ञानविज्ञानपारम्।
अतिशयकरुणाढ्यं लोककल्याणनिष्ठम्,
धृतऋषिवरकायं सद्‌गुरुं सन्ततोऽस्मि॥

परम मंगलशील, नदी तट पर स्थित, कलि के दोषों को हर लेने की क्षमता से सुशोभित, ज्ञान और विज्ञान में पारंगत, अत्यन्त करुणा की निधि, लोक के कल्याण में निरत, ऋषि के श्रेष्ठ देह को धारण करने वाले सद्‌गुरु को मैं नमस्कार करता हूँ।

अनाथनाथनायकं स्वबोधसम्प्रदायकम्,
समृद्धिसिद्धिशासकं मनोव्यथाविदारकम्।
प्रपंचभारनाशकं प्रमादपाशभंजकम्,
नमामि संप्रकाशकं जनार्तिभीतिहारकम्॥
सदा प्रसन्नमानसं विभूतिपाशपाशितम्,
दयार्द्रचारुलोचनं विमोहशोकमोचनम्।
नमामि भक्तवत्सलं स्वभावतः सुकोमलम्,
बबूलकुंजवासिनं तपोधनं महामुनिम्॥

दीनोद्धारकों में अग्रणी, आत्मज्ञान के प्रदाता, समस्त सिद्धियों के स्वामी, मन की व्यथा को दूर करने वाले, संसार के भार को ध्वस्त करने वाले, प्रमादरूपी बन्धन को तोड़ने वाले, कल्याण के प्रकाशक, लोगों के भय एवं कष्ट को हरण करने वाले, सर्वदा प्रसन्नचित्त, महिमामंडित, दया से पूरित सुन्दर नेत्रों वाले, शोक और मोह से मुक्ति दिलाने वाले, भक्तवत्सल, स्वभाव से कोमल, बबूल कुंज में निवास करने वाले, योगिराज देवराहा बाबा को मैं प्रणाम करता हूँ।

स्थूलः सूक्ष्मस्तदुभयपरो निर्विकल्पो विचित्रः,
संसारोऽयं सलिललहरी यस्य सिन्धुः स्वयं यः।
धाम्ना स्वेनावरणरचनां धारयन् सर्वतः स्तं,
वन्दे देवं नयनसुभगं देवरहवाभिधानम्॥

स्थूल, सूक्ष्म और इन दोनों से परे निर्विकल्प और विचित्र, यह संसार जल की तरंगों के समान (अनित्य) है जिसका मूल (नदी) वह स्वयं है। (यानी वह परमात्मा से अभिन्न है जिनसे समस्त सांसारिक प्रपंच निकले हैं।) अपने धाम से, सभी ओर से आवरण-रचना को धारण करने वाले, उन नेत्रों की सुभग देवराहा बाबा को मैं प्रणाम करता हूँ।

त्वदीयः संसारत्रिविधपरितापेन पुटितः,
वसन्नस्मिन् प्राणी परिवहति पीडां निशिदिनम्।
प्रभुस्त्वं कर्त्ता त्वं तदपि जडजीवो हि फलभुक्,
समीचीनं नेदं त्वयि जगति सर्वत्र प्रसृते॥

ब्रह्मन्! आग का संसार त्रिविध दुःखों से घिरा हुआ है, इस दुःखमय संसार में निवास करते हुए प्राणी दिन-रात पीड़ा को ढोते रहते हैं। हे देव! तुम्हीं प्रभु हो, तुम्हीं सभी कर्मों को करने वाले हो, फिर भी जड़जीव उन कर्मों का फल भोगता है। सर्वत्र संसार में तुम्हारे व्याप्त रहने पर यह उचित प्रतीत नहीं होता।

किं वर्णयामि भवतः परमं विचित्रं,
दिक्कालबन्धरहितं विमलं स्वरूपं।
त्वत्सदृशो जगतिनाथ त्वमेव नूनं,
त्वत्तः परं त्रिभुवने नहि किञ्चिदस्ति॥

हे भगवन्! मैं आपके अत्यन्त विचित्र, दिक्काल के बन्धनों से रहित विमल स्वरूप का वर्णन किस प्रकार करूँ? हे नाथ! निश्चय ही इस संसार में आपके समान आप ही हैं। आप से परे इस संसार में कुछ भी नहीं है।

यद्वर्तमानं गुरुरेव तत् तु लीला गुरोः भूत-भविष्यतादि।
एषामदीये हृदि भावनाया बाबाप्रसादात् सुलभा शुभा सा॥

जो कुछ वर्तमान है वह गुरु ही हैं। भूत, भविष्यत् इत्यादि उन्हीं की लीला है। मेरे हृदय में वर्तमान इस प्रकार की भावना श्री बाबा की कृपा से सदैव सुलभ और प्रकाशित रहे।

आपत्सु मग्नः शरणं त्वदीयं ब्रजामि बाबा करुणापयोधे।
नाहं शठो नैव च कश्चिदन्यः तवास्मि देवेश तवैव चास्मि॥

हे करुणासिन्धु देवराहा बाबा! अनेक आपदाओं से आकंठमग्न मैं आपका शरणागत हूँ। मैं न तो कोई शठ हूँ न अन्य कोई अपरिचित जन। हे देवेश! मैं आपका ही रहा हूँ और आपका ही रहूँगा।

विभूतिमण्डिता वसन्ति यत्र ब्रह्मचारिणः।
सदात्मसाधनानुरक्त धीर वीतरागिणः॥
पुनाति कर्णकोटरं पुनीतकीर्तनध्वनि।
ध्वनिक्रमानुसारिणी मनोगता प्रतिध्वनि॥
शुभानि कंटकद्रुमाणि दिग् दिवा निशा कुशा।
वसन्ति यत्र जन्तवोऽपि सर्वदा निरंकुशा॥
भयं न बाधते विमोह-रागद्वेषशोकलं।
भजामि तत् ततो निवासनाथ पादपंकजम्॥

जिसके आश्रय में अनेक विभूतिमण्डित, सर्वदा आत्मज्ञान में संलग्न, धैर्यशील एवं वीतराग ब्रह्मचारीगण निवास करते हैं; जिसके समीप पवित्र रामनाम संकीर्तन सदैव लोगों के कर्णकुहरों को पावन बनाता रहता है तथा मन में प्रतिध्वनित होता रहता है; जिसके सम्पर्क से कँटीले वृक्ष, दिशाएँ, दिन, रात्रि, कुश इत्यादि लोगों के लिए शुभकारी हो गये हैं तथा जीव-जन्तु भी निर्भय होकर विचरण एवं निवास करते हैं; जिसके अवलम्बन से भय, अज्ञान, विषयासक्ति, द्वेष, शोक इत्यादि लोगों को बाधा नहीं पहुँचाते; परम तपस्वी ब्रह्मर्षि देवराहा बाबा के उस चरणकमल का मैं भजन करता हूँ।

६. ब्रह्मर्षि योगिराज देवराहा मिहिर दरसो

देवराहा मिहिर दरसो।
तिमिर-दारण, मोक्ष-कारण
चरण-पावन-परम परसो
देवराहा मिहिर दरसो।

अभय कर का अमित करुणास्फीत आशीर्वाद
कर रहा कल्याण जग का सत्य यह निर्वाद।
दयासागर परम योगी द्रवित आठो याम
कृपा-निर्झर-स्नात अंतर, रटो गुरु का नाम॥
चरण-रज भवभय-हरण, पा एक कण मन-प्राण हरसो
देवराहा मिहिर दरसो।

जन्म-जग जीवन-मरण आवागमन अविराम
मुक्ति की क्या साधना? कैवल्य औ' निज धाम।
कौन पथ? पूरे मनोरथ, कौन ऐसा काम?
योग-ईश्वर देवराहा नाम-जप लो थाम।
वरण कर यह व्रत, शरण में प्रणत रह आमरण सरसो॥
देवराहा मिहिर दरसो।

पद्मपदनख फूटती है प्रखर ज्योति अपार
बेधती है अंध मन के बंद कारागार।
ध्यान धर ज्ञानांशुकर भर हृदय का आगार
करो अवगाहन समुद्र गुरु प्रेम पारावार॥
प्रेमघन हे देवराहा! तृषित मन हृषित बरसो।
देवराहा मिहिर दरसो।

७. ब्रह्मर्षि योगिराज देवराहा अवतार

जय जय जय गुरुदेव दयानिधि, देवराहा बाबा अवतारी।
जय ज्ञानेश्वर, जय ध्यानेश्वर, जग विभूति जय, जय योगेश्वर,
दिव्यदृष्टि जय, भव्यसृष्टि जय, कृपावृष्टि जय, जय सर्वेश्वर।
जय दुखहर्ता, जय सुखकर्ता, जीवनभर्ता, मंगलकारी,
जय जय जय गुरुदेव दयानिधि, देवराहा बाबा अवतारी॥

जटाजूट बाघम्बरधारी, जय आजानुबाहु बपुधारी,
तीरथ मंचासीन लीन-हरि, जय ब्रह्मर्षि अद्वैताचारी।
वरदहस्त, करुणा-वरुणालय, जय जन-मानस-हृदय-विहारी,
जय जय जय गुरुदेव दयानिधि, देवराहा बाबा अवतारी॥

जय प्रयाग-काशी-वृंदावन, अशरण-शरण, भगत-भय-भंजन,
ज्ञेय-ज्ञान जय, समाधान जय, परमाराध्य, दोष-दृग-अंजन।
शेष-गणेश-सुरेश-महेशहुँ, आंजनेय जय जय उरगारी,
जय जय जय गुरुदेव दयानिधि, देवराहा बाबा अवतारी॥

परमसिद्ध, अद्भुत, अनूप जय, मृत्युंजय भगवद्स्वरूप जय,
भुक्ति मुक्तिकर, योग-क्षेमधर सतत भूत-हित भाव-भूप जय।
राम रमैया, कृष्ण कन्हैया, गुरु गोसैंया, विभु-वनवारी,
जय जय जय गुरुदेव दयानिधि, देवराहा बाबा अवतारी॥

जय प्रत्यक्ष-परोक्ष पुनीतं, लक्ष्य-अलक्ष्य, कल्पनातीतं,
एकमेव जय, परमदेव जय, अकथ-अनादि-अनंत-अजीतं।
जय साकार-सगुन-समदर्शी, निराकार-निर्गुण-अविकारी,
जय जय जय गुरुदेव दयानिधि, देवराहा बाबा अवतारी॥

वेद-पुराण-उपनिषद-शोधक, ज्ञान-उपासन-कर्म-प्रबोधक,
पुण्य-विधायक, मोक्ष-प्रदायक, महामोहतम-अघ-अवरोधक।
शोक-विनाशक, हर्ष-प्रकाशक, दीन जनन के पितु-महतारी,
जय जय जय गुरुदेव दयानिधि, देवराहा बाबा अवतारी॥

जय सर्वज्ञ-सर्वगत-संज्ञा, सर्व-समर्थ, भगीरथ-यज्ञा,
अकुल, अगेह, विदेह, बोधमय, पूज्य-चरण, पुरुषोत्तम-प्रज्ञा।
सुहृद-सुसेव्य-सतेज-सुधाकर, वाक-विभामय, जय पयहारी,
जय जय जय गुरुदेव दयानिधि, देवराहा बाबा अवतारी॥

पुण्य-पुंज, परमार्थ-परायण, निगमागम-गीता-रामायण,
मृत्युंजय, महिमा-महान् मुनि, नीलकंठ, नरतन नारायण।
नामधाम, तरुकाम, क्षमामय, आशुतोष, अतिशय उपकारी,
जय जय जय गुरुदेव दयानिधि, देवराहा बाबा अवतारी॥

जय सनकादि-व्यास-शुक-नारद, तपनिधान, विज्ञान-विशारद,
सदानन्द, सदावर्त, सनातन, सत्यसंघ, सत्कीर्ति-सुपारद।
गुरु गौरव-गिरि, शुद्ध-बुद्ध हरि, भू-सुर-धेनु-संत-हितकारी,
जय जय जय गुरुदेव दयानिधि, देवराहा बाबा अवतारी॥

जय अधिमातम-तत्त्व-सुवेत्ता, धर्मधुरीण, सुपंथ-प्रणेता,
युग-जीवन के गति-मति-चेता, सदाचार-संस्कृति के नेता।
संतराज, सद्गुरु, संरक्षक, वीतराग वैष्णव, ब्रह्मचारी,
जय जय जय गुरुदेव दयानिधि, देवराहा बाबा अवतारी॥

८. ब्रह्मर्षि योगिराज देवराहा दिव्य ज्योति

देव— ज्योति, देवराहा जय-जय
आगम-निगम पुरातन जय-जय
भव-तम, ताप नसावन, जय-जय
ज्ञान-निधान सुहावन जय-जय
चेतन, अमल, सनातन जय-जय

देव— ज्योति, देवराहा, जय-जय
पावन प्रभु-पद चिर प्रकाशमय
लोक-लोक आलोक रश्मिमय
भक्ति सरस सम में सब प्रभुमय
जन-मन शान्त परस पद निर्भय

देव— ज्योति, देवराहा, जय-जय
मंत्र-अर्थ, गुरु सर्वशक्तिमय
मंत्र-शब्द, शुभ सहज ज्ञानमय
मंत्र-ज्ञान गति, हे प्रभु चिन्मय
महाकाश में छवि सुदीप्तिमय

देव— ज्योति, देवराहा, जय-जय
अणु-अणु में स्पन्द तेजमय
हे अशेष कल्याण ओजमय
विश्वरूप विभुता अनन्तमय
तुम सब में लय, सब तुम में लय

देव— ज्योति, देवराहा, जय-जय
चरणामृत आगार सुधामय
लीलामृत शुचि सदा कृपामय
प्रभु वचनामृत प्रणवध्यानमय
रूपामृत अति दिव्य ज्ञानमय

देव— ज्योति, देवराहा, जय-जय
नमो नमन हे श्री नारायण
नमो नमन हे श्री रामायण
नील ब्योम है चन्द्र-भानु मय
जय-जय हे प्रभु, सियाराममय

देव— ज्योति, देवराहा, जय-जय

९. ब्रह्मर्षि योगिराज देवराहा आरती

मंगल आरती श्रीगुरुवर की,
सत-चित्-आनंद, विधि-हरि-हर की।

अतुल-अनंत-अनामय-अव्यय,
गुरु-परमातम, सिद्ध बोधमय;
दया-क्षमा-करुणा-वरुणालय-
भगत-वत्सल, भगवंत प्रवर की।

आदि-अनादि-अगोचर-अविचल,
पालक-पोषक-रक्षक प्रतिपल,
स्नेह-सुधामय गुरु-गंगाजल-
गति-मति-सद्गति सचराचर की।

मात - पिता - भर्त्ता - गुरु - स्वामी
सखा - शरण - प्रिय - अन्तर्यामी;
अखिल जगत् के संवल नामी-
तन-मन-धन-आशा हर घर की।

काम-क्रोध-मद-लोभ निवारो,
शोक-मोह-भय विभ्रम टारो;
वरद हस्त सत्वर सिर धारो-
निर्मल ज्योति करो अंतर की।

धूप-दीप-नैवेद्य न पाऊँ
पास तुम्हारे कैसे आऊँ;
श्री चरणों में सीस नवाऊँ-
गाऊँ गुन यश आरति-हर की।

००

ब्रह्म एवं योगदर्शन

(द्वितीय खण्ड)



योगीन्द्र वदनोच्छिष्टं दर्शनं ब्रह्मयोगयोः ।
मुक्तये जीवजातस्य सर्वत्रैव प्रवर्तताम् ॥

योगीन्द्र श्री देवराहा बाबा के मुखारविन्द से उच्छिष्टवत् प्रकटित ब्रह्म एवं योग दर्शन सम्पूर्ण प्राणियों की मुक्ति के लिए सर्वत्र प्रवर्तित हो।





दया की प्रतिमूर्ति श्री बाबा



लोकमंगलावतार श्री बाबा

श्री बाबा का ब्रह्म एवं योग-दर्शन

१. श्री बाबा का ब्रह्म एवं योग-दर्शन

इस दृश्य जगत का उद्भव और विकास जिस तत्त्व से हुआ है उसे वेदों, उपनिषदों तथा पुराणों में ब्रह्म शब्द से अभिहित किया गया है। ब्रह्म का लक्षण है वृहत्व और वृह्मनत्व। वृहत्व का अर्थ है—विशालता, महत्ता या विभुता। ब्रह्म इतना विशाल, महान् और विभु है जिसे किसी भी शब्द से व्यक्त नहीं किया जा सकता और न किसी प्रमाण से परिच्छिन्न किया जा सकता है। केवल यही कहा जा सकता है कि ब्रह्म अपरिमित अर्थ में वृहत् है। उसकी कोई माप-तौल नहीं है। वृह्मनत्व का अर्थ है—बढ़ाना, विकसित करना। ब्रह्म ही वह तत्त्व है जिसके कारण पदार्थों का वृंधन होता है, विस्तार होता है, विविध रूपों में विकास होता है। ब्रह्म के इस वृंधन में उनकी अनादि शक्ति सहायिका होती है अथवा यों कहा जा सकता है कि उनकी यह शक्ति ही इस वृधित जगत् का उपादान है। इस शक्ति के तीन रूप बताये गये हैं—सत्, रज और तम। वेदान्त दर्शन में इस शक्ति का अविद्या, माया शब्दों में उल्लेख कर उसका विस्तार से वर्णन कर उसे अनिर्वचनीय बताया गया है। सांख्य योग-दर्शन में उसे त्रिगुणात्मिका प्रकृति के रूप में व्याख्यायित किया गया है। न्याय वैशेषिक दर्शन में उसे अनन्त जीवों की पूर्वार्जित अदृश्य शक्ति के रूप में वर्णित किया गया है। शैव-दर्शन में विमर्श शक्ति के रूप में इसका प्रतिपादन हुआ है। वैष्णव दर्शन में, भगवत् और भगवान् की सह कार्यशक्ति बताते हुए लक्ष्मी, राधा आदि नामों से उसका प्रतिपादन है।

ब्रह्म को शास्त्रों में सत् चित् आनन्द रूप कहा गया है और वेदान्त आदि दर्शनों में इन नामों के अर्थ का पूरा विवरण प्राप्त होता है। पूज्य बाबा ने शास्त्रों का आश्रय लेते हुए और साक्षी रूप में, शास्त्रीय वचनों को उद्धृत करते हुए अपनी योगसाधना और अनुभूति के आधार पर सत् चित् आनन्द का निरूपण किया है और समय-समय पर अपने दर्शनार्थ आये हुए जिज्ञासु भक्तों को सुबोध और सरल रीति से उन्हें अवगत कराने की कृपा की है। याज्ञवल्क्य के **'अयमेव परमोधर्मो यद् योगेनात्मदर्शनम्'** इस युक्ति को उद्धृत करते हुए बाबा ने यह भी स्पष्ट किया है कि योग द्वारा ब्रह्मत्व दर्शन प्राप्त करना ही मानव जीवन का सर्वोत्तम कर्तव्य है। योग के संबंध में चर्चा करते हुए बाबा ने उसके विविध रूपों और प्रत्येक में पतंजलि के चित्तवृत्ति निरोधात्मक योग की अपेक्षा योग के यथापेक्ष अवलम्बन की आवश्यकता बताई है। बाबा ने ब्रह्म के उक्त तीनों स्वरूपों एवं उसकी अनुभूति के मुख्य साधन योग के बारे में जो कुछ कहा है, वह सब जिज्ञासुओं एवं विद्वानों की कल्याण भावना से प्रस्तुत किया जा रहा है।

२. मूलतत्त्व की सद्रूपता

दृश्य जगत् का समरूप में भान होना सर्वमान्य है। जगत् के दृश्यमान पदार्थों का असम रूप में किसी को भी भान नहीं होता अपितु सबको सद्रूप में भान होता है। प्रश्न होता है कि जगत् के पदार्थों की सद्रूपता कहाँ से मिलती है? क्या वे स्वभावतः स्वयं ही सद्रूप है अथवा सद्रूपता उनमें आगन्तुक है? स्वयं सद्रूप मानना तो उचित नहीं हो सकता क्योंकि स्वयं सद्रूप होने में उन्हें कभी सत्ता से च्युत नहीं होना चाहिए, अपितु शाश्वत होना चाहिये। किन्तु सत्ता से च्युति एवं उनकी अशाश्वतता सर्वसिद्ध है। अतः यही कहना उचित होगा कि जगत् की सद्रूपता आगन्तुक है। इस पक्ष की उपपत्ति तभी हो सकती है जब जगत् के मूलतत्त्व ब्रह्म को सत् माना जाय, क्योंकि जगत् का जन्म मूलतत्त्व ब्रह्म से ही हुआ है, अतः उसी से उसे सत्ता का लाभ हो सकता है। माया और अविद्या आदि भी जगत् का कारण है, किन्तु उससे जगत् को सत्ता की प्राप्ति संभव नहीं है। अतः उनमें सद्रूपता नहीं मानी जा सकती, क्योंकि मूलतत्त्व ब्रह्म का साक्षात्कार होने पर उनकी निवृत्ति हो जाती है। यदि वे सत् होंगे तो उनकी निवृत्ति कदापि तथा कथमपि न हो सकेगी, क्योंकि गीता के शब्दों में—**'नाभावो विद्यते सतः'**—सत् का कभी अभाव नहीं होता।

इस प्रकार जगत् में दृश्यमान सत्ता की उत्पत्ति के लिये मूलतत्त्व ब्रह्म का सत् होना परम आवश्यक है।

३. श्री बाबा की दृष्टि में सत् तत्त्व

सत् तत्त्व मानव मात्र की जिज्ञासा का विषय है। अनादि काल से दार्शनिक, भक्त और साहित्यकार इसी तत्त्व की खोज में हैं तथा आज का वैज्ञानिक भी इसी तत्त्व की खोज कर रहा है। परम्परा, देश-काल और व्यक्तित्व के अनुसार इस तत्त्व की व्याख्या की जाती रही है और आगे भी होती रहेगी। शायद इसीलिए श्रुति कहती है, **'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति।'** विश्व में प्राचीनतम उपलब्ध ग्रन्थ वेद हैं—उनमें इस तत्त्व की अनेक प्रकार से व्याख्या की गई है। ऋग्वेद के अनेक सूक्तों में इस तत्त्व की महनीय और भव्य व्याख्या की गई है। इस सम्बन्ध में पुरुष सूक्त विशेष रूप से उल्लेख्य है। यजुर्वेद और अथर्ववेद में ब्रह्माण्ड के शक्ति केन्द्रों में उसके रूप की झलक देखी गई है—

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद् वायुस्तदु चन्द्रमाः।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः॥
(यजु०, अ० ३२, मं० १)

स धाता स विधर्ता स वायुर्नभ उच्छ्रितम्।
सोऽर्यमा स वरुणः स रुद्रः स महादेवः॥
सो अग्नि स उ सूर्यः स उ एव महायमः।
(अ० १३।४।३-४-५)

स वरुणः सायमग्निर्भवति स मित्रो भवति प्रातरुद्यन्।
स सविता भूत्वान्तरिक्षेण याति स इन्द्रो भूत्वा तपति मध्यतो दिवम्॥
(अथर्ववेद १३।३।३१)

उपनिषदों में भी इस तत्त्व का अनेक प्रकार से वर्णन हुआ है—

सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म। (तै० २।१।१)
तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिः। (मुण्डक)
न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनो।
न विद्भो न विजानीमो यथैतदनुशिष्यात्॥
अन्यदेव तत् विदितादथो अविदितादधि।
इति शुश्रुम पूर्वेषां ये नस्तद् व्याचचक्षिरे॥ (के० १।३)

अणोरणीयान् महतो महीयान्। (कठ० २। २०)
निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्। (श्वेत० ६। १९)

इस अवर्णनीय, अनिर्वचनीय और अप्रमेय सत् तत्त्व की व्याख्या के कारण ही सब दर्शनों का आविर्भाव हुआ।

४. सत् तत्त्व और आधुनिक विज्ञान

यद्यपि आधुनिक विज्ञान में सत् तत्त्व का प्रतिपादन उस दृष्टि से नहीं हुआ है जिस दृष्टि से भारत के आध्यात्मिक ग्रन्थों में हुआ है तथापि यह नहीं कहा जा सकता कि विज्ञान उस ओर से सर्वथा विमुख है। वह तो एक विशेष प्रकार की प्रक्रिया है। इस अखण्ड निर्ग्राह्य सत् की खोज में वैज्ञानिक भी बड़ी ईमानदारी से जुटे हुए हैं। आज तक के वैज्ञानिक आविष्कारों से यह बात प्रमाणित हो जाती है कि वे किसी अन्तिम निर्णय पर नहीं पहुँच पाये हैं। न्यूटन के गुरुत्वाकर्षण के सिद्धान्त की पूर्णता में तो पहले ही प्रश्नवाचक चिह्न लग चुका था। पदार्थ और ऊर्जा के पूर्व निर्णीत सिद्धान्तों में भी परिवर्तन हो चुका है। अब तो इस राकेट युग में देश-काल और गति अन्वेषण के विषय बने हुए हैं। विज्ञान की दृष्टि से आज का मानव अणुयुग में रह रहा है। इसीलिए आज अणु और अनन्त की चर्चा है। निश्चय ही यह सब सत् का ही विलास है। उस परम तत्त्व के सम्बन्ध में श्रुति कहती है—**'महतो महीयान्, अणोरणीयान्'** सुविधा के लिए अणु और महत् दो विशेषणों का प्रयोग उसी सत् के लिए किया जाता है। वस्तु स्थिति तो यह है कि सत् तत्त्व महत् और अणु दोनों से परे है—इनका प्रयोग व्यवहार के लिए किया जाता है। वैज्ञानिक यन्त्रों से तो विराट् अथवा अनन्त का दर्शन सम्भव ही नहीं है। यह आश्चर्यचकित करने वाला एक रहस्यमय विलास है। जिस प्रकार महत् अथवा अनन्त अथवा विराट् सत् तत्त्व की लीला है—ठीक उसी प्रकार अणु भी उसी का विलास है। विज्ञान ने भी इस बात का पता लगा लिया है कि परमाणु के केन्द्र बिन्दु (न्यूक्लियस) के चारों ओर अनेक कण (इलेक्ट्रान) चक्कर काटते रहते हैं। आज विज्ञान का विषय ही इन कणों का परीक्षण है। अणु एक पिण्ड है और अनन्त ब्रह्माण्ड। दोनों की क्रिया-प्रतिक्रिया का साम्य ही एक सत् तत्त्व का प्रतिपादन करता है—जो व्यवहार में अणु से भी अणु है और महत् से भी महत् है। **'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे'** का भारतीय सिद्धान्त सोलहों आने सत्य और विज्ञानसिद्ध है। **'ततो विराडजायत'** इत्यादि श्रुतियाँ सत् तत्त्व के विराट् रूप की ओर ही निर्देश करती हैं। गीताकार का विराट् वर्णन उसी परम्परा का है।

गोस्वामी तुलसीदास जी ने सद्रूप भगवान् रघुवंशमणि को इसी विराट् रूप में देखा है—

विदुषन प्रभु विराटमय दीसा।
प्रभु मुख कर पग लोचन सीसा॥
विश्व रूप रघुबंस मनि करहु बचन बिस्वासु।
लोक कल्पना बेद कर अंग-अंग प्रति जासु॥

आज जो लोग मानवता का ढोल पीट रहे हैं और उसे वर्तमान युग की देन कहते हैं—यह सब एक ढकोसला है। भारतीय परम्परा में उस विराट् की पुरुष रूप में ही अवतारणा हुई है। महाभारत के शान्ति पर्व में तो यहाँ तक कहा गया है—

'गुह्यं ब्रह्म तदिदं ब्रवीमि नहि मानुषाच्छ्रेष्ठतरं हि किञ्चित्।'

५. भौतिक दर्शनों में भी सत् तत्त्व का संकेत

कुछ लोगों का कहना है कि भौतिक दर्शनों में सत् तत्त्व को स्वीकार नहीं किया गया है किन्तु यह विचार बहुत सही नहीं है, क्योंकि दर्शन मात्र के मूल में जिज्ञासा का भाव है अर्थात् अज्ञात को जानने की इच्छा। यह जड़-चेतन का भेद तात्त्विक नहीं है। यह सब चेतन का ही विलास है तो भेद काल्पनिक नहीं तो क्या है? जिसे आजकल जड़वादी या भौतिकवादी विचारधारा कहा जाता है, वेदों में विद्वानों को उसका भी संकेत सरलता से प्राप्त हो जाता है। दर्शनों का भेदकतत्त्व जड़-चेतन की भेद बुद्धि होती है—इसे द्वैत-अद्वैत भी कहा जा सकता है। असल बात तो यह है कि मूल में एक ही तत्त्व है—उसे चाहे जड़ कहा जाय या चेतन कहा जाय, दृष्टि का भेद मात्र है।

दो तत्त्वों को मानकर चलने वाली दृष्टि में दोनों के सम्बन्ध स्थापित करने की समस्या खड़ी हो जाती है और इसीलिए आस्तिक-नास्तिक तथा अध्यात्मवादी-जड़वादी जैसे भेदों की कल्पना की जाती है। भारतीय दर्शन के सम्बन्ध में एक बड़ी भ्रान्ति यह रही है कि उसके मूल में विशुद्ध दुःख और निराशा है; तथा उसका मूल दृष्टिकोण निवृत्तिपरक है और इसीलिए वैज्ञानिक कसौटी पर वह खरा नहीं उतर सकता। यह बात सर्वथा मिथ्या और भ्रान्ति-जन्य है। वस्तुस्थिति तो यह है भारतीय दर्शन के मूल में वहीं मंगलमय आशा और सुखोपलब्धि है, जो विज्ञान का चरम लक्ष्य है। भारतीय दर्शन का जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध है। जीवन और दर्शन एक ही चित्र के दो पहलू हैं। दर्शन सैद्धान्तिक पहलू है और जीवन व्यावहारिक। भारतीय मनीषियों ने दार्शनिक दृष्टि से जीवन का विश्लेषण किया है। यह उसकी अपनी मौलिकता है और उपलब्धि भी। जीवन की मूल समस्याओं का सही समाधान कर आत्मस्वरूप प्रस्तुत करना ही तो दर्शन का प्रतिपाद्य है।

दर्शन के मूल में जो जिज्ञासा है वही तो हमें जीवन के प्रति, जगत् के प्रति तथा अदृष्ट सत्ता के प्रति नवीन अन्वेषणों तथा अनुसन्धानों में प्रवृत्त करती है। इसीलिए हम कह सकते हैं कि जीवन तथा उससे सम्बद्ध सभी पदार्थों का तात्त्विक विश्लेषण दर्शन का लक्ष्य है। यहाँ तात्त्विक शब्द पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। दर्शन तो वास्तव में एक रसायन है जो मानव के रोगों के मूल का निदान और उपचार करता है; क्योंकि यह सब पदार्थों के मूल हेतु का, आत्मा के स्वभाव का तथा पुरुष की प्रकृति का विश्लेषण करता है तथा जीवात्मा-परमात्मा के ऐक्य का, जड़-चेतन के अभेद का प्रतिपादन करता है, इसलिए जीवन के गहन और तात्त्विक अन्वेषण का एकमात्र साधन दर्शन है। आत्मसाक्षात्कार दर्शन का लक्ष्य है, परन्तु प्रक्रिया में—ईश्वर, जीवात्मा, प्रकृति, सृष्टि रचना, मन और निःश्रेयस आदि का विश्लेषण साधनरूप में ग्रहण किया जाता है। ये साधनभूत विषय बाह्य भी हैं और आन्तरिक भी। कुछ दर्शन तो ऐसे हैं जो केवल बाह्य विश्लेषण तक ही सीमित रह जाते हैं और कुछ इनका आन्तरिक विश्लेषण भी प्रस्तुत करते हैं, दोनों प्रकार के दर्शन एक दूसरे के पूरक हैं—विरोधी नहीं। इस दृष्टि से हम षड्दर्शन के तीन युगल बना सकते हैं—१. सांख्य-योग, २. वैशेषिक-न्याय तथा ३. मीमांसा-वेदान्त। सांख्य दर्शन में जगत् के मूल उपादान प्रधान तथा उसकी विकृति का विश्लेषण हुआ है तो योग में उसकी आन्तरिक और मूल वृत्तियों का प्रतिपादन और उनके निरोध का व्याख्यान है। वैशेषिक में पृथ्वी आदि बाह्य पदार्थों का विश्लेषण हुआ है तो न्याय में इनके भीतरी उपकरणों और साधनों के

स्वरूप की व्याख्या है। इसी प्रकार मीमांसा में जीवात्मा के कर्म-कलाप का विधान है तो वेदान्त में जीवात्मा और जगत् के मूल तत्त्व का प्रतिपादन है।

इसलिए यह बात स्पष्ट है कि भारतीय दर्शन सर्वथा परस्पर अविरोधी है। द्वैत और अद्वैत के मूल में भी कोई तात्त्विक भेद नहीं है। दर्शन सामान्यतया चार विषयों को प्रतिपाद्य बनाता है—हेय, हेय हेतु, हान और हानोपाय। प्रत्येक प्राणी का लक्ष्य सुख और आनन्दोपलब्धि है—सापेक्ष आनन्द और सुख चरम लक्ष्य नहीं हो सकते, इस सुख अथवा आनन्द का बाधक अथवा विरोधी दुःख होता है—उसके वास्तविक स्वरूप को जानना आवश्यक है। वास्तव में वह दुःख ही हेय अर्थात् त्याज्य है। दुःख के वास्तविक स्वरूप को जानने के पश्चात् उसके वास्तविक कारण की खोज की जाती है। वह कारण ही हेय-हेतु कहलाता है। उस दुःख का हम अत्यन्ताभाव करना चाहते हैं और उस अत्यन्ताभाव की अवस्था का अनुभव भी करना चाहते हैं। इसी को हान कहते हैं। इस स्थिति को प्राप्त करने के लिए जो साधन किए जाते हैं—उसी का नाम हानोपाय है। अब यह स्पष्ट हो गया कि दर्शन के मूल में जीवात्मा के दुःख निवारण का उपाय चरम साध्य है। व्यावहारिक भाषा में हम यों कह सकते हैं—दुःख क्या है, वह किसको और क्यों होता है तथा उसके निवारण का क्या उपाय है? द्रष्टा, दृश्य और भोक्ता का समावेश भी इसी में हो जाता है। व्यापक रूप से विचार करने पर ये तीन ही तत्त्व उभर कर सामने आते हैं अर्थात् ईश्वर, प्रकृति और जीव। इसलिए दर्शन में इन्हीं के माध्यम से विचार किया गया है। अब द्वैतवादी और अद्वैतवादी दृष्टि से इस पर विचार करने से स्पष्ट हो जायगा कि अद्वैतवादी, हान अर्थात् स्वरूप स्थिति को ही परमात्म-तत्त्व मानता है तथा द्वैतवादी आत्म-तत्त्व और परमात्मतत्त्व में सजातीय भेद मानता है। मुक्ति की अवस्था में कोई तात्त्विक भेद नहीं है। उसकी दृष्टि में जड़ तत्त्व अवश्य विजातीय है—बस, यहीं दोनों का मतभेद प्रतीत होता है, क्योंकि अद्वैतवादी तो जड़तत्त्व की भिन्न सत्ता ही स्वीकार नहीं करता—वह तो उसे परमात्मतत्त्व में आरोपित मानता है और उसी को उसने माया कह दिया है। अब व्यवहार में तो अद्वैतवादी को भी माया को मानना पड़ा, वह दूसरी बात है। वह उसे परमात्मा की शक्ति के रूप में स्वीकार करता है। असल में यह शब्दों का माया-जाल है—कोई तात्त्विक अथवा वास्तविक भेद की बात नहीं है। सद् रूप चेतन इस मान्यता से खण्डित नहीं होता है—

माया मेघो जगन्नीरं वर्षत्येष यतस्ततः।
चिदाकाशस्य नो हानिर्न च लाभ इति स्थितिः॥
नामरूप विनिर्मुक्तं यस्मिन् सन्तिष्ठते जगत्।
तमाहुः प्रकृतिं केचिन्मायामन्ये परे त्वणून्॥

इस प्रकार जड़, प्रकृति, माया, परमाणु आदि नाम स्वरूप-ज्ञान में बाधक नहीं समझने चाहिए, बल्कि एक प्रकार से वे साधक ही हैं।

६. भौतिक दर्शन भी नास्तिक नहीं हैं

भौतिक दर्शनों में सत् तत्त्व की मान्यता होने से उन्हें नास्तिक दर्शन कहना भी संगत नहीं है, क्योंकि सत्य यह है कि पाश्चात्य दर्शन भी वास्तविक अर्थ में नास्तिक नहीं कहे जा सकते। यदि वैदिक वाङ्मय का सूक्ष्म अध्ययन किया जाय तो यह द्वैतवादी जड़वादी विचार-धारा वहाँ भी किसी-न-किसी रूप में मिलेगी। अथर्ववेद में तो यह विशेष रूप में उभरी हुई प्रतीत होती है। उपनिषदों में भी इस भौतिकवादी विचार-धारा के अनेक संकेत मिलते हैं। ऐसा लगता है कि तत्त्वचिंतकों का एक वर्ग तो विशुद्ध तात्त्विक विश्लेषण में जुटा रहा और दूसरा वर्ग भौतिक उपलब्धियों के साधनों में। धीरे-धीरे दोनों विचार-धाराओं में इतनी गहरी खाई हो गई कि एक का नाम आस्तिक विचार-धारा पड़ गया और दूसरी का नास्तिक। उपनिषत्काल में तो भौतिक विचार-धारा के अनेक केन्द्र स्थापित हो गये थे। उपनिषदों का सामान्य विषय अध्यात्म है—अर्थात् ईश्वर, जीव और प्रकृति का किसी-न-किसी रूप में निरूपण। कुछ उपनिषदों में उन ऐतिहासिक व्यक्तियों का उल्लेख भी हुआ है, जिन्हें दर्शन-शास्त्र का प्रवर्तक कहा जा सकता है। ऐसे उपनिषदों में प्रमुख उपनिपद् है—छान्दोग्य, वृहदारण्यक, कौषीतिकी तथा मैत्रेय। इनमें प्रवाहण, जैवलि, उद्दालक, आरुणि, याज्ञवल्क्य तथा सत्यकाम जाबाल आदि का उल्लेख मिलता है। उपनिषदों की शैली संवाद-शैली है और उनमें प्रश्नोत्तर रूप में दार्शनिक विचार प्रस्तुत किये गये हैं। इन विचारों का यदि सूक्ष्म अध्ययन किया जाय तो स्पष्ट हो जायगा कि उपर्युक्त चिन्तकों की विचार-धारा बड़ी क्रान्तिकारी तथा खण्डन-मण्डनात्मक है। वास्तव में क्रान्तिकारी और तर्कसम्मत खण्डन-मण्डनात्मक विचार-धारा भारतीय चिन्तन-पद्धति का प्राण है। एक बात अवश्य है कि इन चिन्तकों की विचारधारा परम्परा-विच्छिन्न नहीं है—वैदिक परम्परा के अनुकूल ही है। छान्दोग्य उपनिषद् में सयुग्वारैक्व नामक एक ऐसे ऋषि का उल्लेख है जिसकी चिन्तन-पद्धति नितान्त नवीन और क्रान्तिकारी है। उसके दार्शनिक विचार विशुद्ध अध्यात्मवादी न होकर भौतिकवादी हैं। उदाहरण के लिए उसने संसार का मूलोपादान वायु को माना है तथा आध्यात्मिक तथा भौतिक जगत् के मूल में केवल वायु तत्त्व को ही स्वीकार किया है। इतनी बात जरूर है कि रैक्व ने वैदिक मान्यता की निन्दा नहीं की है।

७. चार्वाक दर्शन के सम्बन्ध में श्री बाबा के विचार

चार्वाक दर्शन को नास्तिक दर्शन कहने की बड़ी पुरानी परम्परा चली आ रही है और यह समझा जाता है कि यह दर्शन चार्वाक नाम के किसी विशेष व्यक्ति द्वारा प्रवर्तित हुआ है, किन्तु यह सत्य नहीं है। चार्वाक किसी व्यक्ति का नाम नहीं है। यह लाक्षणिक प्रयोग है। चार्वाक का शाब्दिक अर्थ है—वह व्यक्ति जो चबाने के लिए तैयार रहे अर्थात् जो भोगवाद को ही सर्वस्व मानता हो। जड़वादी दर्शन के आचार्यों में बृहस्पति का नाम विशेष रूप से उल्लेख्य है। उनके सूत्र प्रामाणिक ग्रन्थ के रूप में तो नहीं मिलते पर सन्दर्भ रूप में यत्र-तत्र बिखरे हुए अवश्य मिल जाते हैं। इस दर्शन का मूल सिद्धान्त है—ईश्वर, आत्मा, पुनर्जन्म तथा परलोक का निपेध तथा भोगों की उपादेयता का प्रतिपादन। अनुभव और बुद्धि ही इस दर्शन के मूलभूत साधन हैं। कालान्तर में इस जड़वादी अथवा भौतिकवादी दर्शन की भी अनेक शाखाएँ हो गईं और यह अनेक वर्गों में विभाजित हुआ। प्रत्येक शाखा के पोषक अनेक आचार्य हो गये हैं, जिनका अब नाम भी लुप्त हो चुका है। बौद्ध और जैन-दर्शन भी इसी विचार-धारा का किसी-न-किसी रूप में पल्लवन करते हैं, परन्तु इन दर्शनों की अपनी-अपनी विशेषताएँ भी हैं। जैन-दर्शन में शारीरिक कर्म तथा तपस्या पर विशेष बल दिया गया है और इसमें आचार की प्रधानता और हर प्रकार की

हिंसा से बचने का उपदेश है। इसी प्रकार बौद्ध-दर्शन, जिसे क्षणिकवादी अनात्मवादी कहा जाता है—भारतीय दर्शन-धारा में एक विशेष स्थान रखता है। बौद्ध-दर्शन के पोषक बड़े प्रतिभाशाली, चिन्तक और विचारक हुए हैं। नागार्जुन, असंग, वसुबन्धु, दिङ्नाग तथा धर्मकीर्ति की विचारधारा ने उत्तरवर्ती भारतीय दर्शन-परम्परा को बड़ा प्रभावित किया। यदि गम्भीरता से विचार किया जाय तो स्पष्ट हो जाएगा कि बौद्ध-दर्शन के मूल सिद्धान्त भारतीय दर्शन-परम्परा से विच्छिन्न नहीं हैं। भगवान् गौतम बुद्ध के चार आर्य सत्य अर्थात्—दुःख, दुःख समुदय, दुःख निरोध तथा दुःख निरोधगामी मार्ग—विशुद्ध भारतीय वैदिक परम्परा के हैं। इसी प्रकार अट्टांगिका अर्थात् दृष्टि, संकल्प, वचन, कर्म, जीविका, प्रयत्न, स्मृति और समाधि का विवेचन भी महाभारत में बड़े स्पष्ट रूप में हुआ है। कोई नई बात नहीं है। केवल इतनी सी बात है कि कर्म और उपासना की अपेक्षा बुद्ध का झुकाव ज्ञान की ओर अधिक था, जिसके कारण वे बुद्धिवादी हो गये। इस दर्शन को क्षणिकवादी इसलिए कहते हैं कि इसके अनुसार किसी भी वस्तु की सत्ता एक क्षण से अधिक नहीं है। कारण यह है कि भगवान् बुद्ध ने सम्पूर्ण प्रवृत्तियों के मूल में अविद्या और तृष्णा को ही माना है। असल बात तो यह है कि बौद्ध-दर्शन न तो विशुद्ध आत्मवादी है और न ही विशुद्ध जड़वादी। स्वयं बौद्ध-दर्शन के आचार्यों ने न तो इसे वाद (आत्मवाद) ही कहा और न प्रतिवाद (भौतिकवाद) ही। बल्कि इसे अभौतिक अनात्मवाद कहा है। इसीलिए ये लोग जीवन को एक विच्छिन्न प्रवाह के रूप में देखते हैं। परलोक और पुनर्जन्म की इन्होंने स्वीकृति नहीं दी है।

८. दर्शनों में नास्तिक भेद की कल्पना आधारहीन

दर्शनों में आस्तिक और नास्तिक ऐसे दो भेदों की कल्पना भी बड़े लम्बे समय से चर्चित होती आ रही है। किन्तु यह भेद भी समीचीन नहीं प्रतीत होता, क्योंकि एक उच्च विचारक की यह धारणा होती है कि ऐसे भेदों की कल्पना निराधार और अनावश्यक है। उसका विचार यह होता है कि सारा प्रपंच एक सत्ता के अन्तर्गत आ जाय—तभी तो सत् के पूर्ण रूप का अनुभव हो सकता है। उस स्थिति में सारे दृश्य प्रपंच का अनुभव अपने में ही होने लगता है—फिर राग-द्वेष किससे किया जाय। किसे नास्तिक कहा जाय और किसे आस्तिक कहा जाय। यह सब वृत्तियों का खेल है—आत्मतत्त्व तो इन वृत्तियों से परे है। प्रपंच में मिथ्यात्व बुद्धि अथवा भौतिकता या नास्तिकता का आरोप भी एक वृत्ति ही है। **'अहं ब्रह्मास्मि', 'जीवो ब्रह्मैव नापरः', 'अयमात्मा ब्रह्म'** इत्यादि भी वृत्तियाँ ही हैं। आत्मस्वरूप में वृत्तियों का भी अत्यन्ताभाव है। ऐसी बात नहीं है। आस्तिक और नास्तिक भाव में निष्ठा और आस्था का प्रश्न प्रधान है। आस्तिक भाव में परतत्त्व के प्रति निष्ठा और आस्था निहित रहती है। यह आस्था विघटनशील नहीं होती, उसमें स्थायित्व होता है। श्रद्धा और विश्वास उसके आधार हैं, पूर्ण त्याग और समर्पण उसके फल हैं। सामान्य परिभाषा में वेद अथवा ईश्वर के प्रति निष्ठावान् व्यक्ति को आस्तिक कहा जाता है। यह बात अपनी जगह ठीक तथा शास्त्रविहित है, परन्तु निष्ठा के केन्द्र और भी हो सकते हैं और हैं। ईश्वर की ही बात को लिया जाय तो ईश्वर के सम्बन्ध में हमारी जैसी कल्पना है, वैसी अन्य धर्म वालों की नहीं है, परन्तु उनकी निष्ठा तथा आस्था में तो कोई त्रुटि नहीं है। शैव, शाक्त और वैष्णव की इष्ट कल्पना भिन्न-भिन्न होती है, परन्तु उनकी आस्था विघटनशील नहीं होती। शैवों, शाक्तों और वैष्णवों के भी अनेक सम्प्रदाय हैं। अब जिसे घोर नास्तिक कहा जाता है—उसकी निष्ठा तथा आस्था पर विचार किया जाय। उसकी श्रद्धा तथा विश्वास पर ध्यान दिया जाय तथा उसके त्याग और समर्पण की भावना देखी जाय। यह दूसरी बात है कि उसकी निष्ठा तथा आस्था का आलम्बन कोई प्रतीक है—कोई व्यवस्था है, अथवा कोई व्यक्ति विशेष है। परन्तु आस्तिकता के व्यापक परिवेश से उसे अलग नहीं किया जा सकता।

९. सत् तत्त्व के सम्बन्ध में पाश्चात्य दर्शनों की दृष्टि

सत् तत्त्व के सम्बन्ध में पाश्चात्य-दर्शनों में भी अनेक प्रकार के विचार उपलब्ध होते हैं। अन्य दर्शनों के अध्येतागण पाश्चात्य मान्यता के रूप में उसका उल्लेख करते हैं, किन्तु पाश्चात्य-पौर्वात्य अथवा प्राच्य-प्रतीच्य, औदीच्य अथवा दाक्षिणात्य जैसे भेद यथार्थवेत्ता की दृष्टि में असंगत हैं। सच यह है कि सम्पूर्ण विचारधाराएँ आत्मसमुद्र की तरंगें हैं। व्यवहार में यह भेद अवश्य चलता है। सभी विचारधाराओं का लक्ष्य एक ही है—यह दूसरी बात है कि कौन-सी धारा गन्तव्य तक पहुँच पाती है। आधुनिक युग में तो दर्शन की परिभाषा ही बदल गई है, क्योंकि जीवन के दृष्टिकोण को ही दर्शन माना जाने लगा है और यही कारण है, पाश्चात्य विचारकों के जीवन-दर्शन पर उनकी परिस्थितियों और परिवेश का प्रभाव पड़ा है। उदाहरण के लिए प्लेटो को लिया जा सकता है। वह राजकुल में शिक्षक था। इसलिए उसके दर्शन में राजनीति का विशेष प्रभाव रहा तथा श्रमिकों का प्रतिनिधि होने के कारण कार्लमार्क्स ने अपने दर्शन में वर्गसंघर्ष का समावेश किया। इस प्रकार के दर्शनों में नीति और भावना का ही समावेश अधिक हो जाता है। फिर भी पश्चिम में विचारक अच्छे हुए हैं। कुछ चिन्तकों की विचार-धारा प्रयोगात्मक है और कुछ की विशुद्ध भौतिक सुखवादी। ये दोनों विचार-धाराएँ भारतीय परम्परा में भी हैं। जैसे चार्वाक दर्शन आदि भोगवादी दर्शन। यह प्राणी का स्वभाव भी है कि दुःख से घबराता है और सुख की खोज करता है, **'दुःखादुद्विजते सर्वः सर्वस्य सुखमीप्सितम्।'** परंतु इस विचार-धारा के भी कुछ पाश्चात्य चिन्तक बड़े उदार और लोकसंग्रही हुए हैं, जिन्होंने ऐहिक दृष्टि को व्यापक बनाकर विश्वकल्याण का उपदेश दिया है। कान्ट, मिल, स्पेन्सर तथा टॉलस्टाय आदि ऐसे ही चिन्तक हुए हैं, जिन्होंने चार्वाक-दर्शन को नहीं अपनाया है, क्योंकि चार्वाक का तो स्पष्ट मत है कि पंच महाभूत एकत्र होने से आत्मा नाम का एक गुण उत्पन्न होता है और देह की समाप्ति पर वह गुण भी समाप्त हो जाता है। इसलिए—**'यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।'** श्रीमद्भगवद् गीता के सोलहवें अध्याय के चौदहवें श्लोक में इस प्रकार की आसुरी वृत्ति वालों का वर्णन किया गया है—**'ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान् सुखी।'**

परन्तु ऐसे भी दार्शनिक हैं जिन्होंने जीव और जगत् का तात्त्विक विवेचन करने का प्रयास किया है। यह दूसरी बात है कि ऐसे दर्शन प्रयोगात्मक ही अधिक हैं। उपनिषदों में जो ब्रह्म का नेति-नेति रूप में वर्णन आता है—वह भी प्रयोगात्मक ही है—अर्थात् ब्रह्म के स्वरूप की कल्पना और उसका निषेध। इसी प्रकार पाश्चात्य चिन्तकों के भी प्रयोग ही हैं। ग्रीक दार्शनिक पीथागोरस के अनुसार दर्शन की परिभाषा है—प्रकृति का अध्ययन, मनन और ज्ञान अर्थात् प्रकृति के विभिन्न

व्यापारों में अन्तर्निहित ऐक्य को जानना। भारतीय परम्परा में दर्शन होता है—'**दृश्यते वस्तु-याथात्म्यमनेनेति दर्शनम्**' अर्थात् प्रमाण द्वारा आत्मा तथा अनात्मा का ज्ञान। एक बात और भी है—पाश्चात्य दर्शन की उत्पत्ति सर्वप्रथम यूनान में हुई और उसका समय बहुत पुराना नहीं है। अधिक-से-अधिक २५००-२६०० वर्ष का है। यूनानी दार्शनिक थेब्स ने सर्वप्रथम सृष्टि की रचना पर विचार किया था और जल से विश्व की सृष्टि मानी थी। ऐनाक्सी मेनीज ने वायु से सृष्टि की रचना मानी थी और ऐनाक्सी मेंडर ने 'असीम तत्त्व' को सृष्टि का मूल कहा था, जो घनीकरण और विरलीकरण की क्रिया से सृष्टि के पदार्थों में बदल जाता है। पीथागोरस पदार्थ की अपेक्षा रूप और उनके अनुपात को महत्त्व देता था। इलिया के दार्शनिक तो सृष्टि को अनादि और अनन्त ही मानते रहे। डीमोक्रीट्स का परमाणुवाद प्रसिद्ध ही है कि अणुओं का संयोग-वियोग ही सृष्टि का मूल कारण है। वास्तव में सत् तत्त्व को जानने का सबसे पहला प्रयास सुकरात ने किया था और मनुष्य के अन्तःकरण में उस ज्योति का निवास बताया था। गीता में भी तो कहा है—**ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुनतिष्ठति** सुकरात प्रकृतिवादियों से कुछ ऊपर उठे और उन्होंने मानसिक अनुभूति पर बल दिया। उनका शिष्य अफलातून ने बुद्धितत्त्व पर बल दिया और सत् तत्त्व को अविकृत, अनन्त, अतीन्द्रिय परन्तु बुद्धिग्राह्य ठहराया। गीता में भी तो कहा गया है—'**बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्**।' अफलातून इन्द्रिय-जन्य ज्ञान को गीता की भाँति आपेक्षिक और भ्रमपूर्ण ही मानता है। अरस्तू को पाश्चात्य विज्ञान का पिता कहा जाता है। उन्होंने जीव-विज्ञान के आधार पर चार हेतु माने हैं—भौतिक हेतु, रूपहेतु, कर्त्तहेतु तथा टेलासहेतु (वास्तविक रूप ज्ञान)। विज्ञान ने पहले और तीसरे हेतुओं पर बल दिया है जबकि दर्शन में अन्तिम हेतु पर बल दिया गया है। परन्तु है यह भी विशुद्ध भौतिक दर्शन। अरस्तू ने जागतिक क्रिया-कलाप को वास्तविक माना है और आत्मा का जन्म ज्ञान की रश्मि के साथ ही स्वीकार किया है। उसकी प्रक्रिया कारण से कार्य तक पहुँचने की है। अरस्तू के पश्चात् पश्चिम में अनेक दार्शनिक हुए परन्तु अधिकांश ने धर्म और नीति पर ही विशेष बल दिया है। एपिकुरस का परमाणुवाद सिद्धान्त प्रसिद्ध है। पाश्चात्य चिन्तक इंद्रिय, मन और बुद्धि से आगे नहीं बढ़ पाये। हाँ, सत् तत्त्व के खण्डन-मण्डन में वे अवश्य लगे रहे। देकार्ते ने संसार को आध्यात्मिक सेश्वर माना है और इन्द्रियज अनुभव को माया-मात्र। ह्यूम, स्पिनोजा, बर्कले, कान्ट आदि इन्द्रिय, मन और प्रज्ञा तक ही चक्कर काटते रहे हैं। डार्विन ने तो इन्द्रियों से पृथक् विचार-शक्ति को स्वीकार ही नहीं किया है। सब कुछ इन्द्रिय गति-विज्ञान ही है—आत्मा नाम का अलग तत्त्व है ही नहीं। इस प्रकार उसने अचेतन से ही चेतन की उत्पत्ति मानकर विकासवाद का सिद्धान्त चलाया। हेगेल ने कुछ अंशों में इन मान्यताओं का खण्डन अवश्य किया, परन्तु जगत् का स्रष्टा मन को ही माना और आत्मा, मन और भूत को अभिन्न स्वीकार किया। इस प्रकार एक पूर्ण तत्त्व की कल्पना करके दृश्यमान जगत् को उसी का अंग माना। यह सिद्धान्त स्वयं गति विवर्तनवाद कहलाता है। वेदान्त के विवर्तवाद से यह सिद्धान्त कुछ मिलता-जुलता है। 'विचार का नाम वाद है' इसके साथ ही विपरीत विचार भी वर्तमान रहता है, जिसे प्रतिवाद कहते हैं। दोनों के संघर्ष से जो नया विचार उत्पन्न होता है, उसे समन्वयवाद कहते हैं। इसमें पुनः अन्तर्विरोध होता है फिर गति होती है और फिर समन्वय होता है। अन्त में उसका लय पूर्ण होता है। इस प्रकार सारी सृष्टि द्वन्द्वात्मक विचार-संघर्ष का फल है—मूल वस्तु अखण्ड और निर्ग्राह्य है वह अव्यक्त का महान्, महान् का अहम्, अहम् का आकाश, फिर वायु, फिर तेज इसी क्रम से विकास अथवा विवर्त्त होता है। हेगेल ने तो बड़ी ईमानदारी से अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था। परन्तु उसको सही रूप में ग्रहण नहीं किया गया। एक वाद रूप में ग्रहण कर लिया गया। हेगेल ने राज्य को ही मनुष्य की सामाजिक प्रगति की चरमसीमा माना था, परन्तु कार्ल मार्क्स ने बिल्कुल दूसरे ही ढंग से उसकी व्याख्या प्रस्तुत की और राजनैतिक कारणों से इस द्वन्द्वमान को विशुद्ध भौतिकवाद से जोड़ दिया। इसे गीता के समत्वयोग से भी जोड़ा जा सकता था। गीता में स्पष्ट लिखा है—

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥

अर्थात् उस पूर्ण तत्त्व की दृष्टि से सब प्राणी समान हैं। सत् तत्त्व अविभक्त है—वह ही दृक्-दृश्य, ज्ञान-ज्ञेय के रूप में विभक्त सा प्रतीत हो रहा है जिसके मूल में सांख्य के अनुसार प्रकृति विकृति का सिद्धान्त है। उत्तरोत्तर कारण के विभाजन, विध्वंस और समन्वय से सृष्टि क्रम चलता है। परन्तु मार्क्स ने इस सिद्धान्त को उलट दिया और स्पष्ट घोषित किया—'हेगेल सिर के बल खड़ा था। आज मैं उसे पैर के बल खड़ा कर रहा हूँ।' मार्क्स ने मानव सत्ता को सामाजिक समग्रता से अधिक नहीं माना है।

भौतिकवादी दर्शन भौतिक तत्त्व को ही सब कुछ मानते हैं और उसी के द्वारा सत् तत्त्व को सिद्ध करना चाहते हैं, यहाँ तक कि सत् अथवा चित् तत्त्व की उत्पत्ति और विकास भी उसी से मानते हैं। यही कारण है कि वे किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुँच पाते। आजकल मन या मानस की बड़ी चर्चा है और उसी को आधार मानकर दार्शनिक चिन्तन हो रहा है, परन्तु यह भी मृग-मरीचिका ही है, क्योंकि इन्द्रियों की भाँति मानस और प्रज्ञा भी तो तत्त्वतः जड़ ही है। इसलिए जड़ पदार्थों से पहले उनमें अनुस्यूत सत् तत्त्व को तो मानना ही पड़ेगा। भारतीय दर्शनों, विशेषकर न्यायवैशेषिक में पाश्चात्य चिन्तन के समकक्ष चिन्तन प्राप्त होता है। असल बात तो यह है कि जो तत्त्व अप्रमेय है, उसे प्रमा द्वारा कैसे जाना जा सकता है, क्योंकि—

यत्नेनानुमितोऽप्यर्थः कुशलैरनुमातृभिः।
अभियुक्ततरैरन्यैरन्यथैवोपपद्यते ॥

पाश्चात्य-चिंतन की यही स्थिति है। यही कहना पड़ता है, '**विज्ञातारमरे के न विजानीयात्**।' पाश्चात्य-चिंतन-पद्धति की भाँति भारतीय चिंतन-पद्धति में भी बड़ा विरोध है। इसलिए विरोध के तत्त्वों को छोड़कर साम्य के तत्त्वों को ही ग्रहण करना चाहिए। इसलिए हमारी दृष्टि में तो सभी के मत समीचीन हैं। किस मत को असमीचीन कहें। भगवान् की मनोरम वाटिका के सभी सुन्दर सुरभित सुमन हैं। उनके वैभिन्य में ही वाटिका की शोभा है।

तथाकथित पाश्चात्य चिन्तकों के अतिरिक्त विश्व में और अनेक चिन्तक हैं, जिन्होंने सत् तत्त्व पर गम्भीरता से विचार किया है। हमें तो कहीं भी कोई विरोध दिखाई नहीं देता। यह विरोध जो दीख पड़ता है, वह विरोधाभास ही है। हमें तो इस्लाम के चिन्तक भी बड़े प्रिय हैं। इस्लाम के प्रवर्तन से पहले भी अरब देशों में दार्शनिक चिन्तन-धारा थी, बल्कि इस्लाम के प्रचार के पश्चात् तो वहाँ चिन्तन-पक्ष समास सा ही हो गया, क्योंकि इस्लाम में तर्क का स्थान नहीं है। इस्लाम के

धर्म-ग्रन्थ कुरान शरीफ में ईश्वर के निष्पन्न रूप की ही कल्पना है। वहाँ आत्मा को '**लम यलिद वलम यूलद**' कहा गया है अर्थात् खुदा खुद अपने से रोशन है—नूर ही नूर है। '**हुवल् अव्वल हुवल् आख़िर हुवल् ज़ाहिर हुवल् बातिन, वहुआ वकुल्ले शैइन अलीम।**' अर्थात् वही अव्वल है, वही आखिर है, वही जाहिर है, वही बातिन (गुप्त) है, और वही सब चीजों का जानने वाला है। सूफियों के साहित्य में तो ईश्वर, जीव, माया और जगत् के सम्बन्ध में इसी प्रकार गम्भीरता से विचार हुआ है—जैसे भारतीय दर्शनों में। हो सकता है, भारतीय दर्शन का ही उन पर प्रभाव रहा हो। सूफियों का ईश्वर सम्बन्धी विवेचन चार वर्गों में मिलता है—जात, जमाल, जलाल और कमाल। कुरान शरीफ में ईश्वर की जात और जमाल की पूरी व्याख्या नहीं मिलती। हाँ, जमाल और जलाल के अनेक प्रसंग मिलते हैं, परन्तु सूफियों ने जात और कमाल को ही विशेष महत्त्व दिया है। सूफी ईश्वर को सम्पूर्ण जगत् में परिव्याप्त एक वास्तविक सत्ता के रूप में ग्रहण करता है—शेष सत्ताएँ या तो उसका आभास हैं या उसकी माया। उसी का नाम सत्-परमसत् या अल हक्क है, जो निरपेक्ष, अगोचर और नानात्व से परे है। यह सृष्टि उसी की दृश्यमान बाह्य अभिव्यक्ति है।

सूफियों के यहाँ ईश्वर-चिन्तन के तीन मुख्य अंग हैं—कल्ब (हृदय), रूह (जीव) और सिर्र (अन्तरात्मा)। कल्ब ईश्वर को जानता है, रूह उससे प्रेम करता है और अन्तरात्मा उसका चिन्तन करता है। जामी, इब्नुल अरबी, अलगजाली और मौलाना रूम इत्यादि अनेक सूफी साधकों ने सत् तत्त्व पर गम्भीरता से विचार किया है और अनुभूति भी की है। इब्नुल अरबी ने '**बहदतुलवुजूद**' अर्थात् एकमात्र सत् तत्त्व के सिद्धान्त का विवेचन किया है, जिसके अनुसार दृश्य और द्रष्टा में एकत्व है। जगत् उस परमसत्ता की अभिव्यक्ति है, उसका प्रतिविम्ब नहीं है। इस प्रकार जीव, जगत् आदि सब उस परमसत्ता से अभिन्न हैं। सूफी भी वेदान्तियों की भाँति '**अन अल हक्क**' अर्थात् '**अहं ब्रह्मास्मि**' कहते हैं। सत् का मार्ग भेद-भाव का मार्ग नहीं है, बल्कि यह भेद ही अभेद का साधक है। एक सूफी कहता है—

खुद रा ब लिबासे गैर दीदन अज़बस्त॥
कीं बुलअजबी कारे खुदाई बाशद।

अर्थात् दूसरे के कपड़ों में खुद अपने को देखना कैसी मजे की बात है। यही करामात है, यही खुदा की राह है, यही खुद खुदाई है।

तफ़रक़ा दर नफ्से हैवानी बुवद, रूहे वाहिद रूहे इनसानी बुवद।

यानी भेद-भाव जानवरों की विशेषता होती है। इनसानी रूह वह है जो सब रूहों की एकता को समझती है।

१०. सत् तत्त्व के निर्धारण में विज्ञान का प्रयास

विज्ञान में अब तक सत् तत्त्व का इदमित्थं रूप में निर्धारण नहीं हो सका है, फिर भी विज्ञान की प्रकृति उसी ओर उन्मुख प्रतीत हो रही है। अत: विज्ञान एक प्रयोग है—प्रक्रिया है। प्रयोग और प्रक्रिया से सिद्धान्त निर्णीत होते हैं—निष्पन्न सत्य को लेकर विज्ञान नहीं चलता है। प्रयोग अनन्त काल तक चलते रहेंगे। अभी तो चन्द्र पर अभियान चल रहा है। चन्द्रमा तो पृथ्वी का निकटतम उपग्रह है। केवल सौरमण्डल के ग्रहों की जानकारी के लिए सहस्रों वर्ष लग सकते हैं। ब्रह्माण्ड-दर्शन बड़ा विचित्र है। भारतीय शास्त्रों में ब्रह्माण्ड का विस्तार से विवेचन हुआ है। भारतवर्ष की खगोल विद्या भी प्रसिद्ध है। जो अब तक योगी की अनुभूति का विषय था, उसे आज का विज्ञानी प्रत्यक्ष करने के लिए प्रयत्न कर रहा है। ब्रह्माण्ड-दर्शन भी सत् दर्शन ही है। यह सर्वविदित है कि ब्रह्माण्ड-दर्शन भारतीय वाङ्मय का प्रमुख विषय रहा है। वेद-वेदांग-शास्त्र-पुराण—सभी में ब्रह्माण्ड का वर्णन आता है। साथ ही प्रयोग भी भारतवर्ष में प्राचीन युग से ही होते रहे हैं और खगोल विद्या के बड़े-बड़े पारंगत विद्वान् भारतवर्ष में हो गये हैं। तन्त्र विद्या में भी ये प्रयोग होते रहे हैं। छ: वेदांगों अर्थात् शास्त्रों में ज्योतिष का प्रमुख स्थान रहा है। वास्तव में दर्शन अनुभूति और निष्कर्ष के विषय हैं और वेदांग प्रयोग—विश्लेषण के। शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष—ये वेदांग और शास्त्र कहे जाते हैं। योगवासिष्ठ में ब्रह्माण्ड दर्शन की अनेक कथाएँ आती हैं। ब्रह्माण्ड-दर्शन का प्रायोगिक विकास भी हमारे देश में हजारों वर्षों से हो रहा है। यहाँ के मनीषियों ने सम्पूर्ण आकाश मण्डल, तारक समूहों में विभाजित किया था और विशेष तारों और तारक समूहों को अलग-अलग नाम दिये थे। ग्रह, नक्षत्र, तारा, राशि अनेक भागों में आकाश मण्डल बँटा हुआ है—जैसे सौर मण्डल के नवग्रह, २७-२८ नक्षत्र, असंख्य तारागण तथा बारह राशियाँ। छोटे तारागण नक्षत्र कहलाते हैं। हमारा सूर्य एक वामन (छोटा) तारा है—इससे बहुत ही विशाल असंख्य तारे हैं, जिन्हें दैत्य तारे या वृहद् तारे कह सकते हैं। जिसे आकाश गंगा या मंदाकिनी कहते हैं—वह एक विशाल तारा समूह ही है। निकटतम तारासमूह के प्रकाश के पृथ्वी पर आने तक १८०० वर्ष लग जाते हैं। फिर इनमें अनेक नीहारिकाएँ हैं। कई नीहारिकाएँ तो ऐसी हैं जिनका प्रकाश पृथ्वी तक पहुँचने में २५ करोड़ वर्ष का समय लेता है। इस प्रकार आकाश में अनेक तारा लोक हैं फिर उनसे ऊपर भी कई लोक हैं। सबसे अन्त में सत्य लोक है। भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्यम्—ये सात लोक तो प्रायः सर्वज्ञात ही हैं। ब्रह्माण्ड का वास्तविक वैभव तो तारालोक से आगे ही प्रारम्भ होता है, जिसे अभी तक शून्य ही समझा जाता है। यह सत् का विराट् स्वरूप बड़ा ही विचित्र है। एक तारा लोक से दूसरे तारा लोक तक पहुँचने में मानव के २० लाख प्रकाश वर्ष लगते हैं—प्रकाश की गति तो स्पष्ट ही है—एक सेकेण्ड में एक लाख ८६ हजार मील। ब्रह्माण्ड में अरबों तारा लोक हैं। इस प्रकार सारा ब्रह्माण्ड लोक लोकान्तरों में विभाजित है। वेद निष्पन्न ज्ञान है—वेदांग तथा उपांग उस तक पहुँचने के साधन हैं जो विज्ञान के अन्तर्गत आते हैं। छान्दोग्य उपनिषद् के एक संवाद में कई विज्ञानों की चर्चा हुई है जिनमें जीव-विज्ञान और वनस्पति-विज्ञान भी सम्मिलित हैं। वैशेषिक और न्याय-दर्शन भी किन्हीं अंशों में प्रायोगिक दर्शन ही हैं। न्याय का सम्बन्ध तर्क-शास्त्र से है और वैशेषिक का तत्त्वों और गुणों से। ये आविष्कार, अन्वेषण और प्रयोग भारतीय मनीषा के प्रमुख अंग रहे हैं।

११. विज्ञान में सप्तऋषियों का योगदान

ये जो अत्रि, कश्यप, गौतम, जमदग्नि, भरद्वाज, वसिष्ठ और विश्वामित्र सप्त ऋषि हैं—इन सबका विज्ञान के क्षेत्र में बड़ा योगदान है। ऋग्वेद से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि किस प्रकार अथर्वण द्वारा यंत्र प्रक्रिया से पैदा की हुई अग्नि का विश्वामित्र ऋषि ने मन्थन-उपकरण निकालकर पोषण किया था। ऋग्वेद की ५०१ ऋचाएँ विश्वामित्र से सम्बद्ध हैं (सूक्त ३ तथा ९)।

१२. अग्नि-विज्ञान

अग्नि-विज्ञान का बड़ा महत्त्व है। सम्पूर्ण वैदिक साहित्य अग्नि के महत्त्व-वर्णन से भरा पड़ा है। सम्पूर्ण सृष्टि की मूल अग्नि ही है। यों तो पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्युलोक का एक त्रिक है तथा उसके संचालक तत्त्व अग्नि, वायु और सूर्य हैं, परन्तु सबका मूलभूत तत्त्व अग्नि का ही त्रिक है। अग्नियाँ तीन होती हैं। जो पृथ्वी पर अग्नि है, वही द्युलोक में सूर्य है। अग्नि ही परा वाक् है—प्रज्ञा का अव्यक्त सरोवर है। मन-प्राण और वाक् उसके ही स्वरूप हैं, उसका मूल रूप परम व्योम या चिदाकाश में है। इसीलिए वेद में अग्निहोत्र का विशेष वर्णन हुआ है। अग्निहोत्र द्वारा उस अमृत अग्नि की परिचर्या की जाती है, जो प्राणिमात्र में अतिथि रूप में निवास करता है। शतपथ और गोपथ ब्राह्मण में आता है कि जीवात्मा ही वैश्वानर अतिथि है। अग्नि स्वयं ब्रह्म रूप है। गीता में लिखा है—

ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविः ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्म कर्म समाधिना॥ (४-२४)

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
तस्मात् सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्॥ (३-१५)

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथा परे।
प्राणापानगती रूद्ध्वा प्राणायामपरायणः॥ (४-२९)

प्राण, अपान और व्यान अग्निहोत्र की तीन आहुतियाँ हैं। 'भूः, भुवः, स्वः' तीन अग्नि कुण्ड हैं। 'अग्नि, वायु और आदित्य' तीन देवता हैं, जिनको उद्दिष्ट करके स्वाहाकार होता है। वेदों में '**कस्मै देवाय हविषा विधेम**' इत्यादि वाक्यों में '**कस्मै**' से अग्नि देवता का ही सम्बोधन होता है। ब्राह्मण-साहित्य अग्नि के रहस्य से भरा पड़ा है। शतपथ ब्राह्मण के दसवें काण्ड का नाम ही 'अग्नि रहस्य' है। तुरकावषेय को अग्नि वेदी का आविष्कर्ता माना गया है। वस्तुस्थिति तो यह है कि अग्नि तत्त्व सम्पूर्ण व्यक्त सृष्टि और उसके विकास का मूल है। मानवीय संस्कृति का विकास ही अग्नि के द्वारा हुआ है। यज्ञ के सन्दर्भ में अग्नि का प्रयोग अनेक पारिभाषिक शब्दों के द्वारा हुआ है। इसीलिए अग्नि रक्षा को भारतवर्ष में बड़ा महत्त्वपूर्ण माना गया है। आज भी ब्राह्मणों की ऐसी शाखाएँ हैं, जो अग्नि को सर्वस्व मानते हैं और सहस्रों-लाखों वर्षों से अनवरत प्रज्वलित रूप में रक्षा करते हैं। अग्नि रक्षा ही उनके धन-संपत्ति का मापक है। पंक्तिपावन ब्राह्मण इसी कोटि में आते हैं। अग्नि की भाँति भारतीय मनीषी अन्य तत्त्वों का भी आविष्कार करते रहे हैं।

१३. विज्ञान के क्षेत्र में दीर्घतमस्

महर्षि दीर्घतमस् को वैदिक संवत् का आविष्कर्ता माना जाता है। वह ममता का पुत्र था और उचथ्य का शिष्य था। उचथ्य, अंगिरस का शिष्य था। संवत्सर के विज्ञान में वर्ष, उसकी गणना, ऋतु, मास, दिन इत्यादि सम्मिलित हैं। विभिन्न यज्ञों के संदर्भ से वैदिक-साहित्य में इनके विभिन्न नाम आते हैं। इस प्रकार दीर्घतमस् एक बहुत बड़ा वैज्ञानिक हो गया है, जिसने काल का विभाजन बड़े वैज्ञानिक ढंग से किया था। नक्षत्रों का अनुसन्धान भी वैदिक काल में हो गया था। ऋग्वेद, अथर्ववेद और यजुर्वेद में 'नक्षत्र' शब्द का प्रयोग अनेक बार हुआ है। अथर्ववेद में नक्षत्रों की गणना भी है।

१४. गार्ग्य का नक्षत्र ज्ञान

नक्षत्र सम्बन्धी सूक्त गार्ग्य ऋषि से सम्बद्ध हैं। ऋग्वेद के छठे और उन्नीसवें सूक्त में नक्षत्रों का जिक्र मिलता है। 'नक्षत्र' शब्द का प्रयोग भी बड़े व्यापक अर्थ में हुआ है—नक्षत्र मण्डल, तारा तथा तारापुञ्ज। अजीगर्त का पुत्र शुनःशेप तारा विज्ञान का पण्डित था। ऋग्वेद के कई सूक्तों से शुनःशेप का सम्बन्ध है। पुराणों में भी शुनःशेप की अनेक कथाएँ आती हैं। तारामण्डल के प्रेक्षक विद्वानों में और भी कई विद्वानों की गणना है। वेद में नक्षत्र के लिए 'स्तृ' शब्द का भी प्रयोग हुआ है। शायद इसे ही अंग्रेजी में 'स्टार' कहने लगे।

१५. ग्रह-विज्ञान

नक्षत्र विज्ञान की भाँति ग्रह-विज्ञान के भी भारतवर्ष में अनेक पण्डित हुए हैं। बृहस्पति ग्रह के प्रेक्षक महर्षि वामदेव थे तथा शुक्र ग्रह के प्रेक्षक महर्षि वेन भार्गव। वास्तव में 'वेन' और 'भार्गव' दोनों ही शब्दों का प्रयोग 'शुक्र' के लिए हुआ है। पाश्चात्य परम्परा में 'वेन' शब्द को अपनाया गया और शुक्र को 'वीनस' कहने लगे।

खगोल-विज्ञान की भाँति पदार्थ-विज्ञान, आयुर्वेद-विज्ञान, जीव-विज्ञान तथा वनस्पति-विज्ञान आदि भी भारतीय मनीषियों के प्रयोग के विषय रहे हैं। वैदिक साहित्य में अनेक जीवों तथा वनस्पतियों का उल्लेख है। चरक और सुश्रुत संहिताएँ तो आयुर्वेद-विज्ञान के मौलिक और आर्ष ग्रन्थ हैं, जिनमें प्राणियों तथा वनस्पतियों के रचना विधान का व्यावहारिक अध्ययन किया गया है तथा अनेक प्रकार की जड़ी-बूटियों, औषधियों और शल्य यन्त्रों का आविष्कार किया गया है। इस प्रकार ज्योतिर्विज्ञान से लेकर भूत विज्ञान तक, भारतीय मनीषियों ने बड़े महत्त्वपूर्ण आविष्कार किये। बीजगणित और अंकगणित आदि का तो ज्योतिर्विज्ञान में बड़े विस्तार के साथ विवेचन हुआ है। ये सब प्रयत्न एक सत् तत्त्व के विश्लेषण के प्रयत्न ही कहे जा सकते हैं।

१६. सत् तत्त्व के सम्बन्ध में भारतीय एवं पाश्चात्य वैज्ञानिकों का सामंजस्य

सत् तत्त्व और विज्ञान की यह प्रवृत्ति केवल भारतीय वैज्ञानिकों तक ही सीमित नहीं है, क्योंकि यह विषय केवल आस्था और विश्वास में अनुबद्ध न होकर व्यापक एवं उन्मुक्त अन्वेषण से संबंधित है और उसकी अनुभूति सहज रूप से संभव नहीं है। क्योंकि 'सत्-तत्त्व' अपने अव्यक्त रूप में तर्क अथवा प्रयोग का विषय नहीं है, अनुभव का विषय है। दीर्घकालीन साधना तथा तपश्चर्या से उसका स्वयं अनुभव होता है। यह तो नहीं कहा जा सकता कि आज का वैज्ञानिक उस तत्त्व का अनुभव कहाँ तक कर सका है। किन्तु यह तो कहा ही जा सकता है कि योगी की दृष्टि में तो वैज्ञानिक की अंतरिक्ष यात्रा के प्रयत्न बाल-चापल्यवत् ही हैं, परन्तु वे बाल-प्रयत्न ही सही, सराहनीय अवश्य हैं, क्योंकि उनसे भौतिक और बाह्य सुख-साधन तो सम्पन्न होते ही हैं, कालांतर में वे परम अनुभूति के साधन भी बन सकते हैं। ऐसा सुनने में आता है कि ब्रह्माण्डों के रहस्यों से अभिभूत होकर बहुत से वैज्ञानिक भी ईश्वरवादी बन गये। बहुत से वैज्ञानिकों ने तो इस बात को स्वीकार भी कर लिया कि इस भौतिक जगत् का संचालन किसी अज्ञात शक्ति के द्वारा हो रहा है। अब तो वैज्ञानिक भी उस एक तत्त्व की खोज में

हैं। चेतन तत्त्व को वे मूल तत्त्व मानने के लिए मजबूर हो रहे हैं। आइन्सटीन, जो इस शताब्दी का एक बड़ा वैज्ञानिक हो गया है, अपने अंत समय में यहाँ तक मानने लगा था—"मैं ईश्वर में विश्वास करता हूँ। सृष्टि का क्रम ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करता है। इस सृष्टि की नियामक शक्ति चेतन है। इसका उद्भव और विकास अकस्मात् ही नहीं हो गया है।' वैज्ञानिकों के प्रयास से यह प्रतीत होता है कि आगे चलकर विज्ञान के द्वारा अध्यात्म की स्थापना होगी तथा देश, काल और परम्पराजन्य भेदभाव, समाप्त हो जाएँगे। इस दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि पाश्चात्य वैज्ञानिक भी अपनी शैली से सत् की खोज में लगे हुए हैं।

१७. सत् तत्त्व के सम्बन्ध में भारतीय षड्दर्शनों की समरूपता

भारत के छः दर्शनों में परस्पर वैमत्य की बात बहुत दिनों से विद्वानों के बीच कही-सुनी जाती है, किन्तु वास्तव में इनमें वैमत्य नहीं है। सत् तत्त्व के विषय में भी उनका ऐक्मत्य निष्कर्ष रूप में प्रतिफलित होता है, यह बात सांख्य और योग की निष्ठाओं के उदाहरण से हृदयंगम की जा सकती हैं। स्पष्ट है कि सांख्य-योग नाम की दो निष्ठाएँ बड़ी प्राचीन निष्ठाएँ हैं। इनका प्रभाव विश्व के सभी दर्शनों पर पड़ा है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में लिखा है—

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम् बहूनां यो विदधाति कामान्।
तत्कारणं सांख्ययोगाधिगम्यं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः॥
(श्वेता० ६।१६)

एक अन्य स्थान पर लिखा है—

नास्ति सांख्यसमं ज्ञानं नास्ति योगसमं बलम्॥

योगवासिष्ठ में आता है—

द्वौ क्रमौ चित्तनाशाय योगो ज्ञानं च राघव।
योगो वृत्तिनिरोधो हि ज्ञानं सम्यगवेक्षणम्॥

गीता कहती है—

लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्॥
(गीता ३।३)

इसी प्रकार—

सांख्यस्य वक्ता कपिलः परमर्षिः स उच्यते।
हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्यो पुरातनः॥
(महाभारत)

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्॥
यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति॥
(गीता ५।४-५)

सांख्य और योग दोनों निष्ठाओं का लक्ष्य एक ही है। सांख्यनिष्ठापन्न जिस सत् स्वरूप का साक्षात्कार करता है, योगी भी उसी का करता है, केवल प्रक्रिया का भेद है। सांख्यनिष्ठा आंतरिक साधन है तथा योगनिष्ठा बाह्य साधन है। सांख्यनिष्ठा में ज्ञान का प्राधान्य है तथा योगनिष्ठा में कर्म और उपासना का। लक्ष्य दोनों का एक ही है। सांख्यनिष्ठा के काठिन्य का अनुभव करने वाले कुछ सिद्ध पुरुष योगनिष्ठा को उसका सोपान मानते हैं। योग के पहले पाँच बहिरंग साधन सांख्यनिष्ठा में भी सहायक होते हैं। वे पाँच साधन हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार। हाँ, आगे चलकर 'ध्यानं निर्विषयं मनः' सांख्य का मूलतत्त्व बन जाता है, जबकि धारणा, ध्यान, समाधि में मन पूर्ण रूप से निर्विषय नहीं होता। कैवल्य अवस्था में तो इसका प्रश्न ही नहीं उठता। श्रीमद्भगवद्गीता ने इन दोनों निष्ठाओं का समन्वय बड़े सुन्दर ढंग से किया है और दोनों के व्यवहार क्षेत्रों को निर्धारित कर दिया है। गीता के निम्न श्लोक विचारणीय हैं—

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः॥
यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव।
न ह्यसंन्यस्त सङ्कल्पो योगी भवति कश्चन॥
आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढ़स्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते॥

वेदों और उपनिषदों ने सत् तत्त्व का साक्षात्कार दोनों ही निष्ठाओं से बताया है। सांख्यनिष्ठा का सबसे बड़ा सिद्धान्त प्रकृति पुरुष विवेक है। इस विवेक को ही संख्या अर्थात् सम्यक् ख्याति—सम्यक् ज्ञान कहते हैं। धर्म ग्रन्थों में इस शब्द का प्रयोग कई अर्थों में हुआ है, जैसे—

दोषाणां च गुणानां च प्रमाणं विभागतः।
कश्चिदर्थमति प्रेत्य सा सांख्येत्युपधार्यताम्॥
(महाभारत)

और—

शुद्धात्मतत्त्वविज्ञानं सांख्यमित्यभिधीयते।

सांख्यनिष्ठा के प्रवर्तक कपिल मुनि माने जाते हैं, जो वैदिक महर्षि हैं—

ऋषिप्रसूतं कपिलं यस्तदग्रे ज्ञानैर्बिभर्ति।

गीता में भी कहा है—

'सिद्धानां कपिलो मुनिः।'

कपिल के पश्चात् सांख्यनिष्ठा के पोषक अनेक आचार्य हुए हैं, परन्तु अब उनका उल्लेख मात्र ही मिलता है। ऐसा लगता है कि उनके ग्रन्थ लुप्त हो गये हैं। कपिल मुनि का मूल ग्रन्थ 'तत्त्व समास' नाम से प्रख्यात था। सांख्यकारिका में इस परम्परा के कुछ आचार्यों का उल्लेख अवश्य हुआ है, परन्तु उनके ग्रन्थ प्राप्त नहीं होते हैं। कहा जाता है कि आसुरि मुनि ने साक्षात् कपिल मुनि से ही सांख्यनिष्ठा की शिक्षा प्राप्त की थी और उसका उपदेश पंचशिखाचार्य को दिया था, जिन्होंने इस निष्ठा का प्रचार और प्रसार किया। पंचशिखाचार्य के सूत्र भी उपलब्ध नहीं हैं। सांख्यनिष्ठा के आचार्य विज्ञान भिक्षु ने कतिपय सांख्य सूत्रों का संकलन किया था। 'सांख्य प्रवचन भाष्य' की भूमिका में इसका संकेत मिलता है—

कालार्कभक्षितं सांख्यं शास्त्रं ज्ञानसुधाकरम्।
कालावशिष्टं भूयोऽपि पूरयिष्ये वचोऽमृतैः॥

'श्वेताश्वतर उपनिषद्' को सांख्यनिष्ठा का ही उपनिषद् कहा जाता

है। गीता में तो सांख्यनिष्ठा का विवेचन है ही। श्रीमद्भागवत में भी सांख्यनिष्ठा का विस्तार से विवेचन हुआ है। श्रीमद्भागवत के तृतीय स्कन्ध के चौबीसवें अध्याय में महर्षि कपिल की उत्पत्ति का वर्णन है। भागवत के अनुसार आदि पुरुष श्रीनारायण ही कपिल के रूप में अवतीर्ण हुए। सांख्यनिष्ठा को भागवतकार 'ज्ञान विज्ञान निष्ठा' मानता है। भागवत से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि कपिल मुनि सांख्यनिष्ठा के पोषक हैं, प्रवर्तक नहीं—

अयं सिद्धगणाधीशः सांख्याचार्यैः सुसम्मतः।
लोके कपिल इत्याख्यां गन्ता ते कीर्तिवर्धनः॥

१८. सांख्य-निष्ठा और कपिल मुनि

भगवान् कपिल ने बड़े विस्तार से सांख्य-निष्ठा का वर्णन किया है। इस वर्णन में योग और भक्ति का स्वयं ही विवेचन हो गया है। भगवान् कपिल ने अपने जन्म का प्रयोजन बताते हुए कहा है कि प्रकृति पुरुष का ज्ञान जीव की मुक्ति का साधन है। उस लुप्त ज्ञान का पुनः प्रकाश करने के लिए ही मैंने जन्म लिया है। सांख्ययोग की पृष्ठभूमि के रूप में भगवान् कपिल ने पहले भक्ति का ही विवेचन किया है। उसके अनन्तर महदादि भिन्न-भिन्न तत्त्वों की उत्पत्ति का वर्णन है और अन्त में प्रकृति पुरुष के विवेचन से मोक्ष प्राप्ति का वर्णन। सांख्यनिष्ठा का ऐसा सटीक विवेचन अन्यत्र दुर्लभ है। योगनिष्ठा का वर्णन सांख्य-निष्ठा का अंगीभूत होकर आया है। अठाइसवें अध्याय में अष्टांग योग का विस्तार से विवेचन हुआ है तथा उन्तीसवें अध्याय में भक्ति के मर्म तथा काल की गति का। जीव की बुद्धि जब अधिष्ठानभूत परब्रह्म से भगवान् में लीन हो जाती है तो उसका जीवभाव निवृत्त हो जाता है और वह नित्य-मुक्त, शुद्ध-बुद्ध परमात्म स्वरूप को ही प्राप्त कर लेता है। इसी का नाम सत्तत्त्व का साक्षात्कार है। सांख्य-दर्शन का यह ही प्रतिपाद्य है। इसकी प्राप्ति के लिए सांख्यकार तत्त्वज्ञान अनिवार्य मानता है। इसीलिए सांख्य-दर्शन में तत्त्वों का विस्तार से विवेचन हुआ है।

१९. सांख्य का तत्त्वज्ञान

सांख्य के अनुसार चेतन और जड़ दो अनादि तत्त्व हैं। चेतन तत्त्व ज्ञान-स्वरूप, निष्क्रिय, असंग, निर्लेप और कूटस्थ नित्य तथा जड़तत्त्व त्रिगुणात्मक, सक्रिय और परिणामी नित्य है। जड़तत्त्व के सांख्यकार ने २४ विभाग किये हैं अर्थात् 'अष्टौप्रकृतयः षोडश विकाराः' पच्चीसवाँ तत्त्व पुरुष है, जो अविभाज्य और नित्य है। प्रकृति के सम्बन्ध से चेतन तत्त्व की स्पष्ट व्याख्या करने के लिए आचार्यों ने उसे विभिन्न संज्ञाओं से अभिहित किया है—जैसे जीव, हिरण्यगर्भ और परमात्मा अथवा व्यष्टि चेतन तत्त्व तथा समष्टि चेतन तत्त्व। व्यष्टि चेतन तत्त्व पिण्ड की उपाधि से है तथा समष्टि चेतन तत्त्व ब्रह्माण्ड की उपाधि से है। उपनिषदों में भी हमें इन दोनों प्रकार के औपाधिक पुरुष का वर्णन मिल जाता है। वैसे दोनों का समग्र रूप में भी वर्णन हुआ है। ईशावास्योपनिषद् में उस पुरुष का समग्र रूप में ही वर्णन हुआ है—

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुंजीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्॥

इसी उपनिषद् के पाँचवें मन्त्र में उसका दो प्रकार से वर्णन हुआ है—

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वदन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः॥

हृदयाकाश में व्यष्टिचेतन तत्त्व की स्थिति बताई गयी है तथा सारे ब्रह्माण्ड में समष्टि-चेतन की स्थिति बताई गयी है। कठोपनिषद् में इस सत् तत्त्व का स्वरूप बड़े सुन्दर ढंग से समझाया गया है—

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो वभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपोबहिश्च॥
वायुर्यथेको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च॥
सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः॥
(कठ. २-५-६, १०-११)

एक ही पुरुषतत्त्व कर्तृत्त्व के अभिमान से भिन्न-भिन्न रूपों में भास रहा है। सांख्य प्रवचन भाष्य में लिखा है—

निरिच्छे संस्थिते रत्ने यथा लोहः प्रवर्तते।
सत्तामात्रेण देवेन तथा चायं जगज्जनः॥
अत आत्मनि कर्तृत्वमकर्तृत्वं च संस्थितम्।
निरिच्छत्वादकर्त्ताऽसौ कर्त्ता संनिधिमात्रतः॥
(सांख्य प्र०भा० पृ०-९७)

अंगुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति।
ईशानो भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सने एतद्वैतत्॥
सृजते च गुणान् सर्वान् क्षेत्रज्ञस्त्वनुपश्यति।
गुणान् विक्रियते सर्वानुदासीनवदीश्वरः॥
(वही ३-५७)

पुरुष प्रकृति के सम्बन्ध का गीता में अनेक स्थलों पर विचार हुआ है। अव्यक्त प्रकृति की प्रथम विकृति यह तत्त्व किस प्रकार चेतन तत्त्व से प्रकाशित होता है, इसका विवेचन गीताकार ने बड़े सुन्दर शब्दों में किया है—

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद् विपरिवर्तते॥
मम योनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत॥
सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद् योनिरहं बीजप्रदः पिता॥

२०. सांख्य-दर्शन की पुरातन व्याख्या और श्री बाबा

उपर्युक्त विवेचन से सांख्य सिद्धान्त के विषय में प्रचलित मान्यता का विरोधाभास प्रतीत होता है, क्योंकि प्रचलित मान्यता के अनुसार सांख्य का सिद्धान्त द्वैतवादी और अनीश्वरवादी समझा जाता है, जबकि उपर्युक्त विवेचन स्पष्टतः इससे भिन्न लगता है; किन्तु इससे सांख्य सिद्धान्त के सम्बन्ध में प्रचलित मान्यता और उपर्युक्त प्रतिपादन में कोई ऐसी गहरी खाई नहीं है, जिसको विवेकपूर्ण दृष्टि से पाटा न जा सके। यह सत्य है कि सांख्य में पुरुष और प्रकृति दो तत्त्वों को माना गया है और पुरुष का अनेकत्व भी स्वीकार किया गया है। परन्तु वह प्रक्रिया दूसरी है। किन्तु इसे सांख्य निष्ठा क्षर-अक्षर और क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ दृष्टि से देखा

जाना चाहिए। गीता में इसी दृष्टि से विचार किया गया है। उपनिषदों में वेदान्त और सांख्य दोनों विचारधाराएँ ऐसी मिली-जुली हैं कि दोनों में विभाजक रेखा खींचना प्रायः असम्भव है और शायद इसीलिए ज्ञानमार्ग का सामान्य नाम ही सांख्यनिष्ठा पड़ गया। गीता में भी जहाँ सांख्यनिष्ठा का वर्णन है जैसे दूसरे, तीसरे, पंचम और त्रयोदश अध्याय में—वहाँ विशुद्ध कपिलोक्त सांख्य ही अभिप्रेत नहीं है, बल्कि सब प्रकार का आत्म-अनात्म विचार अभिप्रेत है। यह तो प्रायः सर्वमान्य है कि कपिल का मूल ग्रन्थ सम्प्रति उपलब्ध नहीं है—ईश्वर कृष्ण की सांख्यकारिका के आधार पर ही सांख्य-दर्शन की व्याख्या की जाती है। इस कारिका का आधार 'षष्टि तंत्र' ग्रन्थ भी अब उपलब्ध नहीं है। इसलिए सांख्य-दर्शन का पूरा चित्र अंकित करना सम्भव नहीं है। महाभारत और भागवत में भी सांख्य मत का निरूपण हुआ है, परन्तु वह सांख्यकारिका से बहुत भिन्न है। गीता का सांख्य भी कारिका के सांख्य के मेल में नहीं है, परन्तु महाभारत, गीता और भागवत के सांख्य निरूपण में बहुत साम्य है। इसलिए उसे ही अधिक प्रामाणिक माना जाता है। महाभारत में तो सांख्य के सम्बन्ध में यहाँ तक कह दिया है—

ज्ञानं च लोके यदिहास्ति किञ्चित् सांख्यगतं तच्च महन्महात्मन्।

सांख्यकार का मत है कि द्रव्य का कभी नाश नहीं होता—केवल उसका स्वरूप बदल जाता है। सत् का त्रिकाल में भी अभाव नहीं है और असत् का त्रिकाल में भाव नहीं हो सकता—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।

(गीता २-१६)

आज का विज्ञान भी इसी निष्कर्ष पर पहुँच चुका है। सांख्य का सिद्धान्त है कि पदार्थों का नानात्व केवल भासमान है—यथार्थ नहीं है—मूल में एक ही द्रव्य है। इसी मूल द्रव्य को सांख्य में प्रकृति कहा गया है। शेष यावत् सृष्टि उसी की विकृति है। पदार्थों की जो विभिन्न अवस्थाएँ हैं, वे गुणों के कारण हैं जो विकृति में ही उत्पन्न होते हैं, क्योंकि प्रकृति में तो गुणों की साम्यावस्था है। सृष्टि के आदि और अन्त में प्रकृति की अव्यक्त साम्यावस्था है और मध्य में व्यक्त विषमावस्था। गीता के दूसरे अध्याय के अट्ठाईसवें श्लोक में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना॥

अब प्रश्न यह है कि जब प्रकृति जड़ है तो उसमें यह वैषम्य क्रिया किस प्रकार होती है? सांख्यकारिकाकार उत्तर है कि यह प्रकृति का मूल धर्म है (सां० का० ६१) वह अव्यक्त है और अक्षर है और तज्जन्य पदार्थ क्षर हैं। इस प्रकार जड़ प्रकृति अव्यक्त, स्वयंभू तथा गुणक्षोभिणी है। यह मत वेदान्तियों को मान्य नहीं है और साधारण बुद्धि से भी जड़ प्रकृति के ये विशेषण विचित्र से लगते हैं। इसीलिए प्रकृति को ब्रह्म की माया बतलाकर कुछ विद्वानों ने इस समस्या का समाधान करना चाहा है। इस सन्दर्भ में क्षेत्रज्ञ का प्रश्न भी बड़ा महत्त्वपूर्ण है। सृष्टि शास्त्र के पाश्चात्य विद्वानों ने तो मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार के साथ आत्मा को भी शरीर का ही धर्म मान लिया है। इसलिए वे जड़वादी हैं, परन्तु व्यवहार में अनुभव से यह बात सिद्ध नहीं होती। क्षेत्रज्ञ, क्षेत्र से भिन्न है—द्रष्टा, दृश्य से भिन्न है। इसलिए जहाँ चैतन्य का प्रश्न आता है, वहाँ सांख्य को अनीश्वरवादी मानने वाले मौन हो जाते हैं। स्वयं सांख्यकारिकाकार क्षेत्रज्ञ या द्रष्टा को क्षेत्र तथा दृश्य से अलग मानता है और उसे चैतन्य कहता है। सांख्य शास्त्र इसे ही पुरुषयाज्ञ कहते हैं, जो त्रिगुणातीत, निर्विकार और निर्लेप है, केवल द्रष्टा मात्र है। सारी लीला प्रकृति की है, परन्तु है प्रकृति और पुरुष अनादि तत्त्व—

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान्॥
कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते॥

(गीता १३।१९-२०)

पुरुष और प्रकृति की द्वैतता को गीताकार ने बड़े अच्छे ढंग से सुलझा दिया है। पुरुष को भगवान् ने अपना अंश बताया और गुणमयी प्रकृति को अपनी माया। इतना तो सांख्यवादी मानते ही हैं कि अचेतन प्रकृति की सम्पूर्ण क्रिया सचेतन के संयोग से होती है (सां० का० २१ तथा ५७)। पुरुष के कतृत्व का अभिमान उसे प्रकृति नटी के चक्रवाल में फँसाये रखता है। जब उसे ज्ञान प्राप्त हो जाता है—उस समय प्रकृति स्वयं ही विरत हो जाती है और पुरुष कैवल्यपद को प्राप्त हो जाता है। अतः सांख्य-दर्शन को अनीश्वरवादी तो नहीं कहा जा सकता, द्वैतवादी अवश्य कहा जा सकता है। एक दृष्टि से गीताकार ने उसे भी सुलझा दिया है।

२१. सांख्योक्त पुरुष नानात्व के सम्बन्ध में श्री बाबा की दृष्टि

इस संदर्भ में पुरुष नानात्व के सम्बन्ध में सांख्य की मान्यता पर विचार कर लेना आवश्यक है। सांख्यकारिका के अनुसार तो पुरुष असंख्य और अनन्त है (सां० १८) और इस आनन्त्य को युक्ति पूर्वक सिद्ध भी किया गया है—'जन्मादि व्यवस्थातः पुरुष-बहुत्वम्।' परन्तु यह नानात्व औपाधिक है। सांख्य दर्शन में नानात्व को तात्त्विक नहीं माना गया है। सांख्य-दर्शन के निम्नलिखित सूत्र विचारणीय हैं—

'उपाधिभेदेऽपि, एकस्य नानायोग आकाशस्येव घटादिभिः।'

(सां० द० १-१५०)

उपाधिर्भिद्यते न तु तद्वान्। (१।१५१)

यह निश्चित है कि सांख्य-निष्ठा का विवेचन करने वाले गीताकार को प्रकृति और पुरुष का द्वैत मान्य नहीं है। इसीलिए वहाँ सर्वत्र ही कृष्ण के अहंकारादेश से अद्वैत की झलक मिलती है और प्रकृति-पुरुष शब्दों का प्रयोग क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के अर्थ में हुआ है। त्रिगुणातीत पुरुष माया अथवा प्रकृति के चक्र से अलग रहता है।

२२. सांख्य योग दर्शन की अनीश्वरवादिता सम्बन्धी मान्यता और श्री बाबा

सांख्य और योग के सम्बन्ध में कतिपय आलोचकों का कहना है कि यह दोनों ही दर्शन मूलतः अनीश्वरवादी हैं, उनमें ईश्वर की मान्यता बुद्ध के बाद समाविष्ट हुई है, क्योंकि उन दर्शन ग्रन्थों से ईश्वरवादी संदर्भों को निकाल देने पर भी उनके मौलिक सिद्धान्तों में कोई अन्तर नहीं पड़ता। किन्तु यह आलोचना विचारणीय है। खण्डन-मण्डन की वृत्ति भी राग-द्वेषमयी होती है। वेद और वेदांग कामधेनु और कल्पतरु के सदृश हैं—इनसे जैसी भी कामना की जाय, ये वैसा ही फल देते हैं। इसलिए आज के विचारक सभी प्रकार के विचारों की संगति इनसे लगा लेते हैं। आजकल के आलोचक तो पाश्चात्य विचारधारा से इतने अभिभूत और

प्रभावित हैं कि वे सम्पूर्ण भारतीय वाङ्मय, भारतीय परम्परा तथा भारतीय संस्कृति को उन्हीं की दृष्टि से देखते हैं। ज्ञातव्य है कि महर्षि कपिल औपनिषदिक और वैदिक पुरुष हैं। उनकी गणना २४ अवतारों में भी की जाती है। इसलिए स्पष्ट है कि सांख्य शुद्ध आत्मतत्त्व विज्ञान है। ईश्वरकृष्ण की सांख्यकारिका की टीकाओं के आधार पर इस दर्शन के अनीश्वरवादी होने की बात कही गयी है। बात यह है कि किसी शास्त्र की ईश्वर सम्बन्धी मान्यता विवाद का विषय नहीं बन सकती, विशेषकर ईश्वर को वाद का विषय नहीं बनाना चाहिए। असल में यह सब विवाद आस्तिक-नास्तिक की व्याख्या के कारण खड़े हो गये, क्योंकि नास्तिक-आस्तिक के संबंध में यह मत ही अधिक प्रचलित हो गया था—

नास्ति वेदोदितो लोक इति येषां मतिः स्थिराः।
नास्तिकास्ते तथास्तीति मतिर्येषां त आस्तिकाः॥

इस प्रकार नास्तिकता एक प्रकार की गाली हो गई और सब उपाय उससे बचने के लिए होने लगे। सांख्य का मूल विषय वेदान्त की भाँति ब्रह्म-निरूपण नहीं, इसका विषय तो पुरुष-प्रकृति-विवेक है। ईश्वर कृष्ण ने सांख्यकारिका में इस दर्शन का सार इस प्रकार निर्धारित किया है—

मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः।

इसमें किसी को संदेह नहीं कि सांख्य-दर्शन वेदों को अपौरुषेय ईश्वरीय ज्ञान और आप्त प्रमाण मानते हैं, इसलिए आस्तिक-नास्तिक की प्राचीन परिभाषा के अनुसार भी सांख्य-दर्शन नास्तिक अथवा अनीश्वरवादी नहीं कहा जा सकता।

२३. सांख्य योग का अन्योन्य सम्बन्ध

सांख्य योग के सम्बन्ध में विचार करते हुए इस तथ्य को आँख से ओझल नहीं किया जा सकता कि योग एक स्वतंत्र भिन्न दर्शन न होकर सांख्य का पूरक होने से सांख्य का ही एक अंग है, जो पूर्णरूप से उसके क्रियात्मक भाग के रूप में ग्रहण किया जा सकता है। सैद्धान्तिक विवेचन तो सांख्य में ही हुआ है। योग दर्शन में उन सिद्धान्तों के क्रियात्मक रूप को अधिक स्पष्ट किया गया है। एक बात यह भी स्पष्ट है कि योग में ईश्वर की सत्ता का स्पष्ट उल्लेख किया गया है, यह दूसरी बात हैं कि योग दर्शन के ईश्वर का स्वरूप न तो वैशेषिक, न्याय दर्शनों की भाँति कुछ गुणों का समाहार है और न ही वेदान्त के ईश्वर की भाँति सर्वम् ब्रह्म के रूप में है। महर्षि पतंजलि के अनुसार ईश्वर एक विशेष पुरुष है, जो क्लेश, कर्म फल, और वासनाओं से परे है, जगत् से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। आधुनिक आलोचक तो योग-दर्शन में ईश्वर सम्बन्धी सूत्रों को प्रक्षिप्त मानते हैं, परन्तु यह मान्यता भी प्रमाणपुष्ट नहीं कही जा सकती। एक बात समझ लेनी चाहिए कि योग-दर्शन एक ऐसा दर्शन है, जिनमें तत्त्व ज्ञान को अनुभव के द्वारा प्राप्त करना बताया गया है, इसीलिए इसमें वाद-विवाद का अधिक अवसर नहीं। श्रुति-स्मृतियों, शास्त्रों, पुराणों तथा सभी धार्मिक मान्यताओं में योग का महत्त्व स्वीकार किया गया है। इसलिए यह कहना बड़ा कठिन है कि योग की निष्ठा का प्रारंभ कब हुआ? निगम और आगम में योग सम्बन्धी अनेक सूत्र प्राप्त होते हैं, जिनकी चर्चा करना सम्प्रति आवश्यक नहीं है। पाणिनी ने 'युज्' धातु को समाधि के अर्थ में भी ग्रहण किया है, जिससे यह सिद्ध होता है कि समाधि और योग का अंगांगिभाव सम्बन्ध है। पातञ्जल-दर्शन में पहला सूत्र है—**'अथ योगानुशासनम्'** इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि महर्षि पतञ्जलि से पहले भी योग की परम्परा विद्यमान थी, उन्होंने उसे केवल व्यवस्थित रूप दिया। योग का आदिवक्ता हिरण्यगर्भ को माना जाता है—**'हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्यो पुरातनः।'** हिरण्यगर्भ का उल्लेख ऋग्वेद और यजुर्वेद में मिलता ही है। वास्तव में हिरण्यगर्भ नाम ही ऐसा है जो योग की प्रक्रिया की ओर संकेत करने वाला है। हिरण्य अर्थात् माया के गर्भ में रहने के कारण ही पुरुष अपने स्वरूप को भूला हुआ है और उसकी चित्तवृत्तियाँ बाह्य जगत् में दौड़ रही हैं, यदि उनका निरोध हो जाय तो निश्चित ही वह अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाय। इसी का नाम योग में कैवल्य है। यह किस प्रकार हो सकता है—इसका उपाय योग-दर्शन का प्रतिपाद्य है। एक प्रकार से हम यों कह सकते हैं कि योग सूत्रों का प्रमुख विषय योग साधना ही है, फिर भी दर्शन की दृष्टि से भी योग सूत्रों का महत्त्व कम नहीं है, क्योंकि उसमें जीव (द्रष्टा), चित्त (मन), चित्त की वृत्तियाँ, ईश्वर तथा भौतिक जगत् आदि पर भी विचार हुआ है।

द्रष्टा (जीव) शुद्ध निर्विकार होते हुए भी बुद्धि के माध्यम से दृश्य जगत् को देखता है। बुद्धि की वृत्तियाँ क्षण-क्षण में बदलती रहती हैं। योग-दर्शन में बुद्धि भी विकृति ही है। जब यह विकार हट जाता है तो द्रष्टा चेतन मात्र रहकर स्वरूप में स्थित हो जाता है। इस स्थिति का नाम ही कैवल्य है। कैवल्य प्राप्ति के लिए चित्त अथवा बुद्धि की वृत्तियों का निरोध आवश्यक है। ईश्वर के स्वरूप का प्रश्न योग सूत्रों में विस्तार से उठाया भी नहीं गया है। समाधि के संदर्भ में ईश्वर प्रणिधान की बात अवश्य कही गई है। योग-दर्शन का ईश्वर नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त और सर्वज्ञ है। उसकी भक्ति या प्रणिधान से चित्तवृत्तियों का निरोध होता है और उसका वाचक 'प्रणव' है। योग सूत्रकार दृश्य जगत् के स्वरूप में भी सांख्यकार से कुछ हटकर चलता है, क्योंकि वह दृश्य को पुरुष के भोग और मुक्ति का साधन मानता है। शायद इसीलिए उसने २५ तत्त्वों का विवेचन भी निम्न पद्धति से किया है तथा पुरुष विशेष को एक और तत्त्व मानकर २६ तत्त्व स्वीकार किये हैं; जो पुरुष (जीव) कैवल्य को प्राप्त कर लेता है, उसके लिए दृश्य का अस्तित्व समाप्त हो जाता है, अवशिष्ट जीवों के लिए दृश्य की सार्थकता बनी रहती है। पुरुष विशेष अथवा ईश्वर की स्थिति योग सूत्र में बिल्कुल दूसरी है। योग-दर्शन में पुरुष (जीव) को लेकर ही सारा विवेचन हुआ है। उसे ही द्रष्टा कहा गया है। चित्तवृत्तियों के निरोध से द्रष्टा की स्वरूप में अवस्थिति होती है। योग-दर्शन के 'निरोध' शब्द पर बड़ी टीका-टिप्पणियाँ हुई हैं। इसका सीधा-सा अर्थ है जड़ तत्त्व के संयोग से चेतनतत्त्व का हट जाना। यह संयोग भी वास्तव में हेय हेतु है, जैसा कि योग-दर्शन के सूत्र से स्पष्ट है। 'दृष्टदृश्योः संयोगो हेय हेतुः' इस संयोग का कारण अविद्या है। इस अविद्या का अभाव ही 'हान' कहलाता है और विवेकख्याति 'हानोपाय' है। इसी विषय का विस्तार से विवेचन योग-दर्शन में हुआ है।

२४. गीतोक्त योग और पातञ्जल योग

इस संदर्भ में यह भी विचार कर लेना आवश्यक है कि योग का वास्तविक स्वरूप क्या है। गीतोक्त योग और पातञ्जल दर्शन का योग अभिन्न है या उनमें भेद है। इस सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि गीता में योग के अनेक रूप प्रतिपादित हुए हैं, जिन्हें विभिन्न विद्वानों ने अपनी रुचि और मत के अनुसार प्रतिपादित करने की चेष्टा की है।

यह ज्ञातव्य है कि 'युज्' धातु के कई अर्थ हैं, जैसे—देवपूजा, संगतिकरण, दान, समाधि आदि। 'अमरकोष' में भी योग के कई अर्थ दिये हैं—

योगः संहननोपायः ध्यानसंगतियुक्तिषु।

गीताकार ने योग दर्शन के दार्शनिक पक्ष की व्याख्या सांख्य-निष्ठा के साथ ही कर दी है, क्योंकि वे सांख्य और योगनिष्ठा को अलग-अलग नहीं मानते। गीता में जो समत्व योग और बुद्धियोग की चर्चा है, क्या वह चित्त-निरोध के बिना संभव है। गीता के दूसरे अध्याय में **'योगः कर्मसु कौशलम्'** कहा है।

शंकराचार्य ने इसकी व्याख्या करते हुए योग को कर्म में स्वभाव सिद्ध रहने वाले बंधन को तोड़ने की युक्ति बताई है। वही तो योग दर्शन का प्रतिपाद्य है। गीता में यत्र-तत्र चित्तवृत्ति निरोध के साधनों का भी उल्लेख है। **'आत्मसंयम योग'** नाम के छठे अध्याय में योगी और योग के साधनों का विवेचन हुआ है। कुछ विद्वानों की यह कल्पना कि योगी का मार्ग निवृत्ति-मार्ग है—निराधार है। उसका मार्ग तो निवृत्तिपरक प्रवृत्ति मार्ग है। योगी सब संकल्पों का संन्यास करता है, कर्म में अकर्म, अकर्म में कर्म देखता है। इसीलिए गीताकार कहते हैं—

**यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते।
सर्वसङ्कल्पसंन्यासी योगारूढ़स्तदोच्यते॥**

विचार करने से ऐसा लगता है कि विवेक ख्याति के स्वरूप का जैसा सुन्दर और भव्य वर्णन गीताकार ने किया है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है।

२५. योगनिष्ठा और त्रिकाण्ड साधना

भारतीय साधना में ज्ञान, कर्म और भक्ति किंवा उपासना इन तीनों का महत्त्वपूर्ण स्थान है और इन तीनों का योग से अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है। ये तीनों ही मार्ग योग-निष्ठा के अन्तर्गत आते हैं। ज्ञान-योग में सत् तत्त्व का साक्षात्कार अभीष्ट है, भौतिक पदार्थों का सामान्य ज्ञान नहीं। ज्ञान-योग में वेदान्त की निष्ठा प्रधान होती है, परन्तु उसकी उपलब्धि में योगनिष्ठा अपेक्षित है। भक्ति-योग भी चित्तवृत्तियों से निरोध का एक साधन है। भक्ति-योग में चित्तवृत्तियों को सब ओर से हटाकर इष्ट पर लगाया जाता है। वह इष्ट ही परमात्म तत्त्व है। इस प्रकार के चित्तवृत्ति निरोध से संप्रज्ञात समाधि की स्थिति प्राप्त होती है। जब इष्ट से एकाकारिता प्राप्त हो जाती है, उसी का नाम कैवल्य है। योग दर्शन के बाह्य और आन्तरिक सभी साधन इसमें भी अपेक्षित हैं। जहाँ तक कर्मयोग का प्रश्न है, उसका तो गीता में बड़ा ही सुन्दर विवेचन हुआ है—

**ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा॥
कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये॥
युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते॥**

(गीता ५-१०-१२)

इस प्रकार ज्ञान, कर्म और उपासना—तीनों ही साधनाएँ योग पर आश्रित हैं और यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो तीनों ही अन्योन्याश्रित हैं, केवल सत्त्व, रजस्, तम का थोड़ा-सा भेद है। ज्ञान की प्रधानता सत्त्व की प्रधानता है, कर्म की प्रधानता रज की प्रधानता है और उपासना की प्रधानता तम की प्रधानता है। यह विवेचन पारिभाषिक है।

सत्त्वरजस्तम और ज्ञान, कर्म, उपासना का रहस्य बड़ा ही विचित्र है। गीता में सैद्धान्तिक रूप से इस रहस्य को समझाया गया है और श्रीमद्भागवत में इस रहस्य की व्यावहारिक व्याख्या की गयी है। श्रीमद्भागवत का एकादश स्कन्ध बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है। इसे विद्वानों ने अनेक नामों से अभिहित किया है। सच बात तो यह है कि इस स्कन्ध में ज्ञान, कर्म और उपासना का सार आ गया है। सांख्य योग में सभी निष्ठाओं और साधनों का समावेश हो जाता है।

२६. वैशेषिक दर्शन में सत् तत्त्व का प्रतिपादन

सत् तत्त्व का प्रतिपादन भारत के सभी दर्शनों में अपने ढंग से किया गया है। न्याय-वैशेषिक दर्शन वैसे मुख्य रूप से पदार्थवादी दर्शन कहा जाता है, उसमें भी सत् तत्त्व का प्रतिपादन उसकी अपनी शैली में किया गया है। अतः यह स्पष्ट है कि सम्पूर्ण दर्शनों का विषय विवेचन एक नहीं होता।

लक्ष्य चाहे समान ही हो फिर भी प्रतिपादन शैली और विषय विवेचन में भिन्नता होती है, परन्तु उनमें कोई तात्त्विक भेद नहीं है। आज के आलोचक दर्शन के तात्त्विक विवेचन पर इतना विचार नहीं करते, जितना दर्शनकार के काल निर्णय, उसके पौर्वापर्य और पाश्चात्य प्रभाव पर विचार करते हैं। यह दृष्टि स्थूल है। इससे दर्शन की अन्तरात्मा तक नहीं पहुँचा जा सकता। आजकल के आलोचकों का कहना है कि वैशेषिक और न्याय पाश्चात्य आत्मवादी दर्शनों के बहुत निकट हैं और इसीलिए वे इन दर्शनों के काल निर्णय पर इतना अधिक बल देते हैं। वैशेषिक और न्याय पदार्थवादी या प्रमाणवादी दर्शन कहे जाते हैं, क्योंकि इनमें पदार्थों का विवेचन और प्रमाणों का विश्लेषण किया गया है। वैशेषिक को परमाणुवादी दर्शन भी कहते हैं, क्योंकि इसमें सारे स्थूल पदार्थों का मूल उपादान कारण निरवयव सूक्ष्म परमाणु को माना है और इसीलिए आधुनिक विद्वान् परमाणुवादी पाश्चात्य दर्शनों से इसकी तुलना भी करते हैं। इसी प्रकार वैशेषिक के पदार्थ विभाजन की तुलना भी यूनानी दार्शनिकों के पदार्थ वर्गीकरण से की जाती है, विशेषकर प्लेटो और अरस्तू से। अत्याधुनिक दृष्टिकोण से वैशेषिक को बुद्धिवादी दर्शन मानकर उसकी तुलना पाश्चात्य बुद्धिवादी दर्शनों से भी की जाती है। किन्तु यह दृष्टि ठीक नहीं है। सच यह कि यह सब विचारधाराएँ अनंत समुद्र तक पहुँचने वाली सरिताएँ हैं। अपने-अपने प्रवाह प्रदेश में सब सरिताओं का उपयोग होता है। यह दूसरी बात है कि कोई विचारधारा गंगा के सदृश है, कोई यमुना के सदृश, कोई सरयू के सदृश, कोई नर्मदा, कोई गोदावरी और कोई कावेरी। सरिताओं की भाँति दर्शन अनेक हैं। जिन षड्दर्शनों का विद्वानों के बीच बहुधा उल्लेख होता है—वे तो प्रकाश में आये हुए दर्शन हैं। शास्त्रों में अनेक विचारधाराएँ उपलब्ध हैं, जिनका अभी तक नामकरण तक नहीं हुआ है—विवेचन और विश्लेषण तो दूर की बात है। बड़ी गहन तपस्या और साधना से सत् तत्त्व का साक्षात्कार और अनुभूति होती है, फिर उस अनुभूति को वाणी का रूप देना तो बहुत ही दुःसाध्य है। वैशेषिक और न्याय दोनों ही दर्शनों का प्रतिपाद्य लगभग एक-सा है—वैशेषिक को

पूर्वाङ्ग कहें तो न्याय उत्तराङ्ग कहा जायगा। न्याय एक प्रकार से वैशेषिक का ही पूरक है। वैशेषिक दर्शन का व्याख्याता औलूक्य, काश्यप और कणाद् नाम से अभिहित किया जाता है। इस दर्शन में विशेष नामक पदार्थ का अनुसन्धान किया गया है, इसलिए इसे वैशेषिक कहते हैं।

२७. वैशेषिक दर्शन पर रचयिता के नाम भेद का प्रभाव

वैशेषिक दर्शन की चर्चा होने पर यह प्रश्न उठता है कि वैशेषिक दर्शन का अर्थ जो विभिन्न नाम में प्रचलित है, क्या उनके कारण दार्शनिक मान्यताओं में कोई भेद है? यह निर्विवाद है कि इन नामों से दार्शनिक मान्यताओं के सम्बन्ध में कोई प्रकाश नहीं पड़ता, किन्तु साधना के सम्बन्ध में कुछ प्रकाश अवश्य पड़ता है।

कश्यप की गणना तो सप्त ऋषियों में होती है। उनकी गोत्र परम्परा बड़ी अध्यात्मवादी रही है।

वायु पुराण में कश्यप की परम्परा का वर्णन आया है। वहाँ प्रभास तीर्थ को कश्यप का निवासस्थान बताया है। ये महात्मा कपोती वृत्ति से अपना निर्वाह करते थे। कपोती वृत्ति का अर्थ है—मार्ग में पड़े हुए अन्न कणों को चुनकर निर्वाह करना **'रथ्यानिपतितांस्तण्डुलकणानादाय प्रत्यहं कृताहारः'** इस वृत्ति के कारण ही वैशेषिक दर्शनकार का नाम कणाद पड़ा। पुराण में यह आया है कि उनकी इस तपस्या से प्रसन्न होकर भगवान् शिव ने उलूक के रूप में प्रकट होकर, उन्हें पदार्थ ज्ञान दिया और वैशेषिक दर्शन के प्रतिपादन का आदेश दिया। इस प्रकार कणाद अति प्राचीन ऋषि हैं, अर्वाचीन नहीं, जैसा कि बहुत से आलोचक मानते हैं। वायु पुराण के अनुसार न्यायकर्ता, अक्षपाद तथा कणाद समकालीन ही ठहरते हैं। वायु पुराण, पद्म पुराण, देवी भागवत, श्रीमद्भागवत आदि पुराणों में वैशेषिक और न्याय के सिद्धान्तों का उल्लेख मिलता है। वैशेषिक सूत्रों की संख्या ३७० है, जो १० अध्यायों में विभक्त हैं। इस दर्शन का प्रतिपाद्य अन्य दर्शनों की भाँति तत्त्व ज्ञान के अनन्तर मोक्ष ही है—

धर्म विशेष प्रसूताद् द्रव्य-गुण-कर्म-सामान्य-विशेषसमवायानां पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां त्तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसम्।

कणाद के पदार्थ में सभी सम्भव पदार्थों का समावेश हो जाता है। दूसरी विशेषता इस दर्शन की यह है कि इसमें कार्य-कारणवाद का विवेचन किया गया है। यह विवेचन भी बड़ा मौलिक है। वैशेषिक दर्शन के दसवें खण्ड में जो सुख-दुःख विभेद और कार्य-कारण विवेचन हैं—वह वैज्ञानिक दृष्टि से बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है। पाश्चात्त्य तथा भारतीय विद्वानों ने इस दर्शन की अनेक प्रकार से व्याख्या की है। इस दर्शन की विशेषता यह है कि इसमें कारणवाद के मौलिक स्वरूप का चिन्तन किया गया है। बिना कार्य के कारण हो सकता है। सांख्य के सत्कार्यवाद से यह सिद्धान्त थोड़ा-सा विरोधी पड़ता है। इसलिए इसे असत् कार्यवाद भी कहा जाता है। आज का विज्ञान भी लगभग इसी निष्कर्ष पर पहुँचा है कि एक ही प्रकार के अणुओं के अनेक कार्य हो सकते हैं। सिद्ध योगी तो इस प्रक्रिया को प्रत्यक्ष रूप में कर भी सकते हैं। इसी प्रकार कणाद के परमाणु की कल्पना भी बड़ी महत्त्वपूर्ण है। परमाणु को वैशेषिक और न्याय दोनों में अविभाज्य और नित्य माना गया है। वे ही संसार की उत्पत्ति के अंतिम भौतिक कारण हैं। अदृष्ट और ईश्वर इच्छा से उनमें गति और क्रिया होती है। पदार्थों के साधर्म्य और वैधर्म्य का ज्ञान ही तत्त्व ज्ञान है। वैशेषिक तथा न्याय दोनों ही दर्शनों में इनका विस्तार से विवेचन किया गया है।

२८. न्याय वैशेषिक दर्शन में आत्मा और ईश्वर का स्वरूप

न्याय और वैशेषिक के सम्बन्ध में यह निर्विवाद है कि इन दोनों ही दर्शनों में ईश्वर का अस्तित्व स्वीकार किया जाता है। क्योंकि उनमें ऐसे अनेक प्रसंग उपलब्ध होते हैं, जिनसे ईश्वर के सम्बन्ध में स्पष्ट संकेत प्राप्त होते हैं। यह तो सर्वविदित ही है कि न्याय वैशेषिक दर्शन के अनुसार आत्मा आकाश के समान नित्य और विभु है। आकाश से पृथक् उसकी पहचान होती है, चैतन्य ज्ञान से चैतन्य शरीर का धर्म तो नहीं है, क्योंकि शरीर के नष्ट होने पर भी स्मृति रहती है, इसलिए चैतन्य शरीर से भिन्न है। मन का गुण भी चैतन्य नहीं हो सकता, क्योंकि मन भी ज्ञाता अथवा द्रष्टा नहीं है। इस प्रकार इस प्रक्रिया से चैतन्य आत्मा का गुण है। इस चैतन्यरूपी ज्ञान से ही आत्मा का अनुमान होता है। इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख आदि से भी आत्मा का अनुमान होता है। एक बात और कि वैशेषिक में बुद्धि की गणना भी २४ गुणों में हुई है। बुद्धि भी एक प्रकार का ज्ञान ही है, चाहे वह अनुभव रूप में हो या स्मृति रूप में। इसीलिए वैशेषिक में बुद्धि को जीवात्मा का गुण माना गया है। यहाँ सांख्य और योग से थोड़ा-सा भेद है, क्योंकि उन दर्शनों में बुद्धि आत्मा का गुण नहीं है, बल्कि तीनों गुणों का विषम परिणाम है। बुद्धि आत्मा के ज्ञान से प्रकाशित होती है और ज्ञान तथा अज्ञान दोनों आत्मा के प्रकाश से बुद्धि में ही होते हैं। यथार्थ में तो आत्मा बुद्धि की प्रवृत्तियों का द्रष्टा है, परन्तु अहं के आरोप से भोक्ता भी बन जाता है। वैशेषिक में इस प्रक्रिया को अधिक स्पष्ट नहीं किया गया है।

न्याय दर्शन में इस प्रक्रिया का और अधिक विस्तार से विवेचन किया गया है। उसमें अर्थ का परीक्षण प्रमाणों से किया गया है। वैशेषिक के ६ पदार्थों के स्थान पर न्याय में १६ पदार्थ माने गये हैं और प्रमाण पदार्थ पर विशेष बल दिया गया है, क्योंकि १६ पदार्थों में १२ प्रमेय पदार्थ प्रमाण द्वारा ही जाने जा सकते हैं। शेष ४ पदार्थ भी प्रमेय या प्रमाण द्वारा ज्ञान कराने में सहायक होते हैं। दोनों ही दर्शनों के अनुसार आत्मा, आकाश, काल, दिक्, मन और ४ सूक्ष्म भूतों के परमाणु नित्य हैं तथा शरीर, इन्द्रियाँ और चारों स्थूल भूत अनित्य हैं। इन दोनों ही दर्शनों में परमात्मतत्त्व का अलग से विश्लेषण नहीं हुआ है। वेद को तो दोनों ही दर्शनों में आगम प्रमाण के अन्तर्गत माना गया है। सांख्य में जिस प्रकार प्रकृति-पुरुष के ज्ञान से तत्त्व ज्ञान होता है, उसी प्रकार इन दोनों दर्शनों में जड़ और चेतन के विवेक को ही तत्त्व ज्ञान कहते हैं। इस तत्त्व ज्ञान से अविद्या का नाश होता है तथा अविद्या नाश से राग-द्वेषादि दोष नष्ट होते हैं। दोनों के नाश से प्रवृत्ति का नाश होता है, जिससे जन्मान्तर नहीं होता और अन्त में सब दुःखों का अभाव हो जाता है। यह दुःखों का अभाव ही अपवर्ग है। 'न्याय मंजरी' में इस अपवर्ग का स्वरूप इस प्रकार बताया है—

स्वरूपैकप्रतिष्ठानः परित्यक्तोऽखिलैर्गुणैः।
ऊर्मि षट्कातिगं रूपं तदस्याहुर्मनीषिणः॥
संसार वन्धनाधीनं दुःख क्लेशाद्यदूषितम्॥

जब आत्मा सम्पूर्ण गुणों से रहित हो जाता है, तो अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है। बुद्धि को आत्मनिष्ठ बताने के कारण ही कुछ विद्वानों ने वैशेषिक को जड़वादी दर्शन कह दिया, परन्तु बात ऐसी नहीं है। सृष्टि की उत्पत्ति में इन दर्शनों में परमाणुओं को उपादान कारण, इनके संयोग को असमवाय कारण और ईश्वर को निमित्त कारण माना गया है। नित्य परमाणु

निरवयव है, इसलिए उनके कारण की खोज इन दर्शनों में नहीं की गयी और न ही स्वतः सिद्ध स्वयंभू ईश्वर की अलग से व्याख्या की गयी है। केवल इतना ही कह दिया गया है कि जिस प्रकार घट इत्यादि की सत्ता से कुम्हार सिद्ध है, उसी प्रकार पृथ्वी आदि की सत्ता से ईश्वर सिद्ध है। मनुष्यमात्र के कर्म का फल उसी ईश्वर के हाथ में है। आत्मा की जड़ तत्त्व से अलग सत्ता तो इन दर्शनों में स्पष्ट रूप से मानी ही गयी है, क्योंकि वह शरीर की सब क्रियाओं का अभिमानी तत्त्व है। बात यह है कि न्याय और वैशेषिक की प्रक्रिया अन्य दर्शनों से भिन्न है। वे हर बात को प्रमाण से सिद्ध करना चाहते हैं। बुद्धि को आत्मा में सम्मिलित किये बिना ये उसके वास्तविक स्वरूप को सिद्ध नहीं कर सकते थे। इसीलिए इन दर्शनों में आत्मा के शबल रूप का ही विवेचन हुआ है। उपनिषदों में अनेक स्थलों को आकाशवत् बताया गया है। छान्दोग्योपनिषद् में आता है—'आकाशवत् सर्वगतश्च नित्यः।' गीता में भी यही बात कुछ भिन्न प्रकार से कही गयी है—

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिन रविः।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत॥
यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते॥

वैशेषिक और न्याय—दोनों ही दर्शनों में पदार्थों के प्रत्यक्ष के लिए योग क्रियाओं को आधार माना गया है। वैशेषिक दर्शन के नवें प्रकरण में और न्याय सूत्र के चौथे अध्याय में इस प्रकार के अनेक संकेत मिलते हैं।

२९. मीमांसा और वेदान्त एक ही दर्शन के अंग

वेदान्त और मीमांसा दर्शन अपने प्रचलित रूप में सिद्धान्ततः भिन्न प्रतीत होते हैं, किन्तु दोनों ही मीमांसा नामक एक दर्शन के अंग हैं। इस दर्शन के जिस भाग में कर्मकाण्ड का प्रतिपादन है, उसे पूर्व मीमांसा और जिसमें ज्ञानकाण्ड का प्रतिपादन है, उसे उत्तर मीमांसा कहा जाता है। उत्तर मीमांसा वेदान्त है और पूर्व मीमांसा कर्म मीमांसा अर्थ में मीमांसा है, यह बात मीमांसा शब्द की व्युत्पत्ति से अवगत होती है। स्पष्ट है कि 'मान्' धातु द्वारा मीमांसा की निष्पत्ति होती है। भारतीय धर्म साधना में तीन निष्ठाएँ हैं—ज्ञान, कर्म और उपासना। उपासना कर्म और ज्ञान में उभयनिष्ठ है। ज्ञान निष्ठा में सामान्य रूप से आत्मा और परमात्मा के स्वरूप का वर्णन होता है तथा कर्मनिष्ठा में नित्य, नैमित्तिक, काम्य, निषिद्ध और प्रायश्चित्त कर्मों का विधान होता है। उपासना में मन की वृत्तियों को सब ओर से हटाकर एक लक्ष्य पर लगाया जाता है। इन तीनों निष्ठाओं के विचार का सामान्य नाम ही मीमांसा है। इस विचार पद्धति के दो भेद हैं—पूर्व मीमांसा और उत्तर मीमांसा। पूर्व मीमांसा का विषय कर्मकाण्ड है और उत्तर मीमांसा का विषय ज्ञानकाण्ड है। उपासना सामान्य रूप से दोनों का विषय है। पूर्व मीमांसा दर्शन का पहला सूत्र 'अथातो धर्म जिज्ञासा' है तथा उत्तर मीमांसा का 'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा।' पूर्व मीमांसा गृहस्थियों तथा कर्मकाण्डियों तथा उत्तर मीमांसा ज्ञानियों तथा संन्यासियों के लिए है। वेद में दोनों निष्ठाओं का विवेचन हुआ है। असल बात तो यह है कि ये दोनों दर्शन एक दूसरे के पूरक हैं, क्योंकि दोनों में शब्द प्रमाण को मान्यता दी गई। कुछ आलोचक तो यहाँ तक बिना सोचे-समझे पूर्व मीमांसा को भी अनीश्वरवादी दर्शन कह देते हैं। बात यह है कि पूर्व मीमांसा का प्रमुख विषय आत्म-तत्त्व-विवेचन नहीं है, परन्तु इस दर्शन के अनेक सूत्रों से सिद्ध हो जाता है कि जैमिनि मुनि ईश्वरवादी थे। मीमांसा दर्शन का प्रमुख विषय यज्ञ है। मनुष्य के सभी कार्यकलापों का एकमात्र उद्देश्य वैदिक तथा श्रौत यज्ञ करना ही बताया है। महाभारत के शान्तिपर्व में इसकी चर्चा आयी है और गीता के तीसरें अध्याय में भी इसका विवेचन हुआ है। तीसरे अध्याय के नौवें श्लोक से यज्ञ का महत्त्व प्रारम्भ होता है—

यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय युक्तसङ्गः समाचर॥
सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वाः पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥
देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥
इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः॥
यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्विषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥
यज्ञाद् भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः॥
तस्मात् सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्॥

गीता में जहाँ इस प्रकार यज्ञ के महत्त्व पर प्रकाश डाला गया है, वहाँ दूसरी ओर ब्रह्म ज्ञान के बिना किये हुए यज्ञ कर्म को अधिक महत्त्व नहीं दिया गया है। इसीलिए गीता के दूसरे अध्याय में गीताकार ने अपने मत को स्पष्ट कर दिया है। यज्ञ कर्म के लिए भी बुद्धि को निर्मल करना होगा, विशुद्ध व्यवसायात्मिका बुद्धि से ब्रह्म का साक्षात्कार सम्भव नहीं है। यज्ञ का भी विशेष फल नहीं होगा—

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः॥
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्।
क्रिया विशेष बहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति॥
भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते॥

इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि यज्ञ भी ब्रह्म-ज्ञान का ही साधन है। पूर्व मीमांसा साधन है तो उत्तर मीमांसा साध्य।

स्मृतियों तथा धर्म-ग्रन्थों में भी वर्णाश्रम व्यवस्था के अनुसार कर्मों का विधान किया गया है। श्रौत, स्मार्त और पौराणिक कर्मों में मानवमात्र के कर्मों का विधान हो गया है। नित्य कर्म वे कहलाते हैं, जिन्हें करने से कोई फल नहीं मिलता, परन्तु न करने से दोष लगता है, जैसे स्नान, संध्या-वन्दन, पंच महायज्ञादि। नैमित्तिक कर्म किसी निमित्त से किये जाते हैं जैसे ग्रहशान्ति, प्रायश्चित आदि। काम्य कर्म किसी कामना विशेष से किये जाते हैं। इनके अतिरिक्त धर्मशास्त्रों में निषिद्ध और त्याज्य कर्मों का भी विधान किया गया है।

प्रत्येक यज्ञ में कोई न कोई देवता अवश्य होता है। यह देवता भी तो ब्रह्म का ही रूप है। इसलिए क्या देवताओं की उपासना को ब्रह्म की उपासना नहीं माना जाय? यास्क मुनि ने निरुक्त के दैवत काण्ड सप्तम

अध्याय में इस बात का स्पष्टीकरण किया है कि देवाधिदेव परमात्मा के विभिन्न रूप ही देवता है—

महाभाग्याद् देवताया एक एव आत्मा बहुधा स्तुयते।
एकस्यात्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यंगानि भवन्ति॥

वह एक सत् चेतन तत्त्व ही व्यष्टि रूप में यज्ञ का अधिष्ठातृदेवता बन गया है। वृहदारण्यक में लिखा है—

तद् यदिदमाहुः 'अमुं यजामुं यज' इत्येकैकं देवम्।
एतस्यैव सा विसृष्टिः, एष उ ह्येव सर्वे देवाः॥
(बृ० १-४-६)

वेदों में भी स्थान-स्थान पर आता है—

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः॥
(यजु० अ० ३२, मं० १)

स वरुणः सायमग्निर्भवति स मित्रो भवति प्रातरुद्यन्।
सविता भूत्वान्तरिक्षेण याति स इन्द्रो भूत्वा तपति मध्यतो दिवम्॥
(अथर्ववेद)

भगवान् के विराट् रूप की अनुभूति होने पर खण्ड-बुद्धि समाप्त हो जाती है। वह भगवान् अनन्तरूप में है, वायु, यम, अग्नि, शशांक, प्रजापति, ब्रह्मा, विष्णु सब उसी के रूप में हैं। इसलिए मीमांसा में उसी के रूप की उपासना का विधान है।

३०. यज्ञ और पशु-बलि के सम्बन्ध में श्री बाबा के विचार

कुछ लोगों को मीमांसा के विषय में भ्रान्ति है कि उसके यज्ञों में पशु की बलि का विधान है। सच यह है कि यह कल्पना कुछ स्वार्थी, पाखण्डी और वेद के प्रति अनास्थावान् व्यक्तियों की ही प्रतीत होती है। अतः मीमांसाकार ने तो अपने दर्शन में मांस पाक प्रतिशोध कहकर पशुबलि के विरुद्ध अपना स्पष्ट अभिप्राय घोषित किया है यह नितांत भ्रांति है। स्वार्थियों ने शास्त्र के अर्थ का अनर्थ कर डाला है और कहीं-कहीं प्रक्षेप भी कर दिये हैं। मीमांसाकार का तो स्पष्ट मत है 'मांस पाक प्रतिरोधः'। महाभारत के शान्ति पर्व में स्पष्ट ही लिखा है—

सुरा मत्स्याः पशोर्मांसं द्विजातीनां बलिस्तथा।
धूर्तैः प्रवर्तितं यज्ञे नैतद् वेदेषु कथ्यते॥

उत्तर मीमांसा से भी यही सिद्ध होता है कि पूर्व मीमांसाकार आचार्य जैमिनी ईश्वरवादी थे—

'साक्षादप्यविरोधं जैमिनिः।' (वेदान्त द० १-२-२८)

३१. वेदान्त की उभयरूपता

मीमांसा और वेदान्त की चर्चा के प्रसंगों में यह प्रश्न स्वभावतः उठता है कि मीमांसा को दर्शन कहना कैसे उपयुक्त है? क्योंकि दर्शन शब्द 'दृश्' धातु से भाव अथवा कर्ण में युज प्रत्यय द्वारा निष्पन्न होता है जिसका अर्थ होता है पदार्थ का तत्त्वबोध अथवा उसका साधन। और मीमांसा शब्द 'मान' धातु से सं प्रत्यय द्वारा निष्पन्न होता है, इसका अर्थ होता है—जिज्ञासा अथवा विचार। यह भी प्रश्न साथ ही उठ खड़ा होता है कि मीमांसा का विषय है कर्मकाण्ड और वेदान्त का विषय है तत्त्वज्ञान, फिर दोनों में विषय भेद स्पष्ट होने से दोनों को दर्शन कैसे कहा जा सकता है? इस प्रश्न के उत्तर में यह कहना यथार्थ है कि पूर्व मीमांसा और उत्तर मीमांसा एक ही चित्र के दो पहलू हैं। दोनों का लक्ष्य वेद वाक्यों में अविरोध स्थापना है। दोनों ही निष्ठाएँ विशुद्ध श्रुति परम्परावादी हैं, इसलिए दोनों ही मीमांसात्मक हैं अर्थात् श्रुति मीमांसात्मक। अन्य दर्शन तो स्वतन्त्र रूप से ईश्वर, जीवन, प्रकृति आदि पर विचार करते हैं और उनमें कारण कार्यभाव स्थापित करते हैं, परन्तु उत्तरमीमांसा अथवा वेदान्त ब्रह्म को निष्पन्न मानकर चलता है। ब्रह्म की निष्पन्नता में शास्त्र को ही प्रमाण मानते हैं—'शास्त्रयोनित्वात्' (१। १। ३) इसलिए ब्रह्म के विवेचन में शास्त्रों की मीमांसा ही प्रमुख साधन बन गया है। इस प्रकार ब्रह्म और शास्त्र का साध्य-साधक सम्बन्ध हो गया है। ब्रह्म की सिद्धि के लिए तर्कों की इतनी अपेक्षा नहीं है, जितनी श्रुति प्रामाण्य की। तर्क केवल श्रुति वाक्यों में समन्वय के लिए प्रस्तुत किये गये हैं। पूर्वमीमांसा का आधार भी श्रुति है। यह कहा जा सकता है कि पूर्वमीमांसा तो श्रुति विहित कर्मकाण्ड मार्ग पर विचार करता है तथा उत्तरमीमांसा श्रुतिविहित ब्रह्म निरूपण पर। इसीलिए एक को कर्ममीमांसा और दूसरे को ब्रह्ममीमांसा भी कहते हैं।

इसीलिए दोनों में तारतम्य है और एक प्रकार से पूर्वापर सम्बन्ध है। उत्तरमीमांसा अथवा वेदांत में ब्रह्मकारणवाद की श्रुति-विहित प्रतिष्ठा है और यह ही उसका प्रतिपाद्य भी है। इतना ही नहीं, उत्तर मीमांसाकार अपने प्रतिपाद्य को तर्क से भी सिद्ध करते हैं और उत्तरमीमांसा की एक स्वतन्त्र दर्शन के रूप में प्रतिष्ठा करते हैं और स्वपक्ष प्रतिपादन के लिए बड़ी कुशलता और वैदुष्य से पर-पक्ष का निराकरण करते हैं।

विशुद्ध श्रुतिमूलक होने के कारण ही वेदान्त-दर्शन सब भारतीय दर्शनों में मूर्धन्य माना जाता है। अन्य दर्शनों की अपेक्षा इस दर्शन पर सबसे अधिक टीकाएँ तथा भाष्य हुए हैं तथा प्रस्थानत्रयी में वेदान्त सूत्रों को स्थान मिला है। प्रस्थानत्रयी का अर्थ है—वैदिक धर्म के आधारभूत तीन प्रस्थान। प्रस्थानत्रयी में उपनिषद्, वेदान्त-सूत्र और श्रीमद्भगवद् गीता आते हैं। प्रस्थानत्रयी में सम्मिलित किये जाने के अनन्तर वेदान्तसूत्र की सार्वभौम सत्ता स्थापित हो गयी। यही कारण है कि कालांतर में वैदिक धर्म के सभी सम्प्रदायों ने अपने-अपने सिद्धान्तों की पुष्टि प्रस्थानत्रयी से की है। विशुद्ध दर्शन के क्षेत्र में भी वेदान्त सूत्र आधार-शिला का कार्य करने लगे और सिद्धान्तों की श्रुत्यनुकूलता सूत्रानुकूलता पर आधारित हो गई। यही कारण है कि वेदान्त सूत्रों पर अनेकानेक भाष्य लिखे गये हैं।

वास्तव में वेदान्त-सूत्रों में ब्रह्मकारणवाद को व्यवस्था दी गई है—किसी नये सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं किया गया है, क्योंकि वेदानुकूल ब्रह्ममीमांसकों की तो एक लम्बी परम्परा है। स्वयं ब्रह्मसूत्रकार ने कई का निर्देश किया है, जैसे—आश्मरथ्य, वादरि, काशकृत्स्न, औड्डलोमि और कार्ष्णाजिनि आदि। मुण्डकोपनिषद् में वेदान्त-परम्परा का संकेत मिलता है, **'वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः'** (मुण्डक ३। २। ६) बात यह है कि वेद तो अपौरुषेय हैं—ज्ञान-स्वरूप हैं। उनमें जगत् कारण प्रतिपादक भी श्रुतिवाक्य हैं, जिनके आधार पर विद्वान् मूल तत्त्व-ज्ञान की उपेक्षा कर सकते हैं। इसीलिए ब्रह्मकारणवाद की व्यवस्थित और वैज्ञानिक व्याख्या और प्रतिपादन की आवश्यकता थी। इस आवश्यकता की पूर्ति वेदान्त सूत्रों द्वारा हुई।

३२. वेदान्त सूत्रों में वर्णित सत् तत्त्व

वेदान्त सूत्रों के सभी भाष्यकारों ने ब्रह्म की व्याख्या की है—अब नवीन बात कहने के लिए अवशिष्ट नहीं है। यदि कोई नवीन व्याख्या की जाय तो उसमें साम्प्रदायिकता की गन्ध आने लगेगी। वेदान्त-दर्शन के प्रथम चार सूत्र जिन्हें वेदान्त की चतुःसूत्री कहा जाता है—सामान्य रूप से वेदान्त के तत्त्व का निरूपण कर देते हैं। वे चार सूत्र हैं—

''अथातो ब्रह्म-जिज्ञासा।''

''जन्माद्यस्य यतः।''

''शास्त्रयोनित्वात्।''

''तत्तु समन्वयात्।''

पहली बात है—ब्रह्म जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का निमित्त कारण है। वह ब्रह्म शास्त्र-योनि है अर्थात् प्रत्यक्ष का विषय नहीं है। शास्त्रज्ञेय है तथा शास्त्र की ब्रह्म-सम्बन्धी मान्यताओं में कोई विरोध नहीं है। वेदान्त में ब्रह्म का दो रूपों में वर्णन हुआ है—शुद्ध रूप में और शबल रूप में। शुद्ध रूप परतत्त्व है जो जीव और जड़ तत्त्व से स्वरूपतः भिन्न है और निर्विकार है, **'सर्वतत्त्वैर्विशुद्धम्'** है। जगत् का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण परतत्त्व नहीं है, अपितु सत् तत्त्व है। एक प्रकार से जगत् इसी सत् तत्त्व की व्यक्त अभिव्यक्ति है और यही सूत्र जिज्ञास्य ब्रह्म है। यह सत् तत्त्व जगत् की भाँति जीव का भी कारण है। इसलिए जीव और जगत् का यथार्थ ज्ञान ही सत् का ज्ञान है। जीव और जगत् का नियामक तत्त्व पर है जो अन्तर्यामी है—यों कहा जा सकता है कि जीव, जगत् और सत् एक ही तत्त्व है। उसका नियामक अंश अन्तर्यामी परतत्त्व कहलाता है तथा नियम्य अंश जीव और जगत्। सत् प्रकृति है और जगत् विकृति। सत् तत्त्व स्वरूप से कभी विकृत नहीं होता। कारण सत् और कार्य सत् दोनों ही अवस्थाओं में वह विशुद्ध नियन्ता आत्मा रहता है। अन्तर्यामी परतत्त्व ही जगत् रूप में परिणत होता है। इस प्रकार वेदान्त में सत् की व्याख्या बड़ी विचित्र है। शुद्ध स्वरूप में परमात्मतत्त्व न विराट् है, न हिरण्यगर्भ है, और न ही ईश्वर है। हाँ शबल रूप में समष्टि-व्यष्टि भेद से वह विराट् भी है, हिरण्यगर्भ भी है और ईश्वर भी है। वेद और उपनिषद् दोनों ही प्रकार के स्वरूपों का वर्णन करते हैं। श्रीमद्भगवद्गीता में भी दोनों ही रूपों का विश्लेषण हुआ है। वेदान्त में **'तत्त्वमसि'**, **'अहं ब्रह्मास्मि'** तथा **'अयमात्मा ब्रह्म'** इत्यादि वाक्य ब्रह्म के स्वरूपों का ही निरूपण करने वाले हैं, जिनकी व्याख्या भक्ति-दर्शनों में भिन्न-भिन्न प्रकार से हुई हैं।

प्रकृति-पुरुष से परे अव्यक्त परब्रह्म को दोनों रूपों में देखा गया है—निर्गुण और सगुण। यह **'अविभक्तं विभक्तेषु'** ज्ञान बड़ा ही विचित्र है, इसकी अनुभूति योगियों को ही हो सकती है। कनक कुण्डलादि अनेक न्यायों से इसे सिद्ध करने की चेष्टा की गयी है।

दृश्य जगत् का जो मिथ्यात्व है वह भी भेद बुद्धि से ही है, जगत् की नाम रूपात्मकता को लेकर ही है। इन नाम-रूपों को ही माया कहते हैं। सत् और असत् का रहस्य भी बड़ा विचित्र है। वेद में ही बड़े विरोधी से वाक्य मिलते हैं। ऋग्वेद को ही देखा जाय—

'एकं सत्यं बहुधा कल्पयन्ति' (ऋ० १।११४।५)

'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' (ऋ० १।१६४।४६)

'देवानां पुर्व्येयुगेऽसतः सदजायत' (ऋ० १०।७२।७)

तैत्तिरीय उपनिषद् में आता है, **'असद् वा इदमग्र आसीत्।'** फिर छान्दोग्य उपनिषद् में आता है **'सदैव सौम्येदमग्र आसीत्।'**

इसलिए सत् और असत् का विवेक बड़ा ही दुस्तर कार्य है। पहले तो यही कहना कठिन है कि सत् तत्त्व क्या है और असत् तत्त्व क्या है? यदि अव्यक्त परब्रह्म तत्त्व को असत् मानें और नाम-रूपात्मक जगत् को सत् तो यह प्रश्न उपस्थित होता है कि दोनों का सम्बन्ध किस प्रकार स्थापित हुआ? यह एक बड़ी समस्या है—जिसका समाधान दार्शनिकों ने अपने-अपने ढंग से किया है। वेदान्त में स्वरूप-स्थिति का एकमात्र साधन परमात्म-तत्त्व ज्ञान को ही बताया गया है। वह स्वरूप स्थिति तभी हो सकती है जब दृश्य, द्रष्टा और दर्शन का भेद मिट जाय। मन, बुद्धि, अहंकार, इन्द्रियों और शरीर में जब तक अहं भाव रहेगा, तब तक परमात्मतत्त्व का ज्ञान सम्भव नहीं है।

३३. भक्ति दर्शनों की अभिन्नता

उपर्युक्त रीति से विचार करने पर यह निष्कर्ष प्राप्त होना स्वाभाविक है कि दर्शनों में कोई मौलिक भेद नहीं है। सभी दर्शनों का प्रतिपाद्य भगवत्-तत्त्व निरूपण और उसमें जीव को आसक्त करना है। असल बात तो यह है कि शंकराचार्य ने वेदान्त-सूत्रों की **'शांकर भाष्य'** नाम से अद्वैतपरक व्याख्या की थी। उनके भाष्य को शारीरक भाष्य कहते हैं। इनके भाष्य का बहुत अधिक प्रचार और प्रसार हुआ और उन्होंने धर्म की प्रतिष्ठा में अभूतपूर्व योगदान भी किया। ऐसा कहा जाता है कि उनके समय में देश में धार्मिक अराजकता थी तथा विभिन्न धार्मिक सम्प्रदाय आत्मवाद से विमुख होकर जड़वाद की ओर चल रहे थे। इसलिए उन्होंने जड़वाद के स्थान पर अद्वैत चैतन्यवाद की स्थापना की। खण्डन-मण्डन के वेग में द्वैत-प्रतिपादक वैदिक और अवैदिक सभी दर्शनों का शंकर ने खण्डन किया। शंकर का सिद्धान्त अद्वैत कहलाता है। उनके अनुसार समस्त संसार जो मनुष्यों के चर्म चक्षुओं द्वारा दिख सकता है—असत्य है। सब में एक ही शुद्ध परब्रह्म का अस्तित्त्व है। इसी की माया से भेद की अनुभव-प्रतीति होती है। जीवात्मा परब्रह्म का ही स्वरूप है। जब तक इस अभेद का अनुभव नहीं होता, तब तक मुक्ति असम्भव है। एक शुद्ध बुद्ध नित्य मुक्त परब्रह्म के अतिरिक्त विश्व में कोई वस्तु स्वतन्त्र नहीं है। दृष्टि में भ्रम उत्पन्न करने वाली माया मिथ्या है। शंकर के अद्वैतवाद का महावाक्य है—**'सर्वम् खल्विदम् ब्रह्म'**। इस प्रकार उन्होंने ब्रह्म को निर्विशेष माना, दृश्य का निषेध करके निषेध की सीमा में जो अनुच्छिष्ट और शिष्ट रहता है, वहीं अखण्ड चिन्मात्र एकरस अद्वितीय ब्रह्म है। उसका निरूपण विधानात्मक शब्दों में नहीं हो सकता, क्योंकि वह स्थूल नहीं है, अणु नहीं है, दीर्घ नहीं है, शब्द स्पर्श वाला नहीं है, अदृश्य है, अलक्ष्य है, अलक्षण है और अग्राह्य है। इन शब्दों के द्वारा केवल उसका संकेत किया जा सकता है। शंकर पारमार्थिक दृष्टि से ब्रह्म की सगुणता स्वीकार नहीं करते। उनका कहना है कि श्रुतियों में जहाँ सगुण ब्रह्म का निरूपण हुआ है, वह केवल व्यावहारिक दृष्टि से है। ब्रह्म का वास्तविक रूप तो निर्गुण ही है। परमात्मा की अनादि शक्ति का नाम माया है, जिसे अविद्या कहते हैं। जो न सत् है, न असत् है, अनिर्वचनीय है। अनेकविध जड़ चेतन रूप-प्रपंच इसी अविद्या अथवा माया का फल है। इसलिए माया सम्बद्ध ब्रह्म ही इस जगत् का अभिन्न-निमित्तोपादान कारण है। माया के सम्बन्ध से ही ब्रह्म को ईश्वर

कहते हैं और अविद्या के सम्बन्ध से उसे जीव। अविद्या के कारण जीव अपने शुद्ध ज्ञान स्वरूप को भूल, जड़ पदार्थ में अहं की भावना करने लगता है। इस अभ्यास के कारण वह कर्ता और भोक्ता बन जाता है और आवागमन के चक्र में फँस जाता है। जब उसकी अविद्या का नाश हो जाता है तो उसका उपाधियों से आत्मभाव हट जाता है और कर्ता-भोक्ता का अभिमान भी समाप्त हो जाता है, तब वह अपने विशुद्ध ज्ञान स्वरूप में अवस्थित हो जाता है। इस सिद्धान्त को विवर्तवाद अथवा निर्विशेषाद्वैतवाद भी कहते हैं।

३४. शांकर अद्वैत और ब्रह्मसूत्र

वेदान्त सूत्रों की अनेक आचार्यों ने भाष्यात्मक व्याख्या लिखी है और सभी ने अपनी व्याख्या को ब्रह्मसूत्र की यथार्थ व्याख्या और श्रुति सम्मत बताया है, अतः यह कहना अत्यन्त कठिन है कि शंकराचार्य का अद्वैतवाद अथवा अन्य आचार्यों का मतवाद वास्तव में ब्रह्म सूत्र का प्रतिपाद्य है। आधुनिक आलोचकों ने तो सभी व्याख्याओं में त्रुटियाँ खोजने का प्रयास किया है, किन्तु वास्तव में विवेचक की दृष्टि में अभिप्राय भेद से सभी व्याख्याओं को समीचीन मानना ही उचित प्रतीत होता है। वैष्णव आचार्यों ने यह अनुभव किया कि शंकर के माया-मिथ्यात्त्व के कारण उपासना गौण हो गयी, क्योंकि उसमें निवृत्ति मार्ग अथवा संन्यास धर्म का ही प्राधान्य है। शंकर ने पारमार्थिक दृष्टि से ब्रह्म को सगुण स्वीकार नहीं किया था, वे परमोच्च सत्ता को पारमार्थिक रूप में निर्विशेष ही मानते थे। वैष्णव आचार्यों ने उस सत्ता को सविशेष स्वीकार किया। आचरण पक्ष में शंकर के अनुसार स्मृति ग्रन्थों में निरूपित आचार-व्यवहार अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि उनके बिना न तो चित्त की शुद्धि ही सम्भव है और न ही ब्रह्मात्मैक्य ज्ञान प्राप्त करने की योग्यता प्राप्त हो सकती है। इसलिए कर्म करना भी अनिवार्य है, परन्तु अन्त में कर्म को त्याग कर संन्यास लेना पड़ेगा, क्योंकि सब वासनाओं और कर्मों के छूटे बिना ब्रह्मज्ञान सम्भव ही नहीं। इस प्रकार शंकर ने एक ओर तो ब्रह्म की अद्वैतता को उस अमूर्त स्थिति तक पहुँचा दिया, जो सामान्य व्यक्ति की पहुँच से बाहर है और दूसरी ओर संसार के महत्त्व को स्वीकार करते हुए भी उसकी निस्सारता और मिथ्यात्त्व प्रतिपादन द्वारा साधारण मानव समाज की ओर से मनुष्य को विमुख कर दिया। संन्यास की अनिवार्यता से समाज धर्म की भी उपेक्षा हो गयी। वैष्णवों ने परमंतत्त्व को सविशेष मानने के अतिरिक्त उसकी विशिष्ट व्यक्तित्त्व सम्पन्न इष्ट के रूप में भी प्रतिष्ठा की। श्रुति-स्मृति-प्रतिपादित आचार को महत्त्व देते हुए भी इन्होंने आगमों में प्रतिपादित विशिष्ट आचार को भी महत्त्व दिया। इष्ट के स्वरूप की भिन्नता के कारण सविशेषवादी आचार्य भी प्रमुख दो वर्गों में विभाजित हो गये— वैष्णव और शैव। वैष्णव मत के प्रमुख आचार्य रामानुज, निम्बार्क, मध्व, वल्लभ और बलदेव हैं। रामानंदी वैष्णव सम्प्रदाय के भी दो ब्रह्मसूत्र भाष्य उपलब्ध हैं, एक आनंद भाष्य, दूसरा जानकी भाष्य। शैव सम्प्रदाय के प्रमुख भाष्यकार श्रीकण्ठ और श्रीपति हैं। दोनों वर्गों के भाष्यों में कोई बहुत बड़ा अन्तर नहीं है। एक वर्ग विष्णु को परमतत्त्व मानता है और वैष्णव आगमों में प्रतिपादित आचार को विधेय कहता है। दूसरा वर्ग शिव को परम तत्त्व मानकर शैवागमों को विधेय कहता है। पद्म पुराण में इस प्रकार का उल्लेख है कि श्रीकृष्ण भगवान् ने अपने चार शिष्यों को वैष्णव तत्त्व का उपदेश दिया था—

> श्रीब्रह्मरुद्रसनका वैष्णवाः क्षितिपावनाः।
> चत्वारस्ते कलौ भाव्या ह्युत्कले पुरुषोत्तमात्॥

'प्रमेय रत्नावली' में इन चारों सम्प्रदायों के प्रवर्तक आचार्यों का उल्लेख इस प्रकार हुआ है—

> रामानुजं श्रीः स्वीचक्रे मध्वाचार्यं चतुर्मुखः।
> श्रीविष्णुस्वामिनं रुद्रो निम्बादित्यं चतुःसनः॥

इस प्रकार रामानुजाचार्य श्री सम्प्रदाय के, मध्वाचार्य ब्रह्म-सम्प्रदाय के, विष्णुस्वामी रुद्र-सम्प्रदाय के और श्रीनिम्बार्काचार्य सनक-सम्प्रदाय के प्रवर्तक माने जाते हैं।

वैष्णव-भाष्य परम्परा का प्रवर्तन रामानुजाचार्य ने किया। रामानुजाचार्य के परमगुरु श्री यामुनाचार्य ने अद्वैतवाद के प्रतिवाद में तीन ग्रन्थों की रचना की—सिद्धित्रय, आगमप्रामाण्य, गीतार्थ संग्रहरक्षा। परन्तु ब्रह्मसूत्र के भाष्य के बिना उनके सिद्धान्तों को शास्त्रीय मान्यता नहीं मिल सकती थी। उनका यह मनोरथ उनके प्रशिष्य रामानुज ने पूर्ण किया। इसलिए उन्हें सम्प्रदाय में भाष्यकार कहा जाता है। उन्होंने बड़ी योग्यता और वैदुष्य से अपने श्री भाष्य में शंकर के अद्वैत का खण्डन किया। उनके पश्चात् जो वैष्णव भाष्य लिखे गये, उनकी प्रमुख दृष्टि शांकर सिद्धान्तों के निराकरण के प्रति इतनी नहीं रही, जितनी अपने विशिष्ट सिद्धांतों के प्रतिपादन के प्रति। उदाहरण के लिए निम्बार्काचार्य का **'वेदान्त पारिजात सौरभ'** ब्रह्मसूत्र वाक्यार्थ ही माना जाता है। उनके शिष्य श्रीनिवासाचार्य ने जो **'वेदांत कौस्तुभ'** नाम का भाष्य प्रस्तुत किया, उसमें भी खण्डन-मण्डन की प्रवृत्ति अधिक नहीं है, केवल अपने सिद्धांतों का प्रतिपादन है। मध्वाचार्य के 'पूर्णप्रज्ञ भाष्य' में भी शंकर के सिद्धान्तों का विस्तार से खण्डन नहीं है। उदाहरण के लिए उन्होंने **'न चाप्रामाणिकं कल्प्यम्'** (मध्वभाष्य सू० १।२।६) तथा **'न चाशब्दमितरसिद्धम्'** (मध्वभाष्य सू० १।१।५) आदि वाक्यों से ही संतोष कर लिया है। मध्वभाष्य के अध्ययन से ऐसा लगता है कि उनके भाष्य का प्रधान लक्ष्य शैव भाष्यों का खण्डन रहा है। अणुभाष्यकार वल्लभाचार्य की दृष्टि में शंकर का अद्वैत अवश्य रहा है, परन्तु उन्होंने व्यंग्य वाक्यों का अधिक प्रयोग किया है। आचार्य वल्लभ 'वेदांत सूत्र' का भाष्य पूरा नहीं कर सके थे। उनके पुत्र विट्ठलेशजी ने ही उसे समाप्त किया था। आचार्य बलदेव के भाष्य का नाम 'गोविन्द भाष्य' है। ये चैतन्य सम्प्रदाय के विशिष्ट पंडित माने जाते हैं। इस सम्प्रदाय में श्रीमद्भागवत को ही ब्रह्मसूत्र का भाष्य माना जाता है, परन्तु बाद में बलदेवभूषण ने ब्रह्मसूत्रों का एक स्वतंत्र भाष्य लिखा। इस भाष्य में मध्वाचार्य और रामानुजाचार्य का ही विशेष अनुसरण हुआ है। इन भाष्यों के मूल सिद्धांतों में कोई तात्त्विक भेद नहीं है। उदाहरण के लिए निम्न सिद्धांतों का प्रतिपादन प्रायः सभी वैष्णव भाष्यों में समान है—

१. जगत् का सत्यत्व, सत्योपादानकत्व।
२. जीव का स्वाभाविक रूप से ज्ञानस्वरूपत्व, नित्यत्त्व, अणुत्व, ज्ञातृत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व, ब्रह्मवश्यत्व एवं संख्या में बहुत्व।
३. ब्रह्म का परमार्थतः सविशेषत्त्व, निर्दोषत्त्व, सर्वकल्याणगुण सम्पन्नत्त्व, परमेश्वरत्त्व, जगत्कर्तृत्त्व, सर्वव्यापकत्त्व, सर्वान्तर्यामित्व, मोक्षप्रदत्त्व, उपास्यत्त्व, मुक्तिप्राप्यत्त्व, विशिष्ट दिव्यरूपसम्पन्नत्त्व और उक्त रूप के साथ उसका कार्य जगदतीतदिव्य-लोकाधिष्ठितत्त्व।

४. दिव्यलोक में भगवान् के नित्यकैंकर्य की प्राप्ति ही सर्वोत्तम मोक्ष।
५. भक्ति या शरणागति ही उक्त मोक्ष का सर्वोत्तम उपाय।
६. कर्म, ज्ञान और योग आदि भक्ति के अंग।
७. किसी भी प्रकार की उपाधि का अस्वीकार।
८. ब्रह्म की परमैश्वर्य शक्ति के रूप में माया का स्वीकार।
९. कार्यकारण सम्बन्ध में परिणामवाद का स्वीकार, विवर्तवाद का नहीं।

३५. वैष्णव सम्प्रदायों का सैद्धान्तिक विवेचन

वेदान्त सूत्रों के ऊपर वैष्णवाचार्यों की जो व्याख्या है उसमें आचार और भक्ति के प्रतिपादन को शंकराचार्य की दृष्टि से भी महत्त्व देना अत्यावश्यक है। यत: आचार और भक्ति के बिना चित्त की शुद्धि और ब्रह्मात्म्यैकबोध संभव नहीं है इसलिए वैष्णव आचार्यों की व्याख्या की उपयोगिता की दृष्टि से, वैष्णव सम्प्रदाय के प्रमुख सिद्धान्तों को हृदयंगम करना आवश्यक है। इस संदर्भ में यह कहना सुसंगत प्रतीत होता है कि वैष्णव सम्प्रदायों में सर्वप्रथम गणना विशिष्टाद्वैत की है। इस सम्प्रदाय के प्रमुख आचार्य रामानुज हैं।

रामानुजाचार्य के ये ग्रन्थ अधिक प्रसिद्ध हैं—वेदान्तसार, वेदार्थ संग्रह, वेदान्त दीप तथा ब्रह्मसूत्र और भगवद्गीता के भाष्य। इस प्रकार उन्होंने अपने सम्प्रदाय को शास्त्रसम्मत सिद्ध करने के लिए प्रस्थानत्रयी पर भाष्य लिखे। उन्होंने शंकर के माया, मिथ्यात्ववाद को झूठा सिद्ध किया और बताया कि यद्यपि जीव, जगत् और ईश्वर—ये ती.: तत्त्व भिन्न-भिन्न हैं तथापि जीव (चित्) और जगत् (अचित्)—ये दोनों एक ही ईश्वर के शरीर हैं, अतएव चिदचिद्विशिष्ट ईश्वर एक ही है और फिर ईश्वर शरीर के इस सूक्ष्म चित्-अचित् से ही स्थूल चित् और स्थूल अचित् (क्रमश: अनेक जीव और जगत्) की उत्पत्ति हुई। यह मत तत्त्वज्ञान की दृष्टि से तो विशिष्टाद्वैत कहलाया, परन्तु आचरण की दृष्टि से इसमें भक्ति का ही प्राधान्य रहा। इसमें कर्मनिष्ठा को स्वतंत्र न मानकर ज्ञान-निष्ठा की उत्पादयित्री माना गया है। इस प्रकार रामानुजाचार्य ने शंकर मत से अद्वैत (अद्वैत ज्ञान) के स्थान पर विशिष्टाद्वैत और संन्यास के स्थान पर भक्ति की प्रतिष्ठा कर दोनों में भेद किया, परन्तु आचारदृष्टि से भक्ति को ही आन्तरिक अंतिम निष्ठा माना, जिससे वर्णाश्रमविहित सांसारिक कर्म भी गौण हो गये। तात्त्विक रूप से इन्होंने चित् और ईश्वर को आधार मानकर अपने मत का प्रतिपादन किया और उसकी पुष्टि उपनिषदों द्वारा की। ईश्वर को उन्होंने सर्वोपरि माना, जो सर्वगुण सम्पन्न, अनुपम, अद्वितीय और महान् है, वही सबका स्वामी है, विश्वात्मस्वरूप है, उसको पुरुषोत्तम कहा गया है, वह दोषों और त्रुटियों से रहित है और अपनी इच्छाओं को पूरा करने के लिए उसने अपनी अनन्त शक्ति से काम लिया। उत्पत्ति, पालन और संहार करने की शक्ति उसी में है। सृष्टि का अभिप्राय—एक स्थिति से दूसरी स्थिति का परिवर्तन है तथा कर्म और क्रियाएँ भी उसी की चेष्टाएँ हैं। सर्वप्रथम ईश्वर एकाकी था, फिर उसी से प्रकृति और जीव की उत्पत्ति हुई। यद्यपि प्रकृति और जीव दोनों सत्य हैं, फिर भी उनकी सत्ता उसी पर निर्भर है। प्रत्येक कल्प के अन्त में प्रलय होता है और सब कुछ उसी में विलीन हो जाता है, केवल तमस् अवशिष्ट रहता है। यही ब्रह्म का शरीर है, किन्तु यह इतना सूक्ष्म होता है कि इसकी सत्ता अलग कल्पित नहीं की जा सकती, इसलिए यह एक है। फिर वह अपने आपको अनेक में परिवर्तित कर लेता है और इस नाम-रूपात्मक जगत् की सृष्टि होती है। इस प्रकार सृष्टि का हेतु वही है, किन्तु उपासना और ध्यान के लिए उसके पाँच रूप माने गये हैं—

१. परब्रह्म—यह परब्रह्म स्वरूप वैकुण्ठ में रहता है। वैकुण्ठ अनेक प्रकार की विलास-सामग्रियों से सुसज्जित है। 'श्री', 'भू' और 'लीला' नाम की स्वर्गिक स्त्रियाँ उनकी सेवा करती हैं। वह शंख, चक्र, गदा और पद्म से सुशोभित है। अनन्त, गरुड़, विष्वक्सेन आदि मुक्त आत्माएँ उसके साथ विहार करती हैं।

२. व्यूह—इस स्वरूप में ब्रह्म के चार रूप हो जाते हैं—वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध।

३. विभव—यह स्वरूप भगवान् के मत्स्य, कच्छप आदि दस अवतारों से सम्बन्ध रखता है।

४. अन्तर्यामी—इस स्वरूप में वह योगियों के हृदय में प्रवेश करता है और घट-घट में वास करने वाला है।

५. अर्चा—इस स्वरूप में उपासकों द्वारा इसकी अनेक मूर्तियों की कल्पना की जाती है। कुछ आचार्यों ने 'व्यूह' में वासुदेव के अतिरिक्त शेष तीनों रूपों की कल्पना की है, परन्तु रामानुजाचार्य ने आत्मा का अनेकत्त्व स्वीकार करके उनको तीन कोटियों में विभाजित किया—बद्ध, मुक्त, नित्य। बद्ध आत्माओं की अनेक कोटियाँ हैं, जो ब्रह्म देवों से लेकर कृमि-कीटों और वनस्पतियों तक फैली हैं। मनुष्य-जातीय बद्ध जीवात्माओं के भी दो भेद हैं—आनन्द के इच्छुक और मुमुक्षु। आनन्द के इच्छुक प्राणियों में कुछ तो भौतिक आनन्द को ही अपना लक्ष्य बनाकर, उसी की प्राप्ति के हेतु द्रव्यादि-संग्रह में तत्पर रहते हैं और कुछ दिव्य आनन्द की खोज में तीर्थ-यात्रा, यज्ञ, पुण्य, जप, तप, व्रत आदि का आश्रय लेते हैं। मुमुक्षु आत्माओं में से कुछ केवली कहलाते हैं, जो अपनी आत्माओं को सांसारिक दोषों से रहित कर लेते हैं; और कुछ नित्य आनन्द की खोज में रहते हैं, वे भी भक्त कहलाते हैं। भक्ति के लिए कर्मयोग और ज्ञानयोग दोनों ही अपेक्षित हैं। कर्मयोग में यज्ञ, तपस्या, तीर्थ, यात्रा आदि वेदविहित सभी कर्म आ जाते हैं, आत्मा की शुद्धि हो जाती है, और ज्ञानयोग की प्राप्ति होती है, जिसके कारण जीवात्मा अपने आपको प्रकृति से भिन्न समझता है। यही ज्ञानयोग भक्ति का हेतु है। यम, नियम आदि अष्टांग योग भी भक्तियोग में अपेक्षित हैं। समर्पण भक्ति का सर्वश्रेष्ठ अंग है, इसे प्रपत्ति कहा गया है; प्रपत्ति के अधिकारी शूद्र भी हो सकते हैं। भक्ति के इन साधनों के अतिरिक्त 'अर्थ पंचक' में 'आचार्याभिमान योग' नामक एक और साधन है, जिसके अनुसार शिष्य सब कुछ गुरु को अर्पण कर देता है। भक्ति के अनेक प्रकारों का विधान किया गया है। रामानुजाचार्य ने अपने सम्प्रदाय के सिद्धान्तों में उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र, पुराण आदि सभी का आधार ग्रहण किया और सृष्टि का क्रम सांख्य-शास्त्र के अनुसार स्वीकार किया। वास्तव में उनका यह वैष्णव सम्प्रदाय पांचरात्र के वासुदेव सम्प्रदाय से मिलता-जुलता है, जिसमें नारायण और विष्णु के तत्त्वों का समावेश हो गया और नारायण को विशेष महत्व मिला। भगवान् के जिन स्वरूपों का वर्णन भगवद्गीता में हुआ है, उनका उन्होंने विशेष रूप से उल्लेख किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने परम्परागत भक्ति को ब्राह्मण धर्म के साँचे में ढालने का प्रयत्न किया।

सबसे बड़े महत्त्व की बात यह है कि उन्होंने अपना भक्ति मार्ग शूद्रों के लिए भी उन्मुक्त कर दिया। रामानुज के श्री-सम्प्रदाय में शूद्रों को भी निश्चित दिनों में मंदिर प्रवेश का अधिकार दे दिया गया और कुछ शूद्र इस सम्प्रदाय में दीक्षित भी थे।

रामानुज के सिद्धान्तों के अध्ययन से यह निष्कर्ष प्राप्त होता है कि भक्ति मार्ग के परिनिष्ठित स्वरूप की स्थापना सबसे पहले उन्होंने ही की और भक्ति के इस स्वरूप ने उत्तर भारत के भक्ति-आन्दोलन को पूर्णतया प्रभावित किया। वैष्णव मत के जितने भी प्रचारक हुए, सभी ने शंकर के 'माया मिथ्यात्व' के सिद्धान्त का खण्डन कर भक्ति की स्थापना की। परन्तु सिद्धान्त रूप से रामानुजाचार्य का मत शंकर का कहीं विरोधी नहीं है—क्योंकि अन्ततोगत्वा कर्म आचरण से चित्त शुद्धि होने के पश्चात् ज्ञान की प्राप्ति होने पर, संन्यास ग्रहण कर ब्रह्म चिन्तन में लगा रहना (शंकर) या प्रेमपूर्वक वासुदेव भक्ति में तत्पर रहना और ईश्वर के प्रति सर्वस्व समर्पण (रामानुज)—दोनों ही बातें कर्मयोग की दृष्टि से एक हैं, और ये दोनों ही मार्ग निवृत्ति विषयक कहे जा सकते हैं। इसीलिए आगे के आचार्यों ने विशिष्टाद्वैत को भी अद्वैत का एक सुधार ही समझा।

मध्वाचार्य ने शंकर के अद्वैत और रामानुज के विशिष्टाद्वैत के विरोध में अपने मत की स्थापना की और भागवत पुराण को अपने मत का आधार बनाया। उन्होंने ईश्वर, जीव और प्रकृति के पाँच-पाँच भेदों पर विशेष रूप से विचार किया—(१) ब्रह्म और जीवात्मा, (२) ब्रह्म और जड़ जगत्, (३) जीवात्मा और जड़ जगत्, (४) एक जीवात्मा और दूसरी जीवात्मा और (५) एक जड़ पदार्थ और दूसरा जड़ पदार्थ। सृष्टि की रचना के विषय में उन्होंने वैशेषिक शास्त्र को आधार माना। ब्रह्म को उन्होंने असंख्य गुणों का आधार माना है और उसके कार्य विधान को आठ श्रेणियों में विभाजित किया—उत्पत्ति, पालन, लय, नियंत्रण, आवरण, बोधन, बंधन और मोक्ष। ब्रह्म को उन्होंने पूर्णतया स्वतंत्र तथा जीवात्मा और प्रकृति से भिन्न माना है। वह विभिन्न अवतार धारण करता है, जिनमें उसके सभी गुणों का आवरण होता है। लक्ष्मी उससे भिन्न है, किन्तु उसकी आश्रिता हैं और उसी के इंगित पर उसके कार्य विधान का सम्पादन करती हैं। इस लक्ष्मी के अनेक रूप हैं, जैसे—श्री, भू, ह्री, दक्षिणा, सीता, सत्या, रुक्मिणी आदि। ये प्रवृत्तियों को चेतन और अचेतन दो प्रकार की मानते हैं। जीवों की संख्या उन्होंने अनन्त मानी है, जो तीन वर्गों में विभाजित है—

(१) मुक्ति-योग्य, (२) नित्य-संसारी और (३) तमो-योग्य। जब जीव मुक्त हो जाता है, तब भी जीव-जीव में तथा ईश्वर और जीव में पार्थक्य बना ही रहता है। इन्होंने मुक्ति के चार भेद माने हैं—

कर्म-क्षय, उत्क्रान्ति का लय, अर्चिरादि मार्ग तथा भोग। मुक्ति योग को वे चार प्रकार का मानते हैं—सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य। कर्मक्षय नाम की मुक्ति में संचित पाप-पुण्य का तो क्षय हो जाता है, परन्तु प्रारब्ध कर्म बने ही रहते हैं। जब प्रारब्ध कर्म का क्षय हो जाता है, तब जीव ब्रह्म नाड़ी का सुषुम्ना के सहारे उत्क्रमण करता है और उसे पार करने पर अपने जीवन को भूल जाता है। उसके हृदय का द्वार खुल जाता है और हृदय स्थित भगवान्, ब्रह्म द्वार से निकलकर उसे ऊपर ले जाते हैं तब वैकुण्ठ-लोक में पहुँचकर जीव को भगवान् के तुर्य रूप का साक्षात्कार होता है। वहीं उत्क्रमणलय मोक्ष की अवस्था है। अर्चिरादि मार्ग मुक्ति उन ज्ञानी भक्तों के लिए है, जिनके प्रारब्ध कर्म का क्षय नहीं हुआ हो और जो सुषुम्ना के पास की नाड़ी के द्वारा ऊर्ध्वगमन करते हैं तथा अर्चिरादि लोकों में पहुँचते हैं, फिर वहीं से वायुलोक होते हुए ब्रह्मलोक में पहुँच जाते हैं। भोग मुक्ति में जब ज्ञानी भक्त के प्रारब्ध कर्मों का क्षय हो जाता है तो वे श्वेत द्वीप में पहुँच जाते हैं, जहाँ उन्हें नारायण का दर्शन होता है, जिनकी आज्ञा से वे फिर पृथ्वी पर आकर परमानन्द का उपभोग करते हैं।

इस जगत् को उन्होंने प्रपंच माना है, क्योंकि यह पाँच प्रकार के भेदों से युक्त है। परमात्मा के समान ही जगत् को भी वे सत्य मानते हैं और उसके पाँच भेदों को भी। मुक्ति प्राप्ति के लिए जीव को उन पाँचों का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है। पदार्थों की संख्या उन्होंने दस मानी है—दृश्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशिष्ट, विशेष, अंशी, शक्ति, सादृश्य और अभाव। दृश्य पदार्थ बीस माने हैं—परमात्मा, लक्ष्मी, जीव, आकाश, प्रकृति, गुणत्रय, महत् तत्त्व, अहंकार, बुद्धि, मन, इन्द्रिय, तन्मात्रा, भूत, ब्रह्माणु, अविद्या, वर्ण, अन्धकार, वासना, काल और प्रतिबिम्ब। अन्य पदार्थों का भी विस्तृत विवेचन करते हुए उन्होंने शक्ति पदार्थ पर विशेष बल दिया है और उसके चार भेद किये हैं—(१) अचिन्त्य शक्ति, (२) आधेय शक्ति, (३) सहज शक्ति और (४) पद शक्ति। इनमें अचिन्त्य शक्ति विशेष महत्त्व रखती है, क्योंकि इसकी पूर्णता ईश्वर में है। भगवान् की इस अचिन्त्य शक्ति का ही नाम ऐश्वर्य है और ईश्वर में विरुद्ध—धर्मत्व का भी यही कारण है।

आधेय शक्ति आरोपित शक्ति का नाम है। जब किसी मूर्ति में देव शक्ति का आह्वान किया जाता है और उसमें प्राणप्रतिष्ठा की जाती है, तो वह आधेय शक्ति कहलाती है। सहज शक्ति, पदार्थों के स्वभाव और प्रकृति के अनुसार नित्य और अनित्य दो प्रकार की होती है। पद और पदार्थ के सम्बन्ध को व्यक्त करने वाली शक्ति पदशक्ति होती है।

वल्लभाचार्य के सिद्धान्त को शुद्धाद्वैत कहा जाता है। कहा जाता है कि आचार्य श्री ने ८४ ग्रन्थों की रचना की थी। उनमें 'वेदान्त सूत्र' का अणु भाष्य, भागवत की सुबोधिनी टीका, षोडश ग्रन्थ, पुरुषोत्तम सहस्र नाम तथा तत्त्व दीप निबन्ध अधिक प्रसिद्ध हैं। सिद्धान्त पक्ष में वल्लभ सम्प्रदाय को शुद्धाद्वैतवादी, ब्रह्मवादी तथा अविकृत परिणामवादी कहते हैं। आचरण पक्ष में यह मार्ग पुष्टि कहलाता है। शुद्धाद्वैत का अभिप्राय है—

मायासम्बन्धरहितम् शुद्धमित्युच्यते बुधैः।
कार्यकारणरूपं हि शुद्धं ब्रह्म न मायिकम्॥

शंकर ने माया और अविद्या रूप उपाधि से युक्त ब्रह्म को जगत् का कारण बताया था, परन्तु वल्लभ ने इसका विरोध किया। उन्होंने जगत् को ब्रह्म का ही परिणाम बताया, जो अविकृत अर्थात् विकाररहित है, **'आत्मैव तदिदं सर्वं ब्रह्मैव तदिदं तथा।'** इस प्रकार जीव, जगत् और ब्रह्म एक ही हैं। वह ब्रह्म सजातीय, विजातीय तथा स्वगत भेदों से वर्जित है। वही ब्रह्म जगत् का समवायि कारण है और वही निमित्त कारण है तथा वह अपने स्वरूप में और अपनी रचित लीला में नित्य मग्न रहता है। जिस प्रकार उद्दीप्त अग्नि से विस्फुल्लिंग अर्थात् चिनगारियाँ उत्पन्न होती हैं, उसी प्रकार ब्रह्म से असंख्य स्वरूप जीव उत्पन्न होते हैं। वह ब्रह्म विरुद्ध धर्मों का आश्रय है। ब्रह्म का यह विरुद्ध धर्माश्रयत्व वल्लभाचार्यजी के मत की विशेषता है। ब्रह्म से ही सब पदार्थों का आविर्भाव होता है और उसमें ही उन सबका तिरोभाव होता है। इस आविर्भाव-तिरोभाव की शक्ति से ही वह एक से अनेक और अनेक से एक होता रहता है। जड़-तत्त्व में चित् और आनन्द दो

धर्म तिरोभूत हैं, केवल सद्धर्म प्रकट है। जीव में सत् और चित् दो धर्म प्रकट हैं और आनन्द तिरोभूत हैं। ब्रह्म का आनंदांश अन्तरात्मा रूप से प्रत्येक जीव में है, इसलिए भगवान् अन्तर्यामी हैं। 'तत्त्वदीप निबंध' के शास्त्रार्थ प्रकरण में इस सिद्धान्त पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है—

विस्फुलिंगा इवाग्नेस्तु सदंशेन जडा अपि।
आनन्दांशस्वरूपेण सर्वान्तर्यामिरूपिणः॥
सच्चिदानन्दरूपेषु पूर्वयोरन्यलीनता।
अतएव निराकारौ पूर्वावानन्दलोपतः॥
जडो जीवान्तरात्मेति व्यवहारस्त्रिधा मतः।
विद्याविद्ये हरेः शक्ती माययैव विनिर्मितेः॥

ब्रह्म का शुद्ध स्वरूप पुरुषोत्तम परब्रह्म कहलाता है। उसका दूसरा रूप अक्षर ब्रह्म कहलाता है, जिससे जीव और जगत् की उत्पत्ति होती है। पूर्ण पुरुषोत्तम परब्रह्म का एक स्वरूप रस रूप भी है, जो छः गुणों से विशिष्ट है—ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य। इन गुणों के तिरोहित होने से ही जीव को दुःख भोगना पड़ता है। रसमय परब्रह्म अपने अक्षर धाम में अनेक लीलाएँ करता है। इस अक्षर धाम को ही 'गोलोक' कहते हैं। अक्षर ब्रह्म के समय-समय पर कला रूप से अंशावतार होते रहते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण अवतार नहीं हैं, बल्कि स्वयं पूर्णानंद स्वरूप पूर्ण पुरुषोत्तम परब्रह्म ही हैं। वे अक्षर धाम तथा अपनी शक्तियों के साथ आविर्भूत होते हैं। ब्रजभूमि भगवान् के लीलाधाम गोलोक का ही अवतरण है, वह मायिक जगत् से परे है।

वल्लभाचार्य ने जीव को अणुमात्र माना है, जो गंध की भाँति सम्पूर्ण शरीर में फैला हुआ है, उसका चैतन्य गुण सर्व-शरीर-व्यापी है। जीव असंख्य, नित्य और सनातन है। जीव में अपने अंशी के सभी गुण हैं। अविद्या माया के कारण जीव बद्धावस्था में रहता है और ऐश्वर्य आदि गुणों का उसमें से तिरोधान हो जाता है। उस समय जीव अनेक योनियों में भ्रमता फिरता है। वल्लभाचार्य ने श्रुतियों से प्रमाण देकर जीव का अणुत्व और आनन्त्य सिद्ध किया है।

जीव-सृष्टि दैवी और आसुरी दो प्रकार की मानी गयी है। दैवी जीव-सृष्टि, पुष्टि तथा मर्यादा-भेद से दो प्रकार की है। पुष्टि सृष्टि के जीव चार प्रकार के होते हैं और उनकी उत्पत्ति पुरुषोत्तम के अंग से मानी गयी है। इस सृष्टि के जीवों के चार प्रकार ये हैं—शुद्ध-पुष्ट, पुष्टि-पुष्ट, मर्यादा-पुष्ट तथा प्रवाही-पुष्ट।

वल्लभाचार्य ने सृष्टि के २८ तत्त्व माने हैं। ब्रह्म अन्तर्यामी रूप में इन तत्त्वों से युक्त अण्डरूप सृष्टि का संचालन करते हैं। आचार्यजी ने जगत् को सत्य माना है और संसार को मिथ्या, क्योंकि संसार को जीव ने अपनी अविद्या माया से रचा है। संसार का उपादान कारण अविद्या और निमित्त कारण जीव है। अहंता ममतात्मक कल्पना का नाम ही संसार है। जब जीव अज्ञान से छूट जाता है, तो उसके संसार का भी लय हो जाता है, किन्तु जगत् का लय भगवान् की इच्छा पर निर्भर है। अविद्या माया जीव के बंधन का कारण है और विद्या माया उसकी मुक्ति का। माया के पाँच पर्व अर्थात् ग्रन्थियाँ हैं—अन्तःकरण, प्राण, इन्द्रिय, देह और स्वरूप। अविद्या का नाश भगवान् की कृपा के बिना सम्भव नहीं है। जब अविद्या का नाश हो जाता है, तभी नित्यानन्द की प्राप्ति होती है। यह भगवान् की कृपा ही 'पुष्टि' कहलाती है। भगवान् के अनुग्रह प्राप्त करने का सबसे सरल मार्ग भक्ति है। वल्लभाचार्य जी ने सालोक्य, सामीप्य, सारुप्य और सायुज्य नाम की मुक्ति अवस्थाओं के अतिरिक्त स्वरूपानन्द की एक अवस्था और मानी है। इस अवस्था में जीव भगवान् की लीला का साक्षात् अनुभव करता है। यह अवस्था सर्वश्रेष्ठ है, जो मुक्ति से भी बढ़कर है। विरह की अवस्था को वल्लभ ने बड़ा महत्त्व दिया है, क्योंकि उस अवस्था में भक्त और भगवान् का सायुज्य होता है। वल्लभ-सम्प्रदाय में गोकुल का बड़ा महत्त्व है, क्योंकि वह भगवान् के नित्य लीलाधाम गोलोक का अवतरित रूप है।

वैष्णव सम्प्रदायों में निम्बार्क-सम्प्रदाय का भी बड़ा महत्त्व है। निम्बार्क के सिद्धान्त आचार्य रामानुज के सिद्धान्तों के समान ही हैं, क्योंकि इनमें प्रपत्ति का विशिष्ट महत्त्व है। प्रामाणिक रूप से नहीं कहा जा सकता है कि निम्बार्काचार्य ने कौन-कौन से ग्रन्थों की रचना की, अनुश्रुति से उनके ३ प्रमुख ग्रन्थ बताये जाते हैं—(१) वेदान्त पारिजात सौरभ, (२) दशश्लोकी और (३) सविशेष निर्विशेष श्रीकृष्ण स्तवराज। वेदान्त पारिजात सौरभ, ब्रह्मसूत्रों की संक्षिप्त व्याख्या है। बहुत आगे चलकर इस सम्प्रदाय के पंडित केशव कश्मीरी ने ब्रह्मसूत्र पर भाष्य लिखा। निम्बार्काचार्य की दश श्लोकी में उनके सारे सिद्धान्तों का सार आ जाता है। उन दश श्लोकों का सारांश इस प्रकार है—

१. जीवात्मा ज्ञानस्वरूप है, परन्तु हरि पर आश्रित है। वह अणु रूप है, विभिन्न शरीरों में पृथक्-पृथक् है, अनन्य, विशिष्ट और ज्ञानी है।
२. यह जीवात्मा अनादि माया से बद्ध रहता है और तीन गुणों से संयुक्त रहता है। ईश्वर की कृपा से ही उसे अपनी प्रकृति का ज्ञान होता है।
३. अचेतन पदार्थ तीन प्रकार के माने हैं—अप्राकृत, प्राकृत तथा काल। प्रकृति से उत्पन्न पदार्थों के प्रायः तीन रंग—रक्त, श्वेत और कृष्ण होते हैं।
४. मैं कृष्ण का ध्यान करता हूँ, जो व्यूह अवयवों वाले हैं और सर्वश्रेष्ठ हैं। सब दोषों से रहित, कल्याणकारी और सर्वगुण सम्पन्न हैं।
५. मैं वृषभानु की कन्या राधिका का ध्यान करता हूँ, जो कृष्ण के वामांग में सुशोभित हैं, हजारों सखियों से परिसेवित हैं और सब कामनाओं को पूर्ण करने वाली हैं।
६. अज्ञानान्धकार से मुक्ति पाने के लिए प्राणियों को निरन्तर परब्रह्म की उपासना करनी चाहिए। नारद सच्चे ज्ञानी और सत्य के अन्वेषक थे। उन्हें यह ज्ञान सदानन्द आदि ने दिया।
७. श्रुति-स्मृतियों के अनुसार सब मान्यताओं का मूल स्रोत ब्रह्म है, अतएव ब्रह्म सत्य है। जो वेदों को जानते हैं, उनका भी यही सिद्धान्त है। स्मृति और सूत्रों के अनुकूल जो उसके तीन रूप बताये गये हैं, वे भी सत्य हैं।
८. कृष्ण के चरणारविन्दों को छोड़कर और कोई गति नहीं है। ब्रह्मा, शिव आदि भी उनकी वन्दना करते हैं। भक्तों की इच्छा से वे श्रीकृष्ण भक्तों के ध्यान के योग्य स्वरूप धारण करते हैं। उनकी शक्ति अचिन्त्य और अप्रमेय है।
९. उनकी कृपा का बड़ा महत्त्व है। दैन्य आदि भाव उनकी कृपा से ही उत्पन्न होते हैं और उसी से प्रेमरूप भक्ति की भी प्राप्ति होती है। भक्त द्वारा की गई अनन्य भक्ति द्वारा ही उसकी कृपा प्राप्त हो सकती है। यह भक्ति दो प्रकार की होती है—(१) परा, जो श्रेष्ठ है, और (२) साधनरूपा

१०. भक्तों के लिए पाँच पदार्थ जानना आवश्यक है, उपास्य का रूप, उपासक का रूप, कृपाफल, भक्तिफल तथा फल-प्राप्ति के विरोधी।

इन सिद्धान्तों में प्रपत्ति के साथ-साथ परमात्मा की कृपा तथा उसके प्रति प्रेम का प्राधान्य है। निम्बार्क की साधना पद्धति में रामानुज सम्प्रदाय के सभी योग आ जाते हैं, अन्तर केवल इतना है कि रामानुजाचार्य ने तो भक्ति को उपनिषदों में विहित उपासना की कोटि में रखा है, जबकि निम्बार्क ने भक्ति के रूप में ही सुरक्षित रखा है। रामानुजाचार्य ने अपनी भक्ति को नारायण, लक्ष्मी, भू और लीला तक ही सीमित रखा, जबकि निम्बार्क ने कृष्ण और सखियों द्वारा परिवेष्ठित राधा को भी प्रधानता दी।

चैतन्य सम्प्रदाय का सिद्धान्त पक्ष प्रायः मध्व सम्प्रदाय के ही अन्तर्गत है। चैतन्य महाप्रभु ने वेदान्त सूत्रों पर कोई भाष्य नहीं लिखा था। भगवान् के प्रेम महोदधि में निमग्न रहने के कारण, किसी ग्रंथादि की रचना करने के लिए महाप्रभु के पास समय ही कहाँ था? उनके केवल ८१ श्लोक मिलते हैं, जो कृष्ण की भक्ति और कीर्तन के महत्त्व का प्रतिपादन करते हैं। महाप्रभु के शिष्यों ने उनके सम्प्रदाय को शास्त्रीय रूप दिया। श्री नित्यानन्द अद्वैताचार्य ने बंगाल में तथा उनके छः अन्य शिष्यों ने वृंदावन में महाप्रभु के सिद्धान्तों का प्रचार किया और अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे। इस सम्प्रदाय के मतानुसार कृष्ण ही परमतत्त्व हैं, जो अनन्त शक्ति से युक्त और अनादि हैं। उपासना भेद से उस तत्त्व के अलग-अलग नाम हो गये हैं। जब उसकी शक्ति का प्राकट्य हो जाता है, तब उसे भगवान् कहते हैं, अन्यथा वह ब्रह्म कहलाता है। जब उसकी कुछ शक्ति प्रकट और कुछ अप्रकट होती है, तब वह परमात्मा कहलाता है। भक्ति का आलंबन ब्रह्म का भगवान् रूप ही है। परब्रह्म के तीन रूप हैं—(१) स्वयं रूप, (२) तदेकात्म रूप और (३) आवेश रूप। इन तीनों रूपों में कृष्ण स्वयं रूप हैं। स्वयं रूप कृष्ण के भी तीन रूप हैं—(१) द्वारका रूप, (२) मथुरा रूप, (३) ब्रजलीला रूप। ये तीनों रूप उत्तरोत्तर श्रेष्ठ हैं। ब्रह्म तदेकात्म रूप में अपनी अभिव्यक्ति दो प्रकार से करता है—(१) विलास रूप से, (२) स्वांश रूप से। स्वांश रूप ही उसका लीला विलास रूप है। जब परब्रह्म कुछ कलाओं के साथ विशिष्ट जीवों में प्रकट होता है तब वह उसका आवेश रूप कहलाता है। भगवान् के अवतार भी तीन होते हैं— (१) पुरुषावतार, (२) गुणावतार और (३) लीलावतार। श्रीकृष्ण का आदि पुरुषावतार वासुदेव कहलाता है, जो तीन प्रकार का माना गया है। संकर्षण, अनिरुद्ध और प्रद्युम्न। पुरुषावतार ही सृष्टि का कारण है। गुणावतार रूप में परब्रह्म विष्णु, ब्रह्मा और रुद्र का रूप धारण करता है, लीलावतार में परब्रह्म का तदेकात्म रूप और आवेश रूप प्रकट होता है।

भगवान् की तीन शक्तियाँ मानी गयी हैं—अन्तरंग शक्ति, बहिरंग शक्ति और तटस्थ शक्ति। भगवान् की अन्तरंग शक्ति ही स्वरूप शक्ति है, जिसे सन्धिनी कहते हैं। सत्-चित्-आनन्द इसी का सामूहिक रूप है। बहिरंग शक्ति माया कहलाती है, जिससे जड़ प्रकृति का उद्भव होता है। यह माया भी दो प्रकार की होती है—द्रव्य माया और गुण माया। द्रव्य माया जगत् का उपादान कारण है और गुण माया निमित्त कारण। इस बहिरंग और अन्तरंग शक्ति के मध्य में एक तटस्थ शक्ति है, जो जीवों की उत्पत्ति का हेतु है। सम्प्रदाय में जीव को नित्य और अणुरूप में माना गया है। भगवान् का पूर्ण पुरुषोत्तम स्वरूप गोलोक में रहता है, जिसे वृन्दावन धाम कहते हैं।

जब चैतन्य महाप्रभु की शिष्य परम्परा में आचार्य बलदेव विद्याभूषण ने ब्रह्मसूत्र पर गोविन्द भाष्य लिखा, तब इस सम्प्रदाय की गणना मध्व सम्प्रदाय से अलग एकं स्वतंत्र वैष्णव सम्प्रदाय में होने लगी।

३६. श्री रामानन्द सम्प्रदाय श्री रामानुज सम्प्रदाय का ही एक रूप

वैष्णव सम्प्रदायों में रामानन्द सम्प्रदाय का भी विशिष्ट स्थान है। इस सम्प्रदाय में ब्रह्मसूत्र के ऊपर दो भाष्य उपलब्ध होते हैं—आनन्द भाष्य और जानकी भाष्य। कतिपय लोगों का इस सम्प्रदाय के सम्बन्ध में यह मत है कि यह सम्प्रदाय रामानुज मत के श्री सम्प्रदाय से सर्वथा पृथक् है, किन्तु इस मत की प्रामाणिकता का कोई आधार नहीं है। रामानन्द और राघवानन्द के ग्रन्थों को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि रामानुज सम्प्रदाय को श्री सम्प्रदाय से भिन्न मानने की धारणा, अत्यन्त आधुनिक और कपोलकल्पित है।

राघवानन्द और रामानन्द ने विशिष्टाद्वैत के सिद्धान्तों का ही प्रतिपादन और प्रचार किया। उनकी रामभक्ति भी सम्प्रदाय सम्मत है। लक्ष्मीनारायण के स्थान पर सीताराम कह देने से तो सम्प्रदाय के सिद्धान्त नहीं बदल जाते हैं, जबकि सीताराम की उपासना भी सम्प्रदाय विहित है। इस भेद-भाव की प्रवृत्ति को क्या कहा जाय? कोई गम्भीरता से न तो अध्ययन ही करता है और न तपस्या ही। बिना त्याग और तपस्या के तत्त्वज्ञान सम्भव नहीं है।

भेदभाव युग की प्रवृत्ति है। एक ही सम्प्रदाय के अन्तर्गत अनेक सम्प्रदाय हो जाते हैं। रामभक्ति तो बड़ी प्राचीन है। वेदों में भी उसके संकेत हैं। आलवार सन्तों में रामभक्ति मिलती ही है। शठकोप नम्मालवार का नाम प्रसिद्ध ही है। इनकी सहस्र गीति में बड़े भावविभोर होकर रामभक्ति की गयी है और यहाँ तक कह दिया है—'दशरथस्य सुतं तं बिना अनन्य शरणवान्नास्मि'। इनके द्वारा स्थापित ३२ दिव्य विग्रहों में राम के कई विग्रह हैं। सदाशिव संहिता में इन्हें राम तारक मन्त्र का उपदेष्टा कहा गया है। द्रविड़ प्रदेश रामभक्ति भावना की भी पावन स्थली रही है। श्री सम्प्रदाय के सभी प्राचीन आचार्य रामभक्ति में आस्था रखते थे। प्राधान्य लक्ष्मीनारायण का ही था, परन्तु सीताराम से लक्ष्मीनारायण का तादात्म्य इनकी अपनी विशेषता थी। 'बृहद् ब्रह्म संहिता' श्री वैष्णव सम्प्रदाय का एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त ग्रन्थ है। उसमें सीताराम और लक्ष्मीनारायण की अभिन्नता दिखायी गयी है। राम रहस्यत्रयार्थ और प्रपन्नामृत में श्री वैष्णवों की राम विषयक आस्था का विस्तार से विवेचन हुआ है। नाथ मुनि, पुंडरीकाक्ष, राममिश्र, यामुनाचार्य और रामानुजाचार्य—सभी की भक्ति-पद्धति में राम का महत्त्व है। नाथ मुनि का आलवन्दार स्तोत्र प्रसिद्ध है। उसमें सकृदेव प्रपन्नाय भगवान् राम की बड़ी भावभावित उपासना की गयी है—

ननु प्रसन्नः सकृदेवनाथ, तवाहमस्मीति च याचमानः।
तवानुकम्प्यः स्मरतः प्रतिज्ञां मदेकवर्ज्यं किमिदं व्रतं ते॥
अकृत्रिमं त्वच्चरणारविन्दं प्रेमप्रकर्षावधिमात्मवन्तम्।
पितामहं नाथमुनिं विलोक्य प्रसीद मद्वृत्तमचिन्तयित्वा॥

रामानुजाचार्य तो लक्ष्मण के अवतार ही माने जाते हैं। प्रपन्नामृत में तो परवर्ती आचार्यों की रामभक्ति सम्बन्धी अनेक कथाएँ हैं।

रामानुजाचार्य के ब्रह्मलीन होने के थोड़े दिन पश्चात् ही श्री वैष्णव सम्प्रदाय दो भागों में विभाजित हो गया था। एक शाखा तेंगलवै कहलाती थी दूसरी वडकलै। इन्हें तिङ्गल और बड़गल भी कहते हैं। तमिलवेद को प्रधानता देने वाली शाखा तिङ्गल कहलाई, जिसके संस्थापक लोकाचार्य हुए तथा दूसरी बडगल शाखा में संस्कृत के ग्रन्थों को अधिक महत्त्व दिया गया। उसके संस्थापक थे वेदान्तदेशिक। धीरे-धीरे दोनों शाखाओं के तिलक और सिद्धान्तों में पर्याप्त भेद हो गया।

रामानुजाचार्य से रामानन्द जी की परम्परा अनेक ग्रन्थों में परिगणित है, जिनमें थोड़ा बहुत वैभिन्य भी है, परन्तु वैभिन्य कोई महत्त्वपूर्ण बात नहीं है। वह इतिहासकारों का विषय है। आज तो रामार्चन पद्धति के भी कई संस्करण हो गये हैं। रामार्चन पद्धति में भगवान् रामचन्द्र से ही श्री वैष्णव परम्परा दिखाई गयी है। इसमें कोई सन्देह की गुंजाइश नहीं है कि स्वामी रामानन्द जी महात्मा राघवानन्द जी के साक्षात् शिष्य थे। इसमें भी कोई सन्देह नहीं कि राघवानन्द जी ने दक्षिण से आकर उत्तर भारत में भक्ति का प्रचार किया था। अनन्त स्वामी रचित **'हरि भक्ति सिन्धु बेला'** में इस तथ्य का उल्लेख भी है—

वन्दे श्रीराघवाचार्य रामानुजकुलोद्भवम्।
याम्यादुत्तरमागत्य राममन्त्रप्रचारकम्॥

(मन्त्र प्रकरण, चौथीतरंग)

स्वामी रामानन्द रामानुजाचार्य जी से चौदहवीं पीढ़ी में थे। नाभादास जी ने भक्तमाल में तो उन्हें रामानुज से पाँचवीं पीढ़ी में ही गिनाया है—

श्री रामानुज पद्धति प्रताप अवनि अमृत ह्वै अनुसरयो।
देवाचारज द्वितिय महामहिमा हरियानन्द।
तस्य राघवानन्द भये भक्तन को मानंद॥
पत्रावलम्ब पृथिवी करी वसि काशी स्थाई।
चारि बरन आश्रम सब ही को भक्ति दृढ़ाई॥
तिनके रामानन्द प्रगट, विश्व मंगल जिन वपु धरयो।
श्रीरामानुजपद्धति प्रताप, अवनि अमृत ह्वै अनुसरयो॥

रामानन्दीय सम्प्रदाय के प्रायः सभी प्रमुख भक्त-चरितों में इसे श्रीसम्प्रदाय की परम्परा में ही माना गया है। राघवानन्द जी उच्चकोटि के सन्त और त्यागी महात्मा थे। वे सर्वात्मदर्शन के पोषक थे और आचार-व्यवहार में उनका मानदण्ड, वैष्णव भक्ति और आंतरिक शुद्धि था। शायद इसीलिए उन्हें उत्तर भारत में आकर स्थायी रूप से रहना भी पड़ा, क्योंकि दक्षिण में बाह्य आचार-व्यवहार पर अधिक बल था। बहुत दिनों की बात नहीं है, जब महाराज जी पंचगंगा घाट पर काशी में रहते थे। उनकी रहनी और करनी बड़ी विचित्र थी। ऐसे वीतराग महात्मा को लोकख्याति से कोई प्रयोजन हो ही नहीं सकता। 'सिद्धान्त पंच तन्मात्रा' नाम की एक छोटी-सी पुस्तक में उनके कुछ सिद्धान्त मिल जाते हैं। राघवानन्द जी पूर्ण योगिराज और उच्चकोटि के ज्ञानी भक्त थे। पातंजल योग और हठयोग उन्हें सिद्ध था। अवधूत वेश में रहते थे। उन्हें द्वादशाक्षर मन्त्र (ॐ नमो भगवते वासुदेवाय), अष्टाक्षर मन्त्र (ॐ नमो नारायणाय) और षडक्षर मंत्र (रां रामाय नमः) तीनों में ही बड़ी श्रद्धा थी। इसी प्रकार तिलक और तुलसी की माला आदि वैष्णवों के चिह्न भी उन्हें परम प्रिय थे। इन्होंने स्वामी रामानन्द जी को किस प्रकार और किन परिस्थितियों में शिष्य बनाया, यह भी एक रहस्य ही है। इस विषय में अनेक अलौकिक और चमत्कारिक कथाएँ प्रचलित हैं। उनका इस समय उल्लेख ठीक नहीं है। स्वामी रामानन्द जी अपने गुरु के सच्चे शिष्य थे और उन्होंने बड़ी तन्मयता और योग्यता से गुरु निर्दिष्ट मार्ग का अनुसरण किया और भक्ति का द्वार जीव-मात्र के लिए उन्मुक्त कर दिया। उन्होंने जमकर भक्ति का प्रचार किया और सभी जाति, वर्ण तथा वर्ग के योग्य अधिकारियों को दीक्षा दी। उन्होंने षडक्षरमन्त्र की प्रधानता दी और सम्पूर्ण उत्तर भारत में भक्ति का प्रचार किया। बाह्याचारों को वे महत्त्व अवश्य देते थे, परन्तु आन्तरिक भाव की शुद्धता को वे भक्ति का अनिवार्य अंग मानते थे। इसलिए उन्होंने 'प्रपत्ति' का सही अर्थ में प्रचार और प्रसार किया और उसे व्यावहारिक रूप दिया। इसलिए वैष्णवमात्र उन्हें प्रिय था। वैष्णव की परिभाषा को उन्होंने बड़ा व्यापक बना दिया। इसलिए उनकी भक्ति-भावना में विधि-विधानों का उतना महत्त्व नहीं था, जितना जीव-मात्र के प्रति प्रेम और दया-भाव का। एक सबसे बड़ी बात उन्होंने यह की कि जन-कल्याण के लिए जन-भाषा में उन्होंने भक्ति के सिद्धांतों का प्रचार किया। देश का अनेक बार भ्रमण किया और पर्वत गुहाओं और बीहड़ कान्तारों में तपस्या की। स्वामीजी उच्चकोटि के योगिराज थे। उनके अनेक चमत्कार आज भी जनश्रुति के रूप में प्रचलित हैं। उनके उपदेश संस्कृत ग्रंथों में भी संगृहीत हैं और हिन्दी ग्रंथों में भी। अपने शिष्य सुरसुरानंद के दस प्रश्नों का उत्तर उन्होंने 'वैष्णव मताब्ज भास्कर' में संस्कृत में दिया है। 'रामार्चन पद्धति' भी संस्कृत की ही रचना है। हिन्दी में तो उनके नाम से अनेक रचनाएँ संगृहीत हुई थीं। मालूम नहीं, आजकल कोई मिलती है कि नहीं। 'रामरक्षा स्तोत्र', 'सिद्धांत-पटल', 'ज्ञान-लीला', 'ज्ञान तिलक', 'योग चिन्तामणि' आदि अनेक पुस्तकें उनके नाम से संगृहीत थीं। देश के सभी सम्प्रदायों और जातियों में उनकी मान्यता थी। देश के कितने ही सन्त-सम्प्रदाय उन्हें गुरु रूप में स्वीकार करते हैं। अद्वैत मत में भी उन्हें ज्योतिर्मठ का ब्रह्मचारी कहा जाता है। उन्होंने निर्गुण-सगुण, अद्वैत-द्वैत सभी साधनाओं को प्रश्रय दिया और राजनैतिक घोर विप्लव के समय धर्म की रक्षा की।

वैरागी सम्प्रदाय भी पर्याप्त प्रसिद्ध है। उसका धर्म की रक्षा में बड़ा योगदान है। मौलाना रशीदुद्दीन का नाम सुविदित ही है। मौलाना एक बड़े मुस्लिम सन्त हो गये हैं। उनकी एक पुस्तक है, 'तजकिरातुलफुकरा'। उसमें अनेक सन्तों की कथाएँ हैं। उसमें स्वामी जी का तजकरा बड़े श्रद्धा-भाव से किया गया है। आज भी वैष्णवों के ५२ द्वारों में ३६ द्वार रामानन्दी हैं।

स्वामी जी के सिद्धान्त विशिष्टाद्वैत के ही सिद्धान्त हैं। आचार्य रामानुज तथा रामानन्द के सिद्धान्तों की तुलना, उनके सिद्धान्तों को समझने में सहायक होगी। वास्तव में उनके सिद्धान्तों में कोई तात्त्विक भेद नहीं है। हाँ, इन्होंने रामषडक्षर मन्त्र को मूल मन्त्र माना है और द्वादशाक्षर और अष्टाक्षर मन्त्र को भी मान्यता दी है। यह भी कहना ठीक नहीं है कि स्वामीजी वर्णाश्रम की मर्यादा और आचार की महत्ता को स्वीकार नहीं करते थे। वे बहुत ही आचारवान् थे। इस बात का पता तो मौलाना रशीदुद्दीन के तजकिरे से ही चल जाता है कि उनकी आचार-विचार में कितनी निष्ठा थी। वे असली फकीर या विरागी सन्त उसे ही कहते थे, जो लोक-परलोक की इच्छाओं का त्याग कर देता है—

चाह सभी को खा गई, चाह सभी का पीर।
चाह की जो फंकी करे, सोही असल फकीर॥

सन्त को कोई भाषा या टीका लिखने की आवश्यकता नहीं है। यह काम तो आचार्यों का है। सन्त का तो जीवन ही भाष्य है। स्वामीजी को कोई नया मत या सम्प्रदाय तो चलाना नहीं था, जो भाष्य या टीका लिखकर ग्रंथान्तर की रचना करते। संप्रदाय में अनेक वैदुष्यपूर्ण ग्रंथ मौजूद थे ही। शिष्यों ने उनके उपदेशों का जो संग्रह कर लिया, वही उनका हो गया। राघवानन्द जी तो कहा करते थे—

सो दीन का पीडन्त एक दीन का मुडन्त।
पार न पाय योगेश्वर घर का॥
सुगुरा होय तो सवद कू मानै, नुगरा होय तो ऊपर चाल।
चलतो षट दरसन में मो काल॥

एक अवसर पर सुरसुरानन्द जी के दस प्रश्नों का स्वामी जी ने उत्तर दिया है, उसी से स्वामी जी के सिद्धान्तों को जाना जा सकता है। रामानुजाचार्य के सिद्धान्तों के प्रतिपादन के संदर्भों में तत्त्वत्रय की चर्चा विशेष रूप से उपस्थित होती है, किन्तु मूल तत्त्व तो एक ही है। प्रक्रिया में वह तीन रूपों में कहा जाता है—(१) चित्, (२) अचित् और (३) ईश्वर। चित्, अचित् से विशिष्ट होने से ईश्वर को चिद-चिद् विशिष्ट कहते हैं। वही जगत् का कारण और कार्य है। स्थूल और सूक्ष्म दोनों ही रूपों में उसकी सत्ता है—यह विशिष्ट ईश्वर ही विशिष्टाद्वैत है, जिसे स्वामी जी ने पूर्णरूप से स्वीकार किया है। उन्होंने परमपुरुष श्रीराम को और उनकी शक्ति (प्रकृति) सीता को माना तथा राम, सीता और लक्ष्मण के ध्यान को विधेय बताया है। वास्तव में देखा जाय तो यह त्रिमूर्ति ही तत्त्व-त्रय का बाह्य विग्रह है। राम ईश्वर हैं, सीता उनकी शक्ति (प्रकृति) हैं और लक्ष्मण जीव हैं—

प्रसन्न लावण्यसुभ्रुमुखाम्बुजं नरं शरण्यं शरणं नरोत्तमम्।
सहानुजं दाशरथिं महोत्सवं स्मरामि रामं सह सीतया सदा॥
(वै०म०भा० ५८)

मनुष्य के लिये भक्ति ही एकमात्र साध्य और विधेय है। भक्ति तैलधारा के समान अविच्छन्न रूप में भगवान् राम में अनुराग का नाम है—

सा तैलधारा सम नित्य संस्मृति-संतानरूपेशिपरानुक्तिः।
भक्तिर्विवेकादिकसप्तजन्या तथा यमाद्यष्ट सुबोधकांगा॥
(वही, श्लोक ६५)

वैष्णवमताब्ज भास्कर के १९२ श्लोकों में विशिष्टाद्वैत सिद्धान्तों की बड़ी ही सुन्दर व्याख्या की गयी है। भक्ति के जनक सात उपाय बताये गये हैं—(१) विवेक, (२) विमोक, (३) अभ्यास, (४) क्रिया, (५) कल्याण, (६) अनवसाद और (७) अनुद्धर्ष। इन सातों उपायों का विश्लेषण ग्रन्थ में हुआ है। ये भक्ति के जनक तत्त्व हैं। इनके लिये अष्टांगयोग अनिवार्य है। ग्रन्थ में प्राप्य परमतत्त्व भगवान् राम के स्वरूप का भी विवेचन किया गया है, जो उपनिषदों के प्रतिपाद्य तथा अशेषगुणनिधि हैं। गुरु के महत्त्व पर भी ग्रंथ में प्रकाश डाला गया है, क्योंकि भगवान् तक पहुँचाने में गुरुतत्त्व ही एकमात्र सहायक है। विशिष्टाद्वैत के अनुसार अचिरादि मार्गों का भी उल्लेख किया है, जिनसे होकर भक्त ऊर्ध्वगामी होता है और अन्त में वैकुण्ठ रूपी श्री अयोध्या में पहुँचता है। अयोध्या-निवास ही परमानन्दमयी मुक्ति है—

सीमान्त सिन्ध्वाप्लुत एव धन्यो गत्वा परब्रह्म सुवीक्षितोऽनिशम्।
प्राप्यं महानन्दमहाब्धिमग्नो नावर्तते जातु ततः पुनः सः॥
(वही, १८७)

स्वामीजी के हिंदी के ग्रंथों में हनुमान जी को भी विशेष महत्त्व प्राप्त है। यह बात रामानन्द सम्प्रदाय के तिलक-संस्कार से और भी अधिक स्पष्ट हो जाती है। स्वामी जी के तिलक-विधान में सिंहासन सहित ऊर्ध्वपुण्ड्र तथा मध्य में श्री की बिल्व पत्राकार पतली रेखा का विधान है। इस सम्बन्ध में एक बात बड़ी विचित्र है। तिंगल तिलक में तो ये तीनों ही अंग हैं, परन्तु बड़गल तिलक में सिंहासन नहीं है। स्वामी जी ने सिंहासन को अपनाया है और उसे हनुमान जी का प्रतीक माना है। इस प्रकार ऊर्ध्वपुण्ड्र की दो रेखाएँ, राम-लक्ष्मण की प्रतीक हैं; उनके बीच में श्रीबिन्दु अथवा श्रीरेखा, सीताजी की प्रतीक हैं। इस प्रकार राम, लक्ष्मण, सीता और हनुमान जी के स्वरूप को देखते हुए ध्यान किया जाता है। तिलक का आध्यात्मिक महत्त्व भी है। 'वैष्णव मताब्ज भास्कर' के प्रारम्भ में ही सम्प्रदाय के रहस्यत्रय का भी विवेचन हुआ है—

जाप्यस्तत् तारकाख्योमनुवरमखिलैर्वाह्न बीजं यदादौ।
रामोङे प्रत्ययान्तो रसमित शुभदस्त्वक्षरः स्यान्नमोऽन्तः।।
मन्त्रो रामद्वयाख्यः सकृदिति चरमप्रान्वितो गुह्यगुह्यो।
भूताक्ष्युप्संख्यवर्णः सुकृतिभिरनिशं मौक्षकामैर्निषेव्यः॥
(वही १०)

इस प्रकार मूलमन्त्र, द्वयमन्त्र और चरम मन्त्र स्वरूप रहस्य-त्रय का विधान है।

१. मूल मन्त्र—
श्री रामषडाक्षरमन्त्र—ऊ रां रामाय नमः।

२. द्वय मन्त्र—
पंचविंशति अक्षरमन्त्र—श्रीमद्रामचन्द्रचरणौ-
शरणं प्रपद्ये, श्रीमते रामचन्द्राय नमः।

३. चरम मन्त्र—
सकृदेवप्रपन्नाय तवास्मीति याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतत् व्रतं मम॥

दीक्षा के अवसर पर गुरु शिष्य को पंच संस्कार-दीक्षा देते हैं। वे पंच संस्कार हैं—(१) मुद्रा संस्कार, (२) तिलक, (३) नाम संस्कार, (४) मन्त्र संस्कार और (५) माला (कंठी) संस्कार। मन्त्र चिन्मय ब्रह्म का शब्द रूप होता है। उसमें अपार शक्ति होती है।

यह स्पष्ट हो ही गया है कि विशिष्टाद्वैत सम्प्रदाय एक ही है— उसके अवान्तर भेद देश कालगत हैं, तात्त्विक नहीं हैं। इस बात की आवश्यकता है कि सम्प्रदाय के आचार्यों को यह भेद-भाव दूर करना चाहिये। बात यह है कि भेद होने पर, कालान्तर में साधक की दृष्टि भेद पर ही टिक जाती है और मूल-साधना समाप्त हो जाती है। स्वामी रामानन्द जी ने निगम और आगम सभी साधनाओं में अभेद और समन्वय स्थापित किया। योग-साधना को ही नहीं तन्त्रसाधना को भी उन्होंने महत्त्व दिया है। केवल भाष्य लिख देने से कोई सम्प्रदाय नहीं बनता-बिगड़ता, कठिन तपस्या और साधना से ही उस परमतत्त्व का साक्षात्कार होता है और जब तक अनुभूति को जीवन में नहीं उतारा जायगा, कोई भी आचार्य जन-कल्याण नहीं कर सकता। वास्तव में सब धर्मों का लक्ष्य जन-कल्याण ही तो है। स्वामी जी का मूल सिद्धान्त ही सर्व-जीव-कल्याण था।

३७. श्री बाबा का सर्वात्म भाव

पूर्वोक्त सभी विचारों के आकलन से यह निष्कर्ष प्राप्त होता है कि सम्पूर्ण विश्व में एकात्मता ही सुपरीक्षित और सुप्रमाणित सत् तत्त्व है। सभी शास्त्रों ने शरीर भेद, आस्था भेद और पात्र भेद के आधार पर इस तथ्य का ही प्रतिपादन किया है और इस तथ्य को स्वीकार करने से ही विश्व के प्राणियों में सौहार्द और सामंजस्य की स्थापना हो सकती है और विश्व ईर्ष्या और द्वेष की जटिल ज्वाला की लपटों से मुक्ति प्राप्त कर सकता है। बाबा ने न तो अपना कोई दर्शन माना है और न कोई शास्त्र, अपितु सभी शास्त्रों और दर्शनों में जो सामंजस्यपूर्ण एवम् परस्पर अविरोधी विचार हैं, उन्हीं को ग्रहण करने में सबका हित माना है। शास्त्रों को भी अज्ञान रूपी कांटे को निकालने वाले काँटे के ही रूप में मान्यता दी गयी है। किसी शास्त्र, सम्प्रदाय अथवा मतवाद में आसक्ति होने को उन्होंने उपाधि माना है और उसे भी पतन का ही एक मार्ग कहा है। उनके अनुसार शास्त्रों को उसी रूप में अध्ययन का विषय बनाना चाहिए, जिस रूप में उनका प्रचलन करने से मनुष्य का मैल दूर हो सके, उसके हृदय का अज्ञानतम निरसित हो सके तथा जगत् के सभी प्राणियों में अपनी अभिन्नता का दर्शन हो सके। इस विचार की पुष्टि में पूज्य बाबा के मुख से शास्त्रों के निम्न वचन समय-समय पर निर्गत होते रहते हैं—

शब्दजालमहारण्यं चित्तभ्रमणकारणम्।
अतः प्रयत्नाज्ज्ञातव्यं तत्त्वज्ञात्तत्त्वमात्मनः॥
अविज्ञाते परे तत्त्वे शास्त्राधीतिस्तु निष्फला।
विज्ञातेऽपि परे तत्त्वे शास्त्राधीतिस्तु निष्फला॥

एक विद्वान् ने तो यहाँ तक कह दिया है—

पाठकाः पठितारश्च ये चान्ये शास्त्रचिन्तकाः।
मूर्खा व्यसनिनः सर्वे यः क्रियावान् स पण्डितः॥

एक लोकोक्ति है—'**कण्टकेनैव कण्टकम्**' अर्थात् काँटा काँटे से ही निकलता है और फिर निकालने वाले काँटे का भी कोई उपयोग नहीं रहता। इसी प्रकार शास्त्र काँटा है तथा अविद्या और माया दूसरा काँटा। शास्त्र रूपी काँटे से जब अविद्यारूपी काँटा निकाल दिया है, फिर उसका कोई उपयोग नहीं रहता।

सिद्धि सारे प्रपंच को एक सत्ता में देखना है, उसी समय दृश्य का अत्यन्ताभाव हो जाता है। जैसे—

यदिदं सकलं विश्वं नानारूपं प्रतीतमज्ञानात्।
तत्सर्वं ब्रह्मैव प्रत्यस्ताशेष भावनादोषम्॥

इस नानात्व के मूल में अज्ञान और सदोष भावनाएँ ही हैं। अन्यथा '**मृत्कार्यभूतोऽपि मृदो न भिन्नः।**' मिट्टी का कार्य होने पर भी घड़ा उससे भिन्न नहीं है। अर्थात् श्रुति भी यही कहती है, '**ब्रह्मवेदं विश्वम्।**' यह सम्पूर्ण दृश्य का अनुभव अपने में ही होने लगेगा तो राग-द्वेष कहाँ रहेंगे। दृश्य में मिथ्यात्व बुद्धि भी एक उपाधि ही है। सन्तों का व्यवहार वृत्तियों से चलता है, परन्तु उनसे उनका तादात्म्य नहीं होता है। इसलिए—

न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता॥

यह वृत्ति का खेल भी व्यावहारिक है पारमार्थिक नहीं। ये तो जलतरंगवत् है।

यह साधना का विषय है। शास्त्रों में इसके अनेक उपाय बताये गये हैं। शास्त्रों में इसके लिये तीन प्रक्रियाएँ हैं—(१) सब कुछ मैं ही हूँ (२) मुझसे भिन्न कुछ नहीं है तथा (३) सब कुछ वासुदेव ही हैं। '**अहं ब्रह्मास्मि**' की प्रक्रिया वेदान्त की है, ज्ञान की है, '**नेह नानास्ति किंचन**' की प्रक्रिया कर्मयोग की है और '**सर्वं वासुदेवम्**' की प्रक्रिया भक्तियोग की है। ये तीनों ही स्थितियाँ अभ्यासगम्य हैं और तीनों का लक्ष्य एक ही है। इस अभ्यास के सम्बन्ध में एक बड़ा सुन्दर श्लोक है—

तच्चिन्तनं तत्कथनमन्योऽन्यं तत्प्रबोधनम्।
एतदेकपरत्वं च ब्रह्माभ्यासं विदुर्बुधाः॥
दृश्यासम्भवबोधेन रागद्वेषादि तानवे,
रतिर्बलोदिता यासौ ब्रह्माभ्यासः स उच्यते॥

यह प्रपंच बहिर्मुख वृत्तियों का खेल है, वृत्तियों के अन्तर्मुख होते ही इसका अत्यन्ताभाव हो जाता है। सारे दर्शन भी वृत्ति विलास ही हैं। कहीं सृष्टि-दृष्टिवाद है और कहीं दृष्टि-सृष्टिवाद। पर है सब वाद ही। अपने से भिन्न किसी द्रष्टा का भाव भी एक बन्धन और उपाधि ही है। यह प्रपंच की सत्ता उस सत् का विलास मात्र है। उस सत्ता का अत्यन्ताभाव चिन्मात्र है। दोनों एक ही बातें हैं। तत्त्वज्ञानी को तो उस चिद्विलास में भी चित् के ही दर्शन होते हैं। इस सम्बन्ध में सूफियों का वहदतुल्वजूद का सिद्धान्त भी बड़ा मनोरमं है। एक उर्दू के कवि ने कहा है—'**जिधर देखता हूँ उधर तू ही तू है, हर शै में जलवा तेरा हूबहू है।**'

इस वृत्ति को ब्रह्माकार वृत्ति कहते हैं और यही प्रपंचशून्य निर्विशेष वृत्ति है। जब तक राग-द्वेष बने रहेंगे, यह वृत्ति नहीं हो सकती। गीता में कहा है—

न प्रहृष्येत् प्रियम् प्राप्य नोद्विजेत् प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसम्मूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः॥

जब तक मैं और मेरा का भाव है तभी तक रागद्वेष भी बने रहते हैं। इनके हटते ही सारा चराचर संसार एक सूत्र में आ जाता है। यही सिद्धावस्था है और यही ज्ञाननिष्ठा है। गीता में कहा भी है—

मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥

जब चित्त भगवान् में लीन हो जाता है तो सर्वत्र ईश्वर ही ईश्वर रह जाता है। उस समय वृत्तियों की जो क्रिया होती है, वह लीला मात्र होती है।

गृहस्थ रहते हुए भी अनेक सिद्ध सन्तों ने इस स्थिति को प्राप्त किया है। यह विषय नाटक के दृष्टान्त से स्पष्ट हो जाता है। नाटक में अभिनेता जिस प्रकार से अभिनय करते हैं, उसके लिए अभ्यास की आवश्यकता होती है। अभ्यास का पहला सोपान है—धीरे-धीरे शरीरादि दृश्य पदार्थों से अपनी सत्ता का अलग से अनुभव करना। दूसरे सोपान पर सब कुछ का अपने में ही अनुभव करना पड़ता है, तब प्रेम का द्वार खुल जाता है और सब भूतों का हित अपना ही हित बन जाता है। यही भगवदाकार वृत्ति होती है। इसके लिए शारीरिक तप करना पड़ता है, क्योंकि तप से ही वासनाओं का क्षय होता है, शास्त्र-ज्ञान से नहीं। भगवान् कृष्ण ने ठीक ही कहा है—

'अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।'

संसार से घबराना नहीं चाहिए, बस शर्त यह है कि भगवदाकारवृत्ति खंडित न होने पावे। एक उर्दू के कवि ने कहा है—

फिक्र दिल के साथ चाहे सौ लगी रहे।
आशिक की शर्त है कि हरदम लौ लगी रहे॥

इसी आशय का एक और पद्य है—

इन नयनो का यही विशेष, यह भी देखा वह भी देख।
देखत-देखत ऐसा देख, मिट गई दुविधा रह गया एक॥

ब्रह्मानन्द और प्रेमानन्द एक ही बात है, केवल समझने का फेर है। एक ज्ञान का फल है, दूसरा भाव का। हनुमान जी ने रामचन्द्र जी को कैसा सुंदर उत्तर दिया था—

देहदृष्ट्या तु दासोऽहं जीवदृष्ट्या त्वदंशकः।
वस्तुतस्तु त्वमेवाहमिति मे निश्चिता मतिः॥

ज्ञानी तो स्वयं प्रेम स्वरूप होता ही है, क्योंकि अज्ञान का पर्दा हटते ही सर्वत्र प्रेममय भगवान् के दर्शन होने लगते हैं।

सब भेद व्यावहारिक हैं पारमार्थिक नहीं। शास्त्रों में अन्वय व्यतिरेक की पद्धति अपनायी गयी है। 'यत् सत्त्वे तत्सत्त्वमन्वयः' जिसके होने पर जो होता है—एक के होने पर दूसरे का होना अन्वय है और 'यदभावे तदभावः' अर्थात् एक के न होने पर दूसरे का न होना व्यतिरेक है। अन्वय पद्धति को अपनाने वाले ग्रंथों में श्रीमद्भागवत सर्वश्रेष्ठ है। श्रीमद्भागवत की चतुःश्लोकी विशेष रूप से उदाहरण रूप में प्रस्तुत करने योग्य है—

अहमेवासमेवाग्रे नान्यद् यत् सदसत् परम्।
पश्चादहं यदेतच्च योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम्॥
ऋतेऽर्थं यत् प्रतीयेत न प्रतीयेत चात्मनि।
तद्विद्यात्मनो मायां यथाऽऽभासो तथा तमः॥
यथा महान्ति भूतानि भूतेषुच्चावचेष्वनु।
प्रविष्टान्यप्रविष्टानि तथा तेषु न तेष्वहम्॥
एतावदेव जिज्ञास्यं तत्त्व जिज्ञासुनात्मनः।
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां यत् स्यात् सर्वत्र सर्वदा॥

(श्रीमद्भागवत २।९।३२-३५)

भावार्थ स्पष्ट है कि सृष्टि के पूर्व में मैं ही था, बाद में भी मैं ही रहूँगा और सृष्टि के रूप में यह जो कुछ भी प्रतीत हो रहा है—वह भी मैं ही हूँ और जो कुछ बचा रहेगा, वह भी मैं ही हूँ। सब भूत मुझमें हैं, मैं उनमें नहीं हूँ। गीता में कहा है, 'मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः।' इसलिए यह ब्रह्म नहीं है—यह ब्रह्म नहीं अर्थात् नेति-नेति की औपनिषदिक प्रक्रिया व्यतिरेक है और यह सब कुछ ब्रह्म है—यह सब कुछ ब्रह्म है, इस अन्वय प्रक्रिया से ब्रह्म की सिद्धि होती है। श्रीमद्भगवद्गीता में भी अन्वय प्रक्रिया को महत्त्व मिला है, 'वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः।' वैष्णवों ने अन्वय प्रक्रिया का ही आश्रय लिया है। इसलिए वह प्रक्रिया सर्वसाध्य है। शंकर आदि अद्वैतवादियों ने व्यतिरेक प्रक्रिया को अपनाया है। शंकर ने निर्वाणषटक में लिखा है—

मनोबुद्ध्यहंकारचित्तानि नाहं न च श्रोत्रजिह्वे च घ्राणनेत्रे।
न च व्योमभुमिर्नतेजो न वायुश्चिदानन्दरूपः शिवोऽहं शिवोऽहम्॥

न च प्राणसंज्ञो न वै पंचवायुर्न
वा सप्तधातुर्न वा पंचकोशः।
न वाक् पाणिपादं न चौपस्थवायुश्चि-
दानन्द रूपः शिवोऽहम् शिवोऽहम्॥

यह सारा संसार माया का ही खेल है, लिखा है—

मायामेघो जगन्नीरं वर्षत्येषो यतस्ततः।
चिदाकाशस्य नो हानिर्न च लाभ इति स्थितिः॥

वेद, उपनिषद् और शास्त्रों में दोनों ही प्रक्रियाएँ मिलती हैं— जिसको जो अच्छी लगे, पकड़ ले। भेद-भाव तो औपाधिक है। शंकर ने विवेक चूड़ामणि में लिखा है—

द्रष्टृदर्शनदृश्यादि भावशून्यैकवस्तुनि ।
निर्विकारे निराकारे निर्विशेषेभिदा कुतः॥

इसलिए सर्वात्मभाव ही सर्वोत्कृष्ट है। शंकर का भी यही मत है—

अन्तर्बहिः स्वं स्थिरजंगमेषु ज्ञानात्मना धारतया विलोक्य।
त्यक्ताखिलोपाधिरखण्डरूपः पूर्णात्मना यः स्थित एष मुक्तः॥
सर्वात्मना बन्धविमुक्तिहेतुः सर्वात्मभावान्नपरोऽस्ति कश्चित्।
दृश्याग्रहे सत्युपपद्यतेऽसौ सर्वात्मभावोऽस्य सदात्मनिष्ठया॥

सर्वात्म-दर्शन कोई स्वतन्त्र दर्शन नहीं है—सन्तों की रहनी है। कबीर ने कहा है—

निर्वैरी निहकामता साईं सेती नेह,
विषयाँ सू न्यारा रहे संतनि को अंग येह।
जाति न पूछो साधु की पूछि लीजिये ज्ञान।
मोल करो तरवार को खड़ा रहन दो म्यान॥

भक्ति का मार्ग भी यही है। सन्त तुलसीदास ने इसी मार्ग की कामना की है—

कबहुँक हौं यह रहनि रहौंगो।
श्री रघुनाथ कृपालु कृपा ते संत सुभाव गहौंगो।
यथालाभसंतोष सदा, काहू सों कछु न चहौंगो।
परहित निरत निरंतर, मन क्रम बचन नेम निबहौंगो॥
परुष बचन अति दुसह स्त्रवन सुनि तेहि पावक न दहौंगो।
विगतमान समशीतल मन, पर गुन, नहिं दोष कहौंगो॥
परिहरि देहजनित चिंता, दुख सुख समबुद्धि सहौंगो।
तुलसिदास प्रभु यहि पथ रहि, अविचल ही भक्ति लहौंगो॥

प्रायः सभी सन्तों का यही मत है। पलटूदास ने कैसा अच्छा कहा है—

सील सनेह सीतल बचन, यही संतन की रीति है जी।
सुनत बात के जुड़ाय जावैं, सबसे करते वे प्रीति हैं जी॥
चितवनि, चलनि मुसुकानि, नवनि, नहिं रागद्वेष, हार-जीत है जी।
पलटू छिमा संतोष सरल, तिनकौ गावै स्तुति नीति है जी॥

सन्त का यह सर्वात्म-दर्शन कोई नवीन विचारधारा नहीं है। ब्रह्म-विद्या का मूल प्रतिपाद्य ही समत्व-दर्शन है। उपनिषदों में ब्रह्म-विद्या की व्याख्या की गयी है। सब जीवों पर दया ही सर्वात्म दर्शन का मूल मन्त्र है। आज इस दर्शन की सबसे अधिक आवश्यकता है, क्योंकि विश्व भौतिक ताप से संतप्त हो रहा है। विज्ञान की उपलब्धियाँ उस ताप

को शमन करने में असमर्थ और अशक्य हो चुकी हैं। विज्ञान को अध्यात्म का तेज चाहिए और अध्यात्म को विज्ञान का अधिष्ठान। इसलिए अध्यात्म उपेक्षणीय नहीं है और विज्ञान तिरस्करणीय नहीं है। अध्यात्म सार्वभौम सत्ता है और विज्ञान युगधर्म है।

सर्वात्म-दर्शन का व्यावहारिक रूप ईशावास्योपनिषद् में भलीभाँति समझाया गया है। उपनिषदों में इसे सबसे पहला उपनिषद् माना जाता है। यह शुक्ल यजुःसंहिता का चालीसवाँ अध्याय है। इसमें भोग-पक्ष का निरादर नहीं है। उसे दिशा दी गयी है—

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूमिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम॥

श्रीमद्भागवत् में आया है—

जन्माद्यस्य यतोऽन्वयादितरतश्चार्थेष्वभिज्ञः स्वराट्।
तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये मुह्यन्ति यत्सुरयः॥
तेजो वारि मृदां यथा विनिमयो यत्र त्रिसर्गोऽमृषा।
धामना स्वेन सदा निरस्तकुहकं सत्यं परं धीमहि॥

३८. मूल तत्त्व की चिद्रूपता

जगत् के मूल कारण को चिद्रूप मानना आवश्यक है। चिद्रूपता का अर्थ है, ऐसे प्रकाश का होना जिसके सम्पर्क से अन्य वस्तुएँ प्रकाशित हों और वह स्वयं किसी अन्य साधन के बिना ही स्वतः प्रकाशवान हो। यदि ऐसे प्रकाश का अस्तित्व न होगा तो जगत् अन्धकारमय हो जायगा। किसी वस्तु का प्रकाश न हो सकेगा। क्योंकि प्रत्येक वस्तु का किसी अन्य द्वारा प्रकाश मानने पर प्रकाशक की कल्पना का कहीं अवसान ही न होगा। फलतः किसी वस्तु के बोध के लिए मनुष्य जब किसी साधन की अपेक्षा करेगा, तब उसे तभी ग्रहण कर सकेगा जव उसका वोध हो। इसी प्रकार उस साधन का बोध होने के लिए जिस अन्य साधन की अपेक्षा होगी, उसकी भी प्राप्ति तभी संभव होगी, जब उसका उसको बोध हो। इस रीति से साधन की प्राप्ति में निरर्थक प्रकाश के पीछे उसका पूरा जीवन चला जायगा और उसे किसी वस्तु का बोध न हो सकेगा। अतः एक ऐसी वस्तु का होना आवश्यक है जो स्वयंप्रकाश हो जिसके बोध के लिए, जिसके प्रकाश के लिए किसी अन्य साधन की अपेक्षा न हो। फिर जो वस्तु इस प्रकाश के रूप में स्वीकार की जा सकती है, वह स्वयं कार्य रूप नहीं हो सकती। इसे समस्त कार्यों के मूल तत्त्व के रूप में ही स्वीकार करना होगा। अतः सम्पूर्ण विश्व का मूलकारण होने से ब्रह्म ही स्वयं प्रकाशमान तत्त्व के अर्थ में चिद्रूप है। उसी की ज्योति से सारा जगत् प्रकाशित होता है। उपनिषद् वेदान्त का स्पष्ट कथन है—

तस्यैव भासां सर्वमिदं विभाति।

३९. श्री बाबा एवं चित् तत्त्व

भारतीय शास्त्रों में विशेषकर वेदान्त में ब्रह्म को जगत् का मूल तत्त्व कहा गया है और उसे सत्-चित्-आनन्द रूप में वर्णित किया गया है। स्वभावतः यह प्रश्न उठता है कि इन तीनों शब्दों के अर्थों में कोई मौलिक भेद है अथवा नहीं? यदि नहीं तो एक वस्तु के लिए विभिन्न आनुपूर्वी के उक्त तीन शब्दों के प्रयोग का क्या अभिप्राय है और यदि भेद है तो मूल तत्त्व ब्रह्म की अद्वैतता कैसे संगत हो सकती है? इस प्रश्न के उत्तर में चित् तत्त्व के प्रतिपादन से पूरी सहायता प्राप्त होती है।

सत्, चित् और आनन्द में कोई तात्त्विक भेद नहीं है। एक ही अनाम, अरूप और अव्यय तत्त्व के तीन नाम हैं, जो केवल साधनाभेद से हैं—साध्यभेद से नहीं। विशुद्ध सत्त्व कर्म से विद्ध नहीं है, **'शुद्धमपापविद्धम्'**, उससे पूर्व स्थिति को अव्यक्त कहा है, **'तदव्यक्तमाह हि'** चेतनस्वरूप में वह ज्योतियों का ज्योति है, **'तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिः।'** आनन्द भी उसी का स्वरूप है जो इष्ट पदार्थ के प्राप्त होने पर उद्भूत होता है—

पुण्यस्यानुभवे विभाति कृतनामानन्दरूपः स्वयम्।
मृत्वा नन्दति यत्र साधु तनुमुन्मात्रः प्रयत्नं विना॥

श्वेताश्वर उपनिषद् में आता है, **'नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानां को बहूनां यो विदधाति कामान्।'** अर्थात् नित्य सत् स्वरूप, यावत्प्राणियों का चैतन्य और उनका कामप्रद आनन्द वही तो परमतत्त्व है।

चित् स्वरूप में वह सब प्राणियों के हृदय में अवस्थित है, **'ईश्वरः सर्वभूतानां हृदयेष्ववतिष्ठति।'** वह चित् ही मनोमय है, अमृतमय है और हिरण्यमय है, **'स य एषोऽन्तर्हृदय आकाशः। तस्मिन्नयं पुरुषो मनोमयः अमृतो हिरण्मयः।'** सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में भी वह चेतन रूप से विराजता है और उससे भी परे है। श्रुति कहती है—**'सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्। सभूमि विश्वतो वृत्त्वा अत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्॥'**

वृत्तियों से वह अलग-अलग भासता है। योग वार्तिक में लिखा है—

प्रमाता चेतनः शुद्धः प्रमाणां वृत्तिरेव च।
प्रमार्थाकारवृत्तीनां चेतने प्रतिविम्वनम्॥

४०. भक्ति और वेदान्त सम्प्रदाय में चित् का स्वरूप

यह सर्वमान्य है कि भक्ति समुदायों में जो चित् शक्ति का प्रतिपादन है, वह वेदान्त सम्प्रदाय के प्रतिपादन से आपादतः भिन्न प्रतीत होता है, विचार करने पर भिन्नता का अस्तित्व सिद्ध नहीं होता। सच यह है कि सारे सम्प्रदायों के अनुसार साधक को अविच्छिन्न तेल-धारा के समान मनोवृत्तियों को परम तत्त्व में लगाना होता है। बात यह है कि भक्ति की दृष्टि से भगवान् की तीन शक्तियाँ हैं—स्वरूप शक्ति, मायाशक्ति और जीवशक्ति। स्वरूप शक्ति ही चित् शक्ति या अन्तरंग शक्ति कहलाती है, जिसके आश्रय से परमतत्त्व लीला-विलास करता है। यह शक्ति देह, इन्द्रिय, मन, प्राण, बुद्धि आदि से विलक्षण है। वह नित्य अचिन्त्य, अव्यक्त, निर्विकार है और इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का आश्रय है। पुंसत्व दृष्टि से उसे चित् कहते हैं और स्त्रीत्व दृष्टि से चिति कहते हैं। यह सम्पूर्ण लीला इसी शक्ति का विलास है। इसी को संधिनी, संवित् और ह्लादिनी नामों से अभिहित किया जाता है। आनन्द ह्लादिनी शक्ति का विलास है। देहाध्यास के कारण यह जीव संज्ञा धारण कर लेती है। योगवशिष्ठ में चित् का अधिष्ठान् आकाश को माना है और उपाधि से उसे तीन नाम दे दिये हैं—चित्ताकाश, चिदाकाश और महाकाश। चित्ताकाश में योगी की स्थिति रहती है, चिदाकाश में ज्ञानी की और महाकाश में सारे प्रपंच की। मूल में आकाश एक ही तत्त्व है। वैशेषिककार ने तो आत्मा को आकाशवत् ही बताया है, **'विभुवान् महानाकाशस्तथा चात्मा।'** गीता में भी कहा है—

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते॥

(१३-३३)

आकाश अनन्त है, ज्योति:स्वरूप है और व्यापक है—'आसमन्तात् काशते, इत्याकाशः।' प्रपंच में व्याप्त आकाश भूताकाश भी कहते हैं, जब उससे भूतावरण हट जाता है तो वही चित्ताकाश कहलाता है और जब चित्ताकाश से गुणावरण हट जाता है तो वही चिदाकाश हो जाता है। उपासना अथवा योग-साधना से भूताकाश का अतिक्रमण करना पड़ता है। चित्ताकाश में स्थित हुआ योगी अनेक विभूतियों का साक्षात्कार करता है और भक्त भगवल्लीलाओं का। परन्तु इस स्थिति में भी संस्कार बने रहते हैं, जो गुणों का ही संघात है। भूताकाश का विशुद्ध भेद-भाव तो समाप्त हो जाता है, परन्तु संस्कारवश भेदाभेद भाव की स्थिति बनी रहती है। गुणों का आवरण हट जाने से ज्ञाननिष्ठा या ब्रह्मनिष्ठा होती है—वही चिदाकाश है जहाँ एकान्ततः अभेद भाव है। चित् प्राप्ति के लिए भूताकाश का आवरण भंग करना होगा। उसके लिये अनेक उपाय बताये गये हैं। प्रमुख उपाय दो ही हैं—भक्ति और योग। भक्ति में भाव की प्रवणता अपेक्षित है और योग में इन्द्रियनिग्रह द्वारा चित्त शुद्धि। भूताकाश में इन्द्रियों का ही साम्राज्य है, उसे पार करना होगा। दिव्यचक्षु की प्राप्ति चित्ताकाश में होती है जो योगी का दर्शन है। उससे आगे शब्द ब्रह्म की प्रतिष्ठा है जहाँ चिन्मय दर्शन होता है और जिसके लिए विज्ञानचक्षु अपेक्षित है। वहाँ कोई आवरण नहीं है। कर्म संस्कारों का आवरण भी समाप्त हो जाता है।

ज्ञानाग्निः सर्व कर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन।

४१. भक्ति सम्प्रदाय और अभेद दर्शन

लोगों की धारणा है कि भक्ति सम्प्रदाय द्वैत पर आश्रित है, अतः यह संशय होना स्वाभाविक है कि भक्ति सम्प्रदाय की साधना द्वारा अव्यय तत्त्व की अनुभूति हो सकती है या नहीं। इस सम्बन्ध में विशिष्टाद्वैत दर्शन की मान्यता को दृष्टिगत करने से अपेक्षित प्रकाश पड़ता है। उस दर्शन में ईश्वर को चित् और अचित् विशिष्ट माना गया है। स्वरूप से चित् अनादि, निरंजन और असंपृक्त है, परन्तु कर्म संस्कारों के आवरण के कारण वह अपने स्वरूप को भूला हुआ है। वह आवरण अविद्या माया का है। भगवद्भक्ति से वह आवरण छूट जाता है, क्योंकि चित्त सब ओर से हट कर भगवान् में लग जाता है। यह भी चित्तवृत्तियों का निरोध ही है। इससे द्रष्टा और दृश्य का अभिमान समाप्त हो जाता है और भगवदाकार वृत्ति हो जाती है। परन्तु भक्ति का मार्ग इतना सरल नहीं है, जितना सामान्यतः समझा जाता है। श्रद्धा और विश्वास के साथ इसमें पूर्ण समर्पण करना होता है। देखा जाय तो ज्ञानी को भी भक्ति का अवलम्ब लेना पड़ता है। शरणागति के कारण भक्ति का मार्ग सरल हो जाता है, क्योंकि वहाँ इष्ट अथवा गुरु का आधार बना रहता है और सारा विश्व ही तद्रूप दिखाई देता है। इसलिए भक्ति भी ज्ञान का साधन ही है, परन्तु भक्त के लिए भक्ति साध्य ही है—साधन नहीं, क्योंकि उसका लक्ष्य परमानन्दोपलब्धि है—आत्मानन्द या चिदानन्द नहीं।

४२. योगनिष्ठा स्वतंत्र साधना भी, पूरक भी

चित् तत्त्व के दर्शन में ज्ञानमार्ग और भक्ति मार्ग के समान ही योग मार्ग की भी स्वतंत्र महत्ता एवं उपयोगिता है। योग मार्ग के बहिरंगों का भक्ति और ज्ञान दोनों मार्गों में अवलम्बन करना आवश्यक होता है, इसलिए योग जहाँ अंतरंग स्वरूप से चित्त तत्त्व के दर्शन का स्वतंत्र साधन है, वहीं अपने बहिरंग द्वारा ज्ञान और भक्ति मार्ग का पूरक भी है। यही कारण है कि सभी शास्त्रों में बराबर योग की चर्चा मिलती है। भक्ति के ग्रन्थों में भी अष्टांग योग को महत्त्व दिया गया है। हिरण्यगर्भ योग के प्रवर्तक माने जाते हैं—

इदं हि योगेश्वर योग नैपुणं हिरण्यगर्भो भगवान् जगादयत्॥

(भागवत ५-१९-१३)

हिरण्यगर्भ ही समस्त ब्रह्माण्ड के धारण करने वाले हैं। वेद कहता है—

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्यजातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवी द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम॥

(ऋ० १०।१२१)

श्वेताश्वतर उपनिषद् के दूसरे अध्याय में, कठोपनिषद् के द्वितीय अध्याय के तृतीय वल्ली में तथा गीता के षष्ठ अध्याय में योग की महिमा का वर्णन हुआ है। शिव संहिता में तो यहाँ तक कह दिया गया है कि योग-शास्त्र सब शास्त्रों में श्रेष्ठ है। योग-शास्त्र के सम्यक् ज्ञान के अनन्तर कुछ जानने योग्य रह ही नहीं जाता है—

आलोक्य सर्व शास्त्राणि, विचार्य च पुनः पुनः।
इदमेकं सुनिष्पन्नं योगशास्त्र परं मतम्॥
यस्मिन ज्ञाते सर्वमिदं ज्ञातं भवति निश्चितम्।
तस्मिन् परिश्रमः कार्यः किमन्यच्छास्त्रभाषितम्॥

(शिव संहिता प्रथम पात्र)

प्राचीन ग्रन्थों में देहाध्यास को दूर करने के दो ही उपाय बताये गये हैं—चित्तवृत्ति निरोध और विचार। परन्तु विचार में भी चित्तवृत्तियों का निरोध तो होता ही है। जब तक चित्त में बहिर्मुखता बनी है, कोई भी साधन नहीं बन सकता। आनन्द और शान्ति के लिए चित्त को अन्तर्मुख करना ही होगा, क्योंकि मनुष्य का मन नाना वासनाओं और भौतिक कामनाओं के वशीभूत होकर इधर-उधर दौड़ता रहता है। उनका संचालन मन ही करता है। मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार—ये अन्तःकरण चतुष्ट्य क्रिया भेद से अलग-अलग हैं, पर सबका केन्द्र एक ही है। इसलिए स्पष्ट कहा गया है—

'मन एव मनुष्याणां कारणं वन्धमोक्षयोः'

चंचलता मन का स्वभाव है, इसलिए उसकी वृत्तियों का निरोध करना ही होगा। योगी प्रत्याहार के द्वारा मन को हृदय में स्थिर करता है, जिससे प्राणों में भी स्थैर्य आ जाता है। फिर एक मुख्य नाड़ी से उसे ब्रह्मरन्ध्र में ले जाता है और फिर चिदाकाश तक पहुँचता है। छान्दोग्य और कंठ—दोनों ही उपनिषदों में इस प्रक्रिया का विवेचन है—

शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानभिनिःसृतैका।
तयोर्ध्वमापन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङ्न्या उत्क्रमणेभवन्त्युत्क्रमणेभवन्ति॥

(छान्दोग्य ८।६।६)

योगशिखोपनिषद् के छठे अध्याय में मन पर बड़े विस्तार से विचार किया गया—

चित्ते चलति संसारी निश्चलं मोक्ष उच्यते।
तस्माच्चितं स्थिरी कुर्यात् प्रज्ञया परया विधेः॥
मनो हि गगनाकारं मनो हि सर्वतोमुखम्।
मनो हि सर्वमात्मा च न मनः केवलः परः॥
मनसा मन आलोक्य वृत्तिशून्यं यदाभवेत्।
ततः परं परब्रह्म दृश्यते स सुदुर्लभम्॥

गीताकार ने मन को वश में करने के उपाय अभ्यास और वैराग्य बताये हैं। योग मन को वश में करने का ही साधन है। इसलिए सन्तों ने योग को भक्ति का अभिन्न अंग माना है। साधारण जीवन में योग का बड़ा महत्त्व है। मन का निरोध किये बिना ज्ञान गुहा में प्रवेश सम्भव ही नहीं है और न ही भगवदाकार वृत्ति सम्भव है। आत्मतत्त्व यद्यपि मन से अतीत है। परन्तु मन का चरम साध्य आत्मतत्त्व में विलय ही है। इसलिए भौतिक सुखोपलब्धि से कभी भी मन को सच्ची तृप्ति नहीं हो सकती। स्थायी आनन्द की प्राप्ति के लिए उसे अन्तर्मुख करना ही होगा, क्योंकि आनन्द का स्थान हृदय गुहा ही है। विवेकख्याति चित्तनिरोध का फल है। परन्तु योग पराविद्या है, उसकी प्राप्ति गुरु से ही सम्भव है।

४३. योग विद्या पराविद्या है

प्रस्तुत सन्दर्भ में यह बात ध्यान में रखना आवश्यक है कि योग विद्या मुण्डकोपनिषद् में वर्णित दो विद्याओं में से पराविद्या के रूप में मान्य है। ये मुण्डकोपनिषद् में इस प्रकार कही गयी है—

तस्मै स होवाच। द्वे विद्ये वेदितव्ये इति
ह स्म यद् ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवापरा च ॥४॥
तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोथर्ववेदः शिक्षा
कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति।
अथ परा यथा तदक्षरमवगम्यते ॥५॥

योग का प्रयोजन स्वरूप स्थिति अर्थात् कैवल्य, अपवर्ग, मोक्ष, निःश्रेयस् आदि है, इसलिए योग-विद्या पराविद्या ही मानी गयी है। इस विद्या का ज्ञान गुरु से ही प्राप्त करना चाहिए। अन्यथा अनिष्ट होने की सम्भावना है। इसलिए कहा गया है—

यस्य देवे परा भक्तिः, यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिताः ह्यर्थाः, प्रकाशन्ते महात्मनः॥
गुरुं न मर्त्य बुध्येत यदि बुध्येत तस्य तु।
कदापि न भवेत् सिद्धिर्न मन्त्रदेवपूजनैः॥

गुरु को जो मनुष्य स्वरूप में स्वीकार करता है, उसे किसी भी साधन से सिद्धि प्राप्त नहीं हो सकती है।

४४. योगविद्या और गुरु तत्त्व

योगविद्या की पूर्वोक्त महनीयता और उपादेयता तभी प्रमाणित होती है और इससे प्राप्तव्य लक्ष्य प्राप्ति भी तभी सम्भव है, जब अधिकारी गुरु द्वारा इसे आत्मसात किया जाय। यही कारण है कि गुरु तत्त्व का निरूपण सभी धाराओं में विस्तार से प्राप्त होता है। अर्वाचीन सन्तों ने भी गुरु तत्त्व के सम्बन्ध में अपने उद्गार उन्मुक्त शब्दों में प्रकट किये हैं। कबीरदास ने तो गुरु तत्त्व का सार ही बता दिया है—

गुरु गोविन्द दोऊ खड़े, काके लागूँ पाय।
बलिहारी गुरु आपने, जिन गोविन्द दियो बताय॥
कबीर ते नर अन्ध है, गुरु को कहते और।
हरि रूठे गुरु ठौर हैं, गुरु रूठै नहीं ठौर॥

इसलिए गुरु में भगवद्बुद्धि होनी आवश्यक है—यह पूर्ण समर्पण भाव से ही सम्भव है—

शिष्य तो ऐसा चाहिए, जो गुरु को सब कुछ देय।
गुरु भी ऐसा चाहिए, जो कौड़ी हू ना लेय॥

गुरु तत्त्व बड़ा ही विचित्र और रहस्यमय है। इस तत्त्व की कृपा से लोक और परलोक दोनों ही प्राप्त हो सकते हैं। योग की सहजावस्था भी गुरुकृपा साध्य है। देखो—

दुर्लभो विषयत्यागो दुर्लभं तत्त्वदर्शनम्।
दुर्लभो सहजावस्था सद्गुरोः करुणां बिना॥

शास्त्रों में गुरुतत्त्व को ईश्वरतत्त्व से भी बढ़कर बताया गया है। परन्तु शिष्य के साधन और अधिकार के अनुसार ही गुरु कृपा की उपलब्धि होती है। गुरु तत्त्व और भगवत् तत्त्व एक ही तत्त्व के दो रूप हैं। भगवत् तत्त्व ऐश्वर्यमय है तथा गुरुतत्त्व साधनमय है। इसीलिए भगवत् तत्त्व को अविद्या माया के अधिष्ठातृ रूप में माना जाता है तथा गुरु तत्त्व को विद्यामाया के अधिष्ठातृ रूप में। भगवत् तत्त्व जगन्नियन्ता है—कर्मों के अनुसार ही जीव को भोग प्रदान करता है, परन्तु गुरु तत्त्व असीम दया और करुणा का सागर है। उसकी कृपा अहैतुकी है। इसीलिए उसकी शक्ति भी अचिन्त्य है—**'कर्तुमकर्तुन्यथाकर्तु समर्थ'** है। यह भगवान् की ही गुरु भावमयी प्रेमलीला है कि उसके नियति क्रम का भी बोध हो जाता है।

शास्त्रों के रूप में भी भागवती गुरु शक्ति का ही प्राकट्य है। भागवत् में भगवान् ने स्वयं कहा है कि—

आचार्यं मां विजानीयात्, नावमन्येत कर्हिचिंत।
न मर्त्यबुद्धयासूयेत सर्वदेवमयो गुरुः॥

तत्त्वज्ञान की प्राप्ति बहुत कुछ शिष्य की प्रज्ञा पर निर्भर है, **'शिष्यप्रज्ञैव बोधस्य कारणं गुरुवाक्यतः'**।

४५. सद्गुरु पुण्य से ही प्राप्त होते हैं

योग विद्या के गुह्य ज्ञान की प्राप्ति में सद्गुरु का अन्वेषण और उसकी शरणागति आवश्यक है, किन्तु उसकी प्राप्ति प्रयत्न साध्य नहीं है। जन्म-जन्मान्तर के संस्कारों से ही गुरु की प्राप्ति होती है। पहले तो सद्गुरु की प्राप्ति ही कठिन है, फिर यदि प्राप्ति हो भी जाय तो गुरु में पूर्ण श्रद्धा-भाव कठिन है और यदि श्रद्धा-भाव भी उत्पन्न हो जाय तो गुरु कृपा कठिन है। विद्या गुरु और दीक्षा गुरु तो बहुत मिल सकते हैं, परन्तु सद्गुरु पुण्यकर्मों से ही मिल पाते हैं। सद्गुरु का लक्षण विवेकचूडामणि में इस प्रकार वर्णित है—

श्रोत्रियोऽवृजिनोऽकामहतो यो ब्रह्मवित्तमः।
ब्रह्मण्युपरतः शान्तो निरिन्धन इवानलः॥
अहैतुक दयासिन्धुर्बन्धुरानमतां सताम्।

अर्थात् गुरु श्रोत्रिय, निष्पाप, कामनारहित, ब्रह्मवेत्ता और ब्रह्मनिष्ठ होना चाहिए। जो ईंधन रहित अग्नि के समान शान्त हो, अकारण दयासिन्धु हो तथा शरणागत बन्धु हो।

गुरु तत्त्व आकाश की भाँति सर्वत्र ही विद्यमान रहता है, क्योंकि परम तत्त्व और गुरु तत्त्व में कोई भेद नहीं है। गुरु भगवत्स्वरूप ही है। उनके दर्शन, स्पर्श अथवा शब्द मात्र से ही तत्त्वज्ञान हो सकता है। विश्वामित्र ने एक स्थान पर कहा है—

दर्शनात् स्पर्शनात् शब्दात् शिष्यदेहके।
जनयेद् यः समावेशं शाम्भवं स हि देशिकः॥

गुरुतत्त्व की सम्पूर्ण शक्ति गुरुमन्त्र में निहित है। गुरु प्रदत्त बीज मन्त्र शिष्य के हृदय में अनन्त प्रकाश प्रज्ज्वलित कर देता है, परन्तु यह शिष्य की योग्यता पर निर्भर है। यों तो सभी मन्त्र प्रणव के स्वरूप हैं, परन्तु गुरु प्रदत्त मन्त्र एक अलौकिक शक्ति से परिपूर्ण होता है। जिससे विशुद्ध प्रणवरूपा ध्वनि निर्गत होती है, जो अधिकारी को चैतन्य स्वरूप में प्रतिष्ठित कर देती है। वास्तव में यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड शब्द का ही तो विलास है। गुरु मन्त्र के शब्दों का स्वरूप शुद्ध और सात्त्विक होता है, जो चिन्मय है। उससे मलिन शब्द-विकार स्वत: ही नष्ट हो जाते हैं। चिन्मय मन्त्र चित् शक्ति का ही केन्द्र होता है जिससे विशुद्ध चैतन्य प्रवाह प्रवाहित होता है। गुरु मन्त्र का उद्देश्य है, मानव मन को अन्तर्मुखी कर देना तथा उसे चिद्रूप शुद्ध शब्द की उपलब्धि कराना। यों तो ब्रह्म तत्त्व सर्वत्र व्याप्त है, परन्तु उसके साक्षात्कार के लिए गुरु मन्त्र अपेक्षित है। जिस प्रकार काष्ठ में निहित अग्नि का साक्षात्कार संघर्ष से होता है, इसी प्रकार मन्त्र द्वारा हृदय से ब्रह्माग्नि का साक्षात्कार होता है।

४६. मंत्र जप किसी भी रूप में सफल होता है

सद्‌गुरु शिष्य को जिस मन्त्र की दीक्षा देता है, उस मंत्र का जप, योग विद्या की उपलब्धि तथा परमलक्ष्य की प्राप्ति में परम सहायक होता है। प्रारम्भ में मन्त्र-जप में चित्त की वह एकाग्रता नहीं होती जो वास्तव में उसके लिए अपेक्षित है, किन्तु उससे जपकर्ता को हताश या उद्विग्न नहीं होना चाहिए, क्योंकि एकाग्रता अभ्यासजन्य है। धीरे-धीरे ही एकाग्रता होती है। विचार के साथ अभ्यास करते-करते एकाग्रता होने लगती है। परन्तु गुरु मन्त्र का जप किसी भी रूप में किया जाय, उसका फल अवश्य होता है। यहाँ तक कि बिना अर्थ समझते हुए भी मन्त्र-जप फलदायक होता है। जल, अग्नि तथा वायु का जिस प्रकार स्वाभाविक प्रभाव शरीर पर पड़ता है, उसी प्रकार मन्त्र-शक्ति का प्रभाव भी स्वाभाविक है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने रामचरितमानस में साबर मन्त्र के विषय में इस प्रकार लिखा है—

कलि बिलोकि जग हित हर गिरिजा,
साबर मंत्र जाल जिन्ह सिरिजा।
अनमिल आखर अरथ न जापू,
प्रगट प्रभाऊ महेस प्रतापू॥

आदि-कवि महर्षि वाल्मीकि जी के विषय में तो कहा जाता है कि उल्टा मंत्र जपने से ही उनका कल्याण हो गया था—'**जान आदि कवि नाम प्रतापू, भयउ सुद्ध करि उल्टा जापू।**' केन्द्रित होने पर ही बिखरी हुई विद्युत्-शक्ति उपयोग में आती है। आज विज्ञान ने ऐसे अनेक यंत्रों का आविष्कार किया है, जिनसे उस शक्ति का प्रक्षेपण तथा आक्षेपण होता है। रेडियो आज सर्वसाधारण का यंत्र है। विद्युत् शक्ति के द्वारा वह ध्वनि का प्रक्षेपण तथा संग्रहण करता है। मंत्र-शक्ति तो उस विद्युत्-शक्ति से बहुत बढ़कर है। ऋषियों ने मन्त्र-शक्ति का साक्षात्कार किया था—'**ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः।**'

४७. चित् और चित्त का अन्योन्य सम्बन्ध

महर्षि पतंजलि ने चित्तवृत्ति के निरोध को योग कहकर उसे ही चित् के अपने विशुद्ध स्वरूप में अवस्थित रूप के कैवल्य का साधन कहा है। चित् और चित्त दोनों शब्दों के एक ही मूल धातु से निष्पन्न होने के कारण, यह जिज्ञासा स्वभावत: होती है कि चित् और चित्त दोनों शब्द एक अर्थ के बोधक हैं या भिन्न अर्थों के? सब कुछ चित् का ही व्यापार है, अत: चित्त को चित् से सर्वात्मना भिन्न रूप में नहीं देखा जा सकता। इस प्रसंग में यह ध्यान रखना आवश्यक है कि सांख्य-योग एक युगल है और योग सांख्य निष्ठा का ही पूरक है। इसीलिए कोई-कोई विद्वान् योग को सेश्वर सांख्य भी कह देते हैं। सांख्य-योग में विहित जीव और ईश्वर अथवा पुरुष विशेष वेद में किस उत्तम ढंग से समझाया गया है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥
समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमान।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमितिवीतशोकः॥

(श्वेत० ४। ६-७ अ०का० ९ सूक्त ९ मंत्र २०)

विद्या से युक्त ईश्वर और अविद्या माया से युक्त जीव दो साथ रहने वाले मित्र पक्षी हैं। दोनों ही त्रिगुणात्मक माया अथवा प्रकृतिरूप वृक्ष का आलिंगन किये हुए हैं। उनमें से एक तो अर्थात् जीव रूपी पक्षी, उस वृक्ष के फलों (योगरूपी) का उपयोग करता है और दूसरा केवल साक्षी रूप में रहता है। गुरु-कृपा से योगयुक्त होकर जीव रूपी पक्षी अपनी भूल को समझता है और अपने साथी ईश्वर की महिमा से प्रेरणा ग्रहण करके अपना शोक निवारण करता है। यही चित् के स्वरूप का रहस्य है।

४८. योग के विभिन्न रूप

योग के स्वरूप का विस्तृत और विविध चित्रण शास्त्रों में वर्णित है। वर्तमान युग में योग शब्द का पूर्वापेक्षा अधिक व्यापक अर्थ में प्रयोग होने लगा है। सम्प्रति इस शब्द की दुर्गति हो गयी है। विज्ञान के फार्मूले भी योग कहलाते हैं—ज्योतिष और आयुर्वेद में तो अनेक योग हैं ही। परन्तु साधना के क्षेत्र में राजयोग और हठयोग की ही मान्यता है। मानव शरीर में पाँच रहस्यात्मक वस्तुएँ हैं—मन, प्राण, शुक्र, वाक् और कुण्डलिनी। इनमें से किसी एक का भी संयमन हो जाये तो योगसिद्धि हो जाती है। प्रमुख साधन राजयोग ही है—हठयोग तो उसके साधन रूप में ही आता है। हठयोग प्रदीपिका में कहा भी है—'**केवल राजयोगाय हठविद्योपदिश्यते।**' तथा '**राजयोगं विना पृथ्वी राजयोगं विना निशा। राजयोगं विना मुद्रा विचित्रापि न शोभते॥**' इस प्रकार राजयोग में सभी योगों का समावेश हो जाता है। महर्षि पतंजलि ने अपने योग-दर्शन में सभी साधनाओं का समावेश कर दिया है।

४९. योग का वैविध्य स्वरूप मूलक नहीं, प्रक्रिया मूलक

पातंजल दर्शन में योग के आठ अंग बताये गये हैं और हठ योग में छः अंग बताये गये हैं, अतः यह प्रश्न स्वभावतः उठता है कि क्या अंग भेद के कारण पातंजल और हठयोग में कोई ऐसा महान अन्तर है, जिससे दोनों में सामंजस्य की स्थापना कष्टसाध्य हो? योग साधना का स्वरूप एक ही है। कोई भेद नहीं है, भेद केवल प्रक्रिया का है। स्वामी राघवानन्द जी तथा स्वामी रामानन्द जी पूर्ण योगी थे। उन्होंने अष्टांग योग की चर्चा की है, परन्तु हठयोग की साधना का भी अपने ग्रन्थों में उल्लेख किया है। सन्तों का योग तो और भी रहस्यमय है। कबीर आदि सन्तों का सुरति शब्द योग सुज्ञात ही है। इसी प्रकार षट्चक्र के अतिरिक्त शरीर में और भी अनेक चक्रों की भावना की जाती है। नाथ योगियों ने नादविन्दु को केन्द्र मानकर योग साधना का उपदेश दिया है। शैव और शाक्त तन्त्रों में शक्ति तत्त्व को प्रधानता मिलती है। इस प्रकार योग साधना के अनेक प्रकार हैं। हठयोग का कार्य-साधना में बड़ा महत्त्वपूर्ण योग है। नाद-विन्दु का रहस्य भी बड़ा वैज्ञानिक है। पातंजल योग एक प्रतिष्ठित साधना है, जिसमें सभी साधनाओं को अन्तर्भुक्त कर लिया गया है।

५०. पातञ्जल योग का संक्षिप्त परिचय

पातञ्जल योग के सम्बन्ध में इस धारणा को दृढ़ करना परमावश्यक है कि पातञ्जल योग पूर्ण राजयोग है। राजयोग के माहात्म्य को ठीक-ठीक हृदयंगम करना बड़ा ही दुस्तर कार्य है। इसका क्रिया पक्ष बड़ा ही दुरूह है। ज्ञान, मुक्ति, स्थिति और सिद्धि तो गुरुवाक्य से ही प्राप्त हो जाती है, राजयोग इन सबसे आगे की स्थिति है।

राजयोगः समाधिश्च उन्मनञ्च मनोन्मनी।
अमरत्वं लयस्तत्त्वं शून्याशून्यं परं पदम्॥
अमनस्कं तथाद्वैतं निरालम्बं निरञ्जनम्।
जीवन्मुक्तिश्च सहजा तुर्या चेत्येकवाचका॥

(ह०यो० प्र० ४। ३-४)

राजयोगस्य माहात्म्यं को वा जानाति तत्त्वतः।
ज्ञानं मुक्तिः स्थितिः सिद्धिर्गुरुर्शक्येन लभ्यते॥
दुर्लभो विषयत्यागो दुर्लभं तत्त्वदर्शनम्।
दुर्लभा सहजावस्था सद्गुरोः करुणां विना॥

(वही ८-९)

परन्तु आजकल वाक्य-ज्ञान पर ही अधिक बल है—क्रिया पर नहीं। राजयोग की सिद्धि जन्मजमान्तर के संस्कारों और सदगुरु कृपा से ही होती है, अन्यथा इस मार्ग के पथिक या तो व्यवसायी हो जाते हैं या **'इतो भ्रष्टास्ततो भ्रष्टाः'** हो जाते हैं।

यह सारा विश्व चित्त का ही व्यापार है। जिसके मूल में अद्वैत चेतनतत्त्व का प्रकाश है—व्यष्टि और समष्टि दोनों ही रूपों में। वह एक ही चेतनतत्त्व मूलभूत में विराजता है और जैसे एक ही चन्द्रमा जल में अनेक रूपों में दिखाई देता है, उसी प्रकार वह चेतन विभक्त-सा भासता है। यह अनेकतत्त्व औपाधिक है—पारमार्थिक नहीं—

एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः।
एकधा बहुधा चैव दृश्यन्ते जलचन्द्रवत्॥

यथा ह्ययंज्योतिरात्मा विवस्वान् अपो भिन्ना बहुधैकोऽनुगच्छन्।
उपाधिना क्रियते भेदरूपो देवः क्षेत्रेष्ववमजोऽप्ययमात्मा॥

योग-साधना में उपासना और कर्म दोनों का ही समाहार हो जाता है, क्योंकि उपासना में भी चित्त-वृत्तियों को भगवदाकार करना पड़ता है और कर्म में भी अनासक्ति का भाव रखना पड़ता है। योगदर्शन में कुल चार पाद और १९५ सूत्र हैं। समाधिपाद में ५१, साधनपाद में ५५, विभूतिपाद में ५५ और कैवल्यपाद में ३४। इस दर्शन पर अनेक भाष्य तथा वृत्तियाँ हुई हैं। व्यास-भाष्य सबसे प्राचीन है। वृत्तियों में भोजवृत्ति प्रसिद्ध है। चारों पादों में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण समाधिपाद है, क्योंकि उसमें योग के स्वरूप का विवेचन किया गया है। समाधिपाद का विषय प्रवर्तक दूसरा सूत्र है, **'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'** अर्थात् बहिर्मुख चित्तवृत्तियों को सांसारिक विषयों से हटाकर अन्तर्मुख करना और उन्हें अपने कारण चित्त में लीन कर देना ही योग है।

समाधिपाद का अन्तिम सूत्र योग के प्रतिपाद्य का विवेचन करता है—

तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः॥

अर्थात् विवेक ख्याति के उत्पन्न होते ही चित्त की वृत्तियाँ समाप्त हो जाती हैं और ऋतम्भरा प्रज्ञाजन्य संस्कार अवशिष्ट रह जाते हैं। उनका भी जब निरोध होता है तब ही निर्बीज समाधि होती है, जिसे असंप्रज्ञात समाधि भी कहते हैं। यह आत्मा और चित्त का ऐक्य भी कहलाता है। जैसे नमक जल में मिलकर एकरूप हो जाता है, वैसे ही आत्मा और मन का एकरूप होना समाधि है। उस अवस्था में सब संकल्प समाप्त हो जाते हैं और जीवात्मा परमात्मा का अद्वैत हो जाता है। 'हठयोग प्रदीपिका' में लिखा है—

सलिले सैन्धवं यद्वत् साम्यं भजति योगतः।
तथाऽऽत्ममनसौरैक्यं समाधिरभिधीयते॥
यदा संक्षीयते प्राणो मानस च प्रलीयते।
तदा समरसत्वं च समाधिरभिधीयते॥
तत्समं च द्वयोरैक्यं जीवात्म-परमात्मनोः।
प्रनष्टः सर्वसंकल्पः समाधिः सोऽभिधीयते॥

समाधिपाद का यही रहस्य है। इस रहस्य को तथा समाधि प्राप्ति के उपायों को योग-दर्शन में कई सूत्रों में समझाया गया है। १७-१८ सूत्रों में तो इसका संक्षिप्त विवरण दिया गया है, परन्तु ४१-५१ सूत्रों में समाधि की विस्तार से व्याख्या हुई है। योगसूत्रकार ने विशुद्ध समाधि को निर्बीज समाधि कहा है। सविकल्प और निर्विकल्प उस निर्बीज की अवस्थाएँ हैं। सविकल्प समाधि तक विवेकख्याति नहीं होती, विचार बना ही रहता है, केवल उसकी अन्तर्मुखता हो जाती है। विचार के पश्चात् विवेक होता है और विचार समाप्त हो जाता है। विवेक से निर्विकल्प समाधि होती है, परन्तु इस अवस्था में भी पूर्ण पुरुष, प्रकृति स्वरूप बोध नहीं होता। इस बोध के होने पर वैराग्य होता है और चित्त की सब वृत्तियों का अभाव हो जाता है। गुण त्रय का भी प्रयोजन नहीं रहता, इसीलिए यह असंप्रज्ञात है और गुणों के अत्यन्ताभाव से निर्बीज है। इसे धर्ममेध भी कहते हैं। यह आत्मा और मन का ऐक्य है—अद्वैत है—स्वरूप प्रतिष्ठा है। कैवल्य है।

योग-दर्शन के पहले चार सूत्रों को 'चतुस्सूत्री' कहा जाता है। प्रायः यह परिपाटी रही है कि ऋषि अपने प्रबन्ध के पूर्व में ही अपना मन्तव्य व्यक्त करते हैं। पहला सूत्र है, **'अथ योगानुशासनम्।'** अथ

शब्द तो अधिकार और मंगल सूचक है तथा अनुशासन शब्द अनुबन्ध चतुष्टय का सूचक है। अनुबंध चतुष्टय का अभिप्राय है—विषय, प्रयोजन, अधिकारी और सम्बन्ध। ग्रन्थ का विषय योग है, जिसकी सूचना प्रथम सूत्र में ही दे दी गयी है। योग क्या है—इसे दूसरे सूत्र में बता दिया है, **'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।'** अर्थात् चित्त की बाह्य वृत्तियों का सर्वथा रुक जाना। योग का फल क्या है—इसे तीसरे सूत्र में बताया गया है, **'तदा द्रष्टुःस्वरूपेऽवस्थानम्।'** अर्थात् द्रष्टा (आत्मा) की अपने स्वरूप (परमात्म-स्वरूप) में स्थिति, क्योंकि द्रष्टत्व भी आत्मा का स्वरूप नहीं है। अपने स्वरूप में द्रष्टा, दृश्य और दर्शन कुछ रहता ही नहीं है। अब यहाँ यह प्रश्न होता है कि जब द्रष्टा आत्मा ही है तो वह क्या सर्वदा अपने स्वरूप में अवस्थित नहीं होता है? इस प्रश्न के उत्तर में चौथा सूत्र है, **'वृत्तिसारूप्यमितरत्र'।** यद्यपि द्रष्टा पुरुष स्वभाव से असंग और निर्लिप्त है, परन्तु चित्तरूपी जल की वृत्ति-तरंगों से तरंगायित-सा भासता है। इसलिए वृत्ति रूप तरंगों के रहने पर द्रष्टा का चित्त सारूप्य होता है और अपने भोक्तृत्व, द्रष्टत्व शक्ति और चित्त में दृश्यत्व और भोग्यत्व शक्ति का अनुभव-सा करता रहता है। चित्त-वृत्तियों के निरुद्ध होने पर वह स्वरूप में अवस्थित हो जाता है, जो योग-साधना का फल है। इस चतुस्सूत्री की व्याख्या ही योगदर्शन में की गयी है।

५१. पातंजल योग की शक्य साधना

महर्षि पतंजलि ने चित्त-वृत्ति निरोध को योग बताया है। योग की उनकी इस परिभाषा से मनुष्य को योग साधना के सम्बन्ध में बड़ी निराशा होती है, क्योंकि चित्त इतना चंचल है और उसकी वृत्तियों का इतना अधिक क्षेत्र-विस्तार है कि उस पर काबू पाना असंभव-सा प्रतीत होता है। अर्जुन जैसे महान् व्यक्ति को भी यह कहना पड़ा है कि—

चंचलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥

इतना ही नहीं पुराणों में बड़े-बड़े योगियों के भी चित्त विचलित होने की कथाएँ उपलब्ध होती हैं। अतः मनुष्य जब शास्त्रों में यह पाता है कि उसे परमलक्ष्य की प्राप्ति के लिए योग-साधना का अवलम्बन करना चाहिए, तब वह उसके चित्तवृत्ति निरोधात्मक स्वरूप के ध्यान में आते ही उद्विग्न हो उठता है।

सत्य है कि योगसाधना सरल साधना नहीं है। इसकी सिद्धि अनेक जन्मों के पुण्य परिपाक, गुरुकृपा तथा भगवान् के अनुग्रह से ही प्राप्त होती है। सहज रूप में इसकी सिद्धि सम्भव न होने से ही योग-साधना का एक पक्ष लुप्त-सा होता जा रहा है। आज प्राणी बड़ा ही दुःखी है—उसके स्नायुओं में हर समय तनाव रहता है। वह पूर्णरूप से बहिर्मुख है—परिस्थितियों का शिकार। भारत के ऋषि मनुष्य की परिस्थिति-जन्य इस असमर्थता और अशक्यता को जानते थे। इसलिए उन्होंने अपने शास्त्रों में उसका भी विधान किया है। समाधिपाद के तेईसवें सूत्र में इसका विधान हुआ है; **'ईश्वरप्रणिधानाद्वा।'** अर्थात् ईश्वर में परानुरक्ति-तैल धारावत् अविच्छिन्न भाव से भी समाधि लाभ होता है।

महर्षि ने आगे के सूत्रों में प्रणिधान की प्रक्रिया भी बता दी है—**'तस्य वाचकः प्रणवः'**॥ २७॥ अर्थात् उस ईश्वर का वाचक ओऽम् है। **'तज्जपस्तदर्थ भावनम्'**॥ २८॥ अर्थात् उसका जप और उसके अर्थ स्वरूप परमेश्वर का भावन अर्थात् चिन्तन करना चाहिए। ऐसा करने से **'ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च'**॥ २९॥ प्रत्यक् चेतना अर्थात् अन्तरात्मा के स्वरूप का ज्ञान और उसकी उपलब्धि में आने वाले विघ्नों का अभाव होता है। यह प्रत्यक् चेतना ही चित्त की अन्तर्मुखता है। इस शब्द की व्याख्या आचार्यों ने अनेक प्रकार से की है। 'भोजवृत्ति' में इसकी बड़ी सुन्दर व्याख्या है—

विषय प्रातिकूल्येन स्वान्तःकरणाभिमुखमञ्चति।
या चेतना दृक्शक्तिः सा प्रत्यक् चेतना॥

ईश्वर में वृत्तियों के लग जाने से धीरे-धीरे अन्य विषयों से वे हटती जाती हैं—अन्तर्मुखी होती जाती हैं और द्रष्टा जीव को अपने स्वरूप का बोध होता जाता है। इस चेतना को ही प्रत्यक् चेतना कहते हैं। इस अवस्था की प्राप्ति में जो विघ्न आते हैं, उनका तथा उन्हें दूर करने के उपायों का ही विवेचन महर्षि पतंजलि ने किया है। विघ्नों को दूर करने का सबसे बड़ा उपाय महर्षि ने बतलाया है, **'तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः'**॥ ३२॥ अर्थात् उस एक तत्त्व—परमतत्त्व ईश्वर में चित्त के अनवरत प्रणिधान से विघ्नों का नाश हो जाता है।

५२. चित्त की बहिर्मुखता तथा ईश्वर प्रणिधान

चित्त की बहिर्मुखता के निवारण के सम्बन्ध में अब तक जो कुछ कहा गया है, उसका निष्कर्ष यह है कि चित्त की बहिर्मुखता को दूर करने के लिए योग-दर्शन में जो दो उपाय बताये गये हैं—वे साधक भेद से हैं—फल दोनों का एक ही है। कोई तात्त्विक भेद नहीं है। दृष्टि का भेद है। पुरुष से प्रतिबिम्बित होने पर ही प्रकृति अपना जादू का पिटारा खोल देती है और तीनों गुणों में क्रिया होने लगती है और सारे स्थूल जगत् का व्यवहार चालू हो जाता है। पुरुष और चित्त में द्रष्टा-दृश्य, भोक्ता-भोग्य, सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। यह सब अहं का ही खेल है। मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार की गणना 'अन्तःकरण चतुष्टय' में की गयी है, परन्तु सांख्य और योग में अहंकार को 'महत्' तत्त्व का विकार माना गया है। एक बात और है। सांख्य में महत् तत्त्व को बुद्धि कहते हैं और योग में चित्त कहते हैं। यह नामभेद दोनों दर्शनों की साधन-प्रक्रिया के कारण हैं। सांख्य दर्शन तो सिद्धान्तात्मक है और योग दर्शन क्रियात्मक। इसीलिए सांख्य दर्शन में बुद्धि को प्रधानता मिली है और योग में चित्त को, क्योंकि विवेचना करना बुद्धि का काम है और अनुभव करना चित्त का। चित्त के प्रकाश से दोनों गतिशील होते हैं और सृष्टि की उत्पत्ति में कारण बनते हैं। अहं का क्रिया भाव 'अस्मिता' कहा जाता है **'अहमस्मि'**। यह अस्मिता ही द्रष्टा और दृश्य का कारण है। ज्यों-ज्यों अस्मिता का भाव बढ़ता जायगा, चित्त बहिर्मुख होता जायगा और जैसे-जैसे यह भाव घटता जायगा, उसकी अन्तर्मुखता बढ़ती जायगी और अन्त में उसे पूर्ण विवेक हो जायगा। इस प्रकार यह सारी सृष्टि वृत्तियों का ही प्रसार है। चित्त की वृत्ति अहंकार है। अहंकार की वृत्तियाँ इन्द्रियों और तन्मात्राओं का रूप है। तन्मात्राओं की वृत्तियाँ स्थूलभूत हैं। इस प्रकार सूक्ष्म तत्त्व से स्थूल सृष्टि का विकास हुआ। इन वृत्तियों के निरोध से विपरीत क्रम चलता है। वृत्तियाँ जितनी ही बहिर्मुख होंगी, उनमें रज और तम की मात्रा बढ़ेगी, सत्त्व की मात्रा कम होगी और वृत्तियाँ जितनी ही अन्तर्मुख होंगी, उतना ही सत्त्व का प्रकाश बढ़ेगा। योग में चित्त वृत्तियों के निरोध से यही अभिप्राय है—अन्तर्मुखता बढ़े और सत्त्व का प्रकाश हो। इसके लिए चार प्रस्थान हैं—(१) अस्मिता, (२) अहंकार, (३) सूक्ष्म भूत, (४) स्थूल भूत। ये चार प्रस्थान ही आत्मा और चित्त का एकीकरण किये हुए हैं। इन

प्रस्थानों के पार करने से आत्मा की अपने स्वरूप में अवस्थिति हो जाती है। समाधि पाद का मूल विषय इतना ही है। वृत्तियों का स्वरूप और उनकी व्याख्या, अभ्यास और वैराग्य का स्वरूप, निर्विकल्पक समाधि की पूर्ववर्ती अवस्थाएँ, समाधि का स्वरूप और चित्त-शुद्धि के उपाय आदि विषयों का समाधि पाद में अंगरूप से विवेचन हुआ है, अंगी विषय निर्बीज समाधि है।

महर्षि पतंजलि ने समाधिपाद की रचना समाहित चित्त वाले विशेष योगियों के लिए ही की है। साधारण कोटि के जीवों के लिए भी ईश्वरप्रणिधान का स्वरूप बता दिया है, परन्तु इसमें चित्त की शुद्धि के जो उपाय बताये गये हैं, वे कष्टसाध्य हैं। इसलिए महर्षि ने साधन-पाद में कुछ सरल उपायों का विवेचन किया और इस प्रकार की योग-साधना को उन्होंने क्रियायोग कहा। पहले ही सूत्र में कहा गया है—

तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः। (२-१)

योग मार्ग में तप बड़ा आवश्यक है, क्योंकि बिना तप के शरीर स्वस्थ नहीं होता और अन्तःकरण निर्मल नहीं होता। हमारा मनोराज्य बिना तप के समाप्त नहीं हो सकता। तप के अभाव में रजस् और तमस् का व्यापार चलता ही रहता है। तप एक प्रकार का साधना है। आचार-व्यवहार के साधन से शरीर की शुद्धि होती है और शम-दम आदि तप से मन की शुद्धि होती है। गीता के सत्रहवें अध्याय में सात्त्विक, राजस् और तामस् तप के स्वरूपों की व्याख्या की गयी है। शरीर, वाणी और मन के संयम का नाम ही तप है, इसके बिना स्वाध्याय भी निरर्थक है। स्वाध्याय से वही अध्ययन अभिप्रेत है, जिससे मानव में विचार और विवेक तथा कर्तव्य-अकर्तव्य की भावना दृढ़ हो। स्वाध्याय से ईश्वर प्रणिधान का कार्य भी सरल हो जाता है। जप, ईश्वर प्रणिधान का ही साधन है।

साधन पाद का प्रयोजन समाधि भावना और अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश—इन पाँच क्लेशों को दूर करना है। जब तक मनुष्य में ये क्लेश विद्यमान रहेंगे, उसका कल्याण सम्भव नहीं। इस दृष्टि से साधन पाद बड़ा महत्त्वपूर्ण है। सब क्लेशों का मूल कारण अविद्या को बताया गया है। वास्तव में अविद्या माया ही जीव को ईश्वर से दूर करने वाली है और इसी के कारण जीव बहिर्मुख हो रहा है और वह अनित्य को नित्य, अपवित्र को पवित्र, दुःख को सुख और अनात्मा को आत्मा समझ बैठा है। सूत्रकार ने बड़े वैज्ञानिक ढंग से इन क्लेशों की व्याख्या की है। सूत्रकार ने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि क्रियायोग से क्लेशों की स्थूलवृत्तियाँ ही नष्ट हो सकती हैं, सूक्ष्म वृत्तियाँ फिर भी बनी रहती हैं—उनका बीजनाश ध्यान से ही सम्भव है—'ध्यानहेयास्तद्वृत्तयः। २-११।' जब तक क्लेशों का मूल नष्ट नहीं हो जाता है, संस्कार रूप में भेद-भाव बना ही रहता है और द्रष्टा, दृश्य का संयोग भी बना रहता है, जो वास्तव में सब दुःखों का मूल है—'द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः'। २। १७। दृश्य माया का खेल है, जो इसे नाना रूपों में व्यक्त करती है। वस्तुस्थिति तो यह है कि दृश्य का सारा प्रयोजन द्रष्टा के लिए है, वह उसका प्रयोग चाहे भोग के लिए करे का योग के लिये करे, 'तदर्थ एव दृश्यस्याऽऽत्मा। २। २१।' जब तक द्रष्टा इस दृश्य को अपना समझता है, तभी तक उसमें भोक्ता का भाव है, अन्यथा उसका दृश्य से प्रयोजन ही क्या है? अविद्या ही इन दोनों के सम्बन्ध का मूल कारण है। अविद्या नष्ट होते ही यह भ्रान्ति भी नष्ट हो जाती है और द्रष्टा को अपने स्वरूप का ज्ञान हो जाता है। उस स्थिति को योग में विवेकख्याति कहते हैं। उस समय जो बुद्धि उत्पन्न होती है, उसी का नाम प्रज्ञा है। उसकी प्राप्ति से योगी जीवन-मुक्त हो जाता है। इस प्रज्ञा से ही विवेकख्याति होती है। इसकी प्राप्ति के उपाय सूत्रकार ने अष्टांग-योग का अनुष्ठान बताया है। योग के आठ अंग हैं। **'यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि** ।२। २९। ' इन आठों अंगों में पहले पाँच अर्थात् यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार बहिरंग साधन कहलाते हैं और अन्तिम तीन अर्थात् धारणा, ध्यान, समाधि अन्तरंग साधन कहलाते हैं। अंतरंग साधनों के लिए निरन्तर अभ्यास और वैराग्य की अपेक्षा है। बिना वैराग्य और अभ्यास के राग का समूल नाश नहीं हो सकता। उसे पतञ्जलि ने पर-वैराग्य कहा है। यम और नियम ऐसे अंग हैं जो प्राणिमात्र के लिए आवश्यक हैं। साधारण आचार और व्यवहार में भी इनकी उपयोगिता है। क्रिया योग का प्रारम्भ आसन से होता है। आसन की सिद्धि से ही प्राणायाम में सफलता मिलती है और प्राणायाम से प्रत्याहार की सिद्धि होती है। प्रत्याहार के द्वारा चित्त को अन्तर्मुख किया जाता है। धारणा में चित्त को किसी एक विषय पर लगाया जाता है और ध्यान में केवल वृत्ति पर। समाधि में ध्याता, ध्येय और ध्यान का भेद ही समाप्त हो जाता है। यम, नियम आदि पाँच बहिरंग साधनों का वर्णन साधनपाद में किया गया है। टीकाकारों ने भी प्रत्येक साधन का विस्तार से विवेचन किया है। ये पाँच साधन उत्तरोत्तर एक दूसरे के साधक हैं। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—ये पाँच यम योगियों के लिए बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। इनमें प्रतिष्ठा होने से योगी को समत्वयोग की सिद्धि होती है। जैसे अहिंसा में प्रतिष्ठा होने पर योगी के निकट सारे प्राणी वैर का त्याग कर देते हैं—**'अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः'**। २। ३५।

इसी प्रकार **'सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्'** । २। ३६।
'अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम्'। २। ३७।
'ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः'। २। ३८।
'अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्तासम्बोधः' । २। ३९।

इसी प्रकार शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान—पाँच नियमों का स्वरूप और फल भी सूत्रकार ने बताया है। साधन-पाद के अन्त में आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार का स्वरूप बताया गया है। इन पाँचों साधनों से इन्द्रियों की बहिर्मुखता समाप्त हो जाती है। **'ततः परमा वश्यतेन्द्रियाणाम्'**। २। ५५।

५३. हठयोग की उपयोगिता

यह ज्ञातव्य है कि प्रकृति-पुरुष के विवेक ज्ञान के लिए राजयोग के समान ही हठयोग की भी असाधारण उपयोगिता है। हठयोग में आसन और प्राणायाम का बड़ा महत्त्व है। प्राणायाम के लिए षट्कर्म आवश्यक है। वे छः कर्म हैं—धौति, नेति, त्राटक, नौली, बस्ति और कपाल-भाति। इन छः कर्मों से शरीर के त्रिदोषजन्य मल निकल जाते हैं और प्राणायाम में बहुत श्रम नहीं होता। हठयोग में और भी बहुत-सी क्रियाएँ हैं जो दीर्घ साधना की अपेक्षा रखती हैं। हठयोग में प्राणायाम के बहुत भेद बताये गये हैं। साथ ही साथ चक्रों, मुद्राओं, बन्धों आदि का भी विस्तार से विवेचन हुआ है। योग में आसनों का भी बड़ा विस्तृत विवेचन हुआ है। आसन शरीर-शुद्धि और रोग-निवारण के साधन हैं। आजकल तो आसन और प्राणायाम की शिक्षा के अनेक केन्द्र खुल गये हैं। ऐसे केन्द्रों का जन-कल्याण के लिए थोड़ा बहुत उपयोग भी हो सकता है, परन्तु यम और नियम की साधना के बिना आसन-सिद्धि

सम्भव नहीं है। आसन तथा प्राणायाम किसी योगी से ही सीखने चाहिए। आजकल योगों द्वारा शारीरिक रोगों को दूर करने का भी व्यवसाय चल रहा है और देश-विदेशों में इस प्रकार के अनेक योगाश्रम चल भी रहे हैं। योग व्यापार का विषय नहीं है। योग के लिए उत्तम अधिकारी होना पहली शर्त है। बहुत से लोग अनेक प्रकार के चमत्कार दिखाकर अपनी स्वार्थसिद्धि करते हैं। यह एक निकृष्ट व्यापार ही है।

साधन-पाद में केवल चार ही प्रकार के प्राणायामों का वर्णन हुआ है—

बाह्यान्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टोदीर्घसूक्ष्मः। (२-५०)

बाह्याभ्यन्तर विषयाक्षेपी चतुर्थः। (२-५१)

बाह्य वृत्ति, आभ्यन्तर वृत्ति, स्तम्भ वृत्ति—इन तीन प्रकार के प्राणायामों को रेचक, पूरक और कुम्भक भी कह सकते हैं। चौथा प्राणायाम इन तीनों से विचित्र है, जिसमें प्राणों की गति बिना ही प्रयास के रुक जाती है। इस प्राणायाम को योगियों ने अनेक नामों से अभिहित किया है। इसे केवली कुम्भक भी कहते हैं। इस प्रकार के प्राणायाम का योग साधनों में बड़ा महत्त्व है। इस प्राणायाम के द्वारा जब इंद्रियाँ अन्तर्मुखी होकर चित्त में विलीन होने लगती हैं और मन ध्येयाकार हो जाता है, तब प्रत्याहार की सिद्धि होती है—

स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः। (२-५४)

प्रत्याहार के अनन्तर योगी अंतरंग साधना में प्रवेश करता है। पहले दो पादों में योग सूत्रकार ने साधनों का विवेचन किया है। यमादि के द्वारा योगी संयम की भूमि पर पहुँचता है। धारणा, ध्यान और समाधि—इन तीनों का सामूहिक नाम संयम है। संयम से अनेक प्रकार की विभूतियाँ प्राप्त होती हैं, परन्तु योगी का लक्ष्य विभूति-प्राप्ति नहीं है, वैराग्य प्राप्ति है।

योगदर्शन में विभूतियों का वर्णन केवल इसलिए किया गया है कि योगी इनके यथार्थ रूप को समझकर उनसे आकृष्ट न हो। योगदर्शन का विभूतिपाद साधनपाद की ही कड़ी है, क्योंकि पहले ही सूत्र में प्रत्याहार से आगे के अंग, धारणा का विवेचन किया गया है। प्रथम चार सूत्र इस प्रकार हैं—**'देशबन्धश्चित्तस्य धारणा'** (३।१), **'तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्'** (३।२); **'तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः'** (३।३), **'त्रयमेकत्र संयमः'** (३।४)। चित्त एक प्रकार से वृत्तियों का ही सामूहिक रूप है। प्रत्याहार से ये वृत्तियाँ अन्तर्मुखी हो जाती है और उनमें प्रत्यय प्रवाह या एकतानता आ जाती है। उस समय वृत्ति ध्येयाकार हो जाती है। उसे पूर्ण रूप से स्थिर करने के लिए धारणा का उपयोग होता है। धारणा में वृत्ति को सब ओर से हटाकर एक ही स्थान पर लगाया जाता है। वह स्थान शरीर का कोई अंग विशेष भी हो सकता है अथवा कोई देव विशेष भी। जब वृत्ति का ध्येय से तादात्म्य हो जाता है, तब वृत्ति ध्येयाकार हो जाती है और सम्पूर्ण प्रपंच ध्येय रूप में भासने लगता है—उसी को ध्यान कहते हैं। इससे आगे की स्थिति समाधि कहलाती है, जिसमें ध्याता, ध्येय और ध्यान का भेद मिट जाता है। ध्याता, ध्येय और ध्यान को ही त्रिपुटी कहते हैं। समाधि से पहले त्रिपुटी में भेदाभेद-भाव रहता है। समाधि में अभेद भाव रहता है। जब ध्यान, धारणा और समाधि एकतान हो जाते हैं, तब उसे संयम कहते हैं। इस संयम के द्वारा ही योगी विभिन्न भावभूमियों को पार करता है; जैसे वितर्क अनुगत भूमि, विचार अनुगत भूमि, आनन्द अनुगत भूमि तथा अस्मिता अनुगत भूमि। कभी-कभी योगी सीधे ही परमपद में अवस्थित हो जाता है। यह संयम योगी का परम धन है, जिससे वह अनेक प्रकार की विभूतियों का साक्षात्कार कर सकता है। संयम से निरोध-समाप्ति की सिद्धि तो अवश्य होती है, परन्तु संस्कारों का पूर्ण क्षय नहीं होता। इसलिए योगदर्शन में योगी को आगाह किया गया है कि वह निरोध-समाप्ति को ही सर्वस्व न समझ बैठे। व्युत्थान के संस्कार चित्त में बने ही रहते हैं और अवसर पाकर वे उभर सकते हैं। इसलिए योगी को संस्कारों के मूल क्षय का बराबर प्रयत्न करते रहना चाहिए। चित्त तो परिणामी वृत्ति का है। जब तक चित्त रहेगा, उसमें परिणाम होता ही रहेगा। एकाग्रता की वृत्ति भी उसका एक परिणाम ही है। इसलिए सब प्रकार के परिणामों का निराकरण तभी हो सकता है, जब चित्त में व्युत्थान के संस्कार न रहें। निरोध, धारण, संस्कार, परिणाम, जीवन, चेष्टा, शक्ति आदि सब चित्त के परोक्ष धर्म हैं। कैवल्य प्राप्ति के लिए इन सबका निराकरण आवश्यक है। परिणाम मुख्य रूप से तीन होते हैं—धर्म परिणाम, लक्षण परिणाम और अवस्था परिणाम। सारी सृष्टि इन्हीं परिणामों का फल है। यदि योगी इन परिणामों में संयम कर ले तो उसे भूत और भविष्य का ज्ञान हो सकता है। यह बात विज्ञान सिद्ध भी है, क्योंकि जब पदार्थों के कार्य कारण का सही ज्ञान हो जाता है तो उनके स्वरूप ज्ञान में विशेष कठिनाई नहीं होती है। परिणाम में संयम करने का अर्थ है, सृष्टि के मूल तत्त्वों का साक्षात्कार करना। विभूतिपाद में इसी प्रकार की विभूतियों का विस्तार से वर्णन हुआ है। जैसे सब प्राणियों की वाणी का ज्ञान, परचित्त ज्ञान, मृत्यु का ज्ञान, लोक-लोकान्तरों का ज्ञान, अपने शरीर का ज्ञान, चित्त के स्वरूप का ज्ञान इत्यादि। संयम के ही द्वारा योगी अंतर्धान हो सकता है, अधिक-से-अधिक शक्ति प्राप्त कर सकता है, परकाया में प्रवेश कर सकता है, लोक-लोकान्तरों में भ्रमण कर सकता है। योग एक बड़ी दुर्लभ और विचित्र अवस्था है। योगी की शक्ति और ज्ञान अपरिमित होते हैं, उसके लिए विश्व में कोई भी वस्तु असंभव नहीं है। ईश्वर की शक्ति माया है और योगी की शक्ति योगमाया है। **'सर्वम् सर्वात्मकम्'** के सिद्धान्त का योगी कभी भी प्रत्यक्ष कर सकता है। आज विज्ञान ने जिस शक्ति का सम्पादन किया है, वह योगशक्ति का सहस्रांश भी नहीं है। योगी के लिए बाह्य उपादानों की अपेक्षा नहीं है। यदि योगी चाहे तो अपने सत्य संकल्प से सृष्टि का निर्माण भी कर सकता है। वह ईश्वर के समान सर्वव्यापक है। अष्टसिद्धियाँ भी उसके लिए नगण्य हैं। वह अपनी संकल्प शक्ति से एक ही समय में अनेक स्थानों पर, अनेक रूपों में प्रकट हो सकता है। उसे शरीर से कहीं आना-जाना नहीं पड़ता। योगी सत्यसंकल्प होता है।

५४. योग की उपलब्धियाँ साधना का विषय है विज्ञान का नहीं

पातंजल दर्शन के विभूतिपाद में योग से होने वाली अनेक विस्मयकारी सिद्धियों का वर्णन प्राप्त होता है, जिसे विज्ञान के वर्तमान युग में स्वीकार करना संभव नहीं प्रतीत होता और जब यह सिद्धियाँ असंभाव्य लगने लगती हैं, तब मनुष्य का योग के प्रति तटस्थ एवं उदासीन होने का मनोभाव होने लगता है। ऐसी स्थिति में जब योग-सिद्धियों के ऊपर श्रद्धा और विश्वास नहीं हो पाता, तब योगी द्वारा मनुष्य को उस मार्ग की ओर उन्मुख होने की प्रेरणा कैसे हो सकती है? बात तो यहाँ तक पहुँच जाती है कि योग-सिद्धियों के सम्बन्ध में मनुष्य

की आस्था का लोप होने से योगी को स्वयं भी अपने मार्ग पर बराबर चलते रहने के सम्बन्ध में शंकित-चित्त हो जाना पड़ता है। यह स्थिति योग साधन के लिए अत्यन्त प्रतिकूल है।

वस्तुतः योगी को न सिद्धि प्रदर्शन की और न उसमें जनता के श्रद्धा और विश्वास को उत्पन्न करने के प्रयत्न की अपेक्षा होती है। यदि कोई योगी सिद्धियों का प्रदर्शन करता है तो उसे योगी कहना ही नहीं चाहिए। इस प्रसंग में एक कथा है। एक महात्मा अपने योगिराज गुरु से योग की शिक्षा प्राप्त कर, योग-साधना करने लगे। कुछ समय पश्चात् महात्मा को सिद्धियाँ प्राप्त होने लगीं। महात्मा एक दिन अपने गुरुदेव के दर्शन करने के लिए चल दिये। योगिराज का आश्रम एक नदी के दूसरे किनारे पर था। नदी में बड़ी बाढ़ थी और चारों ओर तूफान था। महात्मा को नदी पार कर आश्रम में पहुँचना था। अपनी सिद्धि के बल पर महात्मा यों ही जल पर चल दिये और नदी को पार कर आश्रम में पहुँचे। गुरुदेव ने नदी पार करने के साधन के सम्बन्ध में पूछा तो महात्मा ने अपनी सिद्धि का फल बता दिया। योगिराज ने कहा कि तुमने दो पैसे के बदले अपनी वर्षों की तपस्या समाप्त कर ली। तुम योग साधना के योग्य नहीं हो। योग-सिद्धि के प्रदर्शन में ऐसी अनेक घटनाएँ हैं।

योगी का रहस्य तो बड़ा ही विचित्र होता है। वह उसे कभी भी प्रकट नहीं करता। आज विज्ञान का बड़ा ढोल पीटा जा रहा है और प्रक्रिया से सिद्ध करने का आग्रह किया जा रहा है, किन्तु क्या सम्भव है कि योगी विज्ञान की प्रयोगशालाओं में अपनी सिद्धियों का प्रदर्शन करें? विज्ञान का काम तत्त्वानुसंधान होने से, वैज्ञानिक चाहें तो योगी के तत्त्व का अनुसंधान अवश्य करें। योगी तो त्रिगुणातीत मार्ग में विचरण करता है, उसके लिए न कोई विधि है और न निषेध—'**निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतां को विधिः को निषेधः।**'

योगी के लिए मुण्डकोपनिषद् में कहा है—

यं यं लोकं मनसा संविभाति, विशुद्धसत्त्वः कामयते याञ्च कामान्।
तं तं लोकं जयते तांश्चकामान्, तस्मादात्मज्ञं ह्यर्चयेद् भूतिकामः॥

जिस योगी ने उस परम तत्त्व का साक्षात्कार कर लिया, फिर उसके लिए सिद्धियाँ और विभूतियाँ हेय पदार्थ हैं, क्योंकि वे सब तो उसके एक अंश से उत्पन्न हैं—

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम्॥

(गीता १०-४१)

योग का विज्ञान से विरोध नहीं है—'**विविधं ज्ञानं विज्ञानम्**' और '**एकं ज्ञानं ज्ञानम्**'। '**सर्वं सर्वात्मकम्**' का सिद्धान्त किसी सीमा तक अब वैज्ञानिकों को भी मान्य है। अणु में विराट् के तत्त्व हैं और विराट् में असंख्य अणुओं की सत्ता है। जो वस्तु जितनी ही अधिक सूक्ष्म होगी, उसमें उतनी ही अधिक शक्ति होगी। अणु की शक्ति ने भौतिक स्तर पर इसको प्रमाणित भी कर दिया है। अध्यात्म के क्षेत्र में यह सिद्धान्त अभी रहस्य ही है। मन्त्र-शक्ति का परिचय अभी वैज्ञानिकों को नहीं है और मन्त्र-शक्ति से भी बढ़कर है सत्य-संकल्प शक्ति, जिसका योगी संवरण करता है। यह सत्य-संकल्प शक्ति ही योगी का मन है, जो देश और काल से अतीत है। नाम और रूप के कारण यह विश्व विभक्त-सा भास रहा है, अन्यथा तात्त्विक दृष्टि से अविभक्त ही है—नाना रूपों और केन्द्र विन्दुओं के भीतर एक ही चित् शक्ति है। सबके मूल में वही परावाक् है। शैव दर्शन में भी इस सिद्धांत का विवेचन हुआ है। योग में नाद और बिन्दु के माध्यम से इस रहस्य को समझाया गया है। आज का विज्ञानी, इस गति और स्थिति के रहस्य को नहीं समझ सका है। सबसे सूक्ष्म भौतिक तत्त्व आकाश है, जिसे स्थिति तत्त्व कहा जा सकता है, क्योंकि सारा प्रपंच इसी में है। उसको गति देने वाला तत्त्व वायु है। यह बात विज्ञान भी स्वीकार करता है, जो वस्तु जैसी प्रत्यक्ष में है, यथार्थ में वैसी नहीं है। किसी शक्ति विशेष ने परमाणुओं को विभिन्न रूप दे दिये हैं और वे भिन्न-भिन्न रूपों में भास रहे हैं। इस प्रकार सारा प्रपंच एक ही शक्ति का विकास है—ये रूप और नाम सब कल्पित हैं—औपाधिक और व्यावहारिक हैं। हर वस्तु में हर वस्तु के भौतिक परमाणु हैं। जब किसी भी वस्तु की यथार्थ सत्ता है ही नहीं तो नाम-रूप बदलकर कोई भी वस्तु में परिवर्तित की जा सकती है। यही '**सर्वं सर्वात्मकम्**' का सिद्धान्त है।

५५. योगी की संकल्प शक्ति

योगी का संकल्प अमोघ होता है और वह ईश्वर के संकल्प के समान ही शक्तिशाली होता है। उसकी दृष्टि में सर्वत्र ईश्वर ही है। उसकी इच्छा भी ईश्वर की ही इच्छा होती है। इसलिए उसके संकल्प का ईश्वरीय नियमों से कभी विरोध नहीं होता। हाँ, वह अपनी योग-शक्ति से पदार्थों के संघटन को बदल सकता है और पदार्थ के धर्म में सभी विपर्यय ला सकता है। पिस्तौल में भरी हुई गोली को निष्क्रिय कर सकता है, विष की मारण-शक्ति को समाप्त कर सकता है तथा परमाणुओं के संघटन से किसी भी वस्तु का निर्माण कर सकता है; परन्तु उस वस्तु में कार्य-कारण-भाव रहेगा। पदार्थों के परमाणुओं से किसी भी पदार्थ का संयोजन या वियोजन, उसके लिए एक सरल काम है। परन्तु ये सब सिद्धियाँ योगी के लिए परम विघ्न स्वरूप हैं। इतना ही नहीं, योगी का सर्वज्ञ का भाव भी उसके लिए विघ्न ही है। जब योगी प्रकृति पुरुष के रहस्य को जान जाता है तो उसे सर्वज्ञता प्राप्त हो जाती है—

सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वं च।

(३-४९)

यह स्थिति विवेकख्याति की है, परन्तु है चित्त की ही अवस्था। इसलिए योगी को इससे भी आगे बढ़ना पड़ता है। '**तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम्।**' त्रिगुणात्मक दोषों का बीज-क्षय होने पर बुद्धि अपने कारण में विलीन हो जाती है और मल-विक्षेप आवरण का अभाव होने से पुरुष भी निर्मल हो जाता है। उस समय '**सत्त्वपुरुषयोः शुद्धसाम्ये कैवल्यम्।**' कैवल्य ही समाधि का वास्तविक फल है। चित्त चित् में विलीन हो जाता है। कैवल्यपाद के अन्तिम सूत्र में भी कैवल्य का यही स्वरूप बताया है।

चित् को ही द्रष्टृत्व शक्ति के कारण चिति कहा गया है। सत्त्व, रजस् और तमस् ये प्रवृत्ति के गुण हैं, द्रष्टा अपने अविवेक से इनमें फँसता है। गीता के चौदहवें अध्याय में इनका वर्णन हुआ है।

५६. समाधि मूलक सिद्धि तथा अन्य मूलक सिद्धियाँ

सिद्धि और साधनों के सम्बन्ध में योग-दर्शन के विभूतिपाद तथा कैवल्यपाद एवं अन्य ग्रन्थों में जो कुछ कहा गया है, वह पूर्ण रूप से यथार्थ है। शास्त्र का कथन कभी असंगत नहीं हो सकता, क्योंकि शास्त्र सर्वज्ञकल्प महापुरुषों के वचन हैं। शास्त्रों का कथन अनुभव से भी

प्रमाणित होता है। परन्तु वह अनुभव, साधना और तपस्या का अनुभव होता है। समाधि से होने वाली सिद्धियाँ और उनमें वैराग्य ही स्वरूपावस्थिति में विशेष सहायक होते हैं। प्राणिमात्र में जो स्वाभाविक शारीरिक और मानसिक, आध्यात्मिक योग्यता है—वह जन्मजात सिद्धि नहीं तो क्या है? प्राचीन ऋषि और मुनियों की जन्मजात सिद्धि में विश्वास न भी किया जाय तो भी, आजकल ऐसे अनेक उदाहरण मिल जाते हैं, जिनके आधार पर जन्मजात सिद्धि में विश्वास करना पड़ता है। औषधि-जन्य सिद्धियों का रूप आज सर्वविदित ही है। औषधि विज्ञान ने तो आज बड़ी उन्नति कर ली है। कायाकल्प आदि औषधि-जन्य सिद्धि ही तो है। आगमों में इस प्रकार की सिद्धियों के अनेक स्वरूप मिलते हैं। गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी लिखा है—

जथा सुअंजन अंजिदृग साधक सिद्ध सुजान।
कौतुक देखत सैल बन भूतल भूरि निधान॥

मन्त्र की शक्ति अपार है। मन्त्र तो स्वयं ही चिन्मय होता है—शब्द ब्रह्म, उसकी शक्ति का क्या कहना। तन्त्रों का रहस्य ही शब्दों और ध्वनियों का तारतम्य है। योग-यज्ञ में मन्त्रों का ही विधान है। तन्त्रों में भी योग-यज्ञ है। कुंडलिनी शक्ति को जगाना गोमेध कहलाता है। फिर चक्र भेदन भी तो यज्ञ ही है। मणिपुर का भेदन अश्वमेध कहलाता है—अनाहत का श्येनयज्ञ है और सहस्रार का सोमयज्ञ है। समाधि के लिए तप की आवश्यकता है।

समाधि-जन्य सिद्धियों की बात तो महर्षि पतंजलि ने विभूति पाद में विस्तार से बताई है। कैवल्यपाद में इन सिद्धियों की बड़ी अच्छी वैज्ञानिक व्याख्या की गई है और यह स्पष्ट कह दिया गया है कि सिद्धियों के प्राप्त होने पर, पदार्थ का स्वरूप क्यों और किस प्रकार बदल जाता है। एक सिद्धान्त तो यह है कि पदार्थों में किन्हीं कारणों से जो अवरोध हो जाता है, उसका निवारण होने से पदार्थ विलक्षण शक्ति सम्पन्न हो जाते हैं। योगदर्शन की सिद्धियों के विषय में एक प्रश्न यह भी उठाया जाता है कि योगी अपने संकल्प से जिन स्वतन्त्र पदार्थों का निर्माण करता है, उनकी क्या स्थिति होती है? इस सम्बन्ध में एक बात तो यह समझ लेनी चाहिए कि योगी के संकल्प में, जब तक अस्मिता भाव विद्यमान रहेगा, तभी तक वह किसी पदार्थ अथवा शरीर का निर्माण करेगा। जब योगी अपने स्थूल शरीर को छोड़कर सूक्ष्म शरीर से विश्वभ्रमण करता है, उस समय उसके स्थूल शरीर की रक्षा उसके अस्मिता भाव से ही होती है। योगवासिष्ट में इस प्रकार की अनेक कथाएँ आती हैं। योगी से निर्मित शरीरों में चित्त भी योग निर्मित होते हैं, परन्तु यहाँ एक बात लक्ष्य करने की यह है कि जन्म, औषधि, मंत्र और तप से जिन शरीरों का निर्माण होता है, उनमें तो वासनाएँ रहती हैं; परन्तु विशुद्ध-चित्त योगी से निर्मित शरीर में कर्म की वासना नहीं होती है, क्योंकि वह वासनारहित चित्त से बनाया जाता है। ये वासना और संस्कार ही जीव की दुर्गति का कारण होते हैं। संचित कर्मों के रूप में जन्म-जन्मान्तर की वासनाएँ और संस्कार निहित रहते हैं। किसी भी समय वे संस्कार उद्‌बुद्ध होकर प्रारब्ध का रूप धारण कर लेते हैं। उनके लिए जाति, देश और काल का कोई व्यवधान नहीं होता। समाज में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं, जब मनुष्यों के ये संचित कर्म उद्‌बुद्ध होकर प्रत्यक्ष कार्यकारण के अभाव में भी उसे विचित्र गति प्रदान करते हैं। साधारण लोग उस रहस्य को नहीं जानते। योगी अपनी विवेकख्याति से ही इन वासनाओं का समग्र नाश कर सकता है, जैसा कि गीता में कहा भी गया है—

ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन॥

चित्त का बाह्य पदार्थों से पारमार्थिक सम्बन्ध नहीं है, उसका पारमार्थिक सम्बन्ध तो आत्मा से है। ये बाहरी सम्बन्ध वासनाजन्य है। वासना के अनुसार ही पदार्थों का स्वरूप दृष्टिगोचर होता है। एक बात और है कि चित्त भी पुरुष से प्रतिबिम्बित होकर क्रियाशील होता है।

इस प्रकार एक ओर तो चित्त की चेतना में अपरिणामी पुरुष कारण है और दूसरी ओर चित्त अपनी वृत्तियों को दृश्याकार बना लेता है। इसलिए योगसूत्र में कहा है—**'द्रष्टृदृश्योपरक्तं चित्तं सर्वार्थम्'** (४।२३) इस प्रक्रिया से चित्त ही ग्राह्य, गृहीत और ग्रहण रूप धारण कर लेता है। यहाँ एक यह शंका हो सकती है कि जब सब कुछ चित्त का ही व्यापार है तो उसे भोक्ता और द्रष्टा मानना चाहिए? चित्त जड़ होने के कारण भोक्ता और द्रष्टा नहीं कहा जा सकता, उसका प्रयोजन केवल पुरुष के लिए है। योग-साधना से जब विवेक होता है, तो चित्त अन्तर्मुख होता है। निरन्तर विवेकख्याति होने से योगी किसी भी प्रकार की सिद्धि से आकृष्ट नहीं होता। उसमें वैराग्य बढ़ता ही जाता है। जब विवेक परिपक्व हो जाता है, उस स्थिति को योग दर्शन में धर्ममेघ समाधि कहा है। जैसे मेघों के हटने से सूर्य का प्रकाश चारों ओर फैल जाता है, उसी प्रकार इस समाधि के प्राप्त होने पर त्रिगुणात्मक कर्म और वासनाओं का आवरण हट जाता है। धर्ममेघ समाधि से योगी का ज्ञान अनन्त और अपरिमित हो जाता है और सारा दृश्य जगत् इसे हस्तामलकवत् प्रतीत होता है। योगी की यह जीवन मुक्तावस्था है। आचार्य शंकर ने इस स्थिति के सम्बन्ध में कहा है—

समाधिनाने समस्तवासना ग्रन्थेर्विनाशोऽखिल कर्मनाशः।
अन्तर्बहिः सर्वत एव सर्वदा स्वरूपविस्फूर्तिरयत्नतः स्यात्॥

अर्थात् समाधि से समस्त वासना-ग्रन्थियाँ नष्ट हो जाती हैं। वासनाओं के नाश से कर्मों का विनाश हो जाता है, जिससे स्वरूप स्थिति हो जाती है।

अग्नि के ताप से जिस प्रकार स्वर्ण शुद्ध हो जाता है, उसी प्रकार समाधि से सत्त्व रजः तमः रूप मल का निवारण हो जाता है।

५७. हठयोग

हठयोग कोई स्वतंत्र योग नहीं है, यह काययोग है। हठयोग को नाथयोग भी कहा जाता है, कुछ लोग इसे उल्टी साधना भी कहते हैं, क्योंकि इसमें मन की अधोमुखी वृत्तियों को ऊर्ध्वमुखी किया जाता है। शुक्र साधना इस योग का प्रधान तत्त्व है—**'मरणम् बिन्दुपातेन जीवनम् बिन्दुधारणात्।'** बिन्दु अर्थात् शुक्र के पश्चात् इस योग में दूसरा तत्त्व प्राण है तथा तीसरा तत्त्व मन। इनमें से किसी एक का नियमन करने से शेष दो स्वयं नियंत्रित हो जाते हैं। हठयोगियों का एक सिद्धान्त यह भी है कि जो ब्रह्माण्ड में है, वही पिण्ड में है—**'यथापिण्डे तथा ब्रह्माण्डे'**। इसलिए पिण्ड का नियमन ही ब्रह्माण्ड का नियमन है। असल बात यह है कि पातंजल योग विचार प्रधान है, और हठयोग क्रिया प्रधान है। ब्रह्माण्ड की शक्ति को ही महाकुंडलिनी और पिण्ड की शक्ति को कुण्डलिनी कहा जाता है। **'सिद्ध सिद्धान्त पद्धति'** में हठयोग की व्याख्या इस प्रकार की गयी है—

हकारः कीर्तितः सूर्यष्ठकारश्चन्द्र उच्यते।
सूर्याचन्द्रमसौर्योगाद्धठयोगो निगद्यते॥

हठयोग के अनेक ग्रन्थ हैं, उनमें गोरक्ष संहिता, हठयोग प्रदीपिका, सिद्ध सिद्धान्त पद्धति तथा घेरण्ड संहिता विशेष रूप से उल्लेख्य हैं।

हठयोग को घेरण्ड संहिता में घटस्थ योग भी कहा गया है। इस योग की सिद्धि षट्कर्म, आसन, मुद्रा, प्रत्याहार, प्राणायाम, ध्यान और समाधि से होती है—ध्यानयोग समाधि, नादयोग समाधि, रसानन्द समाधि, लयसिद्धि समाधि, भक्तियोग समाधि और राजयोग समाधि इन सबका हठयोग के ग्रन्थों में बड़े विस्तार से विवेचन हुआ है। सम्पूर्ण योग साधना में सूर्य अर्थात् पिंगला नाड़ी या प्राणवायु तथा चन्द्रमा अर्थात् इड़ा नाड़ी या अपान वायु को आधार माना गया है। योगी सूर्य और चन्द्र का ज्ञान तभी कर सकता है, जब उसे छः चक्रों, सोलह आधारों, दो लक्ष्यों तथा व्योमपंचकों की पूरी जानकारी हो। सम्पूर्ण हठयोग इन्हीं अंगों का विस्तार है। षट्कर्मों में धौति, वस्ति आदि आती हैं। आसनों की संख्या ८४ लाख तक बताई गयी है, जिनमें योग साधना के लिए ८४ आसनों का वर्णन है। उनमें भी ३२ आसन प्रधान माने गये हैं। मुद्राएँ भी अनेक हैं। घेरण्ड संहिता में २५ मुद्राओं का उल्लेख है। हठयोग प्रदीपिका में १० मुद्राओं को प्रमुख माना गया है—

महामुद्रा महाबन्धो महावेध्यश्च खेचरी।
उड्यानं मूलबन्धश्च बन्धो जालन्धराभिधः॥
करणी विपरीताख्या वज्रोली शक्तिचालनम्।
इदं हि मुद्रा दशकं जरामरण नाशकम्॥

शरीर की विभिन्न स्थितियों का नाम ही मुद्रा है। प्राणायाम को हठयोग में क्रियात्मक योग बताया गया है। प्राणायाम से ही योगी को सब सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। घेरण्ड संहिता में प्राणायाम का महत्त्व इस प्रकार बताया गया है—

प्राणायामात्खेचरत्वं प्राणायामाद्रोगनाशनम्।
प्राणायामाद् बोधयेच्छक्तिं प्राणायाममानोन्मनी॥
आनन्दो जायते चित्ते प्राणायामी सुखी भवेत्।

(५-५६)

हठयोग में प्राणायाम के अनेक प्रकार बताये गये हैं। कुम्भक प्राणायाम के ही घेरण्ड संहिता और हठयोग प्रदीपिका में आठ प्रकार हैं—

सूर्यभेदनमुज्जायी सीत्कारी शीतली तथा।
भस्त्रिका भ्रामरी मूर्च्छा प्लाविनीत्यष्टकुम्भकाः॥

(२-४४)

हठयोग में प्रत्याहार को प्राणायाम से पहला साधन माना गया है, जब कि पातंजल योग में प्रत्याहार प्राणायाम का परवर्ती है। योगियों का कहना है कि प्रत्याहार के बिना प्राणायाम की सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि जब तक इन्द्रियों को विषय से नहीं हटाया जायगा, तब तक प्राणायाम सफल ही नहीं होगा। हठयोग में प्राणायाम ही सब कुछ है। ध्यान और समाधि प्राणायाम से ही सम्भव है। ध्यान को घेरण्ड संहिता में तीन प्रकार माना है—'स्थूल ज्योतिस्तथा सूक्ष्मं ध्यानस्य त्रिविधं विदुः।' स्थूल, ज्योति और सूक्ष्म ध्यानों का हठयोग में तथा तन्त्रों में बड़े विस्तार से वर्णन हुआ है। हठयोग और तन्त्रयोग की प्रक्रियाएँ भी लगभग समान हैं। दोनों में सूक्ष्म ध्यान सर्वश्रेष्ठ होता है, क्योंकि उसमें परम देवता कुंडली का ध्यान किया जाता है तथा आज्ञा चक्र में 'ॐ' का ध्यान किया जाता है। ध्यान से ही समाधि प्राप्त होती है। समाधि को भी घेरण्ड संहिता में छः प्रकार का बताया गया है। पहली समाधि ध्यानयोग समाधि है, जो शांभवी मुद्रा से प्राप्त होती है। शांभवी मुद्रा का बड़ा महत्त्व है। हठयोग प्रदीपिका में तथा घेरण्ड संहिता में शांभवी मुद्रा का अच्छा विवेचन किया गया है। इस मुद्रा में साधक की दृष्टि अन्तर्मुखी हो जाती है और बाह्य जगत् का व्यवहार शान्त हो जाता है। कुछ योगियों का कहना है कि इस मुद्रा में किया हुआ जप ही अजपाजप होता है। ध्यानयोग समाधि का यह प्रधान साधन है, क्योंकि इससे साधक चित्ताकाश से चिदाकाश की ओर चलता है। हठयोग प्रदीपिका में लिखा है—

वेदशास्त्र पुराणानि सामान्य गणिका इव।
एकैव शाम्भवी मुद्रा गुप्ता कूलवधूरिव॥
अन्तर्लक्ष्य बहिर्दृष्टिर्निमेषोन्मेषवर्जिता।
एषा सा शाम्भवी मुद्रा वेदशास्त्रेषु गोपिता॥

(४।३५-३६)

तन्त्र साधन में भी शांभवी मुद्रा का बड़ा महत्त्व है, क्योंकि इस मुद्रा में बिन्दु ब्रह्म पर ध्यान रहता है। घेरण्ड संहिता में नादयोग को दूसरा समाधि-योग कहा गया है। इसी योग की प्राप्ति खेचरी मुद्रा से होती है। शांभवी मुद्रा में हृदय में भावना होती है, परन्तु खेचरी मुद्रा में आज्ञाचक्र में। 'हठयोग प्रदीपिका' में खेचरी मुद्रा के स्वरूप तथा विधि को भली-भाँति समझाया गया है। जिह्वा को लौटाकर कपाल कुहर में प्रविष्ट कराना होता है और दृष्टि आज्ञा चक्र में लगानी होती है। जिह्वा इतनी बढ़ जानी चाहिए कि भृकुटि के मध्य तक पहुँच जाय। इसके लिए जिह्वा का छेदन, चालन और दोहन करना पड़ता है। कम-से-कम छः महीने का अभ्यास उसके लिए अपेक्षित है। जिह्वा के बढ़ने पर उसे तीनों नाड़ियों के मार्ग से कपाल-कुहर में पहुँचाना होता है। इसे व्योमचक्र भी कहते हैं। खेचरी मुद्रा के अनेक लाभ हैं—

न रोगो मरणं तन्द्रा न निद्रा न क्षुधा तृषा।
न च मूर्च्छा भवेत्तस्य यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम्॥
पीड्यते न स रोगेण लिप्यते न च कर्मणा।
बाध्यते न स कालेन यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम्॥

(३।३९-४०)

खेचरी मुद्रा के सम्बन्ध में एक बड़ा विचित्र श्लोक है, जिसका कुछ लोग अनर्थ भी करते हैं—

गोमांसं भक्षयेन्नित्यं पिबेदमरवारुणीम्।
कुलीनं तमहं मन्ये चेतरे कुलघातकाः॥

(३-४७)

इस श्लोक का अर्थ प्रदीपिका में स्पष्ट कर दिया गया है—

गोशब्देनोदिता जिह्वा तत्प्रवेशो हि तालुनि।
गोमांसभक्षणंतत्तु महापातकनाशनम्॥
जिह्वा प्रवेश संभूतवह्निनोत्पादितः खलु।
चन्द्रात् स्त्रवति यः सारः स स्यादमरवारुणी॥

(३।४८-४९)

'गो' शब्द का अर्थ जिह्वा है, उसका तालू के विंवर में प्रवेश करना ही मांस भक्षण है। इस क्रिया से जो रस गिरता है, उसे अमर वारुणी कहते हैं। घेरण्ड संहिता का तीसरा समाधियोग रसानन्द योग कहलाता है। इस समाधि में साधक कर्णरन्ध्रों को बन्द कर नाद का श्रवण करता है, जो धीरे-धीरे अनाहत नाद में परिवर्तित हो जाता है। चौथा समाधि-योग लयसिद्धि योग है, जो योनिमुद्रा से सिद्ध होता है। पाँचवाँ भक्तियोग और छठवाँ राजयोग। इस प्रकार पाँच समाधियाँ राजयोग समाधि के

साधन रूप में आती हैं और उनमें सब प्रकार के योगों का समावेश हो जाता है।

हठयोग में षट्चक्रों के भेद का बड़ा महत्त्व है। तंत्रो में भी षट्चक्रों की कल्पना की गयी है। षट्चक्र भेदन की क्रिया सद्गुरु के निर्देशन में ही करनी चाहिए। योग तथा तंत्र के अनेक ग्रन्थों में षट्चक्रों तथा कुंडलिनी और महाकुण्डलिनी की विस्तृत व्याख्या हुई है। हठयोग में मनुष्य के शरीर में सात अधोलोक और सात ऊर्ध्व लोक बताये गये हैं। पैर के तलुओं में अतल लोक, पैरों के ऊपर वितल लोक, जंघाओं में सुतल, सर्वबन्ध में तल, उससे ऊपर तलातल, गुह्य देश में रसातल और कटि प्रदेश में पाताल। शरीर के उत्तरवर्ती भाग के लोक इस प्रकार हैं—नाभि में भूलोक, इसके ऊपर भुवःलोक, हृदय में स्वर्लोक, कण्ठ में तपःलोक, आज्ञा चक्र में जनलोक, ललाट में तपोलोक और ब्रह्मरन्ध्र में सत्यलोक। 'गरुड़पुराण' में इसका प्रमाण भी मिलता है—

ब्रह्माण्डे ये गुणाः सन्ति शरीरे तेऽप्यवस्थिताः।
पातालं भूधरा लोकास्ततोऽन्ये द्वीपसागराः॥
आदित्याद्या ग्रहाः सर्वे पिण्डमध्ये व्यवस्थिताः।
पादास्त्वतलं प्रोक्तं पददोर्ध्वं वितलं स्मृतम्।
जानुभ्यां सुतलं विद्धि वितलं सर्वबन्धने॥
तथा तलातलं चोर्ध्वं गुह्यदेशे रसातलम्।
पातालं कटिसंस्थं तु पादाद्यैर्लक्षयेद्बुधः॥
भूलोक नाभि मध्ये तु भुवर्लोकं तदुर्ध्वके।
स्वर्लोकं हृदये विद्यात्कण्ठदेशे महस्तथा॥
जनलोकं चक्रदेशे तपोलोकं ललाटतः।
सत्य लोकं महारन्ध्रे भुवनानि चतुर्दश॥

(गरुड़ पुराण उपनिषदां समुच्चयः, पृ० २८९)

चक्रों के सम्बन्ध में भी योग में कई मान्यताएँ प्राप्त होती हैं। सामान्य रूप से चक्र छः ही माने गये हैं तथा 'षट्चक्र निरूपण' में उनकी विस्तार से व्याख्या भी की गयी है। वे छः चक्र हैं—मूलाधार, जो पायु और उपस्थ के मध्य में हैं। मेरुदण्ड यहीं प्रारम्भ होता है। इसमें चार दल हैं। रंग लाल है और एक-एक दल पर वं, शं, षं, सं नाम की चार मातृकाएँ हैं। इस चक्र की चार वृत्तियाँ हैं—परमानन्द, सहजानन्द, योगानन्द और वीरानन्द। इसका तत्त्व पृथ्वी तथा बीज 'लं' है। 'स्वयंभू लिंग' यहीं अवस्थित है। मूलाधार के ऊपर लिंग मूल में स्थित छः दलों वाला स्वाधिष्ठान चक्र है। यह सिन्दूरी वर्ण का है। जल इसका तत्त्व है। नाभिदेश में स्थित दस दलों वाले तीसरे चक्र का नाम मणिपुर चक्र है। इसके दलों पर डं, ढं, णं, तं, थं, दं, धं, नं, पं, फं नाम की दस मातृकाएँ स्थित हैं। अग्नि का रक्तबीज 'रं' इस पर अवस्थित है। चौथा चक्र अनाहत चक्र कहा जाता है। इसमें बारह दल हैं, जिन पर कं, खं, गं, घं, ङं, चं, छं, जं, झं, ञं, टं, ठं नामक मातृकाएँ स्थित हैं। यह चक्र हृदय देश में स्थित होता है तथा इसका रंग बन्धूक पुष्प की भाँति ही होता है। इसी चक्र में बाण नामक लिंग और जीवात्मा (पुरुष) का निवास है। अपने तीन गुणों से युक्त ओंकार यहीं रहता है। यह चक्र वायु तत्त्व का केन्द्र है। 'यं' इसका बीज है। पाँचवें चक्र का नाम विशुद्ध या विशुद्धाख्य है। यह सरस्वती का स्थान है। यह चक्र कण्ठ के मूल में स्थित है। इसके सोलह दलों पर सभी सोलह स्वरों की मातृकाएँ स्थित हैं। यहाँ पहुँचकर जीव शुद्ध हो जाता है। अंतिम और छठवाँ चक्र आज्ञाचक्र कहलाता है। यह चक्र हंस रूप परम शिव का निधान है। यह चक्र भ्रू मध्य में स्थित दो दलों का कमल है जिन पर हं, क्षं की मातृकाएँ स्थित हैं। इस चक्र में पहुँचकर साधक को गुरु की आज्ञा सुनाई देती है तथा यहाँ पहुँचकर योगी अद्वैताचारी हो जाता है। यहाँ नागरी वर्णमाला के पचासों अक्षर समाप्त हो जाते हैं। इस प्रकार ये ही षट् चक्र हैं। योग साधना से उद्बुद्ध कुण्डलिनी इन्हीं छः चक्रों को क्रमशः बेधती हुई ब्रह्मरंध्र में स्थित सहस्रार में पहुँचकर परमशिव से समरसता स्थापित करती है। ये चक्र भी एक प्रकार की ग्रन्थियाँ हैं। आज्ञा चक्र को रुद्र ग्रंथि कहते हैं। इस चक्र को भेदकर कुंडलिनी एकात्मभाव की ओर अग्रसर होती है और अन्त में अद्वैतावस्था प्राप्त कर लेती है। कुंडलिनी फिर परावर्तन मार्ग का अनुसरण करती हुई मूलाधार चक्र को लौटती है। तांत्रिक योग, नाथयोग और पातंजलयोग का एक ही लक्ष्य है—तत्त्व ज्ञान की प्राप्ति या कैवल्य मुक्ति। महाभाव, महाबोध तथा महालय से सभी राजयोग की ओर ले जाने वाले मार्ग हैं। इसलिए मंत्रयोग, हठयोग और लययोग, राजभोग के ही साधन हैं। योग का लक्ष्य ही शुद्ध चित्तत्त्व की प्राप्ति है जो चित्तवृत्ति और प्राण का नियमन किये बिना सम्भव नहीं है। प्राण और मन के लय से ही सहजावस्था प्राप्त होती है—

पवनो बध्यते येन मनस्तेनैव बध्यते।
मनश्च बध्यते येन पवनस्तेन बध्यते॥
हेतुद्वयं तु चित्तस्य वासना च समीरणः।
तयोर्विनष्ट एकस्मिंस्तौ द्वावपि विनश्यतः॥
मनो यत्र विलीयेत पवनस्तत्र लीयते।
पवनो लीयते यत्र मनस्तत्र विलीयते॥

मन और पवन के रुक जाने से बिन्दु भी स्थिर हो जाता है—

मनः स्थैर्ये स्थिरो वायुस्ततो बिन्दुः स्थिरो भवेत्।
बिन्दुस्थैर्यात् सदा सत्त्वं पिण्डस्थैर्यं प्रजायते॥

(हठयोग प्रदीपिका ४। २१-२२-२३,२८)

कुंडलिनी योग का भी यही रहस्य है—केवल प्रक्रिया का भेद है। उसमें भी कुंडलिनी की आवर्तन और परावर्तन क्रिया होती है, उसे लिंगत्रय का भेदन करना पड़ता है। मूलाधार में स्वयंभूलिंग है, अनाहत में वाणलिंग और आज्ञाचक्र में इतरलिंग। इस योग में नाद का विशेष महत्त्व है तथा वह कुंडलिनी शब्दब्रह्म के चार स्तंभों को प्राप्त करती है—परा, पश्यंती, मध्यमा और वैखरी। इस क्रिया से हंस अर्थात् जीवात्मा को परम हंस अर्थात् सोऽहम् में लीन करना होता है। स्वरूपावस्थिति को महाकुंडलिनी भाव कहते हैं। इस योग में भी आरोहण और अवरोहण की क्रियाएँ होती हैं। इस कुंडलिनी के अनेक नाम हैं—जैसे शक्ति, ईश्वरी, कुटिलांगी, भुजंगी और अरुन्धती। चक्रों को शक्ति केन्द्र माना गया है और इनकी साधन-प्रक्रिया बड़ी वैज्ञानिक है, परन्तु सद्गुरु के निर्देशन में ही इस गम्भीर साधना में प्रवेश करना चाहिए। योग में आज्ञाचक्र के ऊपर और नौ चक्रों का वर्णन किया गया है—जैसे त्रिकूट, त्रिहट, गोल्लाट, शिखर, त्रिशिखर, वज्र, ओंकार, ऊर्ध्व नाख और भ्रुवोर्मुख। सिद्ध सिद्धान्त में नौ चक्र माने गये हैं—स्वाधिष्ठान, नाभिचक्र, हृदयचक्र, कंठचक्र, तालुचक्र, भ्रूचक्र, ब्रह्मरन्ध्र, निर्वाणचक्र और आकाशचक्र। कहीं-कहीं पच्चीस चक्रों का उल्लेख है—कहीं ३२ का, कहीं इससे भी अधिक। अनेक गुप्त चक्र भी हैं, जिन्हें योगी ही जानता है।

'सिद्ध सिद्धान्त' पद्धति में हठयोग के १६ आधार माने गये हैं और उनका विस्तार से विवेचन भी किया गया है—(१) पादांगुष्ठाधार—यहाँ

ध्यान करने से दृष्टि निर्मल और तेज:स्वरूप होती है। (२) मूलाधार से अग्नि दीप्त होती है। (३) गुह्याधार में अश्विनी मुद्रा होती है और अपानवायु शुद्ध होती है तथा वीर्यस्तम्भन की शक्ति बढ़ती है। गुदा के अनेक रोगों की शांति होती है। (४) विन्दु चक्राधार में ध्यान करने से मूत्रसम्बन्धी रोगों की शांति होती है तथा वज्रोली क्रिया सम्पन्न होती है। (५) उड्डीयान बन्धाधार से मलमूत्र की शुद्धि और उदर के कृमियों का विनाश होता है। (६) नाभि मण्डलाधार में ज्योति:स्वरूप चैतन्य का ध्यान करने से तथा ॐकार का जाप करने से नाद की उत्पत्ति होती है। (७) हृदयाधार में हृत्कमल विकसित होता है और भगवज्ज्योति का प्रकाश होता है। (८) कण्ठाधार-जालन्धर बन्ध से ध्यान करने से इडा और पिंगला में प्रवाहित होने वाला वायु स्थिर होता है। (९) क्षुद्रघण्टिकाधार में खेचरी की क्रिया द्वारा अमृत रस का पान किया जाता है। (१०) ताल्वन्ताधार से खेचरी सिद्ध होती है। (११) रसाधार जिह्वा के अधोभाग में स्थित है—यहाँ ध्यान करने से वाग्देवी की सिद्धि होती है। (१२) ऊर्ध्वदन्त मूलाधार जिह्वाग्र को यहाँ दबाकर चैतन्य में ध्यान करने से अनेक रोगों की शांति होती है। (१३) नासिकाग्राधार में ध्यान करने से मन में स्थिरता आती है। (१४) नासामूलाधार में ध्यान करने से छः मास में ज्योति प्रत्यक्ष होती है। (१५) भ्रूमध्याधार से उज्ज्वल किरणों का दर्शन होता है और मन सूर्याकाश में लीन हो जाता है। (१६) नेत्राधार अंगुली से आँख के अपाँगों को ऊपर की ओर चलाने से ज्योतिपुञ्ज का साक्षात्कार होता है—

मूलाधारं स्वाधिष्ठानं मणिपूरमनाहतम्।
विशुद्धमाज्ञाचक्रं च बिन्दुर्भूयः कलापदम्॥
निबोधिका तथार्धेन्दुर्नादो नादान्त एव च।
उन्मनी विष्णुवक्त्रं च ध्रुवमंडलिकः शिवः।
इत्येतत् षोडशाधारं कथितं योगिदुर्लभम्॥

हठयोग में बाह्य लक्ष्य और आभ्यन्तर लक्ष्य दो लक्ष्य होते हैं। व्योमपंचक में पाँच आकाश आते हैं—आकाश, प्रकाश, महाकाश, तत्त्वाकाश और सूर्याकाश। इन सब अंगों के जानने पर ही योग सिद्ध होता है—

षट्चक्रं षोडशाधारं द्विलक्ष्यं व्योमपञ्चकम्।
स्वदेहे ये न जानन्ति कथं सिद्ध्यन्ति योगिनः॥

(गोरक्षपद्धति १३)

तन्त्र और हठयोग साधना में सूर्य और चन्द्रमा के योग को बहुत महत्त्व दिया गया है। सन्तों ने भी चाँद-सूरज को साधना के केन्द्र माना है। सिद्ध सिद्धान्त पद्धति में भी इस तत्त्व का विस्तार से विवेचन हुआ है। तन्त्र-ग्रन्थों में भी इनका बड़ा आलंकारिक रूप में वर्णन हुआ है। कई प्रकार की योग साधनाओं में, चाँद-सूरज का बड़ा महत्त्व है और इस साधना का अनेक प्रकार से वर्णन भी हुआ है। गोरक्ष संहिता में छः अंग बताये गये हैं—आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। यम और नियम तो योगाभ्यास से पहले सिद्ध हो जाने चाहिए। इसलिए हठयोग को षडंग कहा गया है। असल में षडंग योग और अष्टांग योग में कोई तात्त्विक भेद नहीं है। यम और नियम की योगाभ्यास से पूर्व ही योगी को साधना करनी पड़ती है। योगाभ्यास में विघ्नोत्पादक बातें ये हैं—

अत्याहारः प्रयासश्च प्रजल्पो नियमग्रहः।
जनसंगश्च लौल्यं च षड्भिर्योगो विनश्यति॥

(प्रदीपिका १। १५)

इसी प्रकार योग-साधन के गुण भी बताये गये हैं—

उत्साहात्साहसाद्धैर्यात् तत्त्वज्ञानाच्च निश्चयात्।
जनसंगपरित्यागात् षड्भिर्योगः प्रसिद्धति॥

(वही १। १६)

हठयोग के दस नियम हैं—

अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यं क्षमा धृतिः।
दयार्जवं मिताहारः शौचं चैव यमाः दश॥
तपः संतोष आस्तिक्यं दानमीश्वरपूजनम्।
सिद्धान्तवाक्यश्रवणं ह्री मती च तपो हुतम्॥
नियमाः दश सम्प्रोक्ता योगशास्त्रविशारदैः।

—हठयोग प्रदीपिका।।

हठयोग में मनोन्मनी या उन्मनी का भी बड़ा महत्त्व है। सन्तों ने भी इस अवस्था का स्वयं अनुभव किया है और उसका वर्णन भी किया है। इस शरीर में ७२ हजार नाड़ियाँ हैं, उनमें से प्रधान सुषुम्ना है। जब प्राणवायु का सुषुम्ना में प्रवेश हो जाता है तभी मनोन्मनी अवस्था की सिद्धि होती है। शाम्भवी मुद्रा इसी की पूर्वावस्था है। दोनों नेत्रों की पुतलियों को ज्योति में मिलाकर तथा भृकुटियों को कुछ ऊँची उठाकर वृत्ति को अन्तर्लक्ष्य किया जाता है—'सुषुम्णान्तर्गतेवायोमनस्थैर्यं प्रजायते।' यह सारा प्रपंच मन का ही तो खेल है—इस मन के स्थिर होने की अवस्था को ही उन्मनी कहते हैं। इसे तुर्यावस्था भी कहते हैं। यही सहजावस्था है और यही समाधि है।

५८. नाद और बिन्दु

हठयोग के पूर्ण रहस्यावबोध के लिए उसमें वर्णित नाद और बिन्दु के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करना परमावश्यक है। नाद-बिन्दु बड़ा गंभीर रहस्य है। बिन्दु की सिद्धि ही योग का चरम साध्य है। बिन्दु की सिद्धि से पहले नाद का अनुसन्धान करना पड़ता है। प्राणायाम का चरम लक्ष्य ही नादानुसन्धान है। हठयोग के ग्रन्थों में नाद का अनेक रूपों में वर्णन हुआ है। नादानुसंधान लययोग की प्रक्रिया है। अनेक प्रकार की मुद्राओं से नादानुसंधान किया जाता है। समस्त योगों में नाद की चार अवस्थाएँ बताई गयी हैं—

आरम्भश्च घटश्चैव तथा परिचयोऽपि च।
निष्पत्तिः सर्वयोगेषु स्यादवस्थाचतुष्टयम्॥

जब योगी नादानुसंधान की चतुर्थ अर्थात् निष्पत्ति अवस्था को प्राप्त कर लेता है, उस समय—

सृष्टिसंहारकर्ताऽसौ योगीश्वरसमो भवेत्॥

नादानुसंधान के अतिरिक्त मन के विलय का कोई दूसरा उपाय नहीं है—

वद्धं तु नादबन्धेन मनः संत्यक्तचापलम्।
प्रयाति सुतरां स्थैर्यं छिन्नपक्षः खगो यथा॥

(हठयोग प्रदीपिका ४। ९२)

इसलिए कहा गया है—

सर्वचिन्तां परित्यज्य सावधानेन चेतसा।
नाद एवानुसन्धेयो योगसाम्राज्यमिच्छता॥

(वही ९३)

नाद-बिन्दु का रहस्य तंत्र के अनेक ग्रंथों में समझाया गया है। नादबिन्दूपनिषत्, ब्रह्मबिन्दूपनिषत्, हठयोग प्रदीपिका, गोरक्षपद्धति तथा सिद्धि सिद्धांत संग्रह आदि अनेक ग्रन्थों में इस तत्त्व की व्याख्या की गयी है।

योगशास्त्र में बिन्दु को ही ब्रह्म कहा है—वही एक परमतत्त्व है— **'तदेव निष्कलं ब्रह्म निर्विकल्पं निरंजनम्।'** गोरक्ष पद्धति में भी कहा गया है—

एकं सृष्टिमयं बीजमेका मुद्रा च खेचरी।
एको देवो निरालम्ब एकावस्था मनोन्मनी॥

इस अवस्था को प्राप्त कर लेने पर बिना ही दृश्य के दृष्टि स्थिर हो जाती है, बिना ही प्राणायाम आदि प्रयत्न के वायु स्थिर हो जाती है तथा बिना ही आधार के चित्त स्थिर हो जाता है—

दृष्टिः स्थिरा यस्य विना स दृश्यं वायुः स्थिरो यस्य विना प्रयत्नम्।
चित्तं स्थिरं यस्य विनावलम्बं स ब्रह्म ताराऽन्तर्नादरूपः॥

ये सब बाहरी नाद जो नाना रूपों में प्रस्फुटित हो रहे हैं—नाद साधना से अन्तर्नाद में विलीन हो जाते हैं। नाद-साधना एक प्रकार की शब्द साधना ही है। शब्द तो ब्रह्म का ही स्वरूप है—माया के कारण वह खण्ड रूपों में सुनाई देता है। वह चैतन्य स्वरूप है तथा पारमार्थिक रूप से अखण्ड है। आकाश का विशुद्ध तत्त्व शब्द ही है। वायु की वक्रगति के कारण वह खण्ड-खण्ड सा प्रतीत होता है। यह वर्णमाला वायु की वक्रगति के कारण अलग-अलग भासती है। मन की संपूर्ण वृत्तियाँ भी वायु की वक्रान्ति से भिन्न-भिन्न भासती हैं और वासना को आधार बनाकर प्रपंच में क्रीड़ा करती हैं। वायु की अनेक तरंगों से वे तरंगायित हैं। नादानुसंधान से उन विभिन्न तरंगों को एक लहर में बांधना पड़ता है और विशुद्ध चैतन्याकाश में समर्पित करना पड़ता है। विशुद्ध आकाश में वायु का अस्तित्त्व ही नहीं है—इसलिए वहाँ वक्रगति का प्रश्न ही नहीं है—वहाँ तो अखण्ड चैतन्यमय ध्वनि है और सरल गति है।

५९. योग-साधना में ओंकार जप का महत्त्व

यों तो शास्त्रों में योग साधना के लिए अनेक मंत्रों के जप का प्रतिपादन प्राप्त होता है, किन्तु सभी मंत्रों की अपेक्षा ओंकार जप की उत्कृष्टता योगशास्त्र में प्रतिपादित हुई है। पातंजल योग में कहा गया है कि ओंकार ईश्वर का बोधक है और उसे प्रणव शब्द से अभिहित किया गया है, जैसे **'तस्य वाचकः प्रणवः।'** योग के विस्तार और उसकी साधना के काठिन्य से मनुष्य सर्वथा योग विमुख न हो जाय जिससे उसके लिये परमलक्ष्य की प्राप्ति सदा के लिए असंभव हो जाय।

प्रणव ही शुद्ध चैतन्य परब्रह्म है। सभी साधनाओं में प्रणव का महत्त्व है। योग में और तन्त्र में अद्वैत तत्त्व को बिन्दु कहा गया है—मूल तत्त्व वही है। उसी के दो रूप हो जाते हैं—बिन्दु और नाद। ओम् इन्हीं दोनों तत्त्वों की विशुद्ध ध्वनि है—उ, बिन्दु का वाचक है और म्, नाद का वाचक तथा अ, अद्वैत सत्ता का वाचक। इसलिए प्रणव के जप से त्रिगुणात्मिका माया का सम्बन्ध छूट जाता है। इसीलिए प्राणायाम साधन में ओंकार जप का बड़ा महत्त्व है। वास्तव में ओंकार साधना ही अजपाजप है। योग में प्रणव विद्या का बड़े विस्तार से वर्णन हुआ है। कुडलिनी ही परावाक् है जो प्रणव गम्य है। विपरीत गति में वह पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी रूप में बिखरी-सी प्रतीत होती है, परन्तु समगति में—वैखरी, मध्यमा और पश्यन्ती ये क्रम हैं। कुंडलिनी का स्पन्दन ही प्रणव है—यह सृष्टि ही गायत्री है। इसी के साधन से योगी सिद्ध देह वाला हो जाता है। प्रणव और गायत्री दोनों ही चिन्मय हैं—शब्द ब्रह्म का विग्रह है। उपनिषद् के वाक्य हैं—

वागेवेदं सर्वं नह्यशब्दम् इवेहास्ति।
चिन्मयी ह्ययम् ओंकारः चिन्मयमिदं सर्वम्॥

अर्थात् सब कुछ वाक् ही है, विश्व में शब्द के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है—ओंकार चिन्मय और जगत् भी चिन्मय है। प्रणव जाप की एक विधि यह है—

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत् तन्मयो भवेत्॥

अर्थात् ओंकार धनुष है, आत्मा बाण है और ब्रह्म लक्ष्य है। साधक को अप्रमत्त होकर लक्ष्य पर निशाना लगाना चाहिए, जिससे आत्मारूपी तीर ब्रह्मरूपी लक्ष्य में तन्मय हो जाय। गीता में कहा गया है—

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमां गतिम्॥

माण्डूक्योपनिषद् भी कहती है—

ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद्भविष्यदिति।
सर्वमोङ्कार एव। यच्चान्यत् त्रिकालातीतं तदोंकार एव॥

इस प्रकार ओंकार का बड़ा ही महत्त्व है। बौद्ध और जैन सम्प्रदायों में भी ओंकार का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसीलिए सन्तों ने कहा है—

'आदि शब्द अहै ओंकारा, उठै शब्द धुनि रारंकारा'

इस प्रकार रारंकार ध्वनि में ओंकार का भी समावेश हो जाता है। **'गोरक्षवचन संग्रह'** में ओम् को ज्योतिःस्वरूप बताया गया है, जिसमें सारा ब्रह्मांण्ड प्रतिष्ठित है—

'भूर्भुवः स्वरिमे लोकाश्चंद्र सूर्याग्नि देवताः।
प्रतिष्ठिता सदा यत्र, तत्परं ज्योतिरोमिति॥
त्रयः कालास्त्रयोलोकास्त्रयोवेदास्त्रयोऽग्नयः।
त्रयः स्वराः स्थिता यत्र, तत्परं ज्योतिरोमिति॥
सत्वं रजस्तमश्चैव, ब्रह्म विष्णुमहेश्वराः।
सर्वे देवाः स्थिता यत्र, तत्परं ज्योतिरोमिति॥
कृतिरिच्छा तथा ज्ञानं, ब्राह्मी रौद्री च वैष्णवी।
त्रिधा शक्तिः स्थिता यत्र, तत्परं ज्योतिरोमिति॥
शुचिर्वाप्यशुचिर्वापि, यो जपेत् प्रणवं सदा।
न स लिप्यति पापेन, पद्मपत्रमिवाम्भसा॥
पद्मासनं समारुह्य, समकायशिरोधरः।
नासाग्रदृष्टिरेकाकी, जपेदोंकारमव्ययम्॥

ओंकार का महत्त्व बतलाने के पश्चात् गोरखनाथ जी ने बतलाया है कि इस शरीर में सारा ब्रह्माण्ड है। इसकी अनुभूति भी ओंकार के

जप से ही हो सकती है। ओंकार ही चित् का स्वरूप है। वही विराट् है, वही हिरण्यगर्भ और वही विश्व है।

६०. योग-साधना के अधिकारी

योग-साधना बड़ी कठिन और श्रम साध्य है। गृहस्थों के लिए योग साधना का विधान नहीं है। उन्हें तो जप और ध्यान करना चाहिए। जप और ध्यान भी योग ही है। इससे भी चित्त में एकाग्रता आती है। क्षण भर की भी ध्यान-समाधि का बड़ा महत्त्व है। यही भाव-समाधि होती है। इसी से भगवदाकारवृत्ति होती है। यह वृत्ति भाव की दृढ़ता से हो जाती है। इसका अधिकारी वही व्यक्ति हो सकता है, जिसको सांसारिक विषयों से उद्वेग हो और ऐसे अलौकिक तत्त्व के अन्वेषण और दर्शन की व्यग्रता हो, जो उसे संसार की विभीषिकाओं से मुक्ति और परम शांति दिला सके।

६१. योग के बहिरंग साधन सभी साधनाओं के लिए अनिवार्य

किन्तु इसके लिए भी योग के बहिरंगों का अवलम्बन आवश्यक है, क्योंकि शरीर को स्वस्थ रखने के लिए उनका सेवन अनिवार्य है। वैष्णव ग्रन्थों में भी इसीलिए योग का विधान किया गया है। वैष्णव संहिताओं में आसनों तथा नाड़ियों का भी विस्तृत वर्णन मिलता है। पद्म-पुराण और नारदीय पुराण में तो योग को भक्ति ही कहा गया है। नारदीय पुराण में योग के अंगों की विस्तृत व्याख्या है। इसी प्रकार तांत्रिक भक्ति में भी योग का अपना महत्त्व है। वास्तव में तंत्र और योग का बड़ा निकट का सम्बन्ध है। इसलिए यह ठीक ही है कि जप और ध्यान के लिए भी शरीर शुद्धि आवश्यक है। यम और नियम की उपयोगिता तो जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में है। आज समाज में जो इतनी अधिक अशांति, उद्वेग और विद्रोह है, उसके मूल में यम और नियम के प्रति अनास्था है। इसलिए यम और नियम का पालन तो प्रत्येक गृहस्थ को यथासाध्य करना ही चाहिए। अब रही आसन और प्राणायाम की बात। आसन के लिए योगसूत्र में कहा गया है—**'स्थिरसुखमासनम्'** अर्थात् आसन वह स्थिति है, जिसमें साधक या भक्त बिना किसी प्रकार के कष्ट के देर तक बैठ सके। कुछ आसन ऐसे हैं, जिनको सभी साधक सरलता से कर सकते हैं। जैसे स्वस्तिक आसन, शवासन, पद्मासन, वीरासन, गोमुखासन, पश्चिमोत्तान आसन, उत्तानपादासन तथा सर्वांगासन आदि। इन आसनों से अनेक प्रकार के रोगों की शांति होती है और प्राणायाम में भी सहायता मिलती है। योगासनों के किसी विशेषज्ञ के निर्देशन में ही इन आसनों को करना चाहिए। प्रत्येक अवस्था के व्यक्ति इन आसनों को कर सकते हैं। इसी प्रकार तीन बंध भी ऐसे हैं, जिनसे अनेक रोगों की शांति होती है। इनसे शरीर का व्यायाम भी होता है और प्राणों का आयाम भी। प्रमुख बन्ध तीन हैं—मूल बन्ध, उड्डीयान और जालन्धर। हठयोग प्रदीपिका में कहा गया है—

बन्धत्रयमिदं श्रेयं महासिद्धैश्च सेवितम्।
सर्वेषां हठतन्त्राणां साधनं योगिनो विदुः॥ ६।७६।

मूल बन्ध में मूल गुदा एवं लिंग के रन्ध्र को बन्द करना पड़ता है। यह बन्ध सिद्धासन के साथ ठीक बैठता है। साधारण स्थिति में भी वायु संकोचन के साथ इस बंध को लगाया जा सकता है। इस बंध से उदर और गुर्दे की अनेक बीमारियाँ दूर होती हैं। योगी मूलबंध से ही कुण्डलिनी को जगाता है। इस बंध में अपानवायु को धीरे-धीरे ऊपर खींचा जाता है। दूसरा बंध उड्डीयान बंध कहलाता है, क्योंकि इस बंध में प्राणवायु उड़कर चलता है—

उड्डीनं कुरुते यस्मादविश्रान्तं महाखगः।
उड्डीयानं तदेव स्यात्तत्र बन्धोऽभिधीयते॥

इस बन्ध की सरल विधि यह है कि पहले दोनों घुटनों को मोड़ लें, पैर के तलवों को आपस में मिला लें और नाभि से नीचे के उदर भाग को बलपूर्वक खींचकर मेरुदण्ड में इस प्रकार लगावें कि पेट के स्थान पर गड्ढा-सा दिखाई पड़ने लगे। पेट को जितना खींचा जायगा, उतना ही अच्छा बंध लगेगा। पैरों के तलवों को बिना मिलाये हुए भी यह बंध लगाया जा सकता है। इस बंध से उदर के अनेक विकार दूर होते हैं और फेफड़े भी शक्तिशाली होते हैं। योग-ग्रन्थों में इसके सम्बन्ध में ऐसा लेख है कि इस बंध का निरंतर अभ्यास करने से वृद्ध भी तरुण हो सकता है। जालंधर बंध के सम्बन्ध में हठयोग प्रदीपिका में लिखा है—

कण्ठमाकुंच्यहृदयेस्थापयेच्चिबुकंदृढम् ।
बन्धो जालन्धराख्योऽयं जरामृत्युविनाशकः॥
बध्नाति हि शिराजालमधोगामी नभोजलम्।
ततो जालन्धरो बन्धः कण्ठ दुःखौघनाशनः॥
जालन्धरे कृते बन्धे कण्ठसंकोचलक्षणे।
न पीयूषं पतंत्यग्नौ न च वायुः प्रकुप्यति॥

(३।७०-७२)

इस बंध में कण्ठ का संकुचन करके दृढ़ता से ठोडी को कण्ठ में इस प्रकार लगाया जाता है कि हृदय और ठोडी का अन्तर केवल चार अंगुल का रह जाता है। सीना आगे को तना रहना चाहिए। इस बन्ध से कण्ठ रोग दूर होते हैं और मस्तिष्क स्वच्छ हो जाता है। इन तीनों ही बंधों का योग-साधना में बड़ा महत्त्व है।

कुछ मुद्राएँ भी ऐसी हैं जिनका अभ्यास साधारण साधक कर सकता है। हठयोग प्रदीपिका में दस मुद्राएँ बताई गई हैं—महामुद्रा, महाबंध, महावेध, खेचरी, उड्डीयान, मूलबंध, जालंधर बंध, विपरीतीकरण, वज्रोली तथा शक्ति चालन। योगशास्त्र में इन मुद्राओं के अतिरिक्त और भी अनेक मुद्राओं का उल्लेख हुआ है। जिन मुद्राओं का अभ्यास साधक सरलता से कर सकता है, उनमें से कुछ ये हैं—(१) **अश्विनी मुद्रा**—सिद्ध अथवा पद्मासन से बैठकर योनिमण्डल को अश्व के समान बार-बार सिकोड़ना अश्विनी मुद्रा कहलाती है। इससे गुदा मण्डल के अनेक रोग दूर होते हैं। (२) **शांभवी मुद्रा**—मूल और उड्डीयान बंध के साथ पद्मासन में बैठकर नासिका के अग्र भाग अथवा भ्रू-मध्य में दृष्टि को स्थिर करना शांभवी मुद्रा का अभ्यास है। (३) **तड़ागी मुद्रा**—तालाब के समान उदर कोष्ठ को वायु से भरना तड़ागी मुद्रा कहलाती है। शवासन से चित लेटकर नासिका का, जो भी स्वर चल रहा है, उसमें पूरक करके तालाब के समान पेट को फैलाकर वायु से भर लेना चाहिए, फिर कुम्भक के साथ पेट को हिलाना चाहिए। धीरे-धीरे रेचक द्वारा वायु को निकाल देना चाहिए। इस मुद्रा से उदर के रोग समूल नष्ट हो जाते हैं। (४) **काकाती मुद्रा**—इसमें होंठों को सिकोड़कर कौए की चोंच के समान बनाकर वायु को मुख से खींचा जाता है, फिर थोड़ा कुम्भक करके नासिका से

निकाल दिया जाता है। (५) उन्मनी मुद्रा—जब मन बहुत अधिक उद्विग्न हो, उस समय किसी भी स्थिति में यह मुद्रा की जा सकती है। आधी खुली और आधी बन्द आँखों से नासिका के अग्रभाग को लगातार देखते रहना उन्मनी मुद्रा कहलाती है।

प्राणायाम में प्राणों का नियमन करना होता है। प्राणों के नियमन से शरीर निरोग होता है और मन में एकाग्रता आती है। सारे प्राणी प्राणशक्ति से ही जीवित हैं। इसीलिए उपनिषदों में प्राण को ब्रह्म बताया गया है। प्राण ही जीवन-शक्ति है। गोरक्षसंहिता में दस प्रकार के प्राण बताये हैं। प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान, नाग, कूर्म, कूकर, देवदत्त और धनंजय। मनुष्य का जीवन श्वास-प्रश्वास की क्रिया से ही चलता है। दस प्रकार की प्राण-वायु में पहले पाँच प्रकार ही अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। प्राणवायु हृदय में रहता है, अपान गुह्य देश में, समान नाभिमण्डल में, उदान कण्ठ में और व्यान सम्पूर्ण शरीर में। स्थूल शरीर से सूक्ष्म शरीर उदान वायु से ही बाहर निकलता है। मन का प्राण से घनिष्ठ सम्बन्ध है। मनुष्य शरीर में असंख्य प्राणवाहिनी नाड़ियाँ हैं, परन्तु साधना के लिए तीन ही मुख्य नाड़ियाँ हैं—सुषुम्ना, इड़ा और पिंगला। सुषुम्ना को सरस्वती, इड़ा को गंगा और पिंगला को यमुना भी कहते हैं। गुदा-मण्डल में ये तीनों अलग-अलग रहती हैं, इसलिए उस स्थान को मुक्त त्रिवेणी कहा गया है। भ्रूमध्य में ये तीनों मिल जाती हैं, इसलिए उसे युक्त त्रिवेणी कहा गया है। सुषुम्रा नाड़ी सरस्वती की भाँति गुप्त है। इसलिए उसकी ठीक स्थिति योगी ही जान सकता है। इड़ा को चन्द्र नाड़ी और पिंगला को सूर्य नाड़ी भी कहा गया है। इड़ा तमःप्रधान है और पिंगला रजःप्रधान है। सुषुम्ना सत्त्व प्रधान है। बायें स्वर को इड़ा या चन्द्रस्वर कहते हैं, दाहिने स्वर को पिंगला या सूर्य स्वर कहते हैं। जब दोनों नथुनों से समान गति से स्वर चलता है तो उसे सुषुम्ना स्वर कहते हैं। ढाई-ढाई घड़ी के हिसाब से दाहिने और बायें स्वर बदलते रहते हैं। जब बायाँ स्वर चले तो दूध, जलादि, हल्के भोजन पदार्थों का सेवन करना चाहिए, दायाँ स्वर चलने पर कठिन कार्य, भोजन, शौच, स्नान और शयन आदि करना चाहिए। जब सुषुम्ना स्वर चले तो योग-साधन अथवा भजन करना चाहिए। स्वर बदलने की भी अनेक विधियाँ हैं। जो स्वर चलाना हो, उस नथुने पर ध्यान करने से वह स्वर चलने लगता है अथवा उस स्वर के विपरीत वाली कुक्षि में घुटना लगाने से अभीष्ट स्वर चलने लगता है। स्वर परिवर्तन से बहुत से रोग दूर हो जाते हैं। मानव जीवन में स्वरों का भी बड़ा महत्त्व है, क्योंकि स्वरों का पाँच तत्त्वों से घनिष्ठ सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध को जान लेने से तथा स्वर-साधन करने से अनेक प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।

श्वास को प्राण नहीं समझना चाहिए, क्योंकि प्राण तो श्वासादि की प्रेरक शक्ति है। श्वास के भी तीन स्वरूप हैं—श्वास, प्रश्वास और विराम। एक स्वस्थ व्यक्ति में यह श्वास की प्रक्रिया एक मिनट में पन्द्रह बार होती है। इस गति के नियमन को ही प्राणायाम कहते हैं। साधारण रूप से प्राणायाम किसी बीजमंत्र अथवा ओंकार जप के साथ करना चाहिए। परंतु प्रारम्भ में प्राणायाम गिनती से ही करना चाहिए। पूरक, कुम्भक और रेचक में गिनती का अनुपात १-४-२ होना चाहिए। आरम्भ में जिस नथुने में से कुम्भक करना हो, उससे पूरा श्वास बाहर निकाल देना चाहिए। प्राणायाम का समय धीरे-धीरे बढ़ता जाय। प्राणायाम भी अनेक प्रकार का होता है, परन्तु सामान्य प्राणायाम यही है। सामान्य गृहस्थ को प्राणायाम के रहस्यों में नहीं पड़ना चाहिए। एक-दो प्राणायाम ऐसे अवश्य हैं, जो आसानी से किये जा सकते हैं, जैसे शीतली, शीत्कारी, काकाती और भुजंगी। भस्त्रिका का भी बड़ा महत्त्व है, परन्तु इस प्राणायाम को किसी विशेषज्ञ की सहायता से ही करना चाहिए। हठयोग में त्राटक का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। त्राटक से संकल्पशक्ति बढ़ती है और अनेक प्रकार के रोग दूर होते हैं। त्राटक में अपनी वृत्ति को किसी स्थान विशेष पर लगाना होता है। आंतर त्राटक में नेत्र बन्द करके शरीर के किसी आन्तरिक स्थान पर वृत्ति को लगाना होता है। मध्य त्राटक में किसी बाहरी वस्तु पर चाहे वह कोई मूर्ति हो, काला बिन्दु हो अथवा शरीर का बाह्यांग। बाह्य त्राटक में चंद्र, सूर्य, नक्षत्र आदि पर दृष्टि लगानी होती है। त्राटक से शक्ति का संचार तो होता ही है, साथ ही आकर्षण-शक्ति भी बढ़ती है। आजकल जो बहुत-से जादूगर दिखाई देते हैं, वे त्राटक द्वारा बहुत-सी शक्तियों का संचय कर लेते हैं। त्राटक वास्तव में संकल्प का अंगीभूत साधन है। संकल्प की दृढ़ता से मनुष्य सब कुछ कर सकता है। इसे ही 'विल पावर' कहते हैं। इस संकल्प-शक्ति से योगी अनेक चमत्कार कर सकता है। अपनी मानसिक प्रेरणा से अनेक प्रकार के संदेश भक्तों तक पहुँचा सकता है। साधारण मनुष्य संकल्प-शक्ति से अनेक भौतिक सिद्धियाँ प्राप्त कर सकता है तथा रोगों का निवारण कर सकता है। उपनिषदों में पुरुष को संकल्पमय बताया है—**'संकल्पमयोऽयं पुरुषः।'** मनु महाराज ने तो यहाँ तक कहा है—

संकल्पमूलः कामो वै-यज्ञः संकल्प सम्भवः।
व्रतनियम धर्माश्च सर्वे संकल्पजाः स्मृताः॥

वेद में मन को शिव संकल्प वाला बनाने की प्रार्थना की गयी है। योगी पुरुष इस संकल्प को छोड़कर शुद्ध चित्-स्वरूप हो जाता है और परब्रह्म में लीन हो जाता है। गोरक्ष संहिता में आया है—

यत्समत्वं द्वयोरत्र जीवात्मपरमात्मनोः।
समस्तनष्टसंकल्पः समाधिः सोऽभिधीयते॥
यदा संलीयते जीवो, मानसं च विलीयते।
तदा समरसत्वं हि, समाधिरभिधीयते॥
नाभिजानाति शीतोष्णं, न दुःखं न सुखं तथा।
न मानं नापमानं च, योगी मुक्तः समाधिना॥
निरालम्बे निराधारे, निराकारे निरामये।
योगी योगविधानेन, परब्रह्मणि लीयते॥
यथा घृते घृतं क्षिप्तं घृतमेव हि जायते।
क्षीरे क्षरं तथा योगी, तत्त्वमेव हि जायते॥

(गोरक्ष संहिता)

तथा हठयोग प्रदीपिका में भी उल्लेख किया गया है—

सर्वावस्थाविनिर्मुक्तः सर्वचिन्ताविवर्जितः।
मृतवत्तिष्ठते योगी स मुक्तो नात्र संशयः॥

(४-१०७)

खाद्यते न च कालेन वाध्यते न च कर्मणा।
साध्यते न स केनापि योगी मुक्तः समाधिना॥

(४-१०८)

न गन्धं न रसं न रूपं न स्पर्शं न निस्वनम्।
नात्मानं न परं वेत्ति योगी युक्तः समाधिना॥

(४-१०९)

अवध्यः सर्वशास्त्राणामशक्यः सर्वदेहिनाम्।
अग्राह्यो मन्त्र यन्त्राणां योगी मुक्तः समाधिना॥

(४-११०)

६२. शब्द सुरति योग

संत तो जन्मसिद्ध योगी होते हैं। संतों का शब्द सुरति योग भी एक प्रकार का नादानुसन्धान ही है। शब्द भी नाद ही है और वही ब्रह्म का व्यक्त रूप है। इसीलिए कबीर ने कहा है—

शब्द हमारा हम शब्द के, शब्द ब्रह्म का कूप।
जो चाहे दीदार को, परख शब्द का रूप॥
नहि कबीर माटी गड़े, जरे न चिता की आग।
शब्द रूप में प्रकट हो, गूँजे शब्द के राग॥
शब्द भेद बानी अगम, लख कबीर का शब्द।
गुरु की मूरत देखले, सच्चे पीर का शब्द॥

कुछ लोग लय योग को ही शब्द सुरति योग कहते हैं। सम्भवतः ऐसे सन्त भी हैं, जो गृहस्थों को इस योग की शिक्षा भी देते हैं और अनाहत या अनहद शब्द सुनने की साधना बताते हैं। सन्तों ने अपनी वाणियों में योग की शब्दावली का खूब प्रयोग किया है, परन्तु उस प्रयोग में उनकी अनुभूति ही प्रधान है—इसलिए उनकी वाणियों में कुछ अर्थभेद भी हो गया है। कबीर ने सुषुम्ना का कैसा प्रयोग किया है—

अवधू मेरा मनु मतिवारा।
उनमनि चढ़ा गगन रस पीवै त्रिभुवन भय उजियारा।
गुड़ करि ग्यान ध्यान करि महुआ करि भाठी मन धारा॥
सुखमनि नारी सहज समानी पीवै पीवन हारा॥

यही वात सुरति और निरति शब्दों के सम्बन्ध में कही जा सकती है—

सुरति समाणी निरत में निरति रही निरधार।
सुरति निरति परचा भया तब खुले संयम दुआर॥
सुरति समाणी निरति में, अजपा माहैं जाप।
लेख समाणा अलेख में यूँ आपा माहें आप॥

सन्त मलूकदास जी ने कैसा अच्छा शब्द कहा है—

मुवा सकल जग देखिया, मैं तो जियत न देखा कोय हो।
मुवा मुई को व्याहता रे मुवा व्याह करि देय हो॥
मुए बराते जात हैं, एक मुवा बधाई लेय हो।
मुवा मुए से लड़न को, मुवा जोर लै जाय हो॥
मुरदे मुरदे लड़ि मरे, एक मुरदा मन पछताय हो॥

सन्त केवल ब्रह्म को जानता है, उसके लिए सब प्राणी ब्रह्म के ही रूप हैं। सुन्दरदास ने कैसा अच्छा कहा है—

ब्रह्महि माहिं विराजत ब्रह्महिं, ब्रह्म बिना नहिं औरहिं जानी॥
ब्रह्महिं, कीटहु ब्रह्महिं कुंजर, ब्रह्महिं रंकहि ब्रह्महिं रानी।
कालहु ब्रह्म स्वभावहु ब्रह्महिं, कर्महु जीवहु ब्रह्म बखानी।
सुन्दर ब्रह्म बिना कछु नाहिन, ब्रह्महिं जानि सबै भ्रम भानी॥

यहाँ यह समझ लेना आवश्यक है—

राम निरंजन न्यारा रे, अंजन सकल पसारा रे।
शून्य मरै अजपा मरै अनहद हू मरि जाय।
राम सनेही ना मरै कहै कबीर समझाय॥

सन्त पलटूदास जी कहते हैं—

पानी बीच बतासा साधो, तन का यही तमासा है।
मुट्ठी बांधे आया बंदा हाथ पसारे जाता है॥
ना कुछ लाया ना ले जायगा नाहक क्यों पछताता है।
जोरू कौन खसम है किसका, कैसा तेरा नाता है॥
पड़ा बेहोश, होश कर बन्दे, विषय लहर में माता है।
क्यों बेहोश, होश कर बन्दे, विषय लहर में माता है॥
ज्यों ज्यों तेरी पलक परत है, त्यों त्यों दिन निगचाता है।
नेकी बदी तेरे संग चलेगी और सब झूठी बाता है॥
प्राण तुम्हारे पाहुन बन्दे, क्यो रिस किये कोंहाता है।
पलटू दास बंदगी चूके, बन्दा ठोकर खाता है॥

सन्तों की शब्द साधना सहज साधना होती है। उनकी वाणी अटपटी होती है। योगी की सहजावस्था ही सबसे बड़ी समाधि है। इसलिए इस अवस्था को बड़ा दुर्लभ बताया है। यह अवस्था सभी अवस्थाओं से अतीत है—

सहज सहज सब कोई कहै, सहज न चीन्है कोई।
जा सहजै साहिब मिलै, सहज कहीं जै सोई॥

यह अवस्था ही शब्द सुरति योग की चरम परिणति है। देखो इसके लिए कबीर ने कैसा अच्छा शब्द कहा है—

सन्तो! सहज समाधि भली।
साईं ते मिलन भयो जा दिन ते सुरत न अंत ली।
आँख न मूदूँ, कान न रुधूँ, काया कष्ट न धारूँ॥
खुले नैन में हँस हँस देखूँ, सुन्दर रूप निहारूँ।
कहूँ सो नाम, सुनूँ सो सुमरन, जो कछु करूँ सो पूजा।
गिरह उद्यान एक सम देखूँ, भाव मिटाऊँ दूजा॥
जहँ जहँ जाऊँ सोई परिकरमा, जो कुछ करूँ सो सेवा।
जब सोऊँ तब करूँ दंडवत, पूंजी और न देवा॥
शब्द निरंतर मनुआँ राता मलिन वचन का त्यागी।
ऊठत बैठक कबहुँ न बिसरे, ऐसी तारी लागी॥
कहै कबीर यह उन्मुनि रहनी, सोई परगट करि गाईं।
सुख दुख के इक परे परमसुख, तेहि में रहा समाईं॥

संतों के लिए राम में चित्त लगाना ही उनका सर्वस्व है—

कबीर पढ़िवा दूरकरि, पुस्तक देई बहाई।
बावन आखर सोधिकर रै ममै चित्त लाई॥

संत चरणदास जी यही कहते हैं—

विद्या माही वाद है, तपके माही रिद्धि।
रामनाम में मुक्ति है, जोग माही ज्यों सिद्धि॥

प्राण से, मुख से, मन से, कहते, सुनते, लेते, देते, खाते, पीते राम का जप करना ही सबसे बड़ा योग है। दादू दयाल जी का शब्द इस विषय में है—

प्राण कवल मुख राम कहि, मन पवना मुखि राम।
दादू सुरति मुखि राम कही, ब्रह्म सुन्नि निजठाम॥
कहतां सुनतां रामकहिं, लेतां देतां राम।
खाता पीतां राम कहि, आत्म कंवल विश्राम॥

६३. योग साधना चमत्कार विद्या नहीं है

सामान्य जनता में फैली हुई यह धारणा कि योग एक प्रकार की अत्यन्त शक्तिशाली और प्रभावपूर्ण चमत्कार विद्या है, त्याज्य है। जो घटना या पदार्थ बुद्धिग्राह्य नहीं होते अथवा प्रत्यक्ष पद-पदार्थ से भिन्न होते हैं, उन्हें देखकर साधारण व्यक्ति आश्चर्य में पड़ जाते हैं और उन्हें ही चमत्कार कहते हैं। ऐसे चमत्कार प्रायः प्रत्येक मनुष्य के जीवन में घटित होते हैं। इस प्रसंग में विज्ञान के चमत्कारों की ओर दृष्टिपात करना आवश्यक है। जो मनुष्य विज्ञान की प्रक्रिया से अनभिज्ञ हैं, उन्हें विज्ञान के आविष्कारों में चमत्कार ही लगेगा। परन्तु जो विज्ञान के विशेषज्ञ हैं—वे उन आविष्कारों के कारण—कार्य भाव से परिचित हैं। विज्ञान के चमत्कारों के साधन ज्ञात हैं तथा अधिकांश यन्त्रज हैं। कृत्रिम साधनों से जीवोत्पत्ति के अनेक आविष्कार हो रहे हैं, औषधि-विज्ञान के भी बड़े महत्त्वपूर्ण चमत्कार हैं। इसी प्रकार भौतिकी विद्या द्वारा भी अनन्त में अनेक आविष्कार किये जा रहे हैं। परन्तु इस अनन्त में अनेक ऐसी क्रियाएँ हैं जो होती हैं तथा हो रही हैं, परन्तु वे अभी तक विज्ञान की पहुँच से बाहर हैं। सिद्ध-सन्तों के चमत्कारों तक भी मानव की अभी तक पहुँच नहीं है, इसलिए वे इसे चमत्कार कहते हैं। विज्ञान के चमत्कार बाह्य साधनों की अपेक्षा रखते हैं जबकि सिद्ध-सन्तों के चमत्कारों में उनकी कोई आवश्यकता नहीं होती। सिद्ध-सन्त कोई चमत्कार प्रदर्शन के लिए नहीं करते। जो कुछ साधुओं तथा संतों में प्रदर्शन दिखाई देता है—वह आडम्बर मात्र है, साधारण उपलब्धि का दुरुपयोग है अथवा सम्मोहन शक्ति का प्रयोग है। कहीं-कहीं संकल्प का भी दुरुपयोग होता है। ऐसे प्रदर्शनकारी सन्तों को जादूगरों की कोटि में समझना चाहिए। सन्त कभी भी चमत्कार नहीं करते, परन्तु उनसे चमत्कार स्वयं हो जाते हैं। जैसे वृक्षों से पत्ते स्वयं ही झड़ते रहते हैं—इसी प्रकार सन्तों से स्वतः ही चमत्कार होते रहते हैं—सन्त को तो उनका भान भी नहीं होता। जब भक्त उस घटना विशेष अथवा चमत्कार की चर्चा करते हैं, तब सन्त उसे कौतुक मात्र समझकर टाल देते हैं अथवा ईश्वर की कृपा का फल समझते हैं अथवा उसे भक्त के भाव का स्वरूप मानते हैं अथवा उसके पुण्यकर्मों का उदय। सन्त किसी के पाप-पुण्य का भागी नहीं होता—

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः॥

६४. बाह्य और यौगिक चमत्कार

चमत्कारों के सम्बन्ध में यह ध्यातव्य है कि सामान्य रूप से चमत्कार दो ही प्रकार के होते हैं—(१) अतीत और अनागत अथवा सम्भूत और सम्भाव्य घटनाओं के प्रत्यक्षीकरण के रूप में तथा (२) अघटनीय घटनाओं तथा पदार्थों के रूप में। ये दोनों ही प्रकार के चमत्कार विज्ञान सम्मत हैं। योग-ग्रन्थों में '**सर्वं सर्वात्मकम्**' के सिद्धान्त का प्रतिपादन प्राप्त होता है जो बाह्य उपकरणों से भी सिद्ध हो चुका है और यौगिक क्रियाओं से भी। अभी तक इस सिद्धान्त का प्रतिक्रियात्मक रूप जन-साधारण को प्रत्यक्ष नहीं है। कुछ वर्षों पश्चात् विज्ञान से भी यह प्रक्रिया सम्भव हो सकती है। दूसरा सिद्धान्त यह है कि वेदान्त, योग और सांख्य सत्कार्यवाद के सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं। कैवल्यपाद के बारहवें सूत्र में इसका संकेत भी है—

अतीतानागतं स्वरूपतोऽस्त्यध्वभेदाद् धर्माणाम्।

अर्थात् अतीत और अनागत पदार्थ स्वरूप से रहते हैं, केवल काल भेद से उनके धर्मों का परिवर्तन होता है। इस सिद्धान्त को कारणवाद भी कह सकते हैं। कारण में कार्य सदा ही विद्यमान रहता है, उसका आविर्भाव, तिरोभाव होता रहता है। वर्तमान में जिन अतीत पदार्थों का तिरोभाव हो गया वे अपने कारण रूप में विद्यमान हैं। इसी प्रकार अनागत में होने वाले पदार्थ भी अपने कारण में विद्यमान हैं। जो घटना सहस्रों वर्ष पूर्व घटित हो चुकी है—उसका भी साक्षात्कार हो सकता है, क्योंकि अपने कारण में वह आज भी विद्यमान है। विज्ञान में इसके प्रयोग होने भी लगे हैं। इसी प्रकार जो घटना भविष्य में होने वाली है, वह भी कारण रूप से वर्तमान है। योगी अपने बल से सब कुछ जान सकता है, इसीलिए उसे त्रिकालज्ञ कहते हैं। प्रत्येक भूत के स्थूल तत्त्व हैं तथा सूक्ष्म तत्त्व हैं। सूक्ष्म तत्त्व भी अपने कारण में विलीन हो जाते हैं—पृथ्वी के तत्त्व जल में, जल के तत्त्व तेज में, तेज के तत्त्व वायु में तथा वायु के तत्त्व आकाश में। आकाश सूक्ष्मतम है परन्तु है भूत ही। चिदाकाश में स्थित योगी उन घटनाओं की भी भविष्यवाणी कर सकता है जो अभी आकाश के सूक्ष्म तत्त्वों में हैं। उससे भी आगे सत्य संकल्प की बात आती है। इसीलिए योगी का ज्ञान अपरिमित होता है। देश और काल तो उसकी दृष्टि से साधारण नश्वर तत्त्व हैं। यही चमत्कारों का रहस्य है और यही चमत्कार का विज्ञान है।

सिद्ध सन्त का सबसे बड़ा चमत्कार यह है कि वह सारे प्रपंच में एक चित् शक्ति के दर्शन करता है। सत्, असत्, चित्, अचित्, आनन्द, निरानन्द ये सारे ही शब्द व्यवहार के लिए हैं। उस परम तत्त्व की अभिव्यक्ति इस वर्णात्मक स्थूल शब्दों से सम्भव ही नहीं है। इसीलिए उपनिषदों में '*नेति-नेति*' कहकर उसका वर्णन किया गया है—

योगवासिष्ठ का एक श्लोक है—

निरानन्दोऽपि सानन्दः सच्चासच्चापि तत्र सः।
आसीन्न किंचित् किंचित् प्रकाशस्तिमिरं यथा॥
अचिन्मयं चिन्मयं च नेति नेति यदुच्यते।
ततस्तत्संबभूवासौ यद् गिरामप्यगोचरः॥

सन्तों का यही सत्, चित् और आनन्द का निरूपण है। वह परब्रह्म ही सब चराचर जगत् का आश्रय है। शास्त्रों में उसे ही परमात्मा और उसे ही भगवान् कहते हैं। वही नेत्र आदि इन्द्रियों का अभिमानी द्रष्टा जीव है और वही सूर्यादि का अधिष्ठातृ देव है। वही आध्यात्मिक है। वही आधिदैविक है और वही आधिभौतिक है। श्रीमद्भागवत के द्वितीय स्कन्ध में इसी आश्रय तत्त्व का बड़ी सुन्दरता से विवेचन किया गया है—

आसनश्च निरोधश्च यतश्चाध्यवसीयते।
स आश्रयः परब्रह्म परमात्मेति शब्दयेत्॥
योऽऽध्यात्मिको यं पुरुषः सोऽसावेवाधिदैविकः।

यश्चत्रोभयविच्छेदः पुरुषोऽऽधिभौतिकः॥
एकमेकेतराभावे यदा नोपलभामहे।
त्रिवमं तत्रमो वेद स आत्मा स्वाश्रयाश्रयः॥

(श्रीमद्भागवत स्कं० २, अ० १०।७-९)

६५. मूल तत्त्व की आनन्दरूपता

जगत् का मूल तत्त्व आनन्द है। यदि जगत् का मूल कारण आनन्दात्मक न होगा तो जगत् के पदार्थों से आनन्द की उपलब्धि नहीं हो सकती, क्योंकि आनन्द की सत्ता संसार के विषयों में नहीं मानी जा सकती। अतः सुषुप्ति के समय विषय का सम्पर्क या किसी प्रकार का विषय बोध न होने पर भी मनुष्य को आनन्द की अनुभूति होती है। इस अनुभूति को अस्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि सुषुप्ति से उठने के बाद मनुष्य को नयी स्फूर्ति, नये उत्साह और नव चेतना की उपलब्धि होती है। यदि सुषुप्ति के समय उसे आनन्दानुभव न हो तो जागने पर सम्पूर्ण त्याग संभव नहीं हो सकता, क्योंकि वह आनन्दानुभव से होता है। इस प्रकार जब सुषुप्ति में विषय सम्पर्क के अभाव होने पर भी आनन्दानुभव का होना प्रमाणित होता है तब यह स्वीकार करना ही होगा कि उस समय मनुष्य को स्वात्मगत आनन्द की अनुभूति होती है और मनुष्य का स्वात्मा ही जगत् का मूल कारण है, क्योंकि उसी के अज्ञान से जगत् का जन्म और साक्षात्कार होता है। संसार के विषय तो जाग्रत् काल में किसी मूलभूत आनन्द को अभिव्यक्त करते हैं। सुषुप्ति ही उस आनन्द की अभिव्यंजिका होती है। योगी को समाधि से उसकी अभिव्यक्ति होती है।

६६. श्री बाबा के वचनों में आनन्द का स्वरूप

अध्यात्मशास्त्र के विभिन्न ग्रन्थों में जगत् के मूल तत्त्व ब्रह्म को सत्, चित् और आनन्दरूप कहा गया है। इस कथन के सम्बन्ध में यह जिज्ञासा होती है कि त्रिकाल बाध्य शाश्वत सत्य के रूप में ब्रह्म का सद्रूप होना एवम् सत्, प्रकाश चैतन्य के रूप में चिद्रूप होना तो समझ में आता है, किन्तु उसका आनन्द रूप होना सर्वसामान्य को बुद्धिगत नहीं हो पाता, क्योंकि सामान्य मनुष्य विषयेन्द्रिय के सम्पर्क से आनन्द अथवा सुख अनुभव करता है। अतः उसकी दृष्टि में आनन्द विषयेन्द्रिय सम्पर्क का ही कार्य प्रतीत होता है। फिर सत् और चिद्रूप ब्रह्म के साथ उसकी एकता का प्रतिपादन कैसे संभव हो सकता है? विषयेन्द्रिय सम्पर्क उसकी लौकिक अभिव्यक्ति का साधन है, जनक नहीं। वह तो सत् और चित् के समान ही नितान्त शाश्वत है।

सत्, चित् और आनन्द में कोई तात्त्विक भेद नहीं है। तीनों उस ईश्वर की ही विभूतियाँ हैं। ज्ञानियों के लिए जो सत् स्वरूप है और भक्तों के लिए आनन्दस्वरूप उस आनन्दरूप भगवान् को प्राप्त करने के अनन्तर भक्त को कुछ भी प्राप्तव्य नहीं रहता। आनन्द उस परम सत्ता की सार्वभौमिक विशेषता है और जगत् का सम्पूर्ण आनन्द उसका अंश मात्र है। श्रुति कहती है—

आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।
आनन्देन जातानि जीवन्ति, आनन्दं प्रत्यभिसंविशन्ति॥

सच्चिदानन्द की विभूति में सब कुछ सत् है, सब कुछ चित् है और सब कुछ आनन्द है। तैत्तिरीय उपनिषद् में आता है—

सोऽकामयत्। बहुस्याम प्रजायेयेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा इदं सर्वमसृजत यदिदं किञ्च। तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्।

२।६।१

यह कामना ही आनन्द का मूल है। उस परमतत्त्व की कामना से ही सृष्टि की रचना हुई है। इसलिए वही सब कामनाओं का मूल है। उसकी प्राप्ति ही परमानन्द की प्राप्ति है।

६७. आनन्दानुभूति के साधन

आनन्द की विशुद्ध अनुभूति के मुख्य साधन तीन हैं—ज्ञान, कर्म और उपासना। ये तीनों एक ही साधना के तीन अन्तर्विभाग हैं—इनमें कोई तात्त्विक भेद नहीं है। भक्ति की दृढ़ता में भी ज्ञान और कर्म अनिवार्य अंग हैं तथा ज्ञान की उपलब्धि में भी निषेध वृत्ति से प्रत्यय की एकतानता अनिवार्य है जो उपासना का ही साधन है। कर्म की अनिवार्यता तो सर्वत्र सिद्ध है ही, परन्तु वहाँ भी समर्पण और अनासक्ति अपेक्षित है। केवल दृष्टि भेद है—अंतर्मुखी दृष्टि से जो सर्वातीत है, बहिर्मुखी दृष्टि से वही सर्वस्वरूप है। इसलिए आनन्द की प्राप्ति तो योगी को भी होती है और ज्ञानी को भी। हाँ, अधिक से अधिक यह कहा जा सकता है कि भक्त का चरम साध्य परमानन्द की उपलब्धि है तथा ज्ञानी और योगी का चरम लक्ष्य स्वरूपावस्थिति। आनन्द की भी अनेक कोटियाँ हैं। चौदह प्रकार की प्राणियों की सृष्टि है—उन सबके आनन्द की अपनी कोटियाँ हैं। सांख्यकारिका में आठ प्रकार की दैवी सृष्टि बताई गयी है, पाँच प्रकार की तिर्यक् योनि सृष्टि और एक प्रकार की मानव-सृष्टि। इन सृष्टियों में गुणों के अनुपात से आनन्द की अनुभूति होती है। ब्राह्म, प्राजापत्य, ऐन्द्र, दैव, गान्धर्व, तित्र्य, विदेह और प्रकृतिलय—यह आठ प्रकार की दैवी सृष्टि सत्त्व प्रधान है। फिर मानव सृष्टि है जो रजः प्रधान है। इसके अनन्तर पशु, पक्षी, सरीसृप, कीट और स्थावर—यह पाँच प्रकार की तिर्यक् सृष्टि है जो तमः प्रधान है—

अष्टविकल्पो दैवस्तैर्यग्योनिश्च पंचधा भवति।
मानुष्यश्चैकविधः समासतो भौतिकः सर्गः॥
ऊर्ध्व-सत्वविशालस्तमोविशालश्च मूलतः सर्गः।
मध्ये रजोविशालो ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तः॥

(सां० का० ५३-५४)

इस सम्पूर्ण सृष्टि भेद के मूल में आनन्द के तारतम्य और उसकी अनुभूति का ही भेद है। वृहदारण्यक ४।३।२ में, तैत्तिरीय उपनिषद्—शिक्षावल्ली अनुवाक् ८ में तथा शतपथ ब्राह्मण के १४।७।१।३१ में सृष्टि के आधार पर आनन्द की कोटियाँ गिनाई गयी है। कर्म और संस्कारों के भेद से मनुष्य योनि में भी आनन्द की अनेक कोटियाँ हैं। योगी के आनन्द का स्वरूप आनन्द समाधि के अन्तर्गत बताया गया है। आनन्द के सम्बन्ध से होने वाली समाधि का नाम आनन्दानुगत समाधि होता है, परन्तु वह संप्रज्ञात समाधि का ही भेद है। 'वितर्कविचारानन्दास्मितानुगमात् सम्प्रज्ञातः॥' १।१७॥ वितर्क और विचार के पश्चात् ही आनन्द की स्थिति आती है। वितर्क, संकल्प-विकल्प की स्थिति है—वितर्कानुगत समाधि के द्वारा योगी स्थूल विषयों के यथार्थ रूप को जान जाता है और विचारानुगत समाधि से सूक्ष्म भूतों और तन्मात्राओं तक योगी की दृष्टि पहुँचती हैं। इसके निरंतर अभ्यास से चित्त की एकाग्रता इतनी अधिक बढ़ जाती है कि सत्त्व गुण की अधिकता से अहंकार का साक्षात् होने

लगता है। जब अहंकार में सत्त्वगुण की प्रधानता से रजोगुण, तमोगुण की मात्रा कम हो जाती है, तब अहंकार ही आनन्दस्वरूप हो जाता है और योगी का चित्त आनन्द से पूर्ण हो जाता है। उस समय कोई भी विचार अथवा ग्राह्य विषय उसमें नहीं रहता—केवल आनन्द ही आनन्द रहता है। यहाँ तक कि देहाध्यास भी छूट जाता है, परन्तु यह स्थिति योगी का चरम लक्ष्य नहीं है। योगी इस स्थिति को भी पार करके अस्मितानुगत समाधि में पहुँचता है। अस्मिता का स्वरूप अहंकार से भी सूक्ष्म है, क्योंकि उस स्थिति में अहं का भान नहीं होता—केवल 'अस्मि अस्मि' का ही भान होता है। यह स्थिति बड़ी ही सूक्ष्म होती है, क्योंकि इसमें अहंकार से आत्माध्यास छूट जाता है और भेद वृत्ति समाप्त हो जाती है। यह वृत्ति तदाकार वृत्ति है, तद्रूपवृत्ति नहीं है। आनन्दानुगत समाधि में तो योगी की स्थिति विदेह की होती है, परन्तु अस्मितानुगत में उसकी स्थिति प्रकृति-लय की होती है। भक्त न तो प्रकृति-लय की स्थिति को ही साध्य मानता है और न ही स्वरूपावस्थिति को, वह तो आनन्द स्थिति को ही सर्वस्व मानता है।

६८. आनन्दानुभूति के लिए आवरण भंग की अनिवार्यता

ज्ञानी और योगी दोनों को समान रूप से आनन्द की अनुभूति होती है, किन्तु उनकी अनुभूति की प्रक्रियाओं में कुछ अन्तर रहता है। पंचकोश का आवरण जिसने अनादिकाल से आनन्द को ढक रखा है उसका अंग दोनों के लिए आवश्यक होता है और उससे योगी को निर्बीज समाधि होती है और ज्ञानी को स्वरूप बोध। कठोपनिषद में इस आवरण भंग की प्रक्रिया का बड़ा सुन्दर वर्णन हुआ है—

यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि।
ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि॥

कठ० १।३।१३॥

वाणी को मन में, मन को बुद्धि में, बुद्धि को महत् तत्त्व में और महत् तत्त्व को आत्मा में लय करना ही स्वरूप स्थिति की साधना है। गीताकार ने स्पष्ट कहा है—

इन्द्रियाणि पराण्याहुः इन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिः यो बुद्धेः परतस्तु सः॥

६९. आनन्द के आवरण पंचकोश

कोश पाँच होते हैं—(१) अन्नमय कोश—अन्न से बना हुआ यह स्थूल शरीर ही अन्नमय कोश कहलाता है। इसमें इन्द्रियों का स्थूल रूप रहता है। यह अन्न से ही जीता है और उसके बिना नष्ट हो जाता है—

देहोऽयमन्नभवनोऽन्नमयस्तु कोशश्चान्नेनजीवती विनश्यति तद्विहीनः।
त्वक्चर्ममांसरुधिरास्थिपुरीषराशिर्नायं स्वयं भवितुमर्हति नित्यशुद्धः॥

(२) प्राणमयकोश—पाँच कर्मेन्द्रियों से युक्त यह प्राण ही प्राणमय कोश कहलाता है। इसी की शक्ति से अन्नमय कोश अन्न से तृप्त होकर समस्त कर्मों में प्रवृत्त होता है—

कर्मेन्द्रियैःपंचभिरंचितो यं प्राणो भवेत् प्राणमयस्तु कोशः।
येनात्मवानन्नमयोऽन्नपूर्णः प्रवर्ततेऽसौ सकलक्रियासु॥

(३) मनोमयकोश—यह कोश बड़ा बलवान है। मन और ज्ञानेन्द्रियों का संपूर्ण विकार इसी कोश में रहता है। भेद-भाव का हेतु यही कोश है। इसमें इच्छा शक्ति रहती है और यह आत्मा के स्वरूप को आच्छादित किये रहता है—

ज्ञानेन्द्रियाणि च मनश्चमनोमयः स्यात्,
कोशो ममाहमिति वस्तु विकल्पहेतुः।
संज्ञादि भेद कलनाकलितो बलीयां-
स्तत्पूर्वकोशमभिपूर्य विजृम्भेयः॥

ज्ञानी लोग मन को ही अविद्या मानते हैं, अतः—

प्राहुर्मनो विद्यां पण्डितास्तत्त्वदर्शिनः।
येनैव भ्राम्यते विश्वं वायुनेवाभ्रमण्डलम्॥

(४) विज्ञानमयकोश—ज्ञानेन्द्रियों के साथ वृत्तियुक्त बुद्धि ही विज्ञानमयकोश है। इसमें कर्तापन का अभिमान रहता है। यह चित् का ही प्रतिबिम्ब है। इसमें कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि का अभिमान होता है। संसार और जीवन के समस्त व्यवहार चलते हैं। आत्मा के सन्निकट होने के कारण यह अत्यन्त प्रकाशमय है—

योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृदि स्फुरतः स्वयं ज्योतिः।
कूटस्थः सन्नात्मा कर्ता भोक्ता भवत्युपाधिस्थः॥

(५) आनन्दमयकोश—आनन्दस्वरूप आत्मा के प्रतिबिंम्ब से चुम्बित तथा तमोगुण से प्रकट हुई वृत्ति ही आनन्दमयकोश है। पुण्य कर्मों के फलस्वरूप ही इस कोश की अनुभूति होती है, क्योंकि इस कोश में चित्त की स्थिति होने पर स्वतः ही आनन्द की उपलब्धि होती है—

आनंदप्रतिविम्बचुम्बिततनुर्वृत्तिस्तमो जृम्भिता।
स्यादानन्दमयः प्रियादिगुणकः स्वेष्टार्थलाभोदयः॥
पुण्यस्यानुभवे विभातिकृतनामानन्दरूपः स्वयं।
भूत्वानंदति यत्र साधु तनुभृन्मात्रः प्रयत्नं बिना॥

इन पाँच कोशों में जो आत्माध्यास है उसी को दूर करना होता है। आसन और प्राणायाम के द्वारा अन्नमयकोश से आत्माध्यास दूर हो जाता है। प्रत्याहार और धारणा से प्राणमयकोश से आत्माध्यास हटता है। वितर्क भावना से मनोमयकोश से, विचार की ऊँची स्थिति से विज्ञानमयकोश से तथा ऋतम्भरा प्रज्ञा और विवेकख्याति से आनन्दमयकोश से आत्माध्यास हटाना पड़ता है। आनन्दमयकोश में कारण शरीर रहता है। विज्ञानमय, मनोमय और प्राणमयकोश मिलकर सूक्ष्म शरीर कहलाते हैं और अन्नमयकोश स्थूल शरीर। योगियों ने इन तीन शरीरों के अतिरिक्त भी अन्य शरीरों का पता लगाया है और किसी-किसी योगी ने पाँच शरीरों तक का अनुभव किया है, परन्तु यह रहस्य गोपनीय है।

७०. कोशों में आत्माध्यास और उसकी निवृत्ति के साधन

उक्त पाँच कोशों में आत्मबुद्धि आत्माध्यास है और उसकी निवृत्ति का साधन है आत्मतत्त्व का यथार्थ बोध जिसकी प्राप्ति साधक की योग्यता, सामर्थ्य, प्रवृत्ति, संस्कार और गुरु पर निर्भर है। योगाभ्यास में तो भावनाओं के द्वारा किसी विषय को आलम्बन मान लिया जाता है जिसको ध्येय कह सकते हैं और अंत में केवल आत्मा का शुद्ध स्वरूप ही ध्येय रह जाता है और ध्याता, ध्येय और ध्यान का भेद समाप्त हो जाता है। ज्ञान निष्ठा में प्रक्रिया अभावात्मक होती है इस प्रक्रिया में देह, उसके धर्म, कर्म और उसकी अवस्थाओं से साक्षी आत्मा का अलग अनुभव करना होता है, क्योंकि अन्नमयकोश आत्मा नहीं हो सकता—

तुल्यराशिमांसलिप्तो मलपूर्णोऽतिकश्मलः।
कथं भवेदयं वेत्तास्वयमेतद् विलक्षणः॥

इसी प्रकार प्राणमय कोश भी आत्मा नहीं है, क्योंकि वह वायु का विकार है—

नैवात्मापि प्राणमयो वायुविकारो, गतागता वायुवदन्तर्वहिरेषः॥

मनोमय कोश भी आत्मा नहीं है—

मनोमयोनापि भवेत्परात्मा, ह्याद्यन्तवत्त्वात् परिणामिभावात्।
दुःखात्मकत्वात् विषयत्वहेतोर्द्रष्टादिदृश्यात्मतया न दृष्टः॥

अर्थात् मनोमयकोश भी आद्यन्तवान्, परिणामी दुःखात्मक और विषय स्वरूप होने के कारण परमात्मा नहीं हो सकता। मन दृश्य है और द्रष्टा कभी भी दृश्य नहीं हो सकता।

इसी प्रकार विज्ञानमय शब्द से कहा जाने वाला विज्ञानमयकोश भी विकारी, जड़, परिच्छिन्न, दृश्य और व्यभिचारी होने के कारण परमात्मा नहीं हो सकता—

अतो नायं परमात्मा स्याद्विज्ञानमयशब्दभाक्,
विकारित्वाजडत्वाच्च परिच्छिन्नत्वहेतुतः॥
दृश्यत्वाद्व्यभिचारित्वान्नानित्यो नित्य इष्यते॥

इसी प्रकार आनन्दमयकोश से भी आत्माध्यास का निराकरण करना होता है, क्योंकि आनन्द भी सोपाधिक है और इसलिए प्रकृति का विकार ही है तथा शुभ कर्मों का फल है।

नैवायमानंदमयः परात्मा, सोपाधिकत्वात्प्रकृतेर्विकारात्।
कार्यत्वहेतोः सुकृत क्रियायाः विकार संघात समाहितत्वात्॥

ज्ञाननिष्ठा में इस निषेधात्मक प्रक्रिया से आत्मा के स्वरूप का बोध किया जाता है—

पंचानांकोशानां निषेधे युक्तितः श्रुतेः।
तन्निषेधावधिः साक्षी बोधरूपोऽवशिष्यते॥

इस प्रकार आत्मा को स्वयं प्रकाश, अन्नमयादि पाँचों कोशों से पृथक् तथा जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति—तीनों अवस्थाओं का साक्षी होकर भी निर्विकार और निरंजन तथा नित्यानन्द स्वरूप समझना चाहिए—

योऽयमात्मा स्वयंज्योतिः पंचकोशविलक्षणः।
अवस्थात्रयसाक्षी सन्निर्विकारो निरंजनः॥
सदानन्दः स विज्ञेयः स्वात्मत्वेन विपश्चिता।

७१. आत्माध्यास की निवृत्ति और दृश्य की स्थिति

जब शास्त्रोक्त साधना द्वारा आत्माध्यास की निवृत्ति हो जाती है उस समय दृश्य की स्थिति के सम्बन्ध में विचार का कोई अवसर ही नहीं होता, क्योंकि उस समय दृश्य के अस्तित्व की कल्पना ही नहीं हो सकती। सारा प्रपंच ही एक सत्ता में समाहित हो जाता है—सारा प्रपंच ही एक सत्ता है। अब दृश्य में मिथ्यात्त्व बुद्धि भी नहीं है, न राग है, न द्वेष है। ऐसे जीवन्मुक्त ज्ञानी की प्रवृत्तियाँ भी सब व्यावहारिक होती हैं—पारमार्थिक नहीं। हाँ एक बात अवश्य है कि जिस वृत्ति से दृश्य मात्र का निषेध किया जाता है वह सर्वाभावरूपा शुद्ध वृत्ति अवश्य बनी रहती है, जो अद्वैत स्वरूप है और उसे वृत्तिव्याप्ति भी कहते हैं जिसमें सम्पूर्ण वृत्तियाँ स्वरूपभूत हो जाती हैं। उसी स्थिति का नाम स्वरूपावस्थान है। ज्ञान निष्ठा और योग निष्ठा में फल की दृष्टि से कोई भेद नहीं है। एक बात अवश्य है कि बोध की प्राप्ति भी बिना चित्त की शुद्धि के सम्भव नहीं है।

७२. योगमार्ग और भक्तिमार्ग की साधन प्रक्रियाएँ

योगी और भक्त की साधन प्रक्रिया में कोई बहुत बड़ा भेद नहीं है। योग में भी चित्तवृत्ति निरोध के लिए स्थूल से सूक्ष्म की ओर भावना करनी पड़ती है और भावना विशेष को ही सम्प्रज्ञात समाधि कहा गया है। एक ध्येय वस्तु को ही चित्त में रखने का नाम भावना है, यह भावना भी चित्तवृत्ति का एक व्यापार है। इसका भाव्य अर्थात् ध्येय ग्राह्य, ग्रहण और गृहीतृ भेद से तीन प्रकार का है। आनन्दानुगत समाधि तक ग्रहण भावना रहती है और द्रष्टा और ध्येय का भेद बना रहता है। भक्त की इष्ट के प्रति यह भावना स्वभाव सिद्ध होती है। योग दर्शन में जो ईश्वर प्रणिधान है—वह वास्तव में भक्तियोग ही है। **'प्रकर्षेण नूयते स्तूयतेऽनेनेति नौति, स्तौतीति वा प्रणव ओंकारः (भोजवृत्ति)'** अर्थात् जिसके द्वारा नम्रता से स्तुति की जाय अथवा भक्त जिसकी नम्रता से स्तुति करता है, इस प्रकार ईश्वर का वाचक होने पर प्रणव में भगवान् के सभी नामों का समावेश हो जाता है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में कहा है—

स्वदेहमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम्।
ध्याननिर्मथनाभ्यासाद्देवं पश्येन्निगूढ़वत्॥

अर्थात् अपने देह को अधरारणि बनावे, प्रणव को उत्तरारणि बनावे तथा ध्यान रूपी दण्ड से मंथन करें। ऐसा करने से छिपी हुई अग्नि के सदृश भगवान् का साक्षात्कार हो जायगा। माण्डूक्योपनिषद् में ओंकार की विशिष्ट व्याख्या की गयी है तथा प्रणव का रहस्य तथा मात्राओं का स्वरूप भलीभाँति समझाया गया है। इस प्रकार ईश्वर प्रणिधान भी भक्ति का ही स्वरूप है। इसमें ध्यान और जप का महत्व है। इसी को समाधि पाद के २८वें सूत्र में स्पष्ट किया गया है—

तज्जपस्तदर्थभावनम् (१।२८)

इस सूत्र का सामान्य अर्थ तो यही है कि प्रणव का जप और ईश्वर का ध्यान ही—ईश्वर प्रणिधान है, परन्तु प्रणिधान की प्रक्रिया के अनेक रूप हैं। सर्वमान्य बात यह है कि जिस भी नाम का जप किया जाय, उसके रूप और गुणों की भावना ही ध्यान कहलाती है। जब चित्त को सब ओर से हटाकर केवल इष्ट में ही स्थिर कर दिया जाता है तो साधक की तदाकार भावना हो जाती है और जन्म-जन्मान्तर की वासनाएँ परिष्कृत और शुद्ध हो जाती हैं। इसे ही वासनाओं का उदात्तीकरण कहते हैं, क्योंकि उनका विषय उदात्त बन जाता है और मन की वृत्तियाँ सब ओर से हटकर प्राण में विलीन हो जाती हैं। छान्दोग्य उपनिषद् में लिखा भी है—

'स यथा शकुनिः सूत्रे प्रबद्धो दिशंदिशं पतित्वान्यत्रायतनमलब्ध्वाबन्धनमेवोपश्रयते, एवमेव खलु सौम्य! एतन्मनो दिशंदिशं पतित्वान्यत्रायतनमलब्ध्वा प्राणमेवोपश्रयते, प्राणबन्धनं हि सौम्य मन इति' (छान्दो० ६।८।२) अर्थात् जिस प्रकार डोरी से बँधा हुआ पक्षी अनेक दिशाओं में घूमकर तथा कहीं भी आश्रय न पाकर अपने बन्धन के स्थान पर ही पहुँच जाता है—इसी प्रकार यह मन भी वासनाओं के आश्रित होकर सर्वत्र घूमता है, परन्तु

जब कहीं आश्रय नहीं मिलता तो प्राण का ही सहारा लेता है। वहाँ भगवान् मौजूद ही हैं। इसलिए मन भगवन्मय हो जाता है।

७३. मन को भगवन्मयता में प्राण का योगदान

'हृदि, प्राणो वसेन्नित्यम्।' अर्थात् प्राण का हृदय में नित्य स्थान है। हृदय में ही अनाहत चक्र है—जहाँ त्रिगुणमय ओंकार व्यक्त होता है। गीता में भी ईश्वर का स्थान हृदय ही बताया है। श्रुति भी कहती है—

सोऽयं एषोऽन्तर्हृदय आकाशः। तस्मिन्नयं पुरुषो मनोमयः।
अमृतो हिरण्मयः॥

इसलिए मन का प्राण में विलीन होना ही उसका भगवन्मय होना है। योगदर्शन में चित्त को शुद्ध करने का सरल उपाय क्रिया योग को ही कहा है और यह क्रिया योग भक्ति योग ही है।

७४. साधना में जपनीय मंत्र और जप

साधना में जप का विशेष महत्त्व है। शास्त्रों में साधना के लिए उसकी अनिवार्य कर्तव्यता मानी गई है। जपनीय मंत्रों के विषय में यह कहा गया है कि ओंकार अकेले अपने में ही एक परिपूर्ण मंत्र है अतः केवल ओंकार मात्र का ही जप किया जा सकता है, किन्तु यह प्रतिबन्ध नहीं है कि स्वतंत्र रूप से ही उसका जप किया जाय। अन्य मंत्रों के साथ जोड़कर भी उसके जप का विधान है। जपों में गायत्री मंत्र के जप की बड़ी महिमा मानी जाती है। मनु महाराज कहते हैं—

ओंकारपूर्विकास्तिस्रो महाव्याहृतयोऽव्ययाः।
त्रिपदा चैव सावित्री विज्ञेयं ब्रह्मणोमुखम्। मनु० २।८॥

अर्थात् तीन मात्रा वाले ओंकार पूर्वक, तीन महाव्याहृति और त्रिपदा सावित्री को ब्रह्म का मुख समझना चाहिए। इस सम्बन्ध में एक स्थान पर लिखा है—

गायत्र्यास्तु परं नास्ति शोधनं पापकर्मणाम्।
महाव्याहृति संयुक्तां प्रणवेन च संजपेत्॥

अर्थात् गायत्री से बढ़कर पाप कर्मों का शोधक कोई दूसरा उपाय नहीं है। इसलिए ओंकार सहित तीन महाव्याहृतियों से युक्त गायत्री का जप करना चाहिए।

७५. गायत्री तत्त्व

गायत्री का तत्त्व बड़ा ही रहस्यमय है। इसकी व्याख्या विद्वानों ने अनेक प्रकार से की है। गायत्री समस्त त्रयी विद्या का प्रतीक है और वेदों का सार है। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को संचालित और नियंत्रित करने वाली चिति शक्ति का प्रतीक गायत्री मन्त्र है। इसलिए प्राणि मात्र की शक्ति गायत्री ही है। गायत्री के तीन पादों के सम्बन्ध में एक बड़ा रहस्य है। गायत्री का चतुर्थ पाद भी माना गया है, परन्तु वह साधारण साधकों के लिए नहीं है। इसलिए त्रिपदा गायत्री का ही विधान किया गया है। इसलिए गायत्री साक्षात् ब्रह्म विद्या, परावाक् और चिति का स्वरूप है। कोई भी लौकिक अथवा पारलौकिक उपलब्धि ऐसी नहीं है जो गायत्री के विधिवत् जप से प्राप्त न हो सके। गायत्री स्वयं वेदमय, वेद माता और छन्दों का मूल है। छन्दों का जन्म गायत्री से हुआ। छन्द मर्यादा को कहते हैं। सम्पूर्ण शक्ति केन्द्र छन्दोमय होकर ही शक्ति का मर्यादित और संतुलित विकिरण करते हैं। छन्द से ही गति को मर्यादा मिलती है और प्राण तत्त्व अभिव्यक्त होता है।

ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद में तीन व्याहृतियों सहित त्रिपदा गायत्री का पाठ है। परन्तु कहीं-कहीं सात व्याहृतियों का भी उल्लेख है। सात व्याहृतियों का सम्बन्ध सात लोकों से लगाया जाता है। उन सात लोकों की स्थिति मानव शरीर में भी है, **'ब्रह्माण्डे ये गुणाः सन्ति शरीरे तेऽप्यवस्थिताः॥'** ये सात लोक ही सात व्याहृतियाँ हैं-भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्यम्। योग-दर्शन के 'भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात्' सूत्र के भाष्य में लोक-लोकान्तरों का बड़े विस्तार से वर्णन किया गया है। इन सात लोकों का स्वरूप इस प्रकार है—

ब्रह्मस्त्रिभूमिका लोकः प्राजापत्यस्ततो महान्।
माहेन्द्रश्च स्वरित्युक्तो दिवि तारा भुवि प्रजा॥

जनः, तपः, सत्यम्—ये तीन ब्राह्मलोक कहलाते हैं। उनके नीचे महः नाम का लोक प्राजापत्य कहलाता है। उसके नीचे 'स्वः' नाम का लोक महेन्द्र लोक कहलाता है। उसके नीचे अन्तरिक्ष में 'भुवः' नाम का तारा लोक, फिर उससे भी नीचे मनुष्यों का 'भू' लोक प्रजा लोक कहलाता है। 'भू' लोक सुमेरु पृष्ठ तक है, वहाँ से ध्रुवतारा तथा अन्तरिक्ष लोक है जो 'भुवः' कहलाता है—इसमें अनेक ग्रह, नक्षत्र तथा तारे हैं। इससे परे पाँच स्वर्गलोक हैं जिन्हें द्यौ लोक भी कहते हैं। जिस प्रकार पृथ्वी के ऊपर छः लोक हैं, उसी प्रकार उसके नीचे १४ लोक और हैं—सात नरक और सात पाताल। सात नरक हैं—अवीचि, महाकाल, अम्बरीष, रौरव, महारौरव, महासूत्र और अन्धतामिस्र। इन नरकों के साथ महातल, रसातल, अतल, सुतल, वितल, तलातल और पाताल नाम के सात पाताल हैं। सबसे ऊपर पृथ्वी है जो वसुमती कहलाती है, जिसमें सात द्वीप हैं और जिसके मध्य में स्वर्णमय पर्वतराज सुमेरु है। पुराणों में इन सभी लोकों की तथा विशेष रूप से वसुमती का विवरण दिया हुआ है।

गायत्री की सात व्याहृतियों से शरीर के विभिन्न चक्रों में भावना करनी पड़ती है। प्रत्येक चक्र का एक लोक है। सातवाँ लोक सहस्रार चक्र पर ब्रह्मरन्ध्र में हैं। इस प्रकार भावना से गायत्री जप करने से लोक लोकान्तरों का साक्षात्कार होता है। योग-साधना में सात व्याहृतियों को अधिक महत्त्व मिला है।

७६. गृहस्थों के लिए गायत्री जप का विधान

सामान्य रूप से तीन व्याहृतियों सहित त्रिपदा गायत्री का जप ही विधेय है। गायत्री जप का प्रधान अंग ओंकार का ध्यान है। यदि यह ध्यान अर्थ की भावना के साथ किया जाय तो और अधिक लाभप्रद होता है। ओंकार की पहली मात्रा अकार ब्रह्म के विराट् स्वरूप की बोधक है, जो विश्व का उपास्य है। दूसरी मात्रा उकार हिरण्यगर्भ की बोधक है, जो तेजस् का उपास्य है। तीसरी मात्रा मकार ईश्वर की बोधक है, जो प्राज्ञ का उपास्य है। चौथा पाद मात्रा रहित विराम है, जो कारण जगत् और कारण शरीर से परे केवल शुद्ध परमात्म तत्त्व है—निर्गुण और निरंजन है। ओंकार ध्वन्यात्मक शब्द है—विशुद्ध नाद है। गायत्री की तीन व्याहृतियाँ ही ओंकार की तीन मात्राओं का प्रथम व्यक्त स्वरूप है तथा गायत्री के तीन पाद ओंकार की तीन मात्राओं की ही स्फुट ध्वनि हैं। भूलोक (भूः) ओंकार की पहली मात्रा, अकार स्थूल जगत् के सम्बन्ध से परमात्मा का शवल स्वरूप विराट् और स्थूल शरीर

के सम्बन्ध से आत्मा का शवल रूप विश्व-उपास्य उपासक है। इस लोक का प्रमुख प्राणतत्त्व अग्नि है। यह भावना मूलाधार चक्र में की जाती है, जो गुदा मूल से दो अंगुल ऊपर और उपस्थ मूल से दो अंगुल नीचे है। पृथ्वी तत्त्व का यह मुख्य स्थान है। इसी चक्र के नीचे त्रिकोण यंत्र जैसा एक सूक्ष्म योनि मण्डल है, जिसके मध्य से सुषुम्रा, दक्षिण कोण से पिंगला और वाम कोण से इड़ा नाड़ी निकलती है। तांत्रिक ग्रन्थों में इसी योनि मण्डल में साढ़े तीन कुण्डलों में लिपटी हुई कुंडलिनी को बताया है तथा कन्दर्प नाम के स्थिर वायु का स्थान भी यही बताया गया है, जिसके मध्य में ब्रह्मनाड़ी का मुख स्वयंभू लिंग है।

दूसरे पाद वाली उकार मात्रा में सूक्ष्म जगत् के सम्बन्ध से परमात्मा का शबल रूप हिरण्यगर्भ उपास्य है और आत्मा का शबल रूप तेजस् उपासक है। सूक्ष्म जगत् का प्राणतत्त्व वायु है। यह मात्रा गायत्री की दूसरी व्याहृति 'भुवः' में अभिव्यक्त हुई है। यह भावना स्वाधिष्ठान चक्र में की जाती है, जो मूलाधार चक्र से दो अंगुल ऊपर है। जल तत्त्व का यह प्रमुख स्थान है, परन्तु सारे शरीर में व्यापक ध्यान वायु का केन्द्र इसी चक्र में है।

तीसरे पाद वाली मकार मात्रा में कारण जगत् के सम्बन्ध से परमात्मा का शबल स्वरूप ईश्वर उपास्य होता है और आत्मा का शबल रूप प्राज्ञ उपासक। यहाँ का देवता रुद्र अथवा आदित्य है, जो कारण शरीर की प्रकृति है। यह आदित्य ही सविता है जिसकी उपासना गायत्री मंत्र में विधेय है। इसकी भावना मणिपूरक चक्र में की जाती है। यह प्रमुख शक्ति केन्द्र है जिसे 'सौर' केन्द्र भी कहते हैं। यह चक्र नाभि के मूल में है। परावाक् इसी चक्र में रूपायित होती है। यही 'स्वःलोक' है। सम्पूर्ण शरीर व्यूह का ज्ञान इसी चक्र की सिद्धि से होता है और शरीर व्यूह का ज्ञान ही ब्रह्माण्ड ज्ञान है।

इसी प्रकार ओंकार की तीन मात्राओं और गायत्री की तीन व्याहृतियों से ध्यान परिपक्व किया जाता है। ओंकार की मात्राओं का अलग-अलग ध्यान नहीं किया जाता। सम्पूर्ण ओंकार ध्वनि से केवल भावना की जाती है। व्याहृतियों से अवश्य अलग-अलग भावना की जा सकती है, परन्तु प्रत्येक व्याहृति में ओंकार की पूर्ण ध्वनि ही रहेगी।

मणिपूरक चक्र के आगे अनाहत चक्र है जिसका स्थान हृदय है। प्राण वायु का यह केन्द्र है, अन्तःकरण चतुष्टय का मुख्य स्थान है। इसी को हृदयाकाश भी कहते हैं जहाँ ब्रह्म की ज्योति का विशेष स्फुरण और प्रकाश होता है। योगियों की अनाहत ध्वनि का केन्द्र भी यहीं है। ओंकार की अव्यक्त चतुर्थ मात्रा और गायत्री के तुरीयपाद का यहीं साक्षात्कार होता है। ओंकार पूर्वक त्रिपदा गायत्री का यहाँ अमात्र विराम है। त्रिपदा गायत्री का स्वरूप इस प्रकार है—

ओउम् भूर्भुवः स्वः। तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्। (यजु० अ० ३६, मंत्र ३), (ऋ० म० ३, सू० ६३, मं० १०); (साम० १, ४, ६२)

तीन व्याहृतियों का अर्थ इस प्रकार है—**'भूरिति वै प्राणः यः प्राणयति चराचरं जगत् स भूः।' 'वरित्यपानः, यः सर्वदुःखमपानयति सोऽपानः' 'स्वरिति व्यानः' 'यो विविधं जगत् व्यानयति व्याप्नोति स व्यानः।'** ये तीन व्याहृतियाँ परमात्मा के तीन स्वरूप हैं। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का प्राणस्वरूप और पृथ्वी लोक का नियन्ता 'भूः' कहलाता है। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का पालन-पोषण करने वाला और अन्तरिक्ष लोक का नियन्ता 'भुवः' कहलाता है। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में व्यापक और सब प्राणियों को सुख और ज्ञान को देने वाला 'स्वः' कहलाता है, जो द्यौ लोक का नियन्ता है। इसी प्रकार गायत्री के तीन पादों की व्याख्या की जा सकती है। इनमें भगवान् के वाचक दो शब्द हैं—सविता और देव। 'यः सुनोति, उत्पादयति सर्व जगत् स सविता', तथा 'यो दीव्यति वा स दैवः' दिव् धातु के अनेक अर्थ है जैसे—क्रीड़ा, विजिगीषा, व्यवहार, द्युति, स्तुति, मोद, मद, कान्ति और गति। इस प्रकार सविता और देव नामों में परमात्मा के सभी रूपों का समावेश हो जाता है। अनाहत चक्र अथवा हृदय में उस परमात्मा का प्रकाश पुंज है जो 'वरेण्य' अर्थात् उपास्य है और 'भर्ग' अर्थात् त्रिगुणातीत शुद्ध है। हृदयाकाश में प्रतिबिम्बित उस परमात्मा के तेज को हम 'धीमहि' धारण करें, ध्यान करें। वह प्रकाश 'तत्' पद वाच्य है—इसलिए अप्रमेय और अनिर्वचनीय है। प्रकृति का प्रथम विकार महत् तत्त्व है जो चित्त, बुद्धि आदि अनेक नामों से अभिहित किया जाता है। चित्त अथवा बुद्धि की शुद्धि ही साधना का चरम लक्ष्य है। इसलिए गायत्री मन्त्र में भगवान् से प्रार्थना की गयी है कि हमारी बुद्धियों (धियः) अर्थात् मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, अन्तःकरण चतुष्टय को 'प्रचोदयात्' अर्थात् 'सत्कर्मणि, सत् स्वरूपे वा प्रेरयेत्' सन्मार्ग में प्रवृत्त करें। त्रिपदा गायत्री का साधारण अर्थ यही है। इसके ऋषि विश्वामित्र हैं, देवता सविता और शब्द गायत्री है।

ईश्वर प्रणिधान क्रिया योग का प्रधान अंग है। योग के आठ अंगों में नियम की व्याख्या करते हुए भी सूत्रकार ने ईश्वर प्रणिधान को विशेष महत्त्व दिया है—**'शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः।'** (२।३२)

७७. जप और उसका महत्त्व

जप भी एक योग ही है, क्योंकि उसमें अन्य विषयों से चित्त को हटाकर जपनीय मंत्र में उसे समाहित करना होता है। नामजप और मंत्रजप दोनों का ही इसमें समावेश है। कलियुग में तो जप का महत्त्व है, क्योंकि कलियुग में सहज साधना ही सम्भव है जिसमें सत्संग, भगवत्कथा और जप ही मुख्य हैं। अन्य योग साधनाओं की तरह जपयोग के भी अंग बताये गये हैं, जैसे—(१) नवधा भक्ति (२) शौच (३) आसन (४) आचार (५) धारणा (६) दिव्य देश सेवन (७) प्राणायाम (८) मुद्रा (९) तर्पण (१०) हवन (११) षोडशोपचार (१२) जप (१३) ध्यान और (१४) समाधि। इसी प्रकार जप के अनेक प्रकार भी होते हैं, जैसे—(१) नित्य जप (२) नैमित्तिक जप (३) काम्य जप (४) निषिद्ध जप (५) प्रायश्चित् जप (६) अचल जप (७) चल जप (८) वाचिक जप (९) उपांशु जप (१०) भ्रमर जप (११) मानस जप (१२) अखण्ड जप (१३) अजपा जप (१४) प्रदक्षिणा जप—आदि, आदि।

वाचिक जप से ध्वनि बाहर सुनाई देती है, परन्तु उपांशु जप में होंठ अवश्य हिलते हैं, ध्वनि बाहर सुनाई नहीं पड़ती। भ्रमर जप में होंठ भी नहीं हिलते। मानस जप में मन्त्र के अर्थ का चिन्तन और ध्यान रहता है। अखण्ड जप और अजपा जप संतों की सहज साधना का जप है। साधारण साधकों को वाचिक जप ही करना चाहिए। कुछ काल की साधना के पश्चात् उपांशु जप करना चाहिए, क्योंकि उसमें बाह्य वायु के साथ सम्बन्ध क्षीण हो जाता है। यथार्थ जप मानस जप ही है, क्योंकि उसमें बाह्य वायु का सम्बन्ध विच्छिन्न हो जाता है। वास्तव में चित्त को विक्षिप्त करने वाला बाह्य विषयों का सन्निकर्ष है जो सबसे

अधिक वायु के द्वारा होता है। इसलिए जप की प्रक्रिया में बाह्य वायु के सम्पर्क को न्यून से न्यून किया जाता है। जप में श्वास-प्रश्वास की क्रिया स्वाभाविक ही होनी चाहिए—उसी स्थिति में मन से उसका सम्बन्ध हो सकता है। वाचिक जप में जब श्वास-प्रश्वास की क्रिया स्वाभाविक होती है तो वह स्वयमेव उपांशु जप में परिवर्तित हो जाता है। इसी प्रकार श्वास-प्रश्वास की गति धीमी होने से उपांशु जप मानस जप में बदल जाता है। मानस जप में इष्ट में भावना करनी पड़ती है और ध्यान की दृढ़ता से श्वास-प्रश्वास की गति और भी मन्द हो जाती है और सहज समाधि या भाव समाधि की स्थिति आ जाती है जो अजपाजप की ही एक अवस्था है। इसका क्रम इस प्रकार है। वैखरी से मध्यमा, मध्यमा से पश्यन्ती और पश्यन्ती से परा। वाचिक और उपांशु जप वैखरी में होते हैं, क्योंकि वहाँ शब्द और अर्थ का पार्थक्य रहता है। मध्यमा में शब्द और अर्थ मिल जाते हैं, इसलिए वहाँ मानस-जप होता है। मानस-जप के पश्चात् जब अखण्ड जप चलने लगता है तो पश्यन्ती की अवस्था होती है, जहाँ शब्द और अर्थ एक ही हो जाते हैं। अजपाजप ही संतों की सहजावस्था है। इसी को जप सिद्धि अथवा इष्ट दर्शन कहते हैं। यह सब कुछ पश्यन्ती अवस्था में ही होता है, क्योंकि परा तो अव्यक्त है। जप के सम्बन्ध में यह बात विशेष ध्यान देने की है कि गुरुप्रदत्त मन्त्र अथवा बीजमन्त्र का जप विशेष उपयोगी होता है, क्योंकि वे मंत्र चिन्मय होते हैं और उनके माध्यम से चैतन्य ज्योति का शीघ्र ही साक्षात्कार होता है। भगवान् के नाम भी बीज मंत्र के समान चिन्मय ही होते हैं, इसीलिए कलिकाल में नाम संकीर्तन का महान् महत्त्व है—'**कलौ केशवकीर्त्तनात्**' तथा 'रामनाम्नैव मुक्तिः स्यात् कलौ नान्येनं केनचित्'—इत्यादि वाक्य इस बात के प्रमाण हैं। भागवत् में लिखा है—'**कलौयद्धरिकीर्तनात्।**'

७८. भगवन्नाम और जप के लिए उसका चयन

भगवान् का यह वैशिष्ट है कि शब्द मात्र से उसी की अभिव्यक्ति होती है। सारे शब्द भगवान् के ही नाम हैं और इसका रहस्य यह है कि नाम और रूप की कल्पना सत् वस्तु में ही होती है असत् में नहीं और सत् एकमात्र भगवान् ही है। अतः सारे नाम उसी के हो सकते हैं। नाम जो भी हो उसकी महिमा भावना से परिवर्तित हो जाती है। भक्त की भावना ही नाम को चिन्मय कर देती है। इसलिए जो भी नाम भक्त के हृदय में भावना भावित हो सके, उसी का जप करना चाहिए। इसीलिए संतों के यहाँ नाम-जप का बड़ा महत्त्व है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने तो यहाँ तक कह दिया है—

नामु लेत भविसिंधु सुखाहीं। करहु विचारु सुजन मन माहीं॥

तथा—

भाव कुभाव अनख आलसहूँ। नाम जपे मंगल दिसि दसहूँ॥

नाम-जप करते-करते भगवदाकार वृत्तिं हो जाती है, क्योंकि जप में नामी का ध्यान रहता है। एक सबसे बड़ी बात नाम-जप में यह है कि इसमें विधि का बंधन नहीं है और आचार-विचार का कोई नियम नहीं है। केवल भगवच्चिन्तन ही शर्त है उसी से धीरे-धीरे भगवान् का साक्षात्कार हो जाता है। संतों के यहाँ सुमिरन का बड़ा महत्त्व है, परन्तु उनका सुमिरन साधारण साधकों जैसे नहीं होता है—

सुमिरन ऐसा कीजिये दूजा लखै न कोय।
ओठ न फरकत देखिये, प्रेम राखिये गोय॥

सहजो सुमिरन कीजिये, हिरदै माहिं दुराय।
होठ होठ सू ना हिले, सकै नहीं कोई पाय॥
सत गुरु माला मन दिया, पवन सुरति सो पोइ।
बिन हाथों निस दिन जपै; परम जाप यूँ होइ॥

जप, स्मरण, माला, तिलक और कंठी आदि तो आचार की बातें हैं, वास्तविक जप में आचार तो पीछे छूट जाता है, प्रकृति के रोम-रोम से जप ही सुनाई देने लगता है, परन्तु यह स्थिति सिद्ध की होती है। साधनावस्था में तो निर्दिष्ट आचार का पालन करना ही चाहिए।

७९. ध्यान और साधना में जप का महत्त्व

किसी लक्ष्य में चित्त को तैल धारावत् अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित करना ही ध्यान है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में इसका महत्त्व है। बिना समुचित ध्यान से जीवन-यात्रा भी सम्भव नहीं है—साधना की तो बात दूर रही। विशुद्ध कर्म और भक्ति के क्षेत्र में भी ध्यान का अत्यधिक महत्त्व है। हमें योग दर्शनकार की ध्यान की परिभाषा सार्वभौम-सी लगती है—'**तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्**'॥ ३। २॥ अर्थात् जिस भी वस्तु या विषय को ध्येय बनाया जाय—मूर्त, अमूर्त, लौकिक, अलौकिक, चाहे वह जिस रूप में क्यों न हो, उसमें इस प्रकार वृत्ति लगायी जाय कि विश्व की कोई अन्य वस्तु अथवा विषय आकर्षण अथवा व्यवधान उत्पन्न न कर सके। ध्याता और ध्येय को मिलाने वाला व्यापार ध्यान ही है। इस प्रकार चित्त की एकाग्रता ही ध्यान का प्रयोजन है। योगदर्शन में जिस प्रकार चित्त की एकाग्रता के लिए अनेक उपाय बताये गये हैं, उसी प्रकार ध्येय के स्वरूपों का भी विवेचन किया गया है। इस सम्बन्ध में समाधिपाद के दो सूत्र विशेष रूप से विचारणीय हैं—'**वीतरागविषयं वा चित्तम् (३७)**' तथा '**यथामितध्यानाद्वा (३९)**'। पहले सूत्र का अर्थ टीकाकारों ने अनेक प्रकारों से किया, परन्तु साधक के लिए उपयोगी अर्थ यही है कि किसी वीतराग पुरुष, सन्त या महात्मा को ध्येय बनाने से भी चित्त में एकाग्रता आ जाती है। दूसरे सूत्र में महर्षि पतंजलि ने अपने मन्तव्य को स्पष्ट करते हुए यहाँ तक कह दिया है कि स्वप्न और निद्रा में यदि मन कहीं टिक गया है तो उसे भी ध्येय बनाया जा सकता है। ध्येय को और भी व्यापक बनाते हुए अन्त में सूत्रकार कहता है कि जिस साधक का जो भी अभिमत हो, वह उसे ही ध्येय बना सकता है। ध्यान का सबसे प्रमुख प्रयोजन और उपयोग तो यही है कि चित्तवृत्तियाँ विभिन्न विषयों से हटकर एक विषय पर केन्द्रित हो जायँ और बाकी तो विषय की स्वरूप भावना पर निर्भर है। वह भी संस्कारों से, सतसंग से अथवा उपदेश से हो ही सकता है। इसलिए समाधि योग में धारणा और ध्यान अनिवार्य, अंग माने गये हैं। धारणा से भाव परिपक्व होता है और ध्यान से दृढ़, यही दोनों का भेद है। इसलिए ध्यान को एक योग ही कहा गया है जो समाधि अवस्था का साधक है। उसे ही ध्यान समाधि कहते हैं। भक्ति के क्षेत्र में ध्यान समाधि ही सर्वस्व है, क्योंकि क्षणभर की ध्यान समाधि से अनन्त योगसमाधियों से बढ़कर आनन्द मिलता है। भक्ति के क्षेत्र में ध्यान का अनिवार्य अंग स्मरण है, पुनः-पुनः स्मरण है, निरन्तर स्मरण है, क्योंकि स्मरण ही आसक्ति का मूल है। '**ध्यायतो विषयान् पुंसः संगस्तेषूपजायते**' जैसे आसक्ति बढ़ेगी, चित्तवृत्ति में स्थिरता आती जायगी और धीरे-धीरे ध्याता और ध्येय के भेद का भान भी नहीं होगा। उस स्थिति में श्वास-प्रश्वास की गति मन्द होते-होते स्वयं ही स्थिर हो जायगी। इसी को भक्त भावसमाधि कहते हैं जिसमें देहाध्यास भी छूट जाता है।

८०. विषय का ध्यान—उसकी परिणति और उससे मुक्ति

श्रीमद्भगवद्गीता में कहा गया है—

ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते।
संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते॥
क्रोधात् भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥

(गी० २।६२-६३)

अर्थात् विषय का ध्यान करने से विषय में आसक्ति होती है। आसक्ति होने से विषय को प्राप्त करने की कामना होती है। कामना की पूर्ति न होने पर कामनापूर्ति के बाधकों पर क्रोध होता है। क्रोध से मोह की उत्पत्ति होती है। मोह से स्मृति नाश होता है और स्मृति नाश से बुद्धि का नाश होकर मनुष्य विनाश के गर्त में जा गिरता है।

गीता में वर्णित विषय ध्यान की यह परिणति पूर्णरूप से सत्य है, किन्तु यह ध्यातव्य है कि यह क्रम सभी संसारी जीवों का नहीं है; क्योंकि उनकी मनोवृत्ति विषयों पर आश्रित न होकर उनके फल पर आश्रित होती है। यदि मनुष्य की मनोवृत्ति फलाश्रित न होकर विषयाश्रित एवं विषयाकार होने लगे तो पापी-से-पापी व्यक्ति भी इस भवसागर से तर सकता है, क्योंकि विषयाकार वृत्ति में भावना का ही खेल है, फलाकार वृत्ति में उपलब्धि और उपयोग का है। इसीलिए गीताकार ने तुरन्त ही कह दिया है—

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥

राग-द्वेष का भाव विषयान्तर पर आसक्ति से होता है अथवा फलासक्ति से होता है। आजकल के मनुष्यों से तो ये पशु-पक्षी भी अच्छे हैं जिनकी विषयाकार वृत्ति सन्तों के ही समान होती है। विषयाकार वृत्ति में शरीर, प्राण और चित्त में एकसूत्रता हो जाती है।

८१. विषय वासना और उसका परिहार

विषय वासना उस संस्कार को कहा जाता है जो विषयों की अनुभूति से उनके सम्बन्ध में उत्पन्न होती है। अनादि संसार में विषयानुभूति की परम्परा अनादिकाल से अनवरत चली आ रही है, उसके परिणामभूत विषय वासना का प्रवाह भी अनादि और अनवरत है। वही संसार चक्र का मूल कारण है। उसकी निवृत्ति अत्यन्त दुष्कर है। उसे निर्मूल करना अत्यंत दुष्कर कार्य है। विषय के उपस्थित होने पर वासना जग सकती है और वर्षों की तपस्या तथा साधना का क्षण भर में क्षय हो सकता है। इसके लिए दो ही उपाय हैं—एक योग दर्शन का है और दूसरा भक्ति दर्शन का। दोनों ही दर्शनों में त्रिपुटी का लय होने से विषय की विषमता समाप्त हो जाती है और तत्सम्बन्धी वासना भी निर्मूल हो जाती है। भक्ति दर्शन का विधेय उपाय गीताकार ने भी बताया है—

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते॥ २-५९॥

वास्तव में यह रस ही वासना है जो भगवत्साक्षात्कार अर्थात् भगवदाकार वृत्ति से निर्मूल होती है।

८२. ध्यानाभ्यास की विधि

ध्यान की दृढ़ता के लिए उसका अभ्यास परमावश्यक है और वह नाम साधना से अनायास सम्पन्न होता है, क्योंकि नाम और नामी अभिन्न हैं। इसलिए नाम साधना से नामी के स्वरूप पर ध्यान जमने लगता है। स्वरूप वृत्ति परिपक्व होने पर साधक फिर नाम पर लौट आता है, क्योंकि ध्यान की परिपक्वता में केवल ध्वनि ही अवशिष्ट रह जाती है। प्रथमावस्था में जहाँ तक इष्ट के स्वरूप का प्रश्न है उसके विषय में तो गीताकार का स्पष्ट मत है—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
ममवर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥
यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्॥

ध्यान के अभ्यास में चित्त की एकाग्रता ही साध्य है, इसीलिए यथाशक्य चित्त को शरीर से अलग रखने का अभ्यास करना चाहिए अर्थात् न तो शरीर की आवश्यकताओं की ओर ध्यान दें और न ही शरीर को विशेष साधने की ओर। दोनों ही अवस्थाओं में चित्त को शरीर में लगाना होता है, चित्त की वृत्ति अनवच्छिन्न तैल धारा के समान ध्येय में लगी रहेगी तो शरीर से वह स्वयं विरत हो जायगी और अनायास ही केवली कुम्भक की सिद्धि हो जायगी। शरीर की क्रिया को रोक देना ही तो आसन और प्राणायाम की सिद्धि है—यह भक्तों का क्रिया योग है। इसी प्रकार जब कामनाओं का केन्द्र इष्ट अथवा ध्येय हो जायगा तो धारणा और ध्यान की सिद्धि हो जायगी। इच्छा और क्रिया का नियंत्रण होने पर केवल ज्ञान रह जाता है जो भक्त के लिए भगवदाकारवृत्ति स्वरूप ही है।

भक्ति साधना के चार सोपान है—नाम, रूप, लीला और धाम। सभी भक्ति सम्प्रदायों में इन सोपानों का महत्त्व है और इनका विवेचन भी विस्तार से किया गया है। सम्प्रदाय के ग्रन्थों में उस विवेचन को देखा जा सकता है। व्यक्तिगत साधना तथा अभ्यास के भी कुछ क्रम निर्धारित है। साधना के लिए श्रद्धा और विश्वास का सम्बल अनिवार्य है। इसी प्रकार गुरु भी अनिवार्य अंग है। साधना के प्रथम क्रम में गुरुप्रदत्त मंत्र के जप के साथ गुरु के सम्पूर्ण विग्रह में भावमग्न होने की आवश्यकता होती है। इसमें कलाकार की सूक्ष्म दृष्टि अपेक्षित होती है। ध्यान की दृढ़ता का प्रमाण यह है कि साधक के मनोराज्य में गुरु-लीला का चिन्तन ही सर्वस्व हो जाता है। साधना के द्वितीय क्रम में चित्तवृत्तियाँ द्रवीभूत होनी प्रारम्भ हो जाती हैं और लीला में आसक्ति हो जाती है—मनोराज्य समाप्तप्राय हो जाता है। साधना के तृतीय क्रम में आनन्दोपलब्धि होने लगती है और चतुर्थ क्रम में पूर्ण समर्पण हो जाता है तथा इष्टाकारवृत्ति हो जाती है। ध्यानावस्था में मन प्राण का लय करना होता है। जिससे सत्त्व गुण की वृद्धि होती है तथा मन स्थिर हो जाता है। साधारण साधकों के प्राण में मन का लय रहता है जिससे मनोराज्य भी चलता रहता है और जप भी। साधना में प्राण और मन की क्रिया को समझना बड़ा आवश्यक है। मन को भगवान् में लीन करना ही तो भक्त का चरम साध्य है। इसकी प्राप्ति गुरु-कृपा के बिना त्रिकाल में भी सम्भव नहीं है। चित्त की एकाग्रता होने पर, विचार और विवेक द्वारा उसे दृढ़ किया जाता है। भक्ति के क्षेत्र में सत्संग और स्वाध्याय से ही विचार और विवेक की प्राप्ति होती है। शंकराचार्य ने ध्यान विधि के सम्बन्ध में लिखा है—

लक्ष्ये ब्रह्मणि मानसं दृढ़तरं संस्थाप्य बाह्येन्द्रियम्।
स्वस्थाने विनिवेश्य निश्चलतनुं चोपेक्ष्य देहस्थितिम्॥
ब्रह्मात्मैक्यमुपेत्य तन्मयतया चाखण्डवृत्तानिशम्।
ब्रह्मानन्दरसं पिबात्मनि मुखा शून्यैः किमन्यैर्भ्रमैः॥

अर्थात् चित्त को अपने लक्ष्य में दृढ़ करके बाह्य इन्द्रियों को अपने-अपने गोलकों में स्थिर करना चाहिए। शरीर को स्थिर करके उसकी चेष्टाओं और आवश्यकताओं पर ध्यान नहीं देना चाहिए। इस प्रकार तन्मयता से विषयाकार वृत्ति करनी चाहिए जो परमानन्द को देने वाली है।

८३. चित्तवृत्ति और निराकार उपासना

उपासना के क्षेत्र में सगुण और निर्गुण भेद से उपासना की दो धाराएँ अनादिकाल से चर्चा का विषय हैं। साधना में प्रवेश करने वाले व्यक्ति को ज्यादा सगुण वृत्ति निसर्गतः उत्पन्न होती है, क्योंकि मनुष्य का चित्त तो सदा से ही साकार वस्तु को ग्रहण करता आ रहा है। जब भी उसके समक्ष कोई लक्ष्य प्रस्तुत होता है, तब वह किसी न किसी आकार के साथ ही उपस्थित होता है। आकारहीन को लक्षित करने का चित्त का स्वभाव ही नहीं है। ऐसी स्थिति में निराकार उपासना कैसे सम्भव हो सकती है और उसके बिना आकारमय प्रपंच से मनुष्य को छुटकारा कैसे हो सकता है? वस्तुतस्तु साधकों को साकार या निराकार के विवाद में नहीं पड़ना चाहिए। उन्हें तो केवल यह प्रयत्न करना चाहिए कि उनका चित्त किसी लक्ष्य को पकड़े और उसमें स्थिर हो जाय। स्थिर होने का अर्थ है किसी एक निश्चित लक्ष्य में चित्त वृत्ति का अविच्छिन्न रूप में प्रवाहित होना। ऐसा होने से चित्त की वृत्ति धीरे-धीरे आकार का त्याग कर शुद्ध स्वरूप तक पहुँच जाती है और उसी को आडम्बर बनाकर प्रवाहित होने लगती है। प्रस्तुत प्रसंग में यह बात दृष्टि में रखना आवश्यक है कि निर्गुण और सगुण तथा साकार और निराकार में वास्तव में कोई भेद नहीं है। निर्गुण ही माया के सम्बन्ध से सगुण होता है और सगुण ही माया के अन्य प्रकार के उदात्त व्यापार से निर्गुण होता है। इसी प्रकार निराकार ही साकार और साकार ही निराकार होता है। साधक की चित्तवृत्ति जब आकार और उसकी अधिष्ठानभूत मूल तत्त्व दोनों को विषय करती है, तब वह साकार को ग्रहण करने वाली वृत्ति के रूप में समझी जाती है और जब आकार को छोड़कर केवल मूल तत्त्व मात्र को विषय करती है तब वह निराकार मात्र को ग्रहण करने वाली दृष्टि कही जाती है। इसी को वेदान्त शास्त्र में ब्रह्म का अखण्ड साक्षात्कार कहा जाता है। इस बात को ध्यान में रखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि साकार और निराकार तथा सगुण और निर्गुण में कोई भेद नहीं है। परमेश्वर को इन दोनों रूपों में अथवा इन दोनों से पृथक् अनिवर्चनीय रूप में भी समझा जा सकता है। परमेश्वर की अनिवर्चनीयता जगत् की अनिर्वचनीयता से भिन्न है। जब परमेश्वर को अनिवर्चनीय कहा जाता है तो उसका अर्थ होता है कि परमेश्वर अविद्या के द्वारा वचन का एवं मलयुक्त मन का विषय नहीं है जैसा कि कठोपनिषद् में कहा गया है—'नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा' (३।२।१२) इसी प्रकार मुण्डकोपनिषद् में भी आता है—

न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा, नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा।
ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः॥
(मु० ३।१।८)

फिर उसे वेद में सगुण भी कहा है तो सहस्रशीर्ष वाला, सहस्र आँखों वाला, सहस्र चरणों वाला और सारे ब्रह्माण्ड को व्याप्त करने पर दश अंगुल ऊपर रहने वाला बताया है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में लिखा है—

सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति॥ श्वेता० ३।१६

फिर इसी उपनिषद् में आगे लिखा है—

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च॥ ६।११॥

इसलिए ब्रह्म के निर्गुण और सगुण रूप में कोई तात्त्विक भेद नहीं है। सगुणवादी भक्त परब्रह्म के निर्गुणत्व में तो विश्वास करते ही हैं—इसी प्रकार निर्गुणवादी सगुण रूप को सोपाधिक कहकर अपने मत का प्रतिपादन करते हैं। सगुणोपासना, निर्गुणोपासना से कठिन है, क्योंकि एक तो सगुणोपासना में आचार की प्रधानता है—दूसरे भगवद् विग्रह में तद्रूप भावना बहुत ही कठोर साधना का फल है। पर इतनी बात अवश्य है कि साधना के प्रारम्भ में सगुणोपासना ही सरल पड़ती है। कबीर आदि संत तो इस विषय की चर्चा ही नहीं चलाना चाहते—

भारी कहौं त बहु डरौ, हलका कहूँ तो झूठ।
का मैं जाणू राम कूँ, नैनूँ कबहु न दीठ॥
दीठा है तो कस कहूँ, कह्याँ न को पतिआई।
हरि जैसा है तैसा रहौ, तू हरषि हरषि गुन गाई॥

ज्ञान-भक्ति तथा निर्गुण-सगुण का विवाद बहुत पुराना नहीं है। हजार-बारह सौ वर्षों के भीतर ही यह विवाद खड़ा हुआ है। दर्शन और भक्ति दोनों ही क्षेत्रों में इस प्रश्न को लेकर शास्त्रार्थ हुए हैं। ब्रह्म को निर्गुण, निर्विशेष और निर्लक्षण भी कहा गया है और सगुण, सविशेष और सलक्षण भी। इसीलिए शंकराचार्य से लेकर आज तक आचार्य इन्हीं शब्दों की व्याख्या करते आ रहे हैं। भक्ति के भी अनेक भेद किये गये और अनेक प्रकार से उन भेदों की व्याख्या की गयी। वैदिक, तांत्रिक, श्रौत, मिश्र आदि भक्ति के अनेक विभाग किये गये हैं। वोपदेव ने मुक्ताफल में भक्ति के अनेक भेद विस्तार से बताएँ हैं। इसी प्रकार सभी सम्प्रदायों के आचार्यों ने अपने-अपने सम्प्रदाय की आचार-प्रतिष्ठा के लिए भक्ति साधना की बड़ी विस्तृत, भव्य और मनोवैज्ञानिक व्याख्याएँ प्रस्तुत की हैं।

उपास्य की व्याख्या और व्युत्पत्ति भी आचार्यों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से की है। स्वामी रामानन्द जी को निर्गुण और सगुण दोनों ही परम्पराओं का आचार्य स्वीकार किया जाता है। विष्णु सहस्रनाम पर एक शांकर भाष्य प्राप्त होता है—उसमें राम की निर्गुण और सगुण दोनों ही रूपों मे व्युत्पत्ति की गयी है—

नित्यानन्देऽस्मिन् रमन्ते, इतिराम।
स्वेच्छया वपुर्वहन वा दाशरथी रामः॥

इसी प्रकार पद्मपुराण में आता है—

रमन्ते योगिनी यस्मिन्नित्यानन्दे चिदात्मनि।
इति रामपदेनैतत् परब्रह्माभिधीयते॥

परन्तु धीरे-धीरे सगुण और निर्गुण की दो भिन्न धाराएँ ही हो गईं। गोस्वामी तुलसीदास जी ने ब्रह्म के निर्गुण और सगुण दोनों ही रूपों का विवेचन किया है, परन्तु भक्तों के लिए ब्रह्म के सगुण रूप को ही

सहज गम्य माना है—अगस्त्य ऋषि, इन्द्र आदि सगुण रूप को श्रेयस्कर मानते हैं—

जद्यपि ब्रह्म अखण्ड अनन्ता। अनुभवगम्य भजहिं जेहिं सन्ता॥
अस तव रूप बखानउँ जानउँ। फिरि फिरि सगुन ब्रह्म रति मानउँ॥
कोउ ब्रह्म निर्गुन ध्याव। अव्यक्त जेहि श्रुति गाव॥
मोहि भाव कोसल रूप। श्रीराम सगुन सरूप॥

(मानस, सो० ७)

इसी प्रकार गोस्वामी तुलसीदास जी ने रामचरितमानस में अनेक स्थलों पर ब्रह्म के सगुण रूप को ही अधिक महत्त्व दिया है और कहीं-कहीं दोनों रूपों में अभेद भी स्थापित किया है।

सगुनहि अगुनहि नहि कछु भेदा। गावहिं मुनि पुरान बुध बेदा॥
अगुन सगुन दुइ ब्रह्म सरूपा। अकथ अगाध अनादि अनूपा॥

तुलसी के राम निर्गुण भी हैं और सगुण भी। उनका सगुण रूप निर्गुण रूप का ही ऐश्वर्य है। प्रयोजन विशेष से निर्गुण भगवान् साकार रूप धारण करते हैं—

जब जब होइ धरम कै हानी। बाढ़हिं असुर अधम अभिमानी॥
करहिं अनीति जाइ नहिं बरनी। सीदहिं विप्र धेनु सुर धरनी॥
तब तब प्रभु धरि विविध सरीरा। हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा॥

(मानस, सो० १)

'वैराग्य संदीपनी' में गोस्वामी जी ने इसी तत्त्व की ओर संकेत किया है—

अज अद्वैत अनाम, अलख रूप गुन रहित जो।
मायापति सोइ राम, दास हेतु नर तनु धरेउ॥

रामचरित मानस के उत्तरकाण्ड में गोस्वामी जी ने इस तत्त्व को भली-भाँति समझा दिया है—

निर्गुन रूप सुलभ अति सगुन जान कोई-कोई।
सुगम अगम नाना चरित सुनि मुनि मन भ्रम होई॥

भगवान् का पारमार्थिक रूप तो निर्गुण ही है—सगुण तो भक्त के प्रेम का फल है—

अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत प्रेम बस सगुन सो होई॥
जो गुन रहित सगुन सोइ कैसे। जल हिम उपल बिलग नहिं जैसे॥

गुप्त और प्रत्यक्ष अग्नि की उपमा से गोस्वामी जी ने इस तत्त्व को समझाया है—

एक दारुगत देखिय एकू। पावक सम जुग ब्रह्म बिवेकू॥

गोस्वामी तुलसीदास ने निर्गुण और सगुण को जोड़ने वाली नाम शृंखला को बड़ा महत्त्व दिया है और एक ओर नाम की कड़ी को निर्गुण से अधिक महत्त्वपूर्ण बताया है और दूसरी ओर उसे सगुण रूप से बढ़कर बताया है। वास्तव में गोस्वामी जी के राम सगुण, निर्गुण, विराट्, हिरण्यगर्भ, ईश्वर, ब्रह्म, परमात्मा, भगवान् सभी कुछ हैं। रामचरित मानस में इन सभी रूपों की सटीक व्याख्या है। इसीलिए रामचरित मानस एक सिद्ध ग्रन्थ है जिसके विषय में यह उक्ति पूर्णरूप से चरितार्थ होती है—

यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्॥

८४. वर्तमान मानव और अध्यात्म

वर्तमान युग विज्ञान और राजनीति का युग है। इस युग का मनुष्य प्रथमतः अध्यात्म से विमुख है। उसकी समस्त प्रवृत्ति भोग जीवन से संबंधित है और यदि अध्यात्म शास्त्रों के अध्ययन एवं संत समागम से किसी को अध्यात्म की ओर उन्मुख होने की रुचि उत्पन्न होती है तो वह कोई ऐसे साधन का अन्वेषण करता है जो पाश्चात्य चिकित्सा में इन्जेक्शन के प्रयोग के अनुसार सद्यः फलप्रद है। किन्तु अध्यात्म मार्ग में ऐसा कोई उपाय नहीं है, जिसमें थोड़ी बहुत साधना अपेक्षित न हो। आजकल इस प्रकार की अनेक औषधियों का आविष्कार हो गया है, जिनके प्रयोग से कुछ काल तक आत्मविस्मृति हो जाती है। बहुत-सी मादक वस्तुएँ भी ऐसी हैं जिनके प्रयोग से मनुष्य कुछ देर के लिए अपने को भूल जाता है। इस प्रकार की कुछ यौगिक क्रियाओं का भी प्रचार होता है, जिनके द्वारा भाव-समाधि लग सकती है। देश-विदेश में तो इस प्रकार की यौगिक क्रियाओं को सिखाने के केन्द्र भी खुल गये हैं। योग न तो इतना सरल है कि बिना साधना के वह सीखा जा सके और न ही वह व्यापार और व्यवसाय की वस्तु है। योग में संयम करना पड़ता है और थोड़े से संयम का भी फल प्रत्यक्ष हो जाता है, लेकिन भाव समाधि दूर की बात है औषधियों से जो इन्द्रिय-निग्रह होता है वह तो ऐसा ही है जैसा कि गीता में लिखा है—

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते॥

निराहार रहने अथवा औषधियों के प्रयोग से इन्द्रियाँ अशक्त होकर अपने-अपने विषयों का सेवन करने में असमर्थ हो जाती हैं—मन की विषय वासना क्षीण नहीं होती। यह केवल बाह्य क्रिया मात्र है। इसलिए जिस साधन से वासनाएँ क्षीण हों वह करना चाहिए। वह साधन निश्चित रूप से संयम ही है। अब रही बात आज की परिस्थितियों की। अध्यात्म साधना आज की सबसे बड़ी माँग है। आज संसार में जितना विक्षोभ, अनाचार, उद्वेग, असंतोष और वैषम्य है—उतना पहले कभी नहीं था। इस घोर अशांति के मूल में श्रद्धा, विश्वास और आस्था का अभाव है। आश्चर्य तो इस बात का है कि एक ओर तो विश्वास और आस्था को लेकर विज्ञान इतनी प्रगति कर रहा है, दूसरी ओर मानव की अपने अस्तित्त्व से ही आस्था समाप्त हो रही है और वह क्षणवादी होकर सब कुछ करने को तैयार है। उसकी दृष्टि साध्य पर टिकी है, उसके चरण साधन से डिग चुके हैं। ज्ञान, वैराग्य और भक्ति की बात तो दूर, उसका जीवन ही उसके लिए एक समस्या बन चुका है। वातावरण का ऐसा प्रभाव है कि ज्ञान, कर्म और उपासना के सभी साधन व्यवसाय बनते जा रहे हैं। फलस्वरूप आनन्द में अवसाद, शांति में अशांति, ज्ञान में अज्ञान, योग में रोग या भोग तथा धर्म में व्यापार ही उसके हाथ लगता है। साधु, संत और महात्मा उसके लिए केवल चमत्कार का विषय है। आज ऊँची से ऊँची और नीची से नीची स्थिति के मनुष्य हैं—और वे सब दुःखी हैं, अपनी-अपनी स्थिति से असंतुष्ट हैं और प्रत्येक व्यक्ति सच्चे आनन्द की खोज में है। ऊपर से सुंदर, भव्य और महनीय रूप वाले व्यक्ति अन्दर से खोखले हैं। उनकी स्थिति दयनीय है—इस सम्पूर्ण विषाक्त वातावरण के मूल में भौतिकता है। मनुष्य ईश्वर में विश्वास करे या न करे, कम-से-कम अपने में तो विश्वास करे। अपने में विश्वास करना ही भगवान् में विश्वास करना है। आज मनुष्य का जड़ विषयों तथा पदार्थों में विश्वास है। उसकी इन्द्रियों में शक्ति नहीं है। अतः अच्छा-से-अच्छा विषय भी उसके लिए व्यर्थ

है—वह उसका उपयोग नहीं कर सकता। केवल मात्र इन्द्रियाँ ही जड़ हैं, शक्ति या चेतना से ही ये विषय का भोग कर सकती हैं, इसलिए इन्द्रियाँ भी बिना चेतना के निरर्थक हैं—मृत हैं। सब इन्द्रियों में विभाजित चेतना भी मूल में एक ही है। इसलिए सच्चे आनन्द न तो विषय में है न इन्द्रियों में, बल्कि चेतना में है। इस चेतना को पहचानना ही अपने को पहचानना है। यदि इतना ही कर लिया जाय तो आनन्द की एक झलक तो मिल ही जायगी। आगे चलकर इस व्यष्टि चेतना को समष्टि चेतना से मिलाना होगा। इसी का नाम योग है, इसी का नाम कर्म है और इसी का नाम उपासना है। इसके लिए कुछ अभ्यास करना चाहिए और कुछ विश्वास। यह आवश्यक नहीं है कि राम या कृष्ण आदि को माना जाय, किन्तु आवश्यक यह है कि मनुष्य किसी अन्य को न मानकर अपने को माने, किसी व्यवस्था को माने, किसी प्रतीक को माने। कहीं तो मन को स्थिर करे, आस्था जमाये, केवल एक बात का ध्यान रखे कि स्थायी आनन्द और शांति के लिए किसी चेतन सत्ता में विश्वास करना ही होगा, जो शरीर के अवयवों से भिन्न तत्त्व है और जड़ पदार्थों की हलचल का कारण है। आज का बुद्धिवादी और जड़वादी मनुष्य जड़ पदार्थों के संघात में ही चेतना मानता है, उनसे अलग तत्त्व नहीं। उसकी यह भ्रान्ति है। यदि मन, बुद्धि, अहंकार और चित्त को एक प्रकार की चेतना भी माना जाय तो फिर भी इनका एक प्रवर्तक और नियामक तत्त्व मानना होगा, जिसे गीता में कहा है—'**यो बुद्धेः परतस्तु सः।**' इसका सबसे बड़ा प्रमाण—'मैं हूँ' इस प्रकार की अनुभूति ही है। इस 'मैं' की खोज में ही सच्चा आनन्द है। यह 'मैं' क्या है—

नाहं देहो नेन्द्रियाण्यन्तरङ्गम्, नाहङ्कारः प्राणवर्गो न बुद्धिः।
दारापत्यक्षेत्रवित्तादिदूरः, साक्षी नित्यः प्रत्यगात्मा शिवोऽहम्॥

अर्थात् न मैं देह हूँ, न इन्द्रियाँ, न अन्तःकरण, न अहंकार, न प्राण और न बुद्धि। स्त्री, पुत्र, क्षेत्र तथा वित्त आदि से पृथक् मैं शुद्ध आनन्द स्वरूप हूँ। ऐसा समझकर मनुष्य को अपना मन कहीं टिका देना चाहिए, फिर वह मन तत्स्वरूप ही हो जायगा, '**यत्र यत्र मनो देही धारयेत् सकलं धियाः। स्नेहाद् द्वेषाद् त्रयाद्वापि याति तत्स्वरूपताम्।**' भृंगी नाम के कीट से यह शिक्षा ग्रहण की जा सकती है। संसार का कोई ऐसा पदार्थ नहीं है जो अनन्य भाव से चिंतन करने से प्राप्त न हो सके।

अपने को पहचानना ही ईश्वर को पहचानना है, इस संसार को पहचानना है। सांसारिक दुश्चिन्ताओं से मुक्त होने का एकमात्र उपाय यही है। मनुष्य के भीतर जो प्रकाश है वह अजर-अमर है, अन्तरात्मा है, सर्वात्मा है, प्रेममय है, विश्वासमय है और श्रद्धामय है। सच्चा आनन्द मनुष्य के अपने भीतर ही है, उस स्रोत के खुलते ही आनन्द का निर्झर झरने लगता है, दृष्टि बदल जाती है और संसार आनन्दमय हो जाता है। संसार के एक ही विषय में दृष्टि के भेद से भिन्न प्रकार की प्रतिक्रिया होती है। इसलिए आनन्द या विषाद विषय में नहीं है, दृष्टि में है। दृष्टि बदलने से सारा संसार ही बदल जाता है। मन की एकाग्रता के लिए चिंतन आवश्यक है। अतीत और अनागत के चिंतन से मन त्रिकाल में भी एकाग्र नहीं हो सकता, क्योंकि अतीत का चिंतन व्यर्थ है और अनागत का अनिश्चित। इसलिए वर्तमान परिस्थितियों को अनुकूल और आनन्दमय बनाने का चिन्तन ही उपयोगी होता है। सदा प्रसन्न रहना, आत्मा का गुण बताया जाता है। यह वास्तव में चित्त का प्रसाद ही है, जिसके लिए गीता में लिखा है—

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते। २।६५।

संसार की सम्पूर्ण चिंताओं के मूल में वासनाएँ हैं—उन्हें रोकने का एकमात्र उपाय उनके यथार्थ स्वरूप का चिन्तन है। वासनाजन्य चिन्ताएँ ही हमारी अशान्ति का कारण हैं—इसकी एकमात्र औषध है—आत्मचिन्तन। आत्मचिंतन ही संकल्प शक्ति का मूल है, जो आनन्द का उद्गम स्रोत है तथा संयम का एकमात्र साधन। संयम के बिना मानव, मानव कहलाने का अधिकारी नहीं है। यह मानव शरीर बड़ी साधना और तपस्या से मिलता है। इसके विषय में भागवत के एकादश स्कन्ध (२०।१७) में लिखा है—

नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं प्लवं सुकल्पं गुरुकर्णधारम्।
मयानुकूलेन नमस्वतेरितं पुमान् भवाब्धिं तरेत्स न आत्महा॥

भाग ११।२०।१७

इस भावसागर को पार करने के लिए यह शरीर एक दृढ़ नौका के सदृश है, इसका कर्णधार गुरुकृपा ही अनुकूल वायु है। जो इन साधनों का उपयोग कर भावसागर से पार नहीं उतरता, वह आत्मघाती है।

आज धन-संपत्ति को ही सबसे अधिक महत्त्व दिया जाता है। सारी राजनैतिक व्यवस्थाओं के मूल में अर्थव्यवस्था ही है। मानव के लिए अर्थोपासना ही सर्वस्व है। अर्थ की प्राप्ति और विनाश में ही सुख और दुःख की कल्पना निहित है। परन्तु अर्थ की प्राप्ति से अर्थाभावजन्य कष्टों का निवारण नहीं हो सकता, क्योंकि अर्थप्राप्ति आवश्यकताओं को जन्म देती है और भौतिक आकांक्षाएँ सापेक्ष होने के कारण सीमित नहीं हो सकतीं। एक आवश्यकता की पूर्ति दूसरी आवश्यकता की जननी है। इसलिए अर्थसंताप से बचने का सबसे पहला उपाय अपनी आवश्यकताओं पर नियंत्रण है। सच्चा धन तो संयम है तथा संतोष, विषयों में अनासक्ति है। इस सम्बन्ध में भागवत में लिखा है—'**दरिद्रो यस्त्वसंतुष्टः कृपणो योऽजितेन्द्रियः। गुणेष्वसक्तधीरीशो पूर्णसंगो विपर्ययः॥**' अर्थात् जो असंतुष्ट है, वही दरिद्र है, जो जितेन्द्रिय नहीं है वही कृपण है। सर्व समर्थ वह है जो विषयों में आसक्त नहीं है तथा कमजोर और दुर्बल वह है जो विषयों में आसक्त है।

आत्मचिंतन और आत्मसंयम से चित्त में उदारता, सहिष्णुता, क्षमा, दया, परदुःखकातरता आदि गुणों का उदय हो जाता है और धीरे-धीरे निज-पर का भेद समाप्त हो जाता है। मानव से भी आगे प्राणिमात्र पर दया का भाव जगता है और धीरे-धीरे सारा विश्व ही प्रेममय हो जाता है। जब अपना पराया है ही नहीं तो राग-द्वेष किससे किया जाय? फिर तो '**वसुधैव कुटुम्बकम्**' का सिद्धान्त है। सबका सुख हमारा सुख है और सबका दुःख हमारा दुःख—

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥

(गीता २।६४)

आत्मचिन्तन ही स्वर्ग का द्वार है—सच्चा आनन्द है तथा शरीर चिन्तन ही नरक का द्वार है—घोर अशान्ति का कारण है। यह शरीर तो मल-मूत्र का थैला है—

त्वग्मांसरुधिरस्नायुमेदोमज्जास्थिसंहतौ ।
विण्मूत्रेपूये रमतां कृमाणां किमन्तरम्॥

(भागवत ११।२६।२१)

अर्थात् यह शरीर त्वचा, मांस, रुधिर, स्नायु, मेद, मज्जा और हड्डियों का ढेर है तथा मल, मूत्र तथा पीब से भरा हुआ है। यदि मनुष्य इसमें रमता है तो साधारण कीड़ों में और उसमें अन्तर ही क्या है?

गीता के छठे अध्याय में इस स्थिति को प्राप्त करने का सरल उपाय बताया गया है—

संकल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः॥
शनैः शनैरूपरमेदबुद्ध्या धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत्॥
यतो यतो निश्चरति मनश्चंचलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वंश नयेत्॥

अर्थात् पहले संकल्प से उत्पन्न हुई कामनाओं और वासनाओं को त्यागना चाहिए अर्थात् किसी वासना में संकल्प मत करो। अभ्यास से धीरे-धीरे इन्द्रियों पर नियंत्रण हो जायगा और सारा व्यापार वृत्तियों से चलने लगेगा। इसके अनंतर मन को बड़ी सावधानी से अंतर्मुख कराना होगा। मन बड़ा चंचल होता है—इसलिए बाह्य विषयों की ओर दौड़ लगाता है—उसे किसी केन्द्र पर स्थिर करना होगा और फिर धीरे से उसे आत्मचिंतन में लगाना होगा। इस अभ्यास से सात्विक वृत्तियाँ जग जायंगी और सारा प्रपंच एक सत्ता में दिखने लगे।

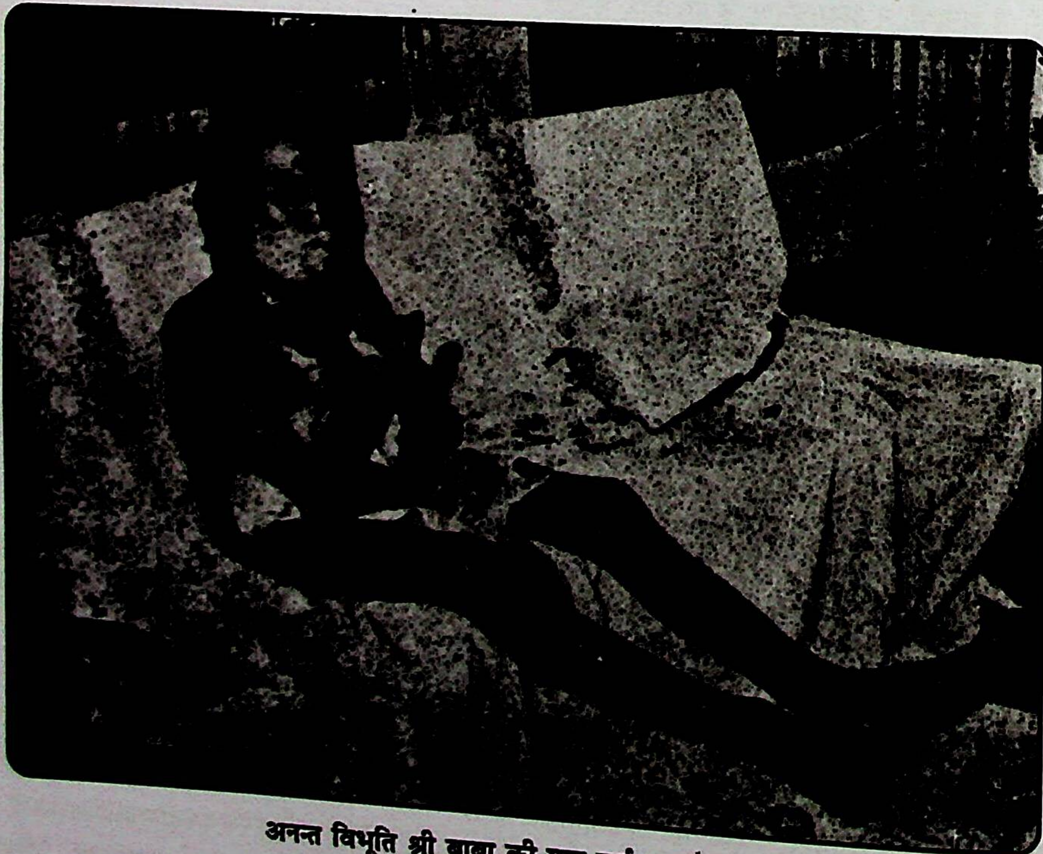
विज्ञान आज इसी प्रयत्न में लगा है, परन्तु वह मूल से विच्छिन्न है अर्थात् मूल चेतनतत्त्व से। मनुष्य के मानसिक रोगों की अचूक दवा यह आत्मचिन्तन और प्रेम भावना ही है। प्रेम भावना जगने से आत्मचिन्तन स्वयं ही होने लगता है और आत्मचिन्तन से प्रेम भावना जग जाती है। प्रेम भावना एक बहुत ही व्यावहारिक और सरल उपाय है जो देश, काल, धर्म, सम्प्रदाय और जातिवर्ग से परे है। किसी भी देश अथवा जाति-धर्म का मनुष्य आत्मशांति के लिए इस उपाय का आश्रय ले सकता है। फिर उसके लिए सर्वत्र आनन्द ही आनन्द है। इसे ही अपने को पहचानना कहते हैं—आत्मसाक्षात्कार कहते हैं और परब्रह्म का साक्षात्कार कहते हैं—

सम्पूर्ण जगदेवनन्दनवनं सर्वेऽपिकल्पद्रुमाः।
गांगंवारि समस्तवारिनिवहाः पुण्याः समस्ता क्रियाः॥
वाचः प्राकृत संस्कृताः श्रुतिशिरोवाराणसी मेदिनी।
सर्वावस्थितिरस्य वस्तुविषया दृष्टा परब्रह्मणि॥

जिसे आनन्दमय प्रेम की अनुभूति हो गयी, उसके लिए सारा संसार ही नन्दन वन है, सारे वृक्ष कल्पवृक्ष हैं, संपूर्ण जल गंगा जल है, सारी क्रियायें पवित्र हैं, सारी भाषाएँ वेद वाणी हैं, सारा भूमण्डल काशी है और सारी चेष्टाएँ परमार्थमयी हैं।

आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।
आनन्देन जातानि जीवन्ति आनन्दं पत्यभिसंविशन्ति॥

OO



अनन्त विभूति श्री बाबा की एक दुर्लभ भाव-मुद्रा

आचार-व्यवहार-दर्शन

(तृतीय खण्ड)

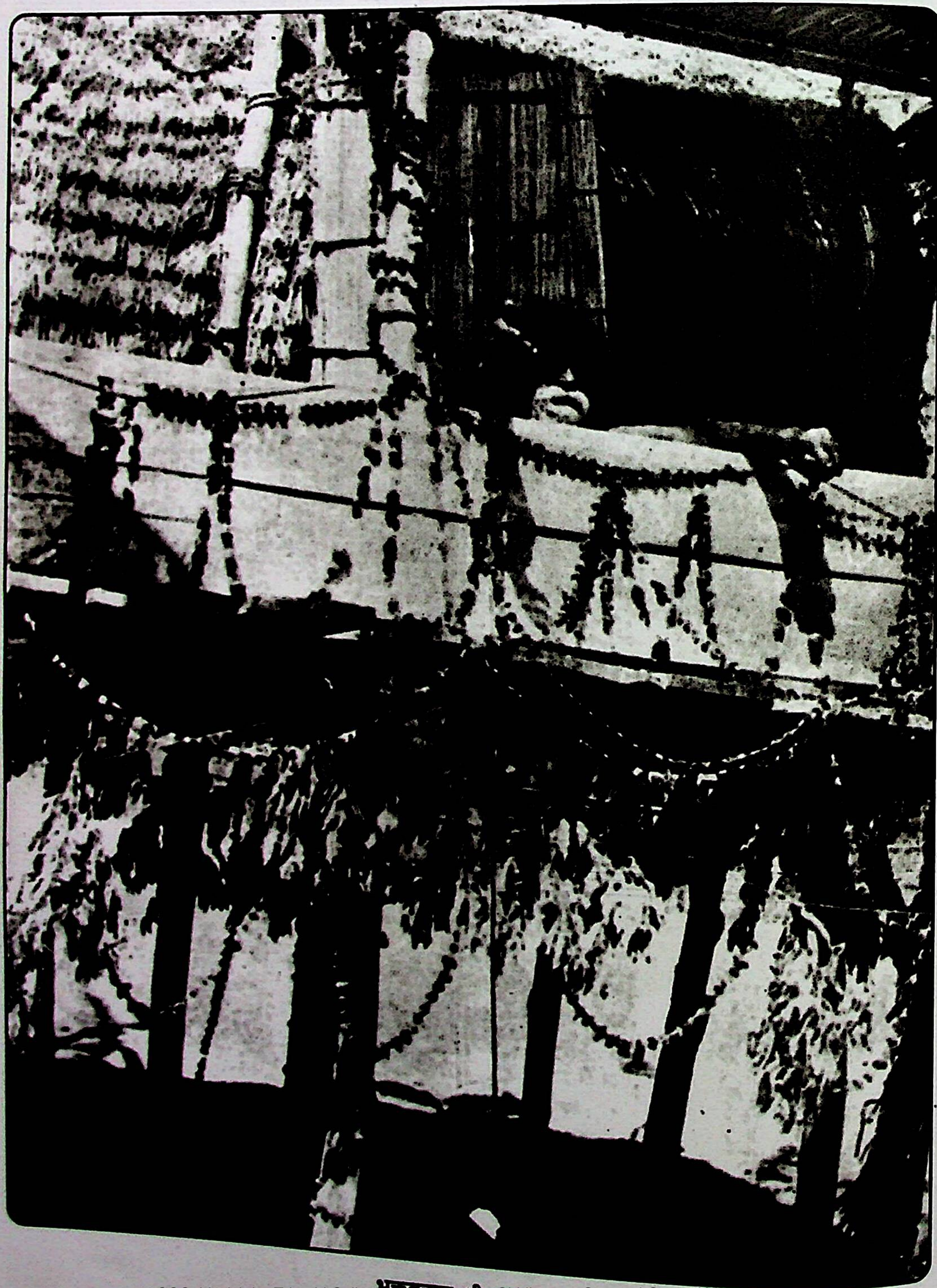


आचारो व्यवहारश्च विश्वसंस्थिति कारणम्।
उभौ तौ तनुतां भद्रं लोकस्य परमोज्ज्वलम्॥

'आचार और व्यवहार विश्व की संस्थिति के मूल हैं।
ये दोनों जनसामान्य के परमोज्ज्वल श्रेयस का विस्तार करें।'



श्री बाबा-वरद मुद्रा में



भक्तवत्सल श्री बाबा

आचार-व्यवहार-दर्शन

१. धर्म के लक्षणों में सदाचार की प्रमुखता

मनुस्मृति में धर्म के चार लक्षण बताये गये हैं—श्रुति, स्मृति, सदाचार और स्वात्मा का आनुकूल्य—

श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतत् चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद् धर्मस्य लक्षणम्॥

इन चारों में एक विशेष दृष्टि से सदाचार का सर्वोत्कृष्ट स्थान है, क्योंकि श्रुति और स्मृति के द्वारा धर्म के निर्णय में समन्वय-कुशल और अध्ययन-अध्यापन से परिपुष्ट तथा समृद्ध की हुई प्रज्ञा की अपेक्षा होती है। स्वात्मा का आनुकूल्य संस्कारों तथा वास्तविक धर्म के निर्णय में कदाचित् प्रतिकूल भी हो सकता है; किन्तु सदाचार, जो परम्परा से अपने देश और समाज में प्रचलित है, उससे धर्म का स्वरूपज्ञान सर्वसाधारण को सरलता से हो सकता है। इसी दृष्टि से 'आचारः प्रथमो धर्मः' कहकर शास्त्रों में इसकी महत्ता का स्थापन किया गया है।

महाभारत के शान्ति पर्व में भीष्म ने धर्मलक्षण बताते हुए कहा है—

धारणाद् धर्ममित्याहुः धर्मो धारयते प्रजाः।
यत्स्याद् धारणसंयुक्तं स धर्म इति निश्चयः॥

अर्थात् धर्म शब्द धृञ् धारणे धातु से निष्पन्न होता है। धर्म सम्पूर्ण प्रजा को धारण करता है। इसलिए धर्म वही है जिसमें धारण शक्ति हो। इस प्रकार मनुष्य के व्यापक परिवेश में धर्म शब्द का प्रयोग हुआ है। यहाँ तक कि अर्थ और काम के उपार्जन में भी धर्म की अनिवार्यता बताई गई है—

ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येषः न च कश्चिच्छृणोति माम्।
धर्मादर्थश्च कामश्च स धर्मः किं न सेव्यते॥

महाभारत को हिन्दू धर्म का विश्वकोश कहा जाता है। उसमें धर्म जीवन-दर्शन है जो मानव के सम्पूर्ण जीवन को धर्म के अन्तर्गत ही ग्रहण करता है। उसी धर्म को सनातन धर्म कहते हैं, जो जीवन के शाश्वत मूल्यों का संवरण करता है। इसलिए धर्म का प्रयोजन केवल पारलौकिक सुख ही नहीं है—आचार-व्यवहार तथा कर्तव्य-नियम आदि भी हैं। मीमांसक ने धर्म को 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः'(जै० सू० १।१।२) अर्थात् धर्म के मूल में प्रेरणा है, जो महापुरुषों के वेद विहित आचरण से प्राप्त होती है। इस परिभाषा के अनुसार नित्य, नैमित्तिक, काम्य, निषिद्ध और प्रायश्चित कर्मों का विधान धर्म के अन्तर्गत है। धर्म की यह परिभाषा कुछ नियमों से परिसीमित है, क्योंकि मनुष्य स्वभाव से एक प्रकार का जन्तु ही है। इसलिए उसकी स्वाभाविक प्रवृत्तियों का नियमन करने के लिए मीमांसक ने प्रेरणा को धर्म का मूल माना है नहीं तो मनुष्य और पशु में कोई भेद नहीं रह जायगा—

आहारनिद्राभयमैथुनं च सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः॥

(म०भा०, शा० २९४।२९)

अर्थात् आहार, निद्रा, भय और मैथुन तो मनुष्यों और पशुओं में समान है। दोनों वर्गों का भेदक-तत्त्व धर्म ही है। इसलिए जो मनुष्य धर्म का आचरण नहीं करते, वे पशु के समान हैं। इसलिए धर्म शब्द का प्रयोग इतने व्यापक अर्थों में हुआ है कि उसके अन्तर्गत व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन का प्रत्येक क्षेत्र आ जाता है। यही कारण है कि धर्म-सामग्री वेदों से लेकर उपनिषदों, पुराणों, स्मृतियों तथा रामायण, महाभारत आदि में मिलती है। धर्म के अन्तर्गत वर्ण और आश्रम तथा उनके कर्त्तव्य, अधिकार, संस्कार, नित्य-नैमित्तिक और काम्य कर्म तथा राज-शास्त्र, समाज-शास्त्र, आचार-व्यवहार सभी कुछ आ जाते हैं। वैदिक साहित्य में धर्म शब्द का प्रयोग इन सभी अर्थों में हुआ है। स्मृतियों में भी धर्म शब्द का कई अर्थों में प्रयोग हुआ है।

वैशेषिक सूत्र में धर्म की व्याख्या इस प्रकार की गयी है—

यतोऽभ्युदयनिश्रेयससिद्धिः स धर्मः।

अर्थात् धर्म वह साधन है, जिससे आनन्द और मोक्ष प्राप्त हो। मनुस्मृति कहती है—

वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्।
आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च॥

इसी प्रकार याज्ञवल्क्य भी कहते हैं—

श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वरूपं च प्रियमात्मनः।
सम्यक् संकल्पजः कामो धर्ममूलमिदं स्मृतम्॥ (१।७)

सूत्र ग्रन्थों, विशेषकर धर्म सूत्रों में धर्म के अंगों का विस्तार से विवेचन हुआ है। रामायण, महाभारत और पुराणों में भी व्यवहार धर्म की चर्चा हुई है। इस प्रकार धर्मशास्त्र का वाङ्मय बड़ा ही विस्तृत और विशुद्ध है। उनमें धर्म के उन शाश्वत मूल्यों का भी विवेचन हुआ है जो प्रत्येक देश और काल में लागू होते हैं। इस सम्बन्ध में एक बात विचारणीय है। वेद यद्यपि अपौरुषेय ज्ञान है—इसलिए सनातन है, फिर भी प्रत्येक युग के आदि में उनका प्रत्यक्ष किया जाता रहा है। महर्षि व्यास के ये वचन प्रसिद्ध हैं—

युगान्तेऽन्तर्हितान् वेदान् सेतिहासान् महर्षयः।
लेभिरे तपसापूर्वं, अनुज्ञाताः स्वयंभुवा॥१॥
वेदमेकं स बहुधा कुरुते हितकाम्यया।
अल्पायुषाऽल्पबुद्धांश्च विप्रान् ज्ञात्वा कलावथ॥२॥

अर्थात् प्रत्येक युग के अन्त में इतिहास सहित वेद अन्तर्धान हो जाते हैं और दूसरे युग के पूर्व में ब्रह्मा की आज्ञा से महर्षि तपस्या के द्वारा उन्हें फिर प्राप्त करते हैं। कलियुग में विष्णु भगवान् व्यास के रूप में अवतरित होकर एक ही वेद का अनेक भागों में विभाजन कर देते हैं, क्योंकि कलियुग में विप्र अल्पायु और अल्पबुद्धि होने के कारण सारे वेदों को नहीं समझ सकते।

इसी प्रकार स्मृतियों के नियम भी युगानुसार बताये गये हैं—

कृते तु मानवाः प्रोक्ता त्रेतायां याज्ञवल्क्यजाः।
द्वापरे शंखलिखिताः कलौ पाराशराः स्मृताः॥

अर्थात् मनुस्मृति के नियम कृतयुग के लिए, याज्ञवल्क्य के त्रेता के लिए, शंख लिखित द्वापर के लिए तथा पाराशर कलियुग के लिए हैं। धर्म के सम्बन्ध में श्रुति और स्मृति दोनों का ही प्रामाण्य होता है। जैसा कि लिखा है—

श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः।
ते सर्वार्थेष्वमीमांस्ये ताभ्यां धर्मो हि निर्बभौ॥

वेद को श्रुति कहते हैं और धर्मशास्त्र को स्मृति कहते हैं। नियम, आचार, व्यवहार, नीति आदि सब उन्हीं में हैं तथा वे अतर्क्य हैं।

२. धार्मिक वाङ्मय की प्राचीनता और उसके मुख्य भाग

भारतीय वाङ्मय अत्यन्त प्राचीन और सुव्यवस्थित है। इसकी प्राचीनता के सम्बन्ध में किसी विद्वान् ने अनुमान लगाया है कि यदि सौ-सौ वर्षों के लिए केवल एक पृष्ठ लिखा जाय तो एक करोड़ ९६ लाख ८६ हजार ४२१ पृष्ठ लिखे जायंगे और यदि एक-एक हजार पृष्ठों की पुस्तकें बनायी जायं तो उन्नीस हजार एक सौ आठ पुस्तकें होंगी। वेद अपौरुषेय हैं और उनकी अभिव्यक्ति परमपुरुष यज्ञ भगवान् से हुई। वेद ज्ञानस्वरूप हैं यही उनका रहस्य है। ऋग्वेद मण्डल १०, सूक्त ९७ की सातवाँ मन्त्र है—

यस्माद् ऋचो अपातक्षन् यजुर्यस्मादपाकषन्।
सामानि यस्य लोमानि अथर्वांगिरसो मुखम्॥

प्रत्येक वेद के तीन सामान्य विभाग माने जाते हैं—(१) संहिता, (२) ब्राह्मण और (३) उपनिषद्। इन तीनों विभागों के प्रमुख विषय हैं—कर्मकाण्ड, ज्ञानकाण्ड और उपासनाकाण्ड।

वैदिक वाङ्मय आज जिस परिमाण में उपलब्ध होता है, निश्चित रूप से कृतयुग में उसमें अधिक परिमाण में रहा होगा। पतंजलि मुनि ने अपने महाभाष्य में, ऋग्वेद की २१ शाखाएँ, यजुर्वेद की १०० शाखाएँ, सामवेद की एक सहस्र शाखाएँ और अथर्ववेद की नौ शाखाएँ बतायी हैं। मुक्तिकोपनिषद् में इनसे भी अधिक शाखाएँ बताई गयी हैं। ऋग्वेद जैसा कि इसके नाम से स्पष्ट है, ऋचाओं का वेद है। यज्ञ के अवसर पर सस्वर उच्चारित मंत्र ऋचा कहलाते हैं। मन्त्र सूक्तों में संकलित हैं और सूक्त मण्डलों में। इस प्रकार ऋग्वेद में दस मण्डल तथा १०१७ सूक्त हैं। ऋग्वेद से सम्बद्ध दो ब्राह्मण तथा कई उपनिषद् हैं। ऋग्वेद के दो ब्राह्मण हैं—ऐतरेय और शांखायन अथवा कौशीतकी। ऐतरेय में ४० अध्याय हैं, जिनका प्रमुख विषय है—सोमयज्ञ, अग्निहोत्र तथा राज्याभिषेक आदि। शांखायन ब्राह्मण में तीस अध्याय हैं जिनका प्रमुख विषय सोमयाग है। दोनों ब्राह्मणों में अनेक ऐतिहासिक-भौगोलिक विवरण, आख्या गाथाएँ तथा कारिकाएँ हैं। इन ब्राह्मणों के आरण्यक ग्रन्थ भी हैं, जिनमें ऋषियों की अनुभूतियों का वर्णन है। उपनिषद् इन अनुभूतियों से ही सम्बद्ध हैं। ऐतरेय आरण्यक के पाँच ग्रन्थ मिलते हैं—कुछ ऐतरेय उपनिषद् कहलाते हैं। कौशीतकी आरण्यक तीन खण्डों में मिलता है, जिनमें से एक कौशीतकी उपनिषद् कहलाता है। ब्राह्मण ग्रन्थ ऋग्वेद की एक शाखा है, इसकी दूसरी शाखा वाष्कल और मैत्रायणी उपनिषदों के रूप में हैं और तीसरी शाखा सूत्रों के रूप में। सूत्रों में कुछ श्रौतसूत्र हैं, जिन्हें कल्पसूत्र भी कहते हैं और कुछ गृह्यसूत्र हैं। एक प्रातिशाख्य सूत्र है। सूत्र भी अलग-अलग ऋषियों के नाम से प्रख्यात हैं, जैसे आश्वलायन, शांखायन, जैमिनीय तथा वैशम्पायन आदि। ऋक् संहिता की अनेक अनुक्रमणिकाएँ भी हैं जिनमें छन्द, देवता और ऋषियों का विवेचन है।

यजुर्वेद संहिता में ४० अध्याय हैं और १८८६ मन्त्र हैं, जिनमें से लगभग आधे ऋग्वेद में भी मिलते हैं। यजुर्वेद की लगभग ८६ शाखायें विशेष प्रसिद्ध हैं। यजुर्वेद के दो संस्करण उपलब्ध हैं—कृष्ण यजुर्वेद और शुक्ल यजुर्वेद। कृष्ण अथवा तैत्तिरीय यजुर्वेद में संहिता और ब्राह्मण दोनों भाग मिले-जुले हैं, जबकि शुक्ल अथवा वाजसनेय में केवल संहिता भाग है। यजुर्वेद जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, प्रमुख रूप से यज्ञों और उनके विधिविधानों की संहिता है। ऋग्वेद को होता का वेद कहा जाता है और यजुर्वेद को अध्वर्यु अर्थात् यजमान का। कृष्ण यजुर्वेद के अलग से ब्राह्मण नहीं है और उसका गद्य भाग ही ब्राह्मण कहलाता है, परन्तु तैत्तिरीय ब्राह्मण यजुर्वेद का एक अलग ही प्रसिद्ध ब्राह्मण है, जिसमें तीन अध्याय हैं। तैत्तिरीय आरण्यक भी इसी ब्राह्मण का भाग है जिसके कुछ अंश तैत्तिरीय उपनिषद् के नाम से प्रख्यात हैं। कृष्ण यजुर्वेद के लगभग ३३ उपनिषद् हैं जिनमें कठ और श्वेताश्वतर अधिक प्रसिद्ध हैं। शतपथ ब्राह्मण शुक्ल यजुर्वेद का है जिसमें सौ अध्याय हैं। यह ब्राह्मण कई दृष्टियों से बड़ा महत्त्वपूर्ण है। इस उपनिषद् का आरण्यक बृहदारण्यकोपनिषद् कहलाता है। यजुर्वेद का अन्तिम अध्याय ईशोपनिषद् के नाम से प्रख्यात है। इसके अतिरिक्त लगभग सत्रह अन्य उपनिषद् भी यजुर्वेद से सम्बद्ध हैं। यजुर्वेद से सम्बन्ध रखने वाले सूत्रों की संख्या भी बहुत है, जिनमें श्रौतसूत्र भी हैं और गृह्यसूत्र भी। कृष्ण यजुर्वेदीय शाखा के शुल्क-सूत्र और धर्मसूत्र हैं। यजुर्वेद के प्रातिशाख्य सूत्र और अनुक्रमणिकाएँ भी अलग से हैं।

सामवेद संहिता के पन्द्रह प्रविभाग हैं और बत्तीस अध्याय हैं, जिनमें चार सौ साठ सूक्त हैं। इनमें अधिकांश ऋग्वेद में मिल जाते हैं, केवल ७५ अलग से हैं। संगीत और गायन की दृष्टि से यह संहिता बड़ी महत्त्वपूर्ण है। यज्ञों के अवसर पर सामवेद के मन्त्रों का उच्चारण होता है। मन्त्रों का पाठ करने वाला उद्गाता कहलाता है। यह मन्त्रगान भी चार प्रकार का है—ग्रामगेय, ऊह, ऊह्य और आरण्यगान। सामवेद के स्वरों का ज्ञान ही दुःसाध्य है। सामवेद की ऋचाएँ सामगीति कही जाती है। सामवेद के कई ब्राह्मण हैं। जिनमें ताण्ड्य महाब्राह्मण, षड्विंश ब्राह्मण, साम विधान, आर्षेय ब्राह्मण, देवताध्याय ब्राह्मण और मन्त्र ब्राह्मण विशेष प्रसिद्ध हैं। सामवेद संहिता के प्रमुख उपनिषद् छान्दोग्योपनिषद् और केनोपनिषद् हैं। छान्दोग्योपनिषद् छान्दोग्य ब्राह्मण का ही अंश है। सामवेद संहिता कई शाखाओं में विभक्त है और प्रत्येक शाखा के श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र और प्रातिशाख्य सूत्र अलग-अलग हैं। इन सूत्रों के अतिरिक्त सामवेद संहिता के कई प्रकार के, पद्धति और परिशिष्ट ग्रन्थ भी हैं।

अथर्ववेद संहिता में बीस काण्ड और ७३१ सूक्त हैं। अथर्वण, आंगिरस तथा भृगु इस वेद के द्रष्टा ऋषि हैं। इस वेद को ब्रह्मवेद भी कहा जाता है, क्योंकि यज्ञ के प्रमुख होता ब्रह्मा ने इस संहिता की ऋचाओं से ही अन्य होता, अध्वर्यु और उद्गाताओं का दिशा-निर्देश किया था। ब्रह्मज्ञान भी इस संहिता का प्रमुख विषय है। इसके अतिरिक्त इस संहिता का ऐतिहासिक तथा सामाजिक महत्त्व भी है, क्योंकि इसमें विभिन्न वर्गों के मनुष्यों के आचार-व्यवहार तथा कर्त्तव्यों का भी विवेचन हुआ है। अथर्ववेद का गोपथ ब्राह्मण विशेष प्रसिद्ध है, जिसके आधार पर कई सूत्र ग्रन्थों का निर्माण हुआ। इन सूत्र ग्रन्थों में अथर्ववेद के विषयों का प्रतिपादन हुआ है। चार सूत्रों विशेष उल्लेख

है—(१) कौशिक सूत्र, (२) नक्षत्र कल्पसूत्र, (३) वैतान सूत्र और (४) शान्ति कल्पसूत्र। इस संहिता से सम्बद्ध इन सूत्रों में राज्याभिषेक तथा राजधर्म आदि का विस्तृत विवेचन हुआ है। इस संहिता से सम्बद्ध अनेक उपनिषद् हैं, जिनमें प्रमुख हैं—मुण्डक, माण्डूक्य, प्रश्न, नृसिंह, तापनी और मुक्तिकोपनिषद्। वेदों के उपवेद और अंग-उपांग भी हैं। उपवेद चार हैं—ऋग्वेद का आयुर्वेद, यजुर्वेद का धनुर्वेद, सामवेद का गान्धर्ववेद और अथर्ववेद का अर्थशास्त्र। आयुर्वेद के विद्वानों ने आयुर्वेद को अथर्ववेद का ही उपवेद माना है।

वेद के ६ अंग माने जाते हैं—शिक्षा, व्याकरण, छन्द, निरुक्त, ज्योतिष और कल्प—

छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौकल्पोऽथ पठ्यते,
ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते।
शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम्॥

शिक्षा नासिका, ज्योतिष नेत्र, निरुक्त कान, व्याकरण मुख, कल्प हाथ और छन्द वेद के पाँव हैं। वेद के षडंगों का विवेचन अनेक ग्रन्थों में हुआ है। वेद के अंगों की भाँति वेद के उपांग भी हैं—जैसे पुराण, न्याय, मीमांसा और धर्मशास्त्र।

वेदों के यथार्थ ज्ञान के लिए उपवेदों, अंगों तथा उपांगों का अध्ययन आवश्यक है।

३. वेद के अंग और उपांग

वेद विश्व का प्राचीनतम वाङ्मय है। भारत की सनातन मान्यताओं के अनुसार वेद अपौरुषेय अथवा सर्वज्ञ स्वयं भगवान् की लोकहिताय रचना है, जो सम्पूर्ण लोक के हित की दृष्टि से की गयी है। शास्त्रों में सम्पूर्ण वेद का धर्म के मूलरूप में आख्यान किया गया है—'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्' उदयनाचार्य ने सम्पूर्ण वेद को परमेश्वर का निरूपक माना है। उनका कहना है—

कृत्स्न एव हि वेदोऽयं परमेश्वरगोचरः।

भट्टपाद ने वेद की वेदता इस बात में मानी है कि लोकहित का जो उपाय प्रत्यक्ष अथवा अनुमान से नहीं जाना जा सकता है, उसका ज्ञान वेद से होता है—

प्रत्यक्षेण नानुमित्या वा यस्तूपायो न बोध्यते।
एनं विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदिता॥

वेद की इस महिमा का उपबृंहण उसके अंगों और उपांगों द्वारा सम्पादित हुआ है। अतः वेद विद्या के पूर्ण परिज्ञान के लिए उन सब का भी अध्ययन आवश्यक है। ऋक्, यजुः, साम और अथर्ववेद के ये चार भेद लोकप्रसिद्ध हैं, इन सभी के उपवेद भी हैं। किन्तु जैसे वेद अपने समग्ररूप में सम्प्रति लभ्य नहीं है, उसी प्रकार उपवेद भी पूर्ण-रूप में उपलब्ध नहीं है। जो कुछ प्राप्य है उनके सम्बन्ध में यह सूचनीय है कि यजुर्वेद के उपवेद धनुर्वेद के चार पाद हैं। इस उपवेद के रचयिता विश्वामित्र हैं। इसमें आयुधों की विस्तृत चर्चा है। वैशम्पायन का भी एक धनुर्वेद प्रसिद्ध है। व्यवहार और प्रयोग में न आने के कारण धनुर्वेद लुप्तप्राय ही हो गया है। सामवेद का उपवेद गान्धर्ववेद भी अब नहीं मिलता है। कुछ ग्रन्थों में उसके विषय का विवेचन अवश्य मिलता है। गान्धर्ववेद में गान विद्या का सर्वांगीण विवेचन हुआ था। इसी प्रकार आयुर्वेद भी पूर्ण रूप में अप्राप्य है। आयुर्वेद के आठ अंग थे—शल्यतन्त्र, शालाक्यतन्त्र, कायचिकित्सातंत्र, भूतविद्यातन्त्र, कौमारभृत्यतन्त्र, अगदतन्त्र, रसायनतन्त्र और वाजीकरण-तन्त्र। आयुर्वेद की परम्परा के चरक, सुश्रुत, वाग्भट आदि ग्रन्थ उपलब्ध हैं और इस शाखा के अनेक ग्रन्थ भी मिलते हैं।

अथर्ववेद का उपवेद अर्थशास्त्र भी अब उपलब्ध नहीं है। हाँ, कुछ पंडितों को इस उपवेद के कुछ अंश अवश्य कण्ठाग्र हैं। इस उपवेद में समाजशास्त्र, दण्डनीति और सम्पत्तिशास्त्र तीनों का ही समावेश था। इन विषयों पर और भी अनेक ग्रन्थ लिखे गये थे। शायद वे भी अब प्रामाणिक रूप में उपलब्ध नहीं हैं।

उपवेदों की भाँति वेदांग भी मूल रूप में उपलब्ध नहीं हैं। शिक्षा एक महत्वपूर्ण वेदांग था, क्योंकि उसमें उच्चारण सम्बन्धी नियमों का विवेचन था। वैदिक मन्त्रों के उच्चारण तथा ध्वनि विज्ञान सम्बन्धी ग्रन्थों को प्रातिशाख्य कहते हैं। आजकल तो कुछ ही शाखाओं के प्रातिशाख्य उपलब्ध हैं। ऋग्वेद की शाकल शाखा का ऋक् प्रातिशाख्य, यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा का तैत्तिरीय प्रातिशाख्य तथा वाजसनेयी शाखा का वाजसनेय प्रातिशाख्य, सामवेद की माध्यन्दिनी शाखा का सामप्रातिशाख्य और अथर्ववेद का अथर्व प्रातिशाख्य किसी-न-किसी रूप में उपलब्ध हैं। इन प्रातिशाख्यों में शिक्षा का विषय ही प्रधान है तथा वर्ण, स्वर, मात्रा और उच्चारण आदि पर विचार किया गया है। शिक्षा के महत्त्व पर कहा गया है—

गीती शीघ्री शिरःकम्पी तथा लिखितपाठकः।
अनर्थज्ञोऽल्पकण्ठश्च षडेते पाठकाधमाः॥
माधुर्यमक्षरव्यक्तिः पदच्छेदस्तु सुस्वरः।
धैर्यलयसमर्थं च षडेते पाठकागुणाः॥
मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्॥

प्राचीन शिक्षा ग्रन्थों में शौनकीय शिक्षा अधिक प्रसिद्ध है क्योंकि उसमें वैज्ञानिक ढंग से वर्ण, स्वर, मात्रा आदि पर विचार किया गया है।

४. छन्द

छन्द से भाषा का नियमन होता है। **'लौकिक वैदिक शब्दान् छन्दयति नियमयतीति पादयति विरामादि व्यवस्थापकः पिंगलादि-महर्षि प्रणीतो ग्रन्थः। छन्दोनामेति।'** वेदाध्ययन के लिए छन्दों का ज्ञान अनिवार्य है। ब्राह्मण और आरण्यक ग्रन्थों में छन्दों की बहुत-सी कथायें आती हैं। कात्यायन की सर्वानुक्रमणिका में छन्दों का विवेचन किया गया है और सात मूल छन्द माने गये हैं—गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुप और जगती। लौकिक छन्दों का विवेचन महर्षि पिंगल ने किया है।

५. ज्योतिष

ज्योतिर्विज्ञान भारतवर्ष का महत्त्वपूर्ण विज्ञान रहा है। क्योंकि ज्योतिष कल्पशास्त्र का पूरक है। ज्योतिष के ग्रन्थ दो प्रकार के हैं—वैदिक ज्योतिष तथा लौकिक ज्योतिष। वैदिक ज्योतिष के कई अंग थे, जैसे ऋग्वेदांग ज्योतिष, यजुर्वेदांग ज्योतिष तथा अथर्ववेदांग ज्योतिष इत्यादि। वैदिक ज्योतिष के अनेक ग्रन्थों का उल्लेख मिलता है। लगध एक प्रसिद्ध वेदांग ज्योतिषाचार्य थे, जिन्होंने ज्योतिष शास्त्र

को व्यवस्थित किया। दीर्घतमस् वैदिक संवत् के आविष्कर्ता थे। अब वैदिक ज्योतिष लुप्त ही होता जा रहा है। लौकिक ज्योतिष के अनेक ग्रन्थ उपलब्ध हैं। लौकिक ज्योतिष का प्रधान विषय है पंचाङ्ग सिद्धि। पाँच अंग हैं—तिथि, वार, नक्षत्र, योग और करण। वराहमिहिर, पराशर और गर्ग लौकिक ज्योतिष के प्रसिद्ध आचार्य हैं। अनेक सिद्धांतों पर ज्योतिष के निष्कर्ष निकाले जाते हैं—जैसे सूर्य सिद्धान्त, पोलिश सिद्धान्त, रोमक सिद्धान्त, वसिष्ठ सिद्धान्त, वराहमिहिर सिद्धान्त और पितामह सिद्धान्त आदि।

६. कल्प

कल्प विधि को कहते हैं। कल्पसूत्रों में कर्मकाण्ड का विषय है। एक-एक शाखा में भिन्न-भिन्न प्रकरणों में आये हुए मंत्रों की प्रयोग विधि कल्पसूत्रों में बताई गयी है। स्मृति मुक्ताफल के आचार खण्ड में अठारह सूत्रों का उल्लेख है, जैसे बोधायन, आपस्तम्ब, सत्याषाढ़, शाकल्याश्वलायन, कात्यायनी, वैखानस, शौनकीय, भारद्वाज, जैमिनीय, माध्यन्दिन, कौण्डिन्य, कौशीतकी इत्यादि। इन सूत्रों के श्रौत, स्मार्त भेद से अनेक अवान्तर भेद हैं।

७. व्याकरण

वि='अर्थविशेषमाश्रित्य स्वर प्रकृति प्रत्ययादि विशेषादीन् विद्वत् पदखण्डार्थविशेषज्ञापकः विशेषेण संस्कार विशेषेण आ-समन्ताद् वैदिकान् लौकिकांश्च शब्दान् करोति तथाभूतः पाणिन्यादिमहर्षिप्रणीतो ग्रन्थराशिः।' व्याकरण नौ प्रसिद्ध है—

ऐन्द्रं चान्द्रं काशकृत्स्नं कौमारं शाकटायनम्।
सारस्वतं चापिशलं शाकलं पाणिनीयकम्॥

८. निरुक्त

व्याकरण का ही परिशिष्ट है। इसमें केवल वैदिक शब्दों का ही विवेचन किया गया है। आजकल यास्क मुनि का ही निरुक्त उपलब्ध है परन्तु यास्क ने अपने पूर्ववर्ती निरुक्तकारों का उल्लेख किया है। यास्क प्रणीत निरुक्त में १८ अध्याय हैं तथा तीन काण्ड हैं। नैघण्टुक काण्ड के पाँच अध्याय, नैगम के छः तथा दैवत के छः। अन्त में एक अध्याय का परिशिष्ट है। निरुक्त के कई भाष्य उपलब्ध हैं। जहाँ तक वेद के उपांगों का प्रश्न है, कुछ आचार्य उन्हें वेद के अंगों में ही अन्तर्भूत करते हैं और इतिहास-पुराण को पंचम वेद माना जाता है। विष्णु भागवत में लिखा है—

ऋग्यजुः सामाथर्वाख्यवेदाश्चत्वार उद्धृताः।
इतिहासपुराणं च पंचमो वेद उच्यते॥

इसी प्रकार याज्ञवल्क्य में भी लिखा है—

पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्रांग मिश्रिताः।
वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश॥

इस प्रकार इतिहास-पुराण भी भारतीय वाङ्मय के प्रधान अंग हैं। वायु पुराण में लिखा है—

यो विद्याच्चतुरो वेदान् सांगोपनिषदो द्विजः।
न चेत्पुराणं संविद्यान्नैव स स्याद् विचक्षणः॥
इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपवंहयेत्।
विभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति॥

अर्थात् वह ब्राह्मण जो केवल उपनिषद् और अंगों सहित वेदों को जानता है, शास्त्रनिपुण नहीं कहा जा सकता, यदि उसे पुराणों का बोध नहीं है। उसे अपना वेद ज्ञान इतिहास और पुराणों की सहायता से पूर्ण करना चाहिए। क्योंकि वेद स्वयं ऐसे व्यक्ति से, जिसका ज्ञान पुराणादि का बोध न होने के कारण अल्प है, डरता है कि कहीं वह मेरे अर्थ का अनर्थ न कर बैठे। अथर्ववेद (७१। ७। २४) में आता है—'ऋचः सामानिच्छन्दांसि पुराण यजुषा सह।' अर्थात् ऋक्, साम, छन्द और पुराण यजुर्वेद के साथ उत्पन्न हुए। वैदिक साहित्य में इस प्रकार के अनेक उल्लेख हैं, जिनसे पता चलता है कि पुराण नाम का साहित्य बहुत पुराना है। देवीभागवत में लिखा है—

प्रादुःकरोति धर्मार्थी पुराणानि यथाविधि।
द्वापरे-द्वापरे विष्णुर्व्यासिरूपेण सर्वदा॥

पुराणों के रचयिता तथा उनके मूल आविर्भाव के विषय में प्रायः सभी पुराणों में उल्लेख है। वायु, ब्रह्माण्ड और विष्णु पुराणों के अनुसार कृष्णद्वैपायन ने वेद को चार भागों में विभाजित किया और उनका सम्पादन किया। इसीलिए उन्हें व्यास कहा जाता है। वेद के इन चारों भागों को उन्होंने अपने चार शिष्यों पैल, वैशम्पायन, जैमिनि और सुमन्तु को सुपुर्द किया। इसके पश्चात् शताब्दियों से चले आते हुए आख्यानों, उपाख्यानों, गाथाओं और कल्प विषयक उक्तियों से पुराण का संग्रह कर, उसे उन्होंने अपने पाँचवें शिष्य लोमहर्षण को पढ़ाया। महाभारत की रचना उन्होंने पुराणों के बाद की, जैसा कि इस श्लोक से स्पष्ट है—

अष्टादशपुराणानि कृत्वा सत्यवतीसुतः।
भारताख्यानमखिलं चक्रे तदुपवृंहितम्॥
(ब्रह्माण्ड० २। ३४। २१)

९. पुराण और उपपुराण

प्रमुख पुराण अठारह हैं तथा अठारह ही उपपुराण हैं। सभी पुराणों का उद्देश्य साधारण रूप से ब्रह्मा, विष्णु, शिव, सूर्य और शक्ति की उपासना और मुख्य रूप से किसी एक देव की उपासना है। स्कन्दपुराण के केदार खण्ड के पहले अध्याय में पुराणों के विषय में लिखा है कि दस पुराण शैव हैं, चार वैष्णव, दो शाक्त और दो ब्रह्म। इसी पुराण के शिवरहस्य खण्ड के अन्तर्गत सम्भव काण्ड में यह बताया है कि शैव, भविष्य, मार्कण्डेय, लैंग, वाराह, स्कन्द, मात्स्य, कौर्म, वामन और ब्रह्माण्ड—ये दस पुराण शैव हैं। वैष्णव, भागवत, नारदीय और गरुड़—ये चार पुराण वैष्णव हैं। ब्राह्म और पाद्म—ये दो पुराण ब्रह्मा के हैं। अग्नि पुराण अग्नि का और ब्रह्मवैवर्त सूर्य का। पुराणों का वर्गीकरण और भी कई प्रकार से किया गया है। प्रत्येक पुराण में शेष सत्रह पुराणों की नामावली और श्लोक संख्या भी दी गयी है।

पुराणों में बड़े महत्त्वपूर्ण विषय हैं। भारतीय संस्कृति तथा आचार व्यवहार के ज्ञान के लिए पुराणों का अध्ययन आवश्यक है। पुराणों की कथाओं में जो भेद है, उसका कारण कल्पभेद है। अठारह पुराण और अठारह उपपुराणों के नाम इस प्रकार हैं। अठारह

पुराण—ब्रह्म, पद्म, विष्णु, शिव, भागवत, नारद, मार्कण्डेय, अग्नि, भविष्य, ब्रह्मवैवर्त, लिंग, वाराह, स्कन्द, वामन, कूर्म, मत्स्य, सुपर्ण अथवा गरुड़ तथा ब्रह्माण्ड। अठारह उपपुराण—सनत् कुमार, नृसिंह, वृहन्नारदीय, शिव रहस्य, दुर्वास्स, कपिल, वामन, भार्गव, वरुण, कालिका, सांब, नन्दी, सूर्य, पराशर, वसिष्ठ, देवी भागवत, गणेश और हंस। विष्णु पुराण तथा अन्य पुराणों में पुराण के सामान्य लक्षण इस प्रकार गिनाये गये हैं—

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।
वंशानुचरितं चैव पुराणं पंच लक्षणम्॥

अर्थात् सर्ग-सृष्टि विज्ञान, प्रतिसर्ग-सृष्टि विस्तार, लय और पुनः सृष्टि, वंश-सृष्टि आदि वंशावलियाँ मन्वन्तर काल क्रम तथा वंशानुचरित अर्थात राजाओं की वंशावलियाँ। ये पुराणों के पाँच लक्षण हैं।

१०. पुराण का विषय

अवतार-चर्चा पुराण का केन्द्र-बिन्दु है और साथ ही साथ भूगोल, खगोल तथा लोक-लोकान्तरों की चर्चा, इतिहास, आचार-व्यवहार आदि विषयों का समावेश है। कुल मिलाकर पुराणों में विष्णु तथा उनके अवतारों को विशेष महत्त्व प्राप्त हुआ है, क्योंकि वामन, वराह, मत्स्य, कूर्म आदि भी विष्णु के ही अवतार माने गये हैं। नारद, ब्रह्मवैवर्त, पद्म, विष्णु तथा भागवत पुराणों में विष्णु की विशेष चर्चा है। वैष्णव धर्म की दृष्टि से पद्म पुराण बड़ा महत्त्वपूर्ण है। इसमें पाँच खण्ड हैं—(१) सृष्टि खण्ड, (२) भूमि खण्ड, (३) स्वर्ग खण्ड, (४) पाताल खण्ड और (५) उत्तर खण्ड। इस पुराण में वैष्णव सम्प्रदायों की सभी विशेष बातें आ गयी हैं। जैसे मायावाद निन्दा, तामस पुराण वर्णन, पाखण्डी लक्षण, ऊर्ध्व पुण्ड्रादि वैष्णव चिह्न धारण। इस पुराण में शैव, पाशुपत, बौद्ध तथा जैन शास्त्रों को तामस् बताया गया है। ब्रह्माण्ड, ब्रह्मवैवर्त, मार्कण्डेय, भविष्य; वामन और ब्राह्म—इन छः पुराणों को राजस् बताया गया है तथा वैष्णव, नारदीय, भागवत, गरुड़, पद्म और वाराह—इन छः पुराणों को सात्त्विक बताया गया है। देश-देशान्तर तथा अनेक द्वीपों के वर्णन की दृष्टि से वायु पुराण बड़ा महत्त्वपूर्ण है तथा धनुर्वेद, गान्धर्ववेद, आयुर्वेद, अर्थशास्त्र, वेदांन्त तथा अठारह विद्याओं के विवेचन की दृष्टि से अग्नि पुराण महत्त्व का है। परिमाण की दृष्टि से स्कन्द पुराण सबसे बड़ा है। इसमें अनेक माहात्म्य दिये गये हैं। सत्यनारायण व्रत-कथा माहात्म्य भी इसी पुराण में हैं। दक्षिण भारत के समस्त मंदिरों तथा तीर्थों के माहात्म्य भी इसी पुराण में हैं। दक्षिण में स्कन्द भगवान् की सुब्रह्मण्यम् नाम से पूजा की जाती है। मार्कण्डेय पुराण भी बड़ा महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इसमें साम्प्रदायिक आग्रह का अभाव है। इस पुराण के ७८वें अध्याय से ९०वें अध्याय तक का अंश 'दुर्गा सप्तशती' कहलाता है। गरुड़ पुराण में प्रेत, कर्म, प्रेतयोनि, प्रेत श्राद्ध, यम-यातना तथा नरक आदि का विशेष वर्णन हुआ है। इसीलिए किसी व्यक्ति के अन्त समय पर इसका पाठ किया जाता है। ब्रह्माण्ड में अनेक तीर्थों, नदियों तथा दिव्य देशों का वर्णन है। अध्यात्म रामायण भी ब्रह्माण्ड पुराण का अंश है। देवीभागवत पुराण का महत्त्व इसलिए है कि इसमें परमात्मा को पराशक्ति के रूप में चित्रित किया गया है। शाक्तों तथा तांत्रिकों में इस पुराण की विशेष मान्यता है। वैसे इसके चतुर्थ स्कन्ध में श्रीकृष्ण की कथा भी आयी है।

११. भविष्य पुराण

भविष्य पुराण भी कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। भविष्य पुराण चार हैं। इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें शाकद्वीपी मग ब्राह्मणों की संस्कृति और सभ्यता का विस्तार से वर्णन हुआ है। श्रीकृष्ण के पुत्र साम्ब इन ब्राह्मणों को भारतवर्ष में लाये थे। इन ब्राह्मणों के आचार्यों को फारसी में 'पीरे मुगा' कहते हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से यह पुराण बड़ा महत्त्व का है। इस पुराण के तीसरे खण्ड में उद्भिज विद्या का वर्णन है, जो आधुनिक वैज्ञानिकों के लिए उपादेय है।

१२. श्रीमद्भागवत

अद्वैतपरक भक्ति की दृष्टि से श्रीमद्भागवत का बड़ा महत्त्व है। इसके माहात्म्य के सम्बन्ध में कहा गया है—

निगमकल्पतरोर्गलितं फलं शुकमुखादमृतद्रवसंयुतम्।
पिबत भागवतं रसमालयं मुहुरहो रसिका भुवि भावुकाः॥

यह पुराण निगम रूप कल्पतरु का फल अर्थात् सार है। भगवान् अर्थात् वाङ्मय के अवतार का नाम ही भागवत है। स्कन्दपुराण के द्वितीय वैष्णव खण्डान्तर्गत श्रीमद्भागवत माहात्म्य के चतुर्थ अध्याय में आता है—

श्रीमद्भागवतस्याथ श्रीमद्भागवतः सदा।
स्वरूपमेवकमेवास्ति सच्चिदानन्दलक्षणम्।।

अर्थात् भगवद्रूप श्रीमद्भागवत का सच्चिदानन्द लक्षण मात्र एक ही स्वरूप है और वही भागवत है। कहा जाता है, 'विद्यावतां भागवते परीक्षा' अर्थात् विद्वानों की परीक्षा भागवत् में ही होती है। भागवतकार ने धर्म आचार-व्यवहार और भक्ति का सुन्दर समन्वय किया है। धर्म और भक्ति का वही सम्बन्ध है जो आध्यात्मिक जगत् में ब्रह्म और जीव का तथा भौतिक जगत् में ज्ञान और विज्ञान का है। इसलिए धर्म परब्रह्म और सम्पूर्ण ज्ञान का प्रतीक है तथा भक्ति अखण्ड चेतना और सम्पूर्ण विज्ञान का मधुर प्रेममय रूप है। भागवतकार ने धर्म का लक्षण बड़ा ही सुन्दर किया है—

धर्मः प्रोज्झितकैतवोऽत्र परमो निर्मत्सराणां सताम्।
वेद्यं वास्तवमत्रवस्तु शिवदं तापत्रयोन्मूलनम्।।

धर्म की यह व्याख्या सार्वभौम और सार्वजनीन है—इसमें साम्प्रदायिकता तथा संकीर्णता की गंध भी नहीं है। इस लक्षण में प्रोज्झित केतव तथा निर्मत्सर ऐसे विशेषण हैं, जो विशुद्ध मानवधर्म की ओर संकेत करते हैं। स्वयं भागवताकार ने भागवत के प्रतिपाद्य को द्वादश स्कन्ध में बताया है—

सर्वं वेदान्तसारं यद् ब्रह्मात्मैकत्वलक्षणम्।
वस्त्वद्वितीयं तन्निष्ठं कैवल्यैकप्रयोजनम्।।

१३. इतिहास

पुराण के अतिरिक्त पंचम वेद का दूसरा भाग इतिहास है। इतिहास ग्रन्थों में रामायण और महाभारत ही अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। इन दोनों ही ग्रन्थों का मूल रूप प्राप्त नहीं होता। एक जनश्रुति तो यह है कि महर्षि वाल्मीकि ने सौ करोड़ श्लोकों का रामायण ग्रन्थ बनाया था। वाल्मीकि

रामायण के बालकाण्ड के चौथे सर्ग में रामायण के चौबीस हजार श्लोकों और पाँच सौ सर्गों का उल्लेख है। वाल्मीकि रामायण के आज भी कई संस्करण प्राप्त हैं और रामायण नाम के संस्कृत में अनेक ग्रंथ हैं। जैसे महारामायण, संवृत्तरामायण, अगस्त्यरामायण, लोमसरामायण, सौ पद्यरामायण, सौर्यरामायण, चान्द्ररामायण, स्वायंभूरामायण, सुब्रह्मण्यरामायण, सुवर्चसरामायण, देवरामायण, अध्यात्मरामायण आदि शतशः रामायण हैं। श्रीरामचरित के माध्यम से रामायण में भारतीय संस्कृति, धर्म तथा आचार व्यवहार की व्याख्या हुई हैं।

संस्कृति, धर्म तथा आचार व्यवहार की दृष्टि से रामायण से भी अधिक महत्त्वपूर्ण महाभारत है। महाभारत के मूल रूप का आज भी पता नहीं है। इसके भी कई संस्करण प्राप्त हैं। एक कूट श्लोक तो इस प्रकार है—

अष्टौ श्लोकसहस्राणि अष्टौ श्लोकशतानि च।
अहं वेद्मि शुको वेत्ति संजयो वेत्ति वा न वा॥

इससे पता चलता है कि महाभारत की श्लोक संख्या ८८०० थी। महाभारत में भी इसके परिमाण के सम्बन्ध में एक श्लोक है—

चतुर्विंशतिसाहस्त्रीं चक्रे भारतसंहिताम्।
उपाख्यानेन विना तावद् भारतं प्रोच्यते बुधैः॥

इस प्रकार उपाख्यान भाग को छोड़कर भारत संहिता के चौबीस हजार श्लोक बताये गये हैं। रामहर्षण के पुत्र सोति ने इस ग्रन्थ में आख्यानों और उपाख्यानों का समावेश किया, जिससे इसकी श्लोक संख्या एक लाख हो गयी। फिर सोलह हजार श्लोकों का हरिवंश पुराण भी परिशिष्ट रूप में महाभारत में सम्मिलित कर लिया गया। इस प्रकार वेदव्यास का जयभारत, वादरायण की भारत संहिता और शौनक का महाभारत हुआ।

इतिहास के अतिरिक्त महाभारत स्मृति और धर्म का भी ग्रन्थ माना जाता है। आचार-व्यवहार के अतिरिक्त महाभारत में राजनीति, अर्थनीति तथा समाजनीति आदि का विशद विवेचन है। महाभारत में अठारह पर्व हैं, जिनमें चन्द्रवंशीय कौरव-पाण्डवों की उत्पत्ति से लेकर पाण्डवों के स्वर्गारोहण तक का वर्णन है। साथ ही अनेक उपाख्यान हैं। धार्मिक दृष्टि से महाभारत में पाँच रत्न भी विद्यमान हैं। सबसे मुख्य श्रीमद्भगवद्गीता है, जो भीष्म पर्व का महत्त्वपूर्ण भाग है। शेष चार रत्न हैं—अनुस्मृति, गजेन्द्रमोक्ष, भीष्म स्तवराज और विष्णु सहस्रनाम। महाभारत में कई प्रकार की नीतियों का वर्णन है तथा कई सम्प्रदायों का विस्तार से विवेचन है। शान्तिपर्व के ३४९वें अध्याय में यह श्लोक आया है—

सांख्यं योगः पांचरात्रं वेदाः पाशुपतं तथा।
ज्ञानान्येतानि राजर्षे! विद्धि नानामतानि वै॥

१४. धर्मशास्त्र

जहाँ तक धर्मशास्त्र का प्रश्न है; सम्पूर्ण भारतीय वाङ्मय दो भागों में विभाजित किया गया है—श्रुति और स्मृति। वेद, ब्राह्मण और उपनिषद् श्रुति ग्रंथ कहलाते हैं और शेष स्मृति ग्रन्थ। श्रुति ग्रन्थों में सिद्धान्त विवेचन है तथा स्मृति ग्रन्थों में आचार का निरूपण है। धर्म और आचार व्यवहार की दृष्टि से स्वतन्त्र रूप से भी स्मृति ग्रन्थों की रचना हुई। स्मृतियों की संख्या अठारह से लेकर छप्पन तक गिनाई गयी है। मुख्य स्मृतिकार ये हैं—मनु, याज्ञवल्क्य, अत्रि, विष्णु, हारीत, उशनस्, अंगिरा, यम, कात्यायन, वृंहस्पति, पराशर, व्यास, दक्ष, गौतम, वसिष्ठ, नारद, भृगु और शंख। स्मृतियों में प्रजा धर्म, समाज धर्म और सदाचार के नियमों की व्याख्या की गयी है। मनुस्मृति और याज्ञवल्क्यस्मृति सब स्मृतियों में महत्त्वपूर्ण मानी जाती है।

मनु को मानव धर्मशास्त्र का मूल प्रवर्तक माना गया है। नारद स्मृति में लिखा है कि मनु महाराज ने अर्थशास्त्र सम्बन्धी एक लाख श्लोकों की रचना की थी, जिन्हें १०८ अध्यायों में विभाजित किया गया था। महर्षि नारद ने इन श्लोकों को घटाकर १२००० कर दिया। फिर मार्कण्डेय ने उनकी संख्या ८००० की और अंत में भृगु के पुत्र सुमति ने धर्मशास्त्र को ४००० श्लोकों में सीमित कर दिया। आजकल मनुस्मृति में २६८५ श्लोक मिलते हैं, जो बारह अध्यायों में विभाजित हैं। मनुस्मृति में सभी वर्गों के आचार-व्यवहार और कर्तव्यों का निर्देश किया गया है। राजधर्म और राजनय तथा वर्णाश्रम धर्म का भी विस्तार से विवेचन है । मनुस्मृति सर्वसाधारण के लिए एक उपयोगी धार्मिक ग्रंथ रहा होगा। याज्ञवल्क्यस्मृति में ३ अध्याय तथा १०१० श्लोक हैं। इसमें आचार-व्यवहार के नियमों का विस्तार से विवेचन हुआ है। याज्ञवल्क्य स्मृति में अधिकांश में मनुस्मृति का ही अनुसरण किया गया है। आचार-व्यवहार की दृष्टि से पराशर स्मृति और नारद स्मृति भी महत्त्वपूर्ण हैं। नारद स्मृति का प्रतिपाद्य विषय तो व्यवहार ही है। मनुस्मृति तथा याज्ञवल्क्यस्मृति में तो व्यवहार के अतिरिक्त धर्म, वर्ण व्यवस्था, आश्रम व्यवस्था तथा आचार, प्रायश्चित्त आदि का भी पर्याप्त वर्णन मिलता है, परन्तु नारद स्मृति का प्रधान विषय तो व्यवहार ही है। इस प्रकार आचार और व्यवहार की दृष्टि से ये चार स्मृतियाँ ही अधिक महत्त्वपूर्ण हैं।

१५. धर्मसूत्र

धर्म का मूल वेद ही है। धर्मसूत्रों में प्रायः ऐसी ही मान्यता है। गौतम धर्मसूत्र में लिखा है—

वेदो धर्ममूलम्। तद्विदां च स्मृतिशीले॥

(गौतम धर्मसूत्र १।१।२)

मनुस्मृति के अनुसार धर्म के पाँच उपादान हैं। वेद, वेदज्ञों की परम्परा एवं व्यवहार, साधुओं का आचार तथा आत्मतुष्टि। याज्ञवल्क्यस्मृति में भी ऐसी ही बात कही गयी है। कुछ विद्वानों का अनुमान है कि धर्मसूत्रों की रचना स्मृतियों से पहले हो चुकी थी। धर्मसूत्रों की संख्या बहुत है। प्रमुख धर्मसूत्र संग्रह हैं—आपस्तम्ब, हिरण्यकेशी, बोधायन तथा वसिष्ठ। ये धर्मसूत्र कल्पसूत्र के ही अंग हैं। श्रौत तथा गृह्य सूत्रों के भी धर्मसूत्र मिलते हैं। धर्मसूत्रों पर अनेक टीकाएँ भी लिखी गईं। स्मृतियों के लगभग सभी विषय धर्मसूत्रों में आ गये हैं। धर्मसूत्रकारों और स्मृतिकारों के नाम भी प्रायः समान हैं।

१६. वर्तमान युग में धर्म पालन का सौकर्य

भारत का धर्म सम्बन्धी वाङ्मय जिसे धर्मशास्त्र कहा जाता है, अत्यन्त विस्तृत है और उसमें धर्मों का विस्तार, वैशिष्ट्य प्रतिपादन हुआ है। धर्मशास्त्रीय पद्धति के अनुसार भविष्य में धर्म का प्रतिपादन कठिन होगा। अपनी दूरदर्शिता से उसके सम्बन्ध में आचार्यों ने संक्षेप में कुछ

मुख्य बातें कही हैं। सम्पूर्ण धर्म समष्टि को चार भागों में निरूपित किया गया है—तप, ज्ञान, यज्ञ और दान। इस प्रकार धर्म चतुष्पाद है। सत्ययुग में धर्म के इन चारों पादों का पालन होता था। त्रेता में तप का ह्रास हो जाने से शेष तीन पाद बचे थे। द्वापर में ज्ञान का भी ह्रास होने से दो पादों का पालन होता था, कलियुग में यज्ञ का ह्रास होने से अब एक ही पाद, दान शेष रह गया है। वर्तमान युग में मनुष्य के जीवन में अर्थार्जन की प्रधानता रही है। अतः अर्जित अर्थ के कुछ अंश का दान, इस युग में सरलता से किया जा सकता है, किन्तु इतने मात्र से ही मनुष्य का जीवन धार्मिक नहीं हो सकता। उसके लिए उसकी दिनचर्या में भी यथासम्भव शास्त्रानुकूल सुधार आवश्यक है।

धर्मशास्त्रों में दिनचर्या तथा आचार की पर्याप्त सामग्री उपलब्ध है। दिनचर्या और आचार भी वर्ण और आश्रम व्यवस्था के अनुसार ही बताये गये हैं। जहाँ तक ब्रह्मचर्य आश्रम का प्रश्न है, वह प्राचीन पद्धति तो अब समाप्त हो चुकी है। ब्रह्मचर्य धर्म का विवेचन हमारे शास्त्रों में विस्तार से किया गया है। परन्तु आज तो अध्ययन और अध्यापन का स्वरूप ही बदल चुका है। इसलिए साधारण छात्रों के लिए उन नियमों का कोई उपयोग नहीं है। प्राचीनकाल में छात्र के लिए शिक्षक ही सब कुछ था। शिक्षक को आचार्य, गुरु और उपाध्याय कहते थे। अध्यापन प्रायः मौखिक होता था। गुरु को ईश्वर के समकक्ष माना जाता था। शिष्य की एकनिष्ठ साधना और गुरुभक्ति से ही ज्ञान प्राप्ति सम्भव थी। शिक्षा पद्धति में धर्म के नियमों का अध्ययन अनिवार्य था। शिष्य प्रायः एक ही गुरु के यहाँ रहते थे। जो एक गुरु को छोड़कर दूसरे गुरु के यहाँ चले जाते थे, उन्हें 'तीर्थकाक' कहा जाता था। शिष्यों के गुणों तथा उनके आचार के सम्बन्ध में भी धर्मशास्त्रों में विस्तृत चर्चा हुई है। गौतम सूत्र तथा मनुस्मृति में विद्यार्थियों के कर्तव्यों का निर्देश किया गया है। गुरु-सेवा विद्यार्थियों का परम पुण्य कर्तव्य था। गुरु का नामोच्चारण बड़े सत्कार से करने का विधान है। गौतम के आदेशानुसार तो शिष्य को अपने गुरु, गुरुपत्नी तथा गुरुपुत्र का नाम ही नहीं लेना चाहिए। अभिवादन के भी अनेक प्रकार बताये गये हैं। जैसे—उपसंग्रहण, अभिवादन, नमस्कार, प्रणाम आदि। विद्यार्थियों को यह भी शिक्षा दी जाती थी कि उन्हें अपने सम्बन्धियों के अतिरिक्त अन्य लोगों से किस प्रकार का व्यवहार करना चाहिए। विद्यार्थियों से किसी प्रकार का शुल्क नहीं लिया जाता था। शिक्षा समाप्त होने पर शिष्य अपनी सामर्थ्य के अनुसार गुरु की अनुज्ञा से गुरु-दक्षिणा दे सकता था। वेतनभोगी अध्यापक, मृतक अध्यापक कहलाते थे। ऐसे अध्यापक समाज में आदर के पात्र नहीं थे।

स्त्रियों की शिक्षा सम्बन्धी व्यवस्था भी उच्चकोटि की थी। बहुत-सी नारियों ने तो वैदिक ऋचायें भी रची हैं। जैसे विश्ववारा, अपाला, घोषाकाक्षीवती, याज्ञवल्क्य की धर्मपत्नी मैत्रेयी भी बड़ी विदुषी थीं। गार्गी की विद्वत्ता को याज्ञवल्क्य ने भी स्वीकार किया था। इस प्रकार अनेक विदुषी स्त्रियों का उल्लेख धर्मशास्त्रों में हुआ है।

ब्रह्मचारी भी दो प्रकार के होते थे—उपकुर्वाण और नैष्ठिक। नैष्ठिक ब्रह्मचारी आजीवन ब्रह्मचारी रहते थे। ब्रह्मचारियों के समान गृहस्थों, वानप्रस्थों तथा अन्य व्यक्तियों के आचार-व्यवहार का भी धर्मशास्त्रों में विस्तृत विवेचन है। हमारे धर्मशास्त्रों में गृहस्थ-आश्रम को सबसे महत्त्वपूर्ण बताया गया है, क्योंकि वह शेष सभी आश्रमों का आधार है। महाभारत के शान्तिपर्व में आता है—'यथा मातरमाश्रित्य सर्वे जीवन्ति जन्तवः। एवं गार्हस्थमाश्रित्य वर्तन्त इतराश्रमाः॥' (शा० प० २७०। ६-७) मनु महाराज ने भी गृहस्थाश्रम को सर्वोत्तम आश्रम कहा है। प्रायः सभी शास्त्रों का यही मत है कि सभी आश्रमों का आश्रय गृहस्थाश्रम है। कपिल ने तो उन लोगों की भर्त्सना तक की है, जो यह कहते हैं कि गृहस्थ-आश्रम में मोक्ष सम्भव नहीं है। स्मृतियों और पुराणों तथा धर्मसूत्रों में गृहस्थ-धर्म का विस्तार से विवेचन हुआ है। ब्राह्मण गृहस्थ की कई श्रेणियाँ बताई गई हैं। जैसे शालीन, यायावर, वार्तावृत्ति तथा घोराचारिक। महाभारत के अनुशासन पर्व में गृहस्थ के सामान्य धर्मों का विवेचन हुआ है। गृहस्थों के दैनिक कृत्यों का विधान भी धर्मशास्त्रों में किया गया है। जैसे—प्रातःकाल उठना, मलमूत्र त्याग, शौच, आचमन, दन्त-धावन, स्नान, तर्पण, वस्त्र-धारण, तिलक, होम, जपादि। प्रत्येक क्रिया के साथ मन्त्रों का भी विधान है। शौच के सम्बन्ध में बताया गया है—

शौचं च द्विविधं प्रोक्तं बाह्यमाभ्यन्तरं तथा।
मृज्जलाभ्यां स्मृतं बाह्यं भावशुद्धिस्तथान्तरम्॥

स्नान के भी अनेक भेद हैं। जैसे—वारुण स्नान, मन्त्र स्नान, भौम स्नान, आग्नेय स्नान, वायव्य स्नान, दिव्य स्नान, मानस स्नान। जल द्वारा स्नान वारुण कहलाता है। मंत्र स्नान केवल मंत्र द्वारा ही हो जाता है, भौम स्नान मिट्टी द्वारा होता है। आग्नेय स्नान होम की विभूति से होता है, वायव्य स्नान गऊ के खुरों से उठती हुई धूलि से होता है। दिव्य स्नान धूप रहते हुए जो वृष्टि होती है, उसमें होता है और मानस स्नान भगवान् के स्मरण मात्र से होता है। तिलक के भी अनेक विधान हैं, जिनका धर्मशास्त्रों में विस्तार से वर्णन किया गया है। केवल जल से भी तिलक किया जा सकता है। अग्निहोत्र का विवेचन धर्मशास्त्रों में अनेक प्रकार से हुआ है। भारतवर्ष में अग्निहोत्र का सदैव बड़ा महत्त्व रहा है। तीन पवित्र अग्नियाँ बताई गयी हैं—आहवनीय, गार्हपत्य और दक्षिणाग्नि। इन तीन श्रौत अग्नियों के अतिरिक्त औपासन तथा लौकिक अग्नि का भी वर्णन मिलता है। कहीं-कहीं सभ्य अग्नि की भी चर्चा है जो छः अग्नियों को रखता था, उसे षडग्नि कहते थे। जो पंचाग्नि की रक्षा करता है, उसको पंक्ति पावन ब्राह्मण कहा जाता है। गौतम, आपस्तम्ब तथा वसिष्ठ धर्मसूत्रों में और मनु तथा याज्ञवल्क्य स्मृतियों में पंक्ति पावन ब्राह्मण की बड़ी प्रशंसा की गयी है। पंक्ति पावन ब्राह्मण के सम्बन्ध में कहा जाता है कि उसकी उपस्थिति मात्र से भोजन के समय पंक्ति में बैठने वाले पवित्र हो जाते हैं। धर्मशास्त्रों में चतुरग्नि, त्र्यग्नि, द्वयग्नि तथा एकाग्नि का भी विधान है—

गृहस्थस्तु षडग्निः स्यात्पंचाग्निश्चतुरग्निकः।
स्याद् दिव्यग्निरथेकाग्निर्नाग्निहीनः कथञ्चन॥

गृहस्थ के लिए धर्मशास्त्रों में जप का भी बड़ा महत्त्व है। जप के लिए गायत्री तथा अन्य वैदिक मन्त्र विधेय हैं। कुछ मन्त्रों का उल्लेख भी कर दिया गया है। कुछ धर्मशास्त्रकारों का तो मत है कि गृहस्थ केवल जपमात्र से ही इष्टसिद्धि प्राप्त कर सकता है। मनुस्मृति में जप तीन प्रकार का बताया गया है—वाचिक, उपांशु और मानस। गृहस्थ को कम-से-कम एक सौ आठ बार गायत्री का जप अवश्य करना चाहिए। मानस जप सर्वोत्तम है। जप के लिए षडक्षर, अष्टाक्षर तथा द्वादशाक्षर मन्त्रों का विधान है। गृहस्थ के लिए पंच महायज्ञ का विधान भी धर्मशास्त्रों में किया गया है। पाँच महायज्ञ हैं—भूत-यज्ञ, मनुष्य-यज्ञ, पितृ-यज्ञ, देव-यज्ञ और ब्रह्म-यज्ञ। गृहस्थ के लिए वैश्वदेव का भी

विधान किया गया है, जिसका अर्थ है सामर्थ्य के अनुसार देवताओं, पितरों, मनुष्यों तथा कीड़ों-मकोड़ों को भोजन देना। वैश्वदेव का विधान धर्मशास्त्रों में अनेक प्रकार से किया गया है। प्रतिदिन का स्वाध्याय ब्रह्मयज्ञ के अन्तर्गत आता है। देवयज्ञ का सम्पादन अग्नि में समिधा दान से होता है। देवयज्ञ का धर्मशास्त्रों में विस्तार से विवेचन है। भूतयज्ञ में बलि अग्नि में न देकर पृथ्वी पर दी जाती है। तर्पण, श्राद्ध आदि के द्वारा पितृ-यज्ञ किया जाता है। मनुष्य-यज्ञ का तात्पर्य है, अतिथि सत्कार। अतिथि की परिभाषा हमारे धर्मशास्त्र में की गयी है—

एकरात्रं ही निवसन् ब्राह्मणो ह्यतिथिः स्मृतः।
अनित्यास्य स्थितिर्यस्मात्तस्मादतिथिरुच्यते॥

(मनु० ३।१०२)

अतिथि उसे कहते हैं जो केवल एक रात्रि के लिए रुकता है। उसे अतिथि इसलिए भी कहा जाता है, क्योंकि उसकी स्थिति अनित्य है। अपना मित्र, सहपाठी, सम्बन्धी अथवा परिचित व्यक्ति अतिथि नहीं होता है। सामर्थ्य के अनुसार अतिथि-सत्कार गृहस्थ का परम धर्म है। वसिष्ठ धर्मसूत्र के अनुसार योग्यतम व्यक्ति का सत्कार सर्वप्रथम होना चाहिए। अतिथि, आतिथ्य, आतिथ्यकर्ता के नियमों का विवेचन भी धर्मशास्त्र में विस्तार से हुआ है तथा आतिथ्य को एक यज्ञ बताया है, जिसके मूल में सार्वभौम दया भावना का भाव है। गृहस्थ के लिए तो यहाँ तक लिखा है कि गृहस्थ को नौकरों तक को भोजन कराने के पश्चात् ही स्वयं भोजन करना चाहिए। अन्नदान का बड़ा महत्त्व है—

अन्ने श्रितानि भूतानि अन्नं प्राणमिति श्रुतिः।
तस्मादन्नं प्रदातव्यमन्नं हि परमं हविः॥
न त्वेव कदाचिददत्वा भुंजीत।

(बोधायन धर्मसूत्र)

१७. भोजन

धर्मशास्त्रों में भोजन के नियमों और प्रतिबन्धों का भी बड़ा विस्तृत विवेचन है, जिसमें भोजन की पूरी व्यवस्था आ जाती है। अर्थात् कितनी बार भोजन करना चाहिए, कौन पदार्थ भोज्य तथा पेय है, भोजन किस प्रकार दूषित होता है तथा किसका भोजन विधेय है, इत्यादि। आहार-शुद्धि मानव-जीवन का मूल है। छान्दोग्योपनिषद् (७।२६।२) में लिखा है—'आहारशुद्धौ सत्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः स्मृतिलभ्ये सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः।' अर्थात् भोजन शुद्धि से ही चित्त की शुद्धि होती है और चित्त की शुद्धि से प्रज्ञा की प्राप्ति होती है और प्रज्ञा से ही सारे बन्धनों का क्षय होता है। सामान्य रूप से भोजन का विधान केवल दो बार का है और बैठकर करने का है। यथासाध्य भोजन एकान्त में—दूसरे की दृष्टि से दूर ही करना चाहिए। यथासाध्य मौन रहकर ही भोजन करना चाहिए। भोजन के पूर्व और पश्चात् आचमन का विधान है। भोजन के सामने आते ही हाथ जोड़कर प्रणाम करना चाहिए। भोजन पात्र के चारों ओर जल छिड़कने का भी विधान है। तैत्तिरीय ब्राह्मण (२।१।११) में लिखा है—'ऋतं त्वां सत्येन परिषिंचामि, इति सायं परिषिंचति। सत्यं त्वां तेन परिषिंचामीति प्रातः।' खाते समय चमड़े का स्पर्श वर्जित है। भोजन के शिष्टाचारों तथा पंक्तिपावन और पंक्तिदूषक ब्राह्मणों का भी धर्मशास्त्र में विस्तार से विवेचन है। पंक्तिपावन ब्राह्मण को वहुत श्रेष्ठ समझा जाता था। गौतम, बौधायन, आपस्तम्ब तथा वसिष्ठ धर्मसूत्रों तथा मनुस्मृति आदि में ऐसे ब्राह्मणों की सूचियाँ हैं जो पंक्तिपावन तथा पंक्तिदूषक कहे जाते हैं। पंक्तिपावन वे कहलाते हैं, जो वेद तथा वेदांगों को जानते हैं, जिन्होंने ज्येष्ठ साम का अध्ययन किया है, जिन्होंने नाचिकेत अग्निहोम किया है, जो तीन मधुपद जानते हैं, त्रिसुपर्ण पढ़े रहते हैं, पंचाग्नि की रक्षा करते हैं। मनु महाराज वेदज्ञ, वेदव्याख्याता, ब्रह्मचारी, सहस्र गायों का दान करने वाले तथा सौ वर्ष की अवस्था वाले ब्राह्मण को पंक्तिपावन कहते हैं। शंख उन यतियों को पंक्तिपावन कहते हैं, जो स्वर्ण और मिट्टी को समान समझते हैं और सदा ही ब्रह्मलीन रहते हैं। अनुशासन पर्व में भाष्य व्याकरण और पुराण के पंडितों को पंक्तिपावन कहा गया है। इसी प्रकार पंक्तिदूषक वे हैं, जो कोढ़ी, खल्वाट, व्यभिचारी, मांसाहारी हैं तथा मादक द्रव्यों का सेवन करने वाले हैं। भोजन के वर्जन के नियमों का भी विधान है। उच्छिष्ट भोजन न तो स्वयं खाना चाहिए और न किसी को खिलाना चाहिए। बालक अपने माता, पिता और गुरु का जूठा अवश्य खा सकता है। पति का जूठा पत्नी भी खा सकती है।

निषिद्ध भोजन भी कई प्रकार का होता है—(१) जाति-दुष्ट या स्वभाव-दुष्ट—जैसे लहसुन, प्याज आदि, (२) क्रिया-दुष्ट—दुष्ट या निकृष्ट प्राणी से देखा हुआ या परोसा हुआ, (३) काल-दुष्ट—समय बीत जाने पर या अनुचित या अनुपयुक्त समय का भोजन—जैसे बासी भोजन, ग्रहण में पकाया हुआ भोजन आदि, (४) संसर्ग-दुष्ट—निकृष्ट संसर्ग या स्पर्श से भ्रष्ट—जैसे कुत्ता, बिल्ली, कीट आदि के संसर्ग से दुष्ट भोजन और (५) रस-दुष्ट—जिसका स्वाद समाप्त हो जाता है। इसी प्रकार पतित-व्यभिचारी आदि का भोजन परिग्रह-दुष्ट होता है तथा जो भोजन बिना भाव के परोसा जाता है, वह 'भाव-दुष्ट' होता है। सूतक-पातक वाले घर के भोजन को 'निमित्त-दुष्ट' कहते हैं।

१८. दान

गृहस्थ के लिए दान का भी बड़ा महत्त्व है। शास्त्रों में दान की बड़ी महिमा है—

तपः परं कृतयुगे त्रेतायां ज्ञानमुच्यते।
द्वापरे यज्ञमेवाहुः दानमेकं कलौ युगे॥

(मनु० १।८६)

यतीनां तु शमो धर्मस्त्वनाहारो वनौकसाम्।
दानमेव गृहस्थानां सुश्रूषा ब्रह्मचारिणाम्॥

(हेमाद्रि, दान खण्ड)

दान का भारतीय शास्त्रों में बड़ा विस्तृत विवेचन है। प्रायः सभी पुराणों में दान की प्रशंसा की गयी है। विशेषकर अग्नि, मत्स्य और वाराह पुराण में दान की विशेष चर्चा है। महाभारत के अनुशासन पर्व में दान के विभिन्न रूप बताए गये हैं। मनुस्मृति और याज्ञवल्क्यस्मृति में दान और परिग्रह की व्याख्या की गयी है। देवल ने दान के छः अंग बताये हैं। दाता, प्रतिगृहीता, श्रद्धा, देय, काल और देश। देवल ने शास्त्रोक्तदान की परिभाषा इस प्रकार की है—

पात्रेभ्यो दीयते नित्यमनवेक्ष्य प्रयोजनम्।
केवलं धर्मबुद्ध्या यद् धर्मदानं तदुच्यते॥

एक स्थान पर तो यहाँ तक कहा गया है कि अदानी धनवान् और अतपस्वी दरिद्र के गले में पत्थर बाँधकर डुबो देना चाहिए—

द्वावेवाप्सु प्रवेष्टव्यौ गलेबद्ध्वा महाशिलाम्।
धनवन्तमदातारं दरिद्रं चातपस्विनम्॥

दान के अनेक प्रकार हैं—जैसे नित्य, नैमित्तिक और काम्य तथा सात्त्विक, राजस् और तामस्। धर्मशास्त्रों में भूदान का भी बड़ा महत्त्व है और भूमिदान को सर्वश्रेष्ठ दान माना गया है। भूमिदान सम्बन्धी अनेक दानपत्र आज भी उपलब्ध हैं। कुछ वस्तुओं का दान महादान कहा गया है, जिसका अलग से विधान है। गोदान की भी बड़ी महिमा है। परन्तु उसका प्रकार और स्वरूप निर्दिष्ट कर दिया गया। कठोपनिषद् ने उन लोगों की भर्त्सना की है जो बूढ़ी, दुर्बल और अपाहिज गायों का दान करते हैं। अनुशासन पर्व में भी गोदान का प्रसंग उठाया गया है। दान के ही अन्तर्गत पुस्तकदान तथा धर्मशाला, आरोग्यशाला, पाठशाला आदि का निर्माण आता है।

१९. गोदान और वर्तमान में उसका प्रचलित स्वरूप

शास्त्रों में गोदान की बड़ी महिमा बताई गयी है और यह महिमा गौ की उपयोगिता के आधार पर प्रतिष्ठित है। गऊ से दूध, दही, घृत, गोमूत्र और गोबर की प्राप्ति होती है, जो विभिन्न धार्मिक क्रियाओं में अनिवार्य रूप से उपादेय होती है। इन्हीं पाँचों चीजों से पंचगव्य बनता है और इससे मनुष्य देह और मन की शुद्धि के बाद ही उसे धर्मानुष्ठान में अधिकार मिलता है। मूत्र, गोबर और मृत्यु के बाद उसका सारा शरीर, खाल के रूप में कृषि के लिए ग्राह्य होता है। इन्हीं कारणों से गोदान को शास्त्रों में सर्वश्रेष्ठ दान कहा गया है। पूर्वकाल में गोदान प्रत्यक्ष गौ के दान के रूप में ही हुआ करता था, किन्तु कालान्तर में वह गौ के प्रतीकगामी रूप में परिवर्तित होने लगा और यह परिवर्तन जब प्रारम्भ हुआ, तब धेनुदान के नाम से इस दान का व्यवहार प्रचलित हुआ। मत्स्यपुराण और लिंगपुराण में गोदान के प्रसंग में कामधेनु दान की चर्चा आती है।

इसमें सोने की दो आकृतियों का विधान है। उन मूर्तियों में गौ का आह्वान किया जाता है, वास्तविक गौ का दान नहीं किया जाता। इसी प्रकार गोदान की अनुकृति में कुछ पदार्थों का दान दिया जाता है—उन्हें धेनु कहते हैं। मत्स्य पुराण में इस प्रकार दस पदार्थ धेनु माने गये हैं—गुड़, घृत, तिल, जल, क्षीर, मधु, शर्करा, दधि और रस। इसी प्रकार अग्नि और वराह पुराणों में धेनुओं की संख्या गिनाई गयी है। इस धेनुदान को ही कालान्तर में गोदान कहने लगे।

धर्मशास्त्रों में गोदान से बढ़कर दूसरा दान नहीं है। मनु और याज्ञवल्क्य दोनों ने ही गोदान की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। अनुशासन पर्व में लिखा है—

गोभिस्तुल्यं न पश्यामि धनं किंचिदिहाच्युत॥
कीर्तनं श्रवणं दानं दर्शनं चापि पार्थिव।।
गवां प्रशस्यते वीर सर्वपापहरं शिवम्।
स्वाहाकार वषट्कारौ गोषु नित्यं प्रतिष्ठितौ।
गावो यज्ञस्यनेत्रो वै तथायज्ञस्य ता मुखम्॥
गावःस्वर्गस्य सोपानं गावः स्वर्गेऽपि पूजिताः।
(अनुशासन ५१। २६-२९ तथा ७१, ३३)

अर्थात् गौ के तुल्य कोई धन नहीं है। कीर्तन, श्रवण, दान, दर्शन आदि से भी बढ़कर गौ है। गौ सब पापों का निवारण करने वाली है और यज्ञ का मूलभूत साधन भी गौ ही है। इसलिए गौ की पूजा से लोक और परलोक दोनों की प्राप्ति सम्भव है। गौएँ स्वर्ग में भी पूजी जाती हैं।

गायों में कपिला गाय सबसे श्रेष्ठ बताई गयी है। एक कपिला गाय दस साधारण गायों के समान होती है।

२०. धर्मशास्त्रों में वर्णित आचारों की संक्षिप्त तालिका

धर्मशास्त्रों में गृहस्थों के विभिन्न आचार और व्यवहार वर्णित हैं। गोदान भी उसी में से एक है, किन्तु यह मुख्य रूप से गृहस्थ का ही आचार है। अन्याश्रितों के आचार अन्य तरह के हैं, जिनका वर्णन धर्मशास्त्रों में विस्तार से हुआ है। अतः धर्मशास्त्र, जैसे अपने आचार की जानकारी हेतु गृहस्थ के लिए उपादेय है, उसी प्रकार अपने-अपने आचारों की जानकारी के लिए ब्रह्मचारी, वानप्रस्थी और संन्यासी को भी उपादेय है। धर्मशास्त्रों में वर्णाश्रम-धर्म-विवेचन के अन्तर्गत व्यक्ति और समाज के सूक्ष्म से सूक्ष्म आचारों का विवेचन हुआ है। धर्म के अन्तर्गत मानव के धार्मिक, आर्थिक, नैतिक, कानूनी और व्यावहारिक सभी पक्षों को ले लिया गया है। राजधर्म और राजनय भी धर्म के अभिन्न अंग हैं। अर्थशास्त्र भी धर्मशास्त्र का ही एक अंग है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में तो धर्मस्थीय और कण्टक शोधन नाम के दो प्रकरण विशुद्ध धर्म के अन्तर्गत ही आते हैं।

२१. आचार और व्यवहार शब्दों का अर्थ

आचार और व्यवहार शब्दों के जो वास्तविक अर्थ हैं, उनमें न तो अभिन्नता है और न परस्पर पूरकता ही। किन्तु इनकी स्वतंत्र महत्ता और उपयोगिता है। उनके अर्थों के सम्बन्ध में यह कहना समीचीन है कि मनुष्य की जो क्रिया केवल अपने द्वारा ही सम्पादित होकर, दूसरों के लिए उदाहरण के रूप में उपादेय हो सकती है, वह आचार है और जिस क्रिया के सम्पादन में एक मनुष्य को किसी-न-किसी रूप में दूसरे मनुष्य के सहयोग की अपेक्षा होती है और उसके प्रिय-अप्रिय का ध्यान रखना होता है, वह क्रिया व्यवहार है।

आजकल व्यवहार शब्द का प्रयोग दूसरे अर्थ में होने लगा है, परन्तु धर्मशास्त्रों में इस शब्द का प्रयोग राजा और न्याय के सन्दर्भ में विशेष रूप से हुआ है। राज व्यवहार, सभा व्यवहार तथा सभ्य व्यवहार आदि व्यवहार के अनेक पक्ष हैं। मनुस्मृति के आठवें अध्याय में राजा के कर्तव्यों और व्यवहारों का विवेचन हुआ है। राजा के अठारह व्यवहारों का उल्लेख हुआ है। नवम् अध्याय में पति-पत्नी के व्यवहारों का विवेचन हुआ है। याज्ञवल्क्य ने आह्निक कृत्य, व्यवहार पद तथा प्रायश्चित्त आदि का विस्तृत विवेचन किया है। इस प्रकार व्यवहार शब्द विशेष वर्गों की विशेष परम्पराओं के लिए भी आया है, क्योंकि उनको दृष्टि में रखकर ही न्याय किया जाता था। इसीलिए याज्ञवल्क्यस्मृति में कहा है—'स्मृत्योर्विरोधे न्यायस्तु बलवान् व्यवहारतः' (२। २१)। नारदस्मृति में भी इस प्रकार का वाक्य है, 'धर्मशास्त्र-विरोधे तु युक्तियुक्ता विधि स्मृतः।' (१। ४०)। न्याय के सन्दर्भ में व्यवहार के चार पाद होते हैं—(१) भाषापाद, (२) उत्तरपाद, (३) क्रियापाद तथा (४) निर्णयपाद। इस व्यवहार शब्द को लेकर अनेक व्याख्याएँ की गयी हैं। एक तो शिष्टसम्मत लौकिक आचरण व्यवहार है, परन्तु यह अर्थ रूढ़ है, पारिभाषिक नहीं है, क्योंकि

पारिभाषिक अर्थ में व्यवहार का सम्बन्ध शुद्ध न्याय से है। इसलिए न्याय से सम्बद्ध सम्पूर्ण पद्धति व्यवहार के अन्तर्गत आ जाती है और व्यवहार धर्मशास्त्र का प्रमुख अंग वन जाता है।

धर्मशास्त्रों में मानव के कर्तव्यों का इतने व्यापक आधारफलक पर चित्रण हुआ है कि उससे जीवन का कोई भी अंग छूटने नहीं पाया है। इस परिप्रेक्ष्य में यदि धर्मशास्त्र का अध्ययन किया जाय तो स्पष्ट हो जायेगा कि उसमें न तो भेदभाव है और न एकांगिता। प्रत्येक जाति, वर्ग और व्यक्ति समाज का अभिन्न अंग है। हाँ, व्यक्ति से अधिक महत्त्व समाज को मिला है, क्योंकि समष्टिहित में ही व्यक्तिहित निहित है।

२२. वर्तमान मानव समाज और शास्त्रों में प्रतिपादित आचार धर्म

भारतीय शास्त्रों में धर्म का प्रयोग बड़े व्यापक अर्थ में हुआ है। एक ओर धर्म का अर्थ निश्चित नियम, आचरण और व्यवस्था है, दूसरी ओर धर्म मनुष्य की लौकिक और अलौकिक उपलब्धियों का साधन है। मनु और याज्ञवल्क्य दोनों ने धर्म के अन्तर्गत उसके इन पक्षों को ले लिया है—

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद् धर्मस्य लक्षणम्॥

धर्मशास्त्रों में धर्म के दूसरे पक्ष का भी विवेचन हुआ है, जो सामान्य धर्म है तथा जिसका आचरण मानवमात्र के लिए उपयोगी है। मनुस्मृति और याज्ञवल्क्य दोनों ही स्मृतियों में सामान्य धर्म का विवेचन हुआ है—

अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
एतद् सामासिकं धर्मं चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मनुः॥

(मनु० १०।६३)

अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
दानं दमो दया शान्तिः सर्वेषां धर्मसाधनम्॥

(याज्ञ० ५।१२२)

सामान्य धर्म का पालन करने से भी अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति सम्भव है। सामान्य धर्म के अन्तर्गत आचार की ही प्रधानता है और आचार को ही परम धर्म माना गया है—'आचारः परमोधर्मः' तथा 'चतुर्णामपि वर्णानामाचारो धर्मपालकः' इत्यादि वाक्य इस सिद्धान्त की पुष्टि करते हैं। समाज चाहे जैसा हो, चाहे जो देश अथवा काल हो, सदाचार का सर्वदा महत्त्व रहेगा। मनु महाराज ने आचार पर बड़ा विस्तार से विचार किया है और मानसिक, वाचिक तथा कायिक तीनों प्रकार की शुद्धता को आचरण की शुद्धता कहा है, 'सत्यपूतां वदेद्वाचं मनः पूतं समाचरेत्' (६।४६) महाभारत में स्थान-स्थान पर सामान्य धर्म की चर्चा हुई है। शान्ति पर्व में भीष्म सत्य की प्रशंसा करते हुए कहते हैं—

अश्वमेधसहस्त्रं च सत्यं च तुलया धृतम्।
अश्वमेधसहस्त्राद्धि सत्यमेव विशिष्यते॥

इसी अनुशासन पर्व में अहिंसा के विषय में कहा गया है—

सर्वयज्ञेषु वा दानं सर्वतीर्थेषु चाप्लुतम्।
सर्वदानफलं चापि नैतत्तुल्यमहिंसया॥
अहिंस्त्रस्य तपोऽक्षय्यमहिंस्त्रो यजते सदा॥

विशेष धर्म का पालन सामान्य धर्म के पालन के बिना सम्भव ही नहीं है। पुराणों के सम्बन्ध में एक लोकोक्ति प्रसिद्ध है—

अष्टादशपुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम्।
परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्॥

आचरण-दर्शन का जितना अच्छा निर्देशन श्रीमद्भगवद्गीता में हुआ है, उतना किसी दूसरे ग्रन्थ में नहीं हुआ। महाभारत में तो आचार-दर्शन संपूर्ण ग्रन्थ में बिखरा हुआ है, परन्तु गीता में उसको व्यवस्थित रूप दे दिया गया है। दैवी सम्पद् और आसुरी सम्पद् के नाम से गीता में आचार की श्रेणियाँ बता दी गयी हैं। आचार के वे सिद्धान्त मनुष्यमात्र पर लागू हैं। दैवी सम्पद् और आसुरी सम्पद् के लक्षण गीता के सोलहवें अध्याय में बताये गये हैं—

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्॥
अहिंसा सत्यमक्रोधत्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दयाभूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्॥
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहोनातिमानिता।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत॥
दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम्॥
दैवी सम्पद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता।
माशुचः सम्पदः दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव॥

(गीता अ० १६।१, ३, ४, ५)

दैवी सम्पदा के ये २६ गुण और तेरहवें अध्याय में बतलाये हुए ज्ञान के २० लक्षण वास्तव में सर्वोत्कृष्ट आचार का स्वरूप अभिव्यक्त करते हैं। महाभारत के शान्ति पर्व में १६० अध्याय से लेकर १६३ अध्याय तक इन गुणों का विस्तार से विवेचन हुआ है। आसुरी सम्पद् अज्ञान का लक्षण है। शान्तिपर्व में इसका भी विवेचन हुआ है।

२३. सदाचारी के दुःखी और दुराचारी के सुखी होने का रहस्य

यह ज्ञातव्य है कि सुख-दुःख का निर्णय तात्कालिक फल अथवा परिस्थिति से नहीं किया जा सकता। पुण्य, पाप तथा धर्म और अधर्म तत्काल फल देते हैं, ऐसी बात नहीं है। धर्मशास्त्रों की आधारशिला कर्म सिद्धान्त है। जिसके अनुसार कोई भी किया हुआ कर्म निष्फल अथवा व्यर्थ नहीं होता। यह मनुष्यलोक वास्तव में कर्मभूमि है। इसलिए स्मृतियों में कर्म को इतना महत्त्व दिया गया है। कर्मसिद्धान्त का मूल पुनर्जन्म का सिद्धान्त है। पूर्वजन्मकृत कर्म ही दैव कहलाता है तथा वर्तमान जन्म का किया हुआ कर्म पुरुषार्थ कहलाता है। पूर्वजन्म का पुरुषार्थ इस जन्म में दैव बनता है और इस जन्म का पुरुषार्थ दूसरे जन्म में दैव बनता है। इस प्रकार दैव और पुरुषार्थ अन्योन्याश्रित हैं। महाभारत में कहा गया है कि 'पुरुषार्थेण विना दैवं न सिद्ध्यति।' कर्म का फल अवश्य ही भोगना पड़ता है, चाहे वह कभी भी भोगना पड़े—

अवश्यमेवभोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्।
नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि॥

यहाँ तक माना गया है कि यदि किसी व्यक्ति को भोग नहीं प्राप्त हुआ है तो उसके पुत्र, पौत्र, नाती आदि को उसका फल भोगना पड़ता है—

पापं कर्म कृतं किंचिद् यदि तस्मिन् न दृश्यते।
नृपते! तस्य पुत्रेषु पौत्रेष्वपि च नसृषु॥

यह बात तो प्रत्यक्ष देखने में आती है कि कोई व्यक्ति जन्म से दरिद्र होता है और कोई जन्म से धनी। साथ ही वंश परम्परा से अनेक रोग दिखाई देते हैं। इन सबके मूल में कर्म का सिद्धान्त ही है। कर्म के प्रवाह को अनादि माना गया है। बुरा कर्म करते हुए भी जिन व्यक्तियों को इस जन्म में उसका फल नहीं मिल रहा है, उसका कारण उनके संचित कर्म ही हो सकते हैं। संचित कर्म का ही नाम अदृष्ट है। संचित कर्मों के भोगने में एक क्रम रहता है। उस क्रम के अनुसार प्रारब्ध बनता है तथा उनके भोग के समय क्रियमाण कर्म अधिक फल नहीं रखते। पापियों तथा दुष्टों को जो सुख और धन प्राप्त होता है, वह उनके संचित कर्मों का फल है। इसीलिए मनुस्मृति में लिखा है—

अधार्मिको नरो यो हि यस्य चाप्यनृतं धनम्।
हिंसारतश्च यो नित्यं नेहासौ सुखमेधते॥
न सीदन्नपि धर्मेण मनोऽधर्मे निवेशयेत्।
अधार्मिकाणां पापानामाशु पश्यन्विपर्ययम्॥
नाधर्मश्चरितो लोके सद्यः फलति गौरिव।
शनैरावर्तमानस्तु कर्तुर्मूलानि कृन्तति॥
(मनु० ४।१७०-१७२)

अर्थात् जो मनुष्य अधार्मिक है, जिसने अनाचार से धन एकत्र किया है अथवा जो प्रतिदिन हिंसा करता है, वह सुखी नहीं हो सकता। धर्माचरण से यदि कष्ट भी हो तो भी अधर्म नहीं करना चाहिए। अधार्मिकों और पापियों की सुख-समृद्धि क्षणिक होती है। अधर्म का आचरण गौ की भाँति तुरन्त फलीभूत नहीं होता, परन्तु धीरे-धीरे वह आचरण पापी की जड़ को ही काट देता है। इसलिए प्रत्येक मनुष्य को धर्म का आचरण करना चाहिए।

२४. कर्मफल और पुनर्जन्म की मान्यता

यह निश्चित है कि मनुष्य को जो सुख और दुःख प्राप्त होता है, वह उसके भले-बुरे कर्मों का ही परिणाम है। कुछ कर्म ऐसे होते हैं, जिनके सुख-दुःखात्मक परिणाम कर्म सम्पन्न होते ही उपलब्ध हो जाते हैं, किन्तु ऐसे कर्म प्रायः अधिक होते हैं जिनके द्वारा सुख-दुःख की प्राप्ति कुछ विलम्ब से होती है। यह नहीं माना जा सकता कि वे कर्म निष्फल हो जाते हैं, किन्तु सत्य है कि वे कर्म अपने संस्कार छोड़कर, स्वयं अतीत हो जाते हैं और उनका फल, कभी इसी जन्म में कालान्तर में और कभी जन्मान्तर में प्राप्त होता है। वर्तमान जन्म में जो दुराचारियों को सुखी और सदाचारियों को दुःखी देखा जाता है, उसके मूल में यही तत्त्व छुपा हुआ है। दुराचारियों को जो सुख मिल रहा है, वह उनके पूर्वजन्म का फल है और इस जन्म के दुराचार का फल उसे जन्मान्तर में मिलेगा। इसी प्रकार सदाचारी को जो दुःख मिल रहा है, वह उसके पूर्व जन्मों के दुष्कृत्यों का फल है। वर्तमान जन्म के सदाचार का फल, उसे जन्मान्तर में मिलेगा। इस मान्यता के सम्बन्ध में यह प्रश्न उठ सकता है कि यह व्यवस्था पुनर्जन्म की मान्यता पर निर्भर है। किन्तु जो लोग पुनर्जन्म का सिद्धान्त नहीं मानते, उनके सम्बन्ध में यह बात कैसे कही जा सकती है?

वस्तुतः पुनर्जन्म का होना न होना उस सिद्धान्त की मान्यता और अमान्यता पर निर्भर नहीं है। यह तो एक सुपरीक्षित वास्तविकता है। अतः यह सोचना कि जो पुनर्जन्म के सिद्धान्त को मानते हैं, उन्हीं का पुनर्जन्म होता है और जो नहीं मानते उनका नहीं होता है, गलत है। पुनर्जन्म तो मुक्ति के पूर्व प्राणिमात्र का अनिवार्य रूप से होता ही है। मृत्यु के बाद जन्म का होना, उतना ही सुनिश्चित है जितना जन्म के बाद मृत्यु का होना। जैसा कि गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है—

जातस्य हि ध्रुवो मृत्यु ध्रुवं जन्म मृतस्य च।

यही कारण है कि आज ऐसे समाजों में, जिनमें पुनर्जन्म के सिद्धान्त की मान्यता नहीं थी, धीरे-धीरे उनमें भी मान्यता मिलनी प्रारम्भ हो गयी है और अनीश्वरवादी भी कर्म के चक्र में विश्वास करने लगे हैं। वंशानुगत परम्पराओं में तो घोर-से-घोर भौतिकवादी का भी विश्वास है परन्तु अनेक अघटनीय घटनाओं का समाधान प्रस्तुत करने में वे असमर्थ हैं। पुनर्जन्म के सिद्धान्त का भारतीय धर्मशास्त्रों में विस्तृत विवेचन है। इसलिए इस सिद्धान्त के पक्ष में इन ग्रन्थों के उद्धरण अनावश्यक हैं। अब पाश्चात्य विद्वान् इस विषय पर गम्भीरता से विचार कर रहे हैं। यदि हम कर्मचक्र में विश्वास करते हैं तो पुनर्जन्म में अवश्य विश्वास करना होगा। भारतीय विद्वानों ने कर्मचक्र और पुनर्जन्म के सिद्धान्त में समन्वय स्थापित कर, अद्भुत कार्य किया है। आज विज्ञान यह तो मानता है कि कोई कर्म व्यर्थ नहीं हो सकता, परन्तु इस सिद्धान्त का परिपाक विज्ञान अभी तक नहीं कर सकता है। वस्तुस्थिति तो यह है कि कर्म के इस सिद्धान्त की सिद्धि पुनर्जन्म की मान्यता में है। यह कहना कि पुनर्जन्म का सिद्धान्त मनुष्य को भाग्यवादी बनाता है अथवा 'यथालाभ संतोष' का विश्वासी बनाता है, युक्तियुक्त नहीं है। वास्तव में ऐसा कहना कर्मवाद के सिद्धान्त की अज्ञानता का द्योतक है। पुनर्जन्म का सिद्धान्त, मनुष्य को पूर्ण कर्मयोगी और पुरुषार्थी बनाता है, क्योंकि बिना पुरुषार्थ के देव सिद्ध ही नहीं हो सकता। पुनर्जन्म के सिद्धान्त के विस्तृत ज्ञान के लिए धर्मशास्त्रों को देखना चाहिए।

२५. समाज में फैले आचार-मूलक समाजघाती भेदभाव

आज के शिक्षितों में बहुसंख्यक ऐसे लोग देखे जाते हैं, जिनके ऐसे विचार बहुधा सुनने को मिलते हैं कि धर्मशास्त्रों में जो कर्तव्य और अकर्तव्य का प्रतिपादन किया गया है और उसके मूल में जो अधिकारी एवं अनधिकारी भेद का उल्लेख किया गया है उससे समाज में गहरा भेदभाव उत्पन्न हो गया है और वर्तमान युग में समाज के टूटकर बिखर जाने की विभीषिका ही खड़ी हो गयी है। किन्तु यह कहना कि भेद-भाव को धर्मशास्त्रों से प्रोत्साहन मिलता है और उससे प्राचीन समाज-व्यवस्था के टूट जाने का भय है, ठीक नहीं है। सत्य यह है कि भारतीय कर्म और संस्कृति का मूल, भेद में अभेद और अभेद में भेद देखने की दृष्टि है। अभेद-दर्शन भारतीय परम्परा का मूल तत्त्व है। जिसे भेद कहा जाता है, वह गुणों का भेद है, आत्मा का भेद नहीं है। यह भेद तो प्राणिमात्र में प्रकृतिजन्य है। अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार प्रत्येक प्राणी भिन्न-भिन्न गति, स्थिति और अवस्था को प्राप्त होता है। सब रोगों अथवा रोगियों का उपचार एक ही औषधि अथवा मात्रा से नहीं हो सकता। मनुष्य-मनुष्य में बल, बुद्धि और ऐश्वर्य का वैभिन्न्य है। इसी प्रकार देश,

काल और स्थिति के अनुसार आचारों में भी भेद होता है। जहाँ तक आत्मतत्त्व का प्रश्न है, इस दृष्टि से तो भेद का प्रश्न ही नहीं उठता—

एको देवः सर्वभूतेषु गूढ़ः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।

गीता में तो यहाँ तक कह दिया गया है—

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥

(गीता ५।१०)

गीता के १३वें अध्याय में इस अभेद भाव की पुष्टि की गयी है—

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति॥
समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।
न हिनस्त्यात्मनाऽऽत्मानं ततो याति परां गतिम्॥
यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा॥

(गीता १३।२७, २८, २९)

२६. गीतोक्त अभेद दृष्टि और सामान्य मानव समाज

श्रीमद्भगवद्गीता में प्राणिमात्र में समता एवं अभेद दृष्टि रखने का उपदेश दिया गया है। यह उपदेश स्थितप्रज्ञ मनुष्य के लिए तो सरलता से उपादेय हो सकता है, किन्तु सामान्य मनुष्य के लिए यह संभव नहीं है। सामान्य मनुष्य का परस्पर व्यवहार तो वैषम्य और भेद-दृष्टि के आधार पर ही चलता है। मानवमात्र गीतोक्त उपदेश को जीवन में उतारने का प्रयास करेंगे तो समाज की स्थिति संकट में पड़ जायगी। ऐसी स्थिति में गीता के उक्त उपदेश की सर्वजनीनता कैसे हो सकती है? गीता में जिस समत्वयोग का विवेचन किया गया है, वह स्थितप्रज्ञ की स्थिति तो है, परन्तु उसका यह अर्थ नहीं है कि स्थितप्रज्ञ को बाह्य व्यवहार में भी समता का पालन करना चाहिए। स्थितप्रज्ञ की व्यवहार में आसक्ति नहीं होती और न वह आत्मतत्त्व की दृष्टि से प्राणी-प्राणी में भेदबुद्धि रखता है, परन्तु प्राणियों की सामर्थ्य और योग्यता के अनुसार उसे व्यवहार तो करना ही पड़ता है। महाभारत के अनुसार समव्यवहार का अर्थ इतना ही है कि सुख या दुःख, प्रिय अथवा अप्रिय, दान अथवा निषेध इन सब बातों में मनुष्य को दूसरों के साथ वैसा ही आचरण करना चाहिए, जैसा कि वह अपने लिए कर सकता है—

न तत्परस्य सन्दध्यात् प्रतिकूलं यदात्मनः।
एष संक्षेपतो धर्मः कामादन्यः प्रवर्तते॥

समाज में व्यवहार का यह सिद्धान्त बड़ा ही सुन्दर सिद्धान्त है। इससे ही **'वसुधैव कुटुम्बकम्'** की सिद्धि होती है। महाभारत में तो यहाँ तक कह दिया गया है कि अपने साथ जो जैसा वर्ताव करता है, उसके साथ वैसा ही बर्ताव करना धर्म है। मायावी पुरुष के साथ मायावी व्यवहार करना चाहिए और साधु पुरुष के साथ साधु का व्यवहार करना चाहिए। व्यवहार पक्ष में यह आवश्यक है कि लोक-रुचि और समाज की मर्यादा का पूर्ण रूप से पालन किया जाय—

यस्मिन् यथा वर्तते यो मनुष्यः तस्मिंस्तथा वर्तितव्यं स धर्मः।
मायाचारो मायया बाधितव्यः साध्वाचारः साधुना प्रत्युपेयः॥

(महाभारत, शा० १०९।२६)

पर इतनी बात अवश्य है कि आचार-व्यवहार में भी पहले सद्व्यवहार ही विधेय है। इसीलिए विदुरजी ने धृतराष्ट्र को यही बताया है कि दूसरे के क्रोध को शान्ति से जीतना चाहिए और दुष्ट को साधुता से, कृपण का दान से और अनृत को सत्य से जीतना चाहिए—

अक्रोधेन जयेत् क्रोधं असाधुं साधुना जयेत्।
जयेत् कदर्यं दानेन जयेत् सत्येन चानृतम्॥

(उद्योगपर्व)

धर्म में मृत्यु भी श्रेयस्कर है तथा पाप से जयलाभ भी अच्छा नहीं है—

धर्मेण निधनं श्रेयः न जयः पापकर्मणा

'कण्टकेनैव कण्टकम्' का न्याय इसके पश्चात् आता है, परन्तु काँटा तो काँटा ही है—अपना हो या पराया। जब तक मनुष्य पूर्ण ज्ञानी अथवा योगी नहीं है उसे लोकाचार का पालन करना होगा। यह संसार एक कर्मचक्र है—योगी और ज्ञानी भी वृत्ति रूप से इस कर्मचक्र का अनुवर्तन करते हैं। गीता में कहा है—

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति॥

परन्तु जो योगी और ज्ञानी हैं उनके लिए कर्म शेष नहीं रह जाता है; कर्म करना, न करना उनके लिए बराबर है।

२७. वैष्णव सम्प्रदाय के आचार्य और उनकी लोकग्राह्यता

भारत में चिरकाल से विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों का अस्तित्व उपलब्ध होता है और उनके विभिन्न आचार भी उन्हीं सम्प्रदायों के वाङ्मय में विस्तार से वर्णित हैं, किन्तु सभी सम्प्रदायों के सम्बन्ध में यह एक दृष्टि अवश्य उपादेय है कि सभी सम्प्रदाय मूलतः वैष्णव सदृश हैं, अतः यथार्थ दृष्टि से सभी सम्प्रदाय तत्त्वतः एक हैं।

सम्प्रदायों के आचार बड़े रहस्यपूर्ण तथा अन्तरंग हैं, परन्तु वे श्रुति-स्मृति विहित आचारों के विरुद्ध नहीं हैं। कुछ ऐसे भी सम्प्रदाय हैं जो श्रौत और स्मार्त आचारों में विश्वास ही नहीं रखते हैं। सम्प्रदायों का इतिहास भी बड़ा विचित्र और रहस्यमय है। पूर्वकाल में कई सम्प्रदाय थे। एक सम्प्रदाय तो ऐसा था जो अपने को विशुद्ध श्रौत या चरण सम्प्रदाय ही कहता था। दूसरा विशुद्ध देवत्रयीय था, तीसरा मठ परम्परानुवर्ती और चौथा था वेदविरोधी। वैष्णवों ने श्रौत, स्मार्त और आगमिक परम्पराओं का समन्वय किया और समाज के जर्जर शरीर को स्वस्थ करने के लिए भक्ति-रसायन तैयार किया। अन्तरंग आचार और उपासना पद्धति को लेकर वैष्णवों के भी अनेक सम्प्रदाय हैं, परन्तु साध्यतत्त्व सबका एक ही है अर्थात् भगवद्भक्ति। आचार-विचार की दृष्टि से कुछ मर्यादावादी भक्त हैं जो लोक और वेद का समन्वय करते हैं। कुछ शास्त्रवादी भक्त हैं जो लोक और वेद का समन्वय मर्यादाओं का पालन में करते हैं। कुछ रसवादी भक्त होते हैं जो रसेश्वर भगवान् कृष्ण और उनकी आह्लादिनी शक्ति राधा की नित्य निकुंज लीला में निवास करते हैं अथवा युगल सरकार की विलासमयी मधुर लीलाओं का आस्वादन करते हैं। कुछ ज्ञानी भक्त हैं जो भक्ति को साधन मानकर भगवत्स्वरूप का साक्षात्कार करते हैं। कुछ देवता भक्त भी होते हैं जो सिद्धावस्था को प्राप्त कर चुके हैं, परन्तु लोक-कल्याण के लिए व्यवहार-लीला करते हैं। साधु-सन्तों में सभी प्रकार के भक्त होते हैं, परन्तु लोक-मंगल और लोक-कल्याण

की भावना मर्यादावादी भक्तों में अधिक होती है। उच्चावस्था को प्राप्त कर वे देवता भक्त हो जाते हैं।

२८. भक्ति और आचार पक्ष

गोस्वामी तुलसीदास के रामचरित मानस में भक्ति और आचार पक्ष के सुन्दर सामञ्जस्य का निरूपण हुआ है। उन्होंने लोकमत और वेदमत दोनों की रक्षा की है। उनके परात्पर ब्रह्म राम ने अपनी मानवीय लीलाओं से मानव के भौतिक जीवन को आध्यात्मिक बनाया है और लोक तथा वेद की मर्यादाओं की पूर्ण रक्षा की है। जहाँ कहीं लोक और वेद की मर्यादाओं में विरोध आया है, वहाँ या तो गोस्वामीजी ने दोनों का समन्वय कर दिया है, अन्यथा लोकमत को ही महत्त्व दिया है, क्योंकि समाज में लोकमत ही जीवन्त मत होता है। भगवान् राम के सारे संस्कार लोकसम्मत हैं। गोस्वामीजी की रचनाओं में संस्कारों का लोकसम्मत रूप देखा जा सकता है। राम का सम्पूर्ण जीवन लोकाचार और लोक-मर्यादाओं से परिपूर्ण है, क्योंकि राम स्वयं ही मर्यादा पुरुषोत्तम और श्रुति-सेतुपालक हैं, इसलिए सारे लौकिक सम्बन्धों का निर्वाह उन्होंने लोकाचार के अनुसार ही किया। गोस्वामीजी ने व्यक्ति की अपेक्षा समाज और लोक की ही प्रतिष्ठा की है और भगवान् राम के जीवन-चरित्र में उसे व्यावहारिक रूप दे दिया है। राम के वन जाने पर भरत के राज्याभिषेक का प्रश्न था। वेदमत कहता है, 'जेहि पितु देइ सो पावइ टीका।' वसिष्ठ आदि भी इसी पक्ष में थे, परन्तु लोकमत इस पक्ष में नहीं था। इसीलिए उन्होंने लोकमत की रक्षा करते हुए कहा है—

पितु सुरपुर सिय रामु बन, करन कहहु मोहि राज।
एहि ते जानहु मोर हित, कै आपन बड़ काज॥

(रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड)

रामचरित मानस में ऐसे अनेक प्रसंग हैं, जहाँ भगवान् राम वेदमत की रक्षा के लिए लोकमत को अनुकूल करना आवश्यक मानते हैं। विभीषण और सुग्रीव के चरित्रों में यह बात देखी जा सकती है। गोस्वामी तुलसीदासजी ने उत्तरकाण्ड में जिस प्रकार के रामराज्य का चित्रण किया है, वह वास्तव में आदर्श राज्य है, उसमें सभी मर्यादाओं का पालन हुआ है। आदर्श समाज और आदर्श राज्य का बड़ा ही रोचक वर्णन है—

बरनाश्रम निज निज धरम निरत बेद पथलोग।
चलहिं सदा पावहिं सुखहिं नहिं भय सोक न रोग॥

(७।२०)

दैहिक दैविक भौतिक तापा। राम राज नहिं काहुहि व्यापा॥
सब नर करहिं परस्पर प्रीती। चलहिं स्वधर्म निरत श्रुति नीति॥
चारिउ चरन धर्म जग माहीं। पूरि रहा सपनेहुँ अघ नाहीं॥
राम भगति रत नर अरु नारी। सकल परमगति के अधिकारी॥
अल्प मृत्यु नहिं कवनिउ पीरा। सब सुन्दर सब बिरुज सरीरा॥
नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना। नहिं कोउ अबुध न लच्छन हीना॥
सब निर्दंभ धर्मरत पुनी। नर अरु नारि चतुर सब गुनी॥
सब गुनग्य पंडित सब ज्ञानी। सब कृतग्य नहिं कपट सयानी॥
राम राज नभगेस सुनु सचराचर जग माहिं।
काल कर्म सुभाव गुन कृत दुख काहुहिं नाहिं॥

(७।२१)

गोस्वामीजी कर्मचक्र में पूर्ण विश्वास करते हैं और जो केवल भाग्य के भरोसे बैठा रहता है, उसे फटकारते हैं—

कादर मन कर एक अधारा। दैव दैव आलसी पुकारा॥

भगवदिच्छा प्रबल होते हुए भी मनुष्य को कर्म करना चाहिए। मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् ने स्वयं कर्म किया है, इसीलिए विश्व में कर्म की प्रधानता है। गोस्वामीजी की सेवक-सेव्य-भाव की भक्ति कर्म-सिद्धान्त की ही पुष्टि करती है। उनकी प्रेमाभक्ति के अविरल भाव में भी सेवक-सेव्य भाव ही निहित है—

स्वामि सखा पितु मातु गुरु, जिन्ह के सब तुम्ह तात।
मन मंदिर तिन्हकें बसहु, सीय सहित दोउ भ्रात॥

तुलसी के राम में वेद और लोक के सभी आचारों का समन्वय है। लंकाकाण्ड में आता है—

विश्वरूप रघुबंस मनि, करहु बचन बिस्वासु।
लोक कल्पना बेद कर, अंग अंग प्रति जासु॥

इसीलिए गोस्वामीजी ने कह दिया—

मनुज बास सचराचर रूप राम भगवान्।

जो ज्ञानी भक्त हैं वे भी व्यवहार नहीं छोड़ते हैं; क्योंकि ज्ञान से अज्ञान का नाश होता है, न कि व्यवहार का। व्यवहार में तो ज्ञान से कुशलता ही आती है। ज्ञानी का व्यवहार कुशल अभिनेता के अभिनय जैसा होता है। वह उसमें लिप्त नहीं होता है—केवल साक्षीभूत रहता है। सन्त के सारे कार्य निष्काम ही होते हैं, क्योंकि उनमें ईश्वर की ही भावना रहती है। ज्ञानी भक्त और मर्यादावादी भक्त दोनों में ही दैवी सम्पत्ति होती है और दैवी सम्पद् के बिना ज्ञान और कर्म दोनों ही व्यर्थ हैं। सन्त की दया ही दैवी सम्पद् है। उसी से राग-द्वेष की निवृत्ति हो जाती है और सत्त्वगुण की वृद्धि हो जाती है। दैवी सम्पत्ति से ही संयम हो सकता है। जब चित्त में संयम हो जाता है तभी मौन की सिद्धि हो पाती है—केवल वाणी को रोक देने का नाम मौन नहीं है। सन्त में व्यवहारशुद्धि और नियमनिष्ठा का होना बड़ा आवश्यक है। व्यवहार शुद्धि से वह किसी के गुण-दोषों को नहीं देखता और नियमनिष्ठा से उसका वैराग्य दृढ़ होता है। संत लोग जनसम्पर्क से थोड़ा बचकर इसीलिए रहते हैं कि उनके व्यवहार में शुद्धि आ जाय और नियमनिष्ठा का भंग न हो। महात्मा लोग जो कुशासन या मृगचर्म या मचान आदि पर बैठते हैं, उसका भी रहस्य यही है कि उनके शरीर के शुद्ध परमाणु सुरक्षित रहते हैं और दूसरों के अशुद्ध परमाणुओं से वे अशुद्ध नहीं होने पाते। सबके शरीरों में अलग-अलग परमाणु होते हैं। संत के शरीर के परमाणु सत्त्व प्रधान होते हैं। साधारण पुरुषों के रजस् प्रधान अथवा तमस् प्रधान होते हैं। इसलिए संत-जन कोलाहल से कुछ दूर रहना ही पसन्द करते हैं। संतों का यह आचरण किसी अहं के कारण नहीं है, क्योंकि जो सब कुछ भगवान् को ही मानता है, वह अहंकार क्या करेगा? ज्ञानी संत के लिए सब कुछ ब्रह्म ही ब्रह्म है, वह स्वयं भी ब्रह्म है और भक्त संत के लिए सारा प्रपंच भगवन्मय है, इसलिए अहंकार का कोई प्रश्न ही नहीं। अहंकार राग-द्वेष तो सांसारिक जीवों में होता है। ज्ञानी में अहंता-ममता ही नहीं है तो राग-द्वेष कैसा? और भक्त जो सारे विश्व को प्रेममय देखता है, उसके लिए राग-द्वेष कैसा? प्रेम के प्रवाह में उसका राग-द्वेष बह जाता है। इसीलिए भक्त और ज्ञानी दोनों ही सदा प्रसन्न रहते हैं।

संतों का वैराग्य और त्याग भी बड़ा विचित्र होता है। सिद्ध सन्त तो वह है, जिसका वैराग्य से भी वैराग्य और त्याग से भी त्याग हो, क्योंकि वैराग्य और त्याग भी सापेक्षिक ही हैं और उपाधियाँ ही हैं। विषयों की उपस्थिति पर भी जब उनमें राग नहीं होता, तब उसे साधारण भाषा में वैराग्य कहते हैं। इसलिए वैराग्य की सबसे बड़ी कसौटी विषयों का सान्निध्य है, परन्तु साधनावस्था में विषयों से दूर रहना आवश्यक है। इसी प्रकार जब वस्तु को स्वरूप से त्याग दिया जाता है, उसी का नाम साधारण त्याग है। सच्चा त्याग तो भगवत्प्रेम से ही सम्भव है। आजकल जो बहुत से महात्मा घर छोड़कर घूमते हैं, उनकी पहचान बड़ी कठिन है। घर छोड़ने से कोई संन्यासी और विरक्त नहीं होता। सच्चा अनिकेती तो वही है, जिसने वासना और कामनाओं को छोड़ दिया हो। जब तक सन्त में कोई कामना या वासना बनी रहेगी, वह सच्चा फकीर नहीं हो सकता। सबसे बड़ा आदमी तो वह है, जो किसी से कुछ माँगता नहीं है और साथ ही साथ इस बात का अहंकार भी नहीं करता कि वह त्यागी या विरक्त है। कामिनी, कांचन और कामना का त्याग साधु के लिए आवश्यक है। प्रतिष्ठा, गौरव और मान सन्त के लिए समान है। पंच कोशों से ऊपर उठ जाना ही गेह-त्याग कहलाता है और देह में आत्माध्यास न होना देह-त्याग कहलाता है। गेह-त्याग से संत की किसी आश्रम आदि में आसक्ति नहीं होती और देह-त्याग से उसकी किसी भी प्रकार के भोजन और वस्त्रादि में आसक्ति नहीं होती।

२९. सर्वसाधारण के पालनीय आचार

आचार-शास्त्र एक समुद्र है, परन्तु समुद्र-मन्थन से जिस प्रकार कतिपय रत्नों की प्राप्ति होती है, इसी प्रकार आचार-शास्त्र में भी कुछ नियम है, जिन्हें आचार-रत्न कह सकते हैं।

हम तो योगी हैं, पातंजल योग-दर्शन ही हमारा प्रमुख आचार ग्रंथ हैं। हमारी दृष्टि में सब प्रकार की साधनाओं के मूल में पातंजल योग-दर्शन ही प्रतीत होता है।

योग के अष्टांग साधनों में यम और नियम ऐसे साधन हैं, जो आचार के अन्तर्गत आते हैं। उनका पालन अवस्था, सामर्थ्य और परिस्थिति के अनुसार मानवमात्र के लिए विधेय है। अष्टांग योग के यमों और नियमों में धर्मशास्त्रों के सभी आचारों का सार आ गया है। बौद्ध, जैन और ईसाई धर्मों में भी इन आचारों की मान्यता है। योगी इन आचारों की ही पूर्ण निष्ठा से कैवल्य पद प्राप्त करता है, ज्ञानी को स्वरूपावस्थिति होती है और भक्त को भगवत्प्रेम की प्राप्ति। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—ये पाँच यम हैं तथा शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान—ये पाँच नियम हैं। सारा आचार-व्यवहार इन्हीं में आ जाता है। एक-एक यम और नियम को लेकर बहुत विचार हुआ है। बौद्ध-धर्म और जैन-धर्म में अहिंसा पर अनेक ग्रंथ उपलब्ध हैं। इस युग में महात्मा गाँधी ने भी अहिंसा का प्रचार किया। असल बात तो यह है कि सारे यमों और नियमों का मूल अहिंसा ही है। साधारण व्यवहार में अहिंसा का यही स्वरूप हो सकता है कि हम कम-से-कम दूसरों के प्रति वैसा आचरण न करें, जो हमारे अपने लिए सुखकर न हो। महाभारत में अहिंसा के इस रूप की विस्तृत व्याख्या की गयी है। अहिंसा का व्यावहारिक रूप सत्य है। कर्तव्य भावना की दृढ़ता सत्य के बिना संभव ही नहीं है। कर्तव्य-पालन के कारण ही हरिश्चन्द्र को सत्य हरिश्चन्द्र कहा जाता है। कठोर वचन या हृदयविदारक वाक्य सत्यनिष्ठा में नहीं आते, क्योंकि सत्य भाषण में जन-कल्याण निहित रहता है। इसलिए मनु महाराज ने कहा है—'**सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् न ब्रूयात् सत्यंप्रियम्।**' योगियों के लिए तो आत्मज्ञान ही सत्य का स्वरूप है। महाभारत में सत्य के व्यावहारिक पक्ष पर बड़े विस्तार से विवेचन हुआ है। सत्य को हजार अश्वमेध यज्ञों से बढ़कर बताया गया है, परन्तु सत्यासत्य विवेक बड़ा कठिन है। इसलिए योगेश्वर भगवान् कृष्ण ने महाभारत के कर्णपर्व के उनहत्तरवें अध्याय में अर्जुन को सत्यासत्य विवेक का उपदेश दिया है। अहिंसा की रक्षा के लिए असत्य को भी विधेय बताया गया है, क्योंकि अहिंसा सत्य से बढ़कर है। आजकल जैसी परिस्थितियाँ हैं, उनमें सत्य का पालन बड़ा कठिन है। इस प्रकार की परिस्थितियाँ मात्राभेद से हो रही हैं। इसलिए भगवान् कृष्ण ने सत्यासत्य का विवेचन करते हुए कहा है—

सत्यस्य वादिता साधुर्न सत्याद्विद्यते परम्।
तत्त्वेनैव सुदुर्ज्ञेयं पश्य सत्यमनुष्ठितम्॥
भवेत्सत्यमवक्तव्यं वक्तव्यमनृतं भवेत्।
यत्रानृतं भवेत् सत्यं सत्यं चाप्यनृतं भवेत्।
सर्वस्यापहारे तु वक्तव्यमनृतं भवेत्,
तत्रानृतं भवेत्सत्यं सत्यं चाप्यनृतं भवेत्॥
तादृशे पश्यते बालो यस्य सत्यमनुष्ठितम्,
भवेत्सत्यमवक्तव्यं न वक्तव्यमनुष्ठितम्।
सत्यानृते विनिश्चित्य ततो भवति धर्मवित्॥

(महाभारत, कर्णपर्व ६९। ३८, ३२, ३४, ३५)

यह सत्य की व्यावहारिक व्याख्या है। व्यावहारिक सत्य, सत्य के तत्त्व से भी कठिन है, क्योंकि व्यवहार में कभी-कभी झूठ सत्य हो जाता है और सत्य झूठ हो जाता है। इसी प्रकार सत्य बोलने से कभी-कभी सर्वस्व-हरण भी हो सकता है। ऐसे स्थलों पर झूठ सत्य और सत्य झूठ हो जाता है। कहीं-कहीं सत्य बात कहने पर बड़ा अनर्थ हो सकता है, इसलिए झूठ और सत्य के तत्त्व को जानना बड़ा कठिन है। धर्म का प्रयोजन किसी को कष्ट पहुँचाना नहीं है। इसलिए कहीं-कहीं चुप रहने में ही धर्म होता है। यदि कहीं बोलना आवश्यक ही है, तो वहाँ झूठ को झूठ नहीं माना जाता है—जैसे प्राणों पर संकट आने पर, विवाह काल में, हँसी-मजाक में तथा कुलनाश की सम्भावना पर। इसी प्रकार चोरों और डकैतों से पाला पड़ने पर भी झूठ बोलना विधेय है—

अधर्मं नात्र पश्यन्ति धर्मतत्त्वार्थदर्शिनः,
यस्तेनैः सह सम्बन्धान्मुच्यते शपथैरपि।
श्रेयस्तत्रानृतं वक्तुं तत्सत्यमविचारितम्,
न च तेभ्यो धनं देयं शक्तेये सति कथंचन।।

(महा०, कर्णपर्व, अ० ६९। ६३, ६४)

यदि दुष्ट, डाकू या चोर कोई प्रश्न करे तो उसका उत्तर नहीं देना चाहिए, क्योंकि उत्तर देने में हानि की सम्भावना है। यदि बोलने की मजबूरी ही हो तो पागल की तरह व्यवहार करना चाहिए—यह मनु महाराज का आदेश है। सत्य बोलना अच्छा है, परन्तु सत्य से भी अच्छा है, प्राणियों का कल्याण और अहिंसा।

जिस प्रकार अहिंसा का व्यावहारिक साधन सत्य है, उसी प्रकार सत्य का व्यावहारिक साधन अस्तेय है। सत्य की भाँति अस्तेय का

व्यावहारिक ज्ञान भी बड़ा कठिन है। इस युग में जिस प्रकार सत्य का आचरण कठिन है, उसी प्रकार अस्तेय का भी। किसी प्रकार से किसी के धन, द्रव्य अथवा अधिकार का अपहरण स्तेय कहलाता है। स्तेय आज समाज-धर्म हो गया है, इसलिए समाज में घोर अशान्ति तथा दुर्व्यवस्था है। सत्य के पालन की भाँति अस्तेय का पालन भी एक सामाजिक समस्या है।

जितेन्द्रिय रहना ही ब्रह्मचर्य है। हमारे धर्मशास्त्रों में ब्रह्मचर्य का बड़ा महत्त्व है। ब्रह्मचर्य पालन से शुक्र की रक्षा होती है। जो हम प्रतिदिन भोजन करते हैं, उससे रक्त बनता है। रक्त से मांस, मांस से मेद, मेद से अस्थि, अस्थि से मज्जा और मज्जा से वीर्य। योगी कठिन तपस्या के द्वारा ऊर्ध्वरेता हो जाते हैं। ऊर्ध्वरेता का अभिप्राय यह है कि शुक्र वायु रूप में बदल कर ऊर्ध्वगति हो जाता है। अथर्ववेद में लिखा है—

ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत।
इन्द्रो ह ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्वरामरत॥

(अथर्व० अ० ३, सूक्त ५, मन्त्र १९)

गृहस्थाश्रम में रहते हुए भी ब्रह्मचर्य का पालन हो सकता है। याज्ञवल्क्य स्मृति में लिखा है—

ऋतुकाले स्वदारेषु संगतिर्या विधानतः।
ब्रह्मचर्यं तदेवोक्तं गृहस्थाश्रमवासिनाम्॥

अपरिग्रह भी आज की एक युगीन समस्या है, क्योंकि समाज की प्रवृत्ति परिग्रह की ओर अधिक है। आवश्यकताओं की कोई सीमा नहीं है। उनकी पूर्ति के लिए मनुष्य सब साधनों से धनोपार्जन करता है, यही सबसे बड़ा परिग्रह है। योगी के परिग्रह और गृहस्थ के परिग्रह में अन्तर है। अविद्या, क्लेश, अहंता, ममता आदि योगी के लिए परिग्रह हैं, जबकि साधारण गृहस्थ के लिए भोग सामग्री ही परिग्रह है। गीता में अपरिग्रह का बड़ा सुन्दर स्वरूप वर्णन किया गया है—

इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः,
तैर्दत्तानप्रदायेभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः।
यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्व किल्बिषैः,
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥

(गीता ३।१२, १३)

निष्काम कर्म ही गीता का यज्ञ है और प्राणियों की सेवा ही देवोपासना है। इन दोनों भावों से जो भोग-सामग्री का संचय है, वह परिग्रह के अन्तर्गत नहीं है। यदि अपरिग्रह के नियम का पालन किया जाय तो निश्चित रूप से समाज के अनेक रोगों का शमन हो सकता है।

जैन-धर्म में इन पाँच यमों को पाँच महाव्रत बताया गया है तथा प्रत्येक महाव्रत का विस्तार से विवेचन हुआ है। जैन-धर्म में इन पंच-महाव्रतों का स्वरूप निवृत्तिपरक है, इसलिए उसमें उनके आदर्श रूप की व्याख्या हुई है।

पाँच यमों की भाँति पाँच नियम भी आचार के अभिन्न अंग हैं। नियमों का सम्बन्ध साधक के शरीर से ही अधिक होता है। इसलिए नियम पालन से शरीर की शुद्धि होती है तथा निष्ठा में वृद्धि होती है। नियमों में ईश्वर प्रणिधान ही सबसे मुख्य है। योगी के लिए लिखा है—

सेवेत योगी निष्कामो योग्यतां मनसोनयन्,
ब्रह्मचर्यमहिंसा च सत्यास्तेयापरिग्रहान्।
स्वाध्यायशौचसंतोषतपांसि नियतात्मवान्,
कुर्वीत ब्रह्मणि तथा परस्मिन् प्रवणं मनः॥

यमों और नियमों की उपयोगिता सारे समाज के लिए है। आत्मोन्नति के लिए प्रत्येक व्यक्ति को उनका पालन करना चाहिए। असल में नियमों के पालन से ही यमों का भी पालन हो सकता है जैसा कि मनुजी ने भी लिखा है—

यमान् सेवेत सततं न नियमान् केवलान् बुधः।
यमान् पतत्यकुर्वाणो नियमान् केवलान् भजन्॥

साधारण साधक के लिए यम और नियम आचार के अन्तर्गत आते हैं, परंतु योगी के लिए यम और नियम निष्ठा के रूप में है। गीता के स्थितप्रज्ञ की निर्वैरता अहिंसा से ही सिद्ध हो सकती है। योगसूत्र में जो **'अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः'** लिखा है, वह अक्षरशः सत्य है। निरन्तर अभ्यास करने से योगी के अन्तःकरण से अहिंसा की सात्त्विक धारा निकलने लगती है, जिसके प्रभाव से हिंसक प्राणी भी अपनी हिंसक-प्रवृत्ति छोड़ देते हैं। हमारे निकट सिंह, हाथी, भेड़िया आदि हिंसक जंतु भी मित्रवत् व्यवहार करते हैं और हम उन्हें कभी-कभी उपदेश भी करते हैं, तथा प्रसाद भी देते हैं। हमारे निकट सारे प्राणी समान हैं। कभी-कभी हम वृक्षों, लताओं और पर्वतों को भी उपदेश करते हैं। इसी का नाम अहिंसा की प्रतिष्ठा है।

३०. दया और अहिंसा

दया आज के युग की माँग है। दुःखाग्नि से तप्त जीवों को दया की अमृत-वृष्टि की आवश्यकता है। दया अहिंसा का ही व्यावहारिक रूप है। अहिंसा में प्रतिष्ठित योगी ही दया करने में समर्थ है। योगी की अहिंसात्मक वृत्ति का पहला रूप दया ही है। योगी की दया का फल दया के पात्र की सामर्थ्य के अनुसार ही होता है। जैसे सूर्य की किरणों के प्रकाश को विभिन्न विषय अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार ग्रहण करते हैं—इसी प्रकार योगी की दया का फल भी सबके लिए समान नहीं होता। अहिंसा में तो हिंसा के भाव का निराकरण है, परन्तु दया में किसी के दुःख के निवारण का भाव है। अहिंसा निषेधात्मक है तथा दया प्रवृत्यात्मक। जहाँ दयाभाव नहीं है, वहाँ अहिंसा हो ही नहीं सकती। इसलिए अहिंसा में दया का स्वतः ही समावेश हो जाता है। साधारण मनुष्यों की दया में कुछ कृपा-भाव होता है, प्रयत्न भी होता है और दया के पात्र का कष्ट निवारण करने के लिए कुछ उपचार भी होता है, परन्तु योगी की दया का प्रवाह गंगा के समान अजस्र, अबाध तथा स्वतःप्रवाही है। उसमें कोई भेद-भाव नहीं है। जिस प्रकार गंगा में दुष्ट, पापी और पुण्यात्मा सभी स्नान करते हैं, उसी प्रकार सन्त की दया के सभी पात्र हैं—फल, श्रद्धा और विश्वास पर निर्भर करता है। सन्तों की दया में भगवत्कृपा का भाव है, जो जीवमात्र के लिए समान है। अहिंसा भाव में जीवदया स्वाभाविक ही है और असल बात तो यह है कि आत्मा में प्रतिष्ठित योगी की जीव-दया अपने ऊपर ही दया है। दया में जब आर्द्रता आ जाती है, तब उसे करुणा कहने लगते हैं। करुणा के भाव में योगी का हृदय दयार्द्र हो जाता है। करुणा में दुःखनिवारण की भावना और तीव्र हो जाती है। योगी कभी-कभी अपने ऊपर भी दया करते हैं वह उनकी आत्मदया कहलाती है। किसी प्राणी के दुःख को देखकर जब योगी करुणार्द्र होता है तो संयम में कुछ शिथिलता आ जाती है। उस समय योगी अपने ऊपर दया करता है और

अपने को सँभाल कर अव्यय पद में स्थित होता है—

निर्मानमोहाः, जितसंगदोषाः, अध्यात्मनित्याः, विनिवृत्तकामाः।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञै गच्छन्त्यमूढाःपदमव्ययं तत्॥

योगी की आत्मदया आध्यात्मिक दया होती है और परदया लौकिक होती है। लौकिक दया में योगी की स्वभाव वृत्ति नहीं होती है, क्योंकि वह तो वीतराग है। वह दया करके जीव के दुःख के कारण का निवारण करना चाहता है। साधनावस्था में तो दया आदि का भाव चित्त की शुद्धि का उपाय है। समाधिपाद में आता है—

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयार्णा भावनातश्चित्तप्रसादनम्। (१३३)

राग, ईर्ष्या, दूसरे के अपकार की इच्छा, असूया, द्वेष और अमर्ष ये छः चित्त के मल या विक्षेप कहे जाते हैं। इनका निराकरण करने से चित्त शुद्ध होता है। इस सूत्र में यही बताया गया है कि सुखी व्यक्ति से मित्रता तथा प्रेम, दुःखी के प्रति करुणा तथा दया, पुण्यात्माओं को देखकर हर्ष और पापियों की उपेक्षा से चित्त शुद्धि होती है। सुखी मनुष्य से मित्रता करने से ईर्ष्या की निवृत्ति हो जाती है, दुःखी मनुष्यों पर दया करने से दूसरे का बुरा करने की इच्छा समाप्त हो जाती है, पुण्यात्मा को देखकर प्रसन्नता होने से असूया की निवृत्ति हो जाती है। पापियों की उपेक्षा करने से अमर्ष, घृणा आदि के भाव समाप्त हो जाते हैं। साधकों के लिए ये आचार हैं, परन्तु योगी के लिए सब कुछ दया ही है—

प्राणा यथात्मनोऽभीष्टा भूतानामपि ते तथा।
अत्मौपम्येन सर्वत्र दयां कुर्वन्ति साधवः॥

इस प्रकार योगी की दया का भाव बड़ा व्यापक है।

जिस प्रकार अहिंसा में प्रतिष्ठित होकर योगी को निर्वैरता और समभाव होता है—इसी प्रकार सत्य में प्रतिष्ठित होने पर योगी की वाणी सिद्ध हो जाती है। अस्तेय में दृढ़ स्थिति करने से योगी के लिए सारे विश्व की सम्पत्ति हस्तामलकवत् हो जाती है। ब्रह्मचर्य का तो कहना ही क्या—

न तपस्तप इत्याहुर्ब्रह्मचर्य तपोत्तमम्।
ऊर्ध्वरेता भवेद् यस्तु स देवा न तु मानुषः॥

संत का परिग्रह तो देहाध्यास ही है—जब वह नहीं होगा तो उसके लिए जन्म-जन्मान्तर का बोध एक खिलवाड़ ही है।

इस प्रकार योगी के यमों और साधक के यमों में बड़ा अन्तर है। नियमों के सम्बन्ध में भी यही बात है। साधारण साधक के लिए बाह्य शौच का निर्वाह ही कठिन होता है। क्योंकि वातावरण तथा परिस्थितियाँ उसे शुच और पवित्र ही नहीं रहने देतीं। आभ्यन्तर शौच तो उसके लिए कल्पना का ही विषय होता है। परन्तु योगी का शौच एक बड़ी साधना है—

शौचात् स्वांगजुगुप्सा परैरसंसर्गः।। (२।४०)

योगी को बाह्य और आभ्यन्तर दोनों ही प्रकार के शौचों का निरंतर अभ्यास करना पड़ता है। धर्मशास्त्रों में जितना भी बाह्याचार है उसके मूल में शौच ही है। साधारण साधक और योगी के शौच में एक बड़ा अन्तर यह है कि साधारण साधक को शौच सम्बन्धी क्रियाओं से अपने शरीर को सात्त्विक, निरोग और स्वस्थ रखना होता है। उपासक शौच के द्वारा अपने को भगवत्पूजन के योग्य बनाता है। परन्तु योगी का प्रयोजन दूसरा ही होता है। शौच के द्वारा उसे शरीर और उसके अंग-प्रत्यंगों का यथार्थ ज्ञात होता है। एक ओर तो उसे उसकी जड़ता का ज्ञान होता है और उनसे राग और ममत्व छूट जाता है—दूसरी ओर उसे शरीर की अपवित्रता का ज्ञान होता है और अपने ही शरीर के अंगों से घृणा होने लगती है, जिन अंगों को वह प्रतिदिन शुद्ध करता है। शुद्ध, सात्त्विक और नियमित आहार का सेवन करता है अथवा निराहार रहता है। वस्ति, धौति, नेति आदि अनेक क्रियाएँ करता है। शरीर के अपने अंगों के प्रति ही जब उसे घृणा बनी रहती है तो साधारण मनुष्य के अंगों के प्रति उसका क्या भाव होगा, इसका सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है, इसलिए योगी जन-संपर्क से अधिक-से-अधिक अलग रहना चाहता है।

३१. योगी और जनसम्पर्क

योगी के लिए जनसम्पर्क त्याज्य माना गया है और उससे दूर रहने के अनेक उपाय शास्त्रों में बताये गये हैं।

जनसम्पर्क से दूर रहने के अनेक उपाय हैं, जिनका आश्रय योगी जन लेते हैं। योगी की दो अवस्थाएँ होती हैं—(१) साधना अवस्था और (२) सिद्धावस्था। साधनावस्था में तो योगी सम्भावित जनसम्पर्क से भी बचना चाहते हैं, इसीलिए वे पर्वत-कन्दराओं, गुफाओं तथा घोर जंगलों में रहकर ही तपस्या करते हैं और यदि जनसम्पर्क का किंचित् संदेह भी हो जाय तो उस स्थान को छोड़कर अन्यत्र चले जाते हैं। केवली अवस्था को प्राप्त होने पर भी अनेक योगी, एकान्त में रहकर ही स्वरूपावस्थिति का आनन्द लेते रहते हैं। आज भी हिमालय की कंदराओं तथा गुफाओं में अनेक स्वरूपावस्थिति को प्राप्त योगी सैकड़ों वर्षों से समाधिस्थ हैं। वे साधारण कोटि के मनुष्य की पहुँच से बहुत दूर हैं। ऐसे योगी जीवन्मुक्त कहलाते हैं। स्थित-प्रज्ञ की भाँति उनके शरीर का व्यवहार भोग-निवृत्ति के लिए होता है और वृत्ति कारण शरीर में रहती है। कुछ ऐसे भी सिद्ध योगी हैं, जो ब्राह्मी स्थिति को प्राप्त करने पर भी ईश्वर की प्रेरणा से जन-कल्याण में प्रवृत्त होते हैं। ऐसे सिद्ध योगियों को जनसम्पर्क से अलग रहते हुए भी, जनसम्पर्क में रहना पड़ता है। यह उनके लिए सबसे बड़ी समस्या होती है। भारतवर्ष की धर्मप्राण जनता योगी के शरीर को अधिक-से-अधिक स्पर्श करने तथा उसकी साज-सज्जा करने में ही अपने को कृतकृत्य मानती है। सिद्ध योगी बड़ी विकट परिस्थितियों में पड़ जाते हैं। एक ओर जनता की अंधश्रद्धा और उनकी गतानुगतिकता का प्रश्न होता है और दूसरी ओर शौच साधना का। चतुर योगी कोई मार्ग निकाल लेते हैं तथा किसी वृक्ष, मचान या ऊँचे स्थान से उपदेश देने लगते हैं। श्रद्धापन्न भावविभोर जनता के भावों का नियमन करना बड़ा ही कठिन है। कम-से-कम चरण स्पर्श और चरणोदक की भावना का नियंत्रण तो असम्भव सा है। इसलिए योगी को बड़ा सावधान रहना पड़ता है। योगी के लिए एक समस्या और भी है। उसकी यह चेष्टा होती है कि साधारण दूषित परमाणुओं से वह अपने शरीर को बचा सके। वायु के द्वारा परमाणुओं का आवागमन होता रहता है। योगी की ज्ञानेन्द्रियाँ इतनी संवेदनशील हो जाती हैं कि दूषित परमाणुओं के नाममात्र स्पर्श से भी उनमें प्रतिक्रिया होती है। इसलिए वृक्ष या मचान पर बैठे हुए भी उसे वायु की गति के अनुसार आसन का परिवर्तन करना पड़ता है। साथ ही एक समस्या यह भी होती है कि जिस लोककल्याण की भावना से

योगी का अवतरण होता है, साधारण जनता न तो उस भावना को समझ पाती है और न ही उससे लाभान्वित होना चाहती है। जनता तो छोटे-छोटे स्वार्थों के लिए संतों के दर्शन करती है, समाज-कल्याण से उसका कोई प्रयोजन नहीं होता। इसीलिए कभी-कभी योगी को अपने प्रयोजन की सिद्धि में बाधा उपस्थित होने से खीझ भी होती है, जिससे साधारण जनता को भ्रांति भी हो जाती है। योगी को कुछ भी करना पड़े, कितनी भी भ्रान्ति हो, वह अपने लक्ष्य से भ्रष्ट नहीं होता। न तो शौच के निरन्तर अभ्यास को ही छोड़ता है न जन-कल्याण की भावना को ही। विश्व की कोई विभूति उसे पदच्युत नहीं कर सकती। गीता में लिखा है—

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः॥
ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकांचनः॥
सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते॥
योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः॥

(गीता, ६।७-१०)

योगी के बाह्य और आभ्यन्तर शौच में कोई भेद नहीं होता, क्योंकि आभ्यन्तर शौच से चित्तशुद्धि अभीप्सित है, जिसे योगी प्राप्त कर चुका होता है।

संतोष तो तृष्णाक्षय को ही कहते हैं। वास्तव में कामनाओं और वासनाओं का अभाव ही तृष्णाक्षय है और उसी का नाम संतोष है। मनु महाराज संतोष के विषय में कहते हैं—

संतोषं परमास्थाय सुखार्थी संयतो भवेत्।
संतोषमूलं हि सुखं दुःखमूलं विपर्ययः॥

(मनु० ४।१२)

योगी का संतोष तृष्णाक्षय नहीं होता क्योंकि तृष्णाक्षय तो वह साधनावस्था में कर ही चुका है। योगी का संतोष उसके चित्त का प्रसाद है, जिसे आध्यात्मिक तुष्टि भी कहते हैं। चित्त प्रसाद की अवस्था में योगी का वाक्य ब्रह्मवाक्य होता है।

तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान योगी को स्वतःसिद्ध होते हैं। ये उसकी साधनावस्था के प्रयोग हैं। सात्त्विक आहार-विहार योगी को स्वयंसिद्ध होता है तथा शम-दम उसकी प्रकृति होती है। ये ही तप के अंग हैं। जहाँ तक स्वाध्याय का प्रश्न है, योगी के स्वाध्याय का क्षेत्र बड़ा व्यापक है, क्योंकि सारा ब्रह्माण्ड ही उसके स्वाध्याय का विषय है, सब भाषाएँ उसकी भाषा हैं और अतीत, वर्तमान और अनागत तथा लिखित और अलिखित सारे शास्त्र उसके शास्त्र हैं। योगी का ईश्वर प्रणिधान भी विचित्र होता है। व्यास भाष्य में लिखा है—

शय्यासनस्थोऽथ पथि ब्रजजन्वा स्वस्थः परिक्षीणवितर्कजालः।
संसारबीजक्षयमीक्षमाणः स्यान्नित्ययुक्तोऽमृतभोगभागी॥

धर्मशास्त्रों ने आचार को इसीलिए प्राथमिकता और महत्ता दी है कि वे चित्तशुद्धि के साधन हैं और जाति, देश, काल और समय का उनके लिए कोई प्रतिबन्ध नहीं है। योगदर्शन में यमों को इसीलिए 'सार्वभौम महाव्रत' कहा गया है। इन महाव्रतों का पालन प्रत्येक मनुष्य को प्रत्येक स्थिति में करना चाहिए।

३२. भजन में मन लगाने के उपाय

भजन में मन लगाने के लिए भक्ति की उपयोगिता का ज्ञान आवश्यक है, क्योंकि मनुष्य का मन उन्हीं कार्यों में लगता है जिन्हें वह अपने लिए उपयोगी समझता है। यह तो सुपरीक्षित वास्तविकता है। प्रारम्भिक अवस्था में भजन करने का समय और स्थान निश्चित होना चाहिए। भगवत्चिन्तन भजन का स्वरूप है। भगवत्चिन्तन में यदि मन न लगे और मनोराज्य चलता रहे तो चिन्ता नहीं करनी चाहिए। एक उपाय तो यह है कि मन से जिस वस्तु का बार-बार चिन्तन हो, उसी को ध्येय बना लेना चाहिए तथा राम नाम अथवा गुरुमन्त्र से उसी का ध्यान करता जाय। कुछ दिनों के अभ्यास से वृत्ति तद्विषयाकार हो जायगी। उस समय या तो वह विषय ही भगवत् स्वरूप हो जायगा अथवा उस विषय से मन छूट जायगा। दूसरा उपाय यह है कि जब मनोराज्य होने लगे तो मन्त्र, जप अथवा कीर्तन उच्च स्वर से करना प्रारम्भ कर देना चाहिए। वाणी का स्वरूप सबसे सूक्ष्म है और जब उच्च स्वर से मन्त्र जप तथा कीर्तन होता है तो वाणी प्राण और मन को अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है। धीरे-धीरे मनोराज्य का हलचल समाप्त हो जाता है।

३३. विभिन्न साम्प्रदायिक भिन्नतामूलक मनुष्य का मोह और उसका उचित कर्तव्य

भारत के भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों में भगवान् के भिन्न-भिन्न नामों और आकृतियों का प्रतिपादन किया गया है और उन्हें मान्यता दी गयी है। सम्प्रदायों के भजन और उपासना के प्रकारों में पर्याप्त भेद है। इन सब बातों को देखकर साधक का मन विचलित हो जाता है और वह निश्चय नहीं कर पाता कि उसे किस नाम और आकृति को भजन और उपासना का विषय बनाना चाहिए तथा उनकी किस पद्धति को अपनाने से उसका कल्याण हो सकता है। सारे स्वरूप और सारे नाम भगवान् के स्वरूप और भगवान् के ही नाम हैं। उनमें किसी प्रकार का न्यूनाधिक्य नहीं है। सभी स्वरूपों और नामों से भगवान् समान रूप से पूजित और उपासित होते हैं। अतः जिस स्वरूप और नाम में भागवती वृत्ति हो सके, उसी को ध्येय बना लेना चाहिए। धीरे-धीरे उसी ध्येय से प्रकाश आने लगेगा। गीता में यही कहा गया है—

येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्॥

(गीता ९।२३)

अच्छा तो यही है कि साधन में किसी सद्गुरु का निर्देश हो। ध्येय कोई भगवत्स्वरूप भी हो सकता है, गुरु भी हो सकते हैं, कोई प्रिय विषय भी हो सकता है और साधक स्वयं भी हो सकते हैं। ध्यान का प्रयोजन मन की एकाग्रता और वृत्ति की तद्रूपता है। भगवच्चिन्तन में ध्येय के नाम और रूप दोनों का ही महत्त्व होता है। नाम चिन्तन करते-करते रूप का चिन्तन स्वयं हो जाता है। भगवच्चिन्तन के लिए सत्संग और गुरुकृपा दोनों ही आवश्यक है। इन दोनों की प्राप्ति बिना पुण्य के सम्भव नहीं है। भगवच्चिन्तन करते समय यदि अनेक रूप उपस्थित

होने लगें तो उनमें गुरु या इष्ट की भावना ही रखनी चाहिए। निरन्तर भगवच्चिन्तन ही भजन का सर्वश्रेष्ठ स्वरूप है। शर्त इस बात की है कि निष्ठा एक के ही प्रति होनी चाहिए, अन्य सभी रूपों को उसी का प्रतिरूप समझना चाहिए। भगवच्चिन्तन में भाव और भावना ही सब कुछ है। भाव, भावना का ही पूर्व रूप है। एक बार जब भगवच्चिन्तन में आनन्द आने लगेगा तो सत्त्वगुण की वृद्धि होने लगेगी। सत्त्वगुण से ही अनन्यता आती है और अनन्यता ही प्रेम है। सत्त्वगुण की वृद्धि से हमारे सारे सांसारिक कर्तव्य मंगलमय प्रतीत होने लगते हैं और कठिन-से-कठिन कर्तव्य करने में भी आनन्द आने लगता है। सत्त्वगुण का उदय ही भगवान् का दर्शन है। जब ध्येय में आसक्ति की दृढ़ता हो जाती है तो नियम का भी कोई नियम नहीं रहता। भावसमाधि भी ध्येयाकारं वृत्ति से ही होती है, क्योंकि उस वृत्ति में मन, वाणी, श्वास और शरीर सब स्थिर हो जाते हैं। ज्ञान, कर्म, भक्ति, धर्म और उपासना सब भजन से सिद्ध हो जाते हैं। इसलिए भगवच्चिन्तन ही सबसे बड़ा भजन है और यही सबसे बड़ी साधना है।

स्वाध्याय भी भगवद्भजन का ही अंग है, क्योंकि स्वाध्याय से ध्येय के स्वरूप का ज्ञान होता है और उसके गुणों में आसक्ति होती है। मनोरंजन के उपन्यास अथवा कहानियाँ स्वाध्याय के अन्तर्गत नहीं हैं। धार्मिक तथा सिद्धान्त ग्रन्थों का अध्ययन ही स्वाध्याय है। मनुष्य के जीवन की सार्थकता स्वाध्याय और भजन से ही है। गीता, रामचरित मानस, श्रीमद्भागवत तथा उपनिषद् स्वाध्याय के लिए अच्छे ग्रंथ हैं। भजन की प्रारम्भिक अवस्था में माला का भी बड़ा महत्त्व है। कुछ आचार्यों के मत में तो गुरु, इष्ट, मंत्र और माला—चारों एक ही हैं। द्विजातियों में जो यज्ञोपवीत का महत्त्व है, संतों में वही महत्त्व माला तथा कण्ठी का है। वैष्णवों के यहाँ तुलसी की माला विधेय है। तुलसी वृन्दा का ही नाम है। इसलिए माला के माध्यम से ध्येय के साथ तादात्म्य करने में सहायता मिलती है।

कलियुग में कीर्तन का भी बड़ा महत्त्व है। कीर्तन से नाद अथवा ध्वनि की सिद्धि तो होती ही है, साथ ही मनोराज्य को क्षीण करने का भी कीर्तन एक अच्छा उपाय है। कीर्तन वाणी का तप है। मन्त्र के जप में तो विधि-विधान का बन्धन भी है, परन्तु कीर्तन में इस प्रकार का कोई बन्धन नहीं है। चाहे जिस किसी भी स्थिति में कीर्तन किया जा सकता है। कीर्तन भी तो नाम-जप ही है। नाम की महिमा तो नामी से भी बढ़कर है। नाम की सिद्धि से नामी की सिद्धि स्वयं हो जाती है। जिन भक्तों के पास स्वाध्याय, भजन आदि का समय नहीं है अथवा विद्या के अभाव में जिसमें विवेक की कमी है, उनके लिए कीर्तन रामबाण के समान औषधि है। भावमग्न होकर कुछ ही क्षण के कीर्तन से सारे दिन की थकान दूर हो सकती है, परन्तु कीर्तन में तन्मयता आवश्यक है।

बिना भजन अथवा विवेक के चित्तशुद्धि हो ही नहीं सकती और बिना चित्तशुद्धि के जीवन सुखमय नहीं हो सकता। जब तक चित्त में राग-द्वेष बने रहेंगे, संसार दुःखमय बना रहेगा। राग-द्वेष के हटते ही संसार प्रेममय और आनन्दमय हो जायगा। जीव की चौरासी लाख योनियों में यह मनुष्य योनि ही ऐसी है, जिसमें भजन अथवा विवेक सम्भव है। यह मनुष्य शरीर बहुत ही दुर्लभ है। श्रीमद्भागवत् के एकादश स्कन्ध के पच्चीसवें अध्याय में लिखा है—

> एताः संसृतयः पुंसो गुणकर्मनिबन्धनाः,
> येनेमे निर्जिताः सौम्य गुणा जीवेन चित्तजाः।
> भक्तियोगेन मन्निष्ठो मद्भावाय प्रपद्यते॥ ३२॥
> तस्माद् देहमिमं लब्ध्वा ज्ञानविज्ञानसम्भवम्।
> गुडासंगं विनिर्धूय मां भजन्तु विचक्षणाः॥ ३३॥

अर्थात् जीव को जितनी भी योनियाँ प्राप्त होती हैं—वे सब उसके गुणों और कर्मों के अनुसार ही होती हैं। सबके सब गुण जीव के चित्त से ही सम्बन्ध रखते हैं, इसलिए जो जीव चित्त पर विजय प्राप्त कर लेता है, वह अनायास ही भगवान् को प्राप्त कर लेता है। चित्त पर विजय प्राप्त करने का सबसे बड़ा साधन भजन है। यह मनुष्य शरीर बड़ी कठोर तपस्या से प्राप्त होता है। तत्त्वज्ञान और उसमें निष्ठारूपी विज्ञान की प्राप्ति इस शरीर से ही सम्भव है। इसलिए बुद्धिमान पुरुषों को गुणों से आसक्ति हटाकर भगवान् का भजन करना चाहिए।

३४. संस्कृति और उसके भारतीय स्वरूप के सम्बन्ध में श्री बाबा के विचार

किसी देश का आचार-विचार ही उस देश की संस्कृति कहलाती है, परन्तु आचार-विचार उसका बाह्य रूप है। उसका अन्तरंग रूप तो मानव का शेष प्रकृति के साथ तादात्म्य है।

आजकल विद्वान् जिसे संस्कृति कहते हैं, वह तो सभ्यता का ही परिष्कृत रूप है। हमारे देश में तो संस्कृति और संस्कार में कोई भेद नहीं है। जिस प्रकार संस्कार शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक शुद्धि के साधन हैं, उसी प्रकार संस्कृति भी शरीर और मन की शुद्धि के द्वारा मनुष्य को अध्यात्म में प्रतिष्ठित करती है। संस्कृति के बिना मानव विकलांग है। भारतीय संस्कृति की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसमें आचार और विचारों का समन्वय और सामंजस्य ही नहीं, तादात्म्य भी है। श्रीमद्भगवद्गीता भारतीय संस्कृति का सर्वश्रेष्ठ ग्रंथ है। मनु ने कहा है—

> एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
> स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥

वास्तव में धर्म का जो व्यापक अर्थ है, वही संस्कृति का भी अर्थ है। धर्म मानव मात्र के अभ्युदय और निःश्रेयस् का साधन है। संस्कृति उस धर्म का क्रियात्मक रूप है। इसलिए भारतीय संस्कृति को भेद-मूलक अथवा निवृत्तिपरक कहना बड़ी भारी भूल है। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—ये भारतीय संस्कृति के मूल स्तम्भ हैं, इन्हें पुरुषार्थ चतुष्टय कहते हैं। मोक्ष परम पुरुषार्थ है। इसलिए वह धर्म का विषय बन गया। धर्म, अर्थ और काम संस्कृति के विषय हो गये। यह विभाजन केवल सुविधा का विभाजन है, वास्तविक विभाजन नहीं है। प्राणिमात्र में समभाव भारतीय संस्कृति का मूल है। यह समभाव आत्मदृष्टि से है, व्यवहार दृष्टि से नहीं। इस प्रकार विश्वधर्म या विश्व-संस्कृति ही भारतीय संस्कृति का अभिन्न अंग है, तो भारतीय संस्कृति को विश्व-संस्कृति से अलग कैसे कहा जा सकता है? सत्, चित् और आनन्द—तीनों ही भारतीय संस्कृति के प्रमुख तत्त्व हैं। निष्काम कर्म भारतीय संस्कृति का मूलाधार है। निष्काम कर्म, अनासक्त सेवा भाव से निर्वैरता और सहिष्णुता आदि गुण मानव में अपने आप ही आ जाते हैं। संस्कृति के अध्यात्मपरक होने का अभिप्राय केवल इतना ही है कि इसकी मूल

प्रवृत्ति भेद में अभेद भाव की है। यही कारण है कि भारतीय संस्कृति का अनादिकाल से चला आता हुआ प्रवाह अनेक जातियों और वर्गों के संगम के बावजूद आज तक अनाविल है।

३५. भारतीय संस्कृति की सार्वजनीनता

संस्कृति शब्द सम् उपसर्ग युक्त 'क्रिय' धातु से भूषण अर्थ में सुर के आगम और 'क्तिन' प्रत्यय से निष्पन्न हुआ है। अतः शाब्दिक व्युत्पत्ति के अनुसार संस्कृति मनुष्य के उस प्रयत्न समूह का किंवा आचार समूह का बोधक है, जिससे मनुष्य या मानव-समाज भूषित अलंकृत होता है। अर्थात् मनुष्य के जिन प्रयत्नों और आचारों से सभ्य समाज का गठन होता है, उन्हीं का नाम संस्कृति है। उसमें कोई मत-मतान्तर नहीं होते, जैसे गंगा के नाम—विष्णुपदी, जाह्नवी, भागीरथी आदि होने पर भी गंगा एक ही हैं। इसी प्रकार विशिष्ट गुणों के कारण अथवा देश, काल के आधार पर संस्कृति अनेक नामों से अभिहित हो सकती है। यथार्थ में वह एक ही है—नाम-भेद से स्वरूप भेद नहीं होता। भारतीय संस्कृति को वैदिक संस्कृति कहने से उसके मूल में कोई अन्तर नहीं पड़ता। वेद में कोई साम्प्रदायिकता अथवा संकीर्णता का भाव नहीं है। वेद तो विश्व का विज्ञान है जिसे ऋषियों ने आर्ष चक्षु से देखा है, '**अतन्द्रियानसंवेधान् पश्यन्त्यार्षचक्षुषा।**' ईश्वर के लिए भी वेद शब्द का प्रयोग हुआ है, '**सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म।**' स्वयं ईश्वर भी वेद ही है और उस ईश्वर का विज्ञान भी वेद कहलाता है। जिस प्रकार ब्रह्म अखण्ड और असीम है, उसी प्रकार उसका ज्ञान भी अखण्ड और असीम है। इसलिए वेद संस्कृति भी अखण्ड, असीम और अविभाज्य है। आधिदैविक, आधिभौतिक तथा आध्यात्मिक स्वरूप का भेद उस अखण्ड ज्ञान को समझने की प्रक्रिया मात्र है। आज का विज्ञान सृष्टि के रहस्य को प्रयोगों द्वारा जानना चाहता है, वेद विज्ञान में आर्ष चक्षु से उसको प्रत्यक्ष किया गया है और प्रजापति, मन, प्राण और वाक् को प्रत्यक्षीकरण का केन्द्र बनाया गया है तथा इन केन्द्रों से ही गति और स्थिति का अनुभव किया गया है। आज के वैज्ञानिकआविष्कारों के मूल में भी तो गति और स्थिति का ही प्रश्न है। पदार्थ और शक्ति के स्वरूप का विवेचन आज के विज्ञानी के लिए समस्या है, परन्तु वेद विद्या में प्राण और वाक् के विवेचन द्वारा इस गुत्थी को सहज ही सुलझा दिया गया है। सम्पूर्ण पदार्थ और शक्ति का स्रोत ब्रह्म है। वेद में इसी भावना को दृढ़ किया गया है कि एक ही आत्मतत्त्व प्रत्येक पदार्थ में प्रतिबिम्बित होकर भिन्न नामों और रूपों से अभिहित हो रहा है, अतएव सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड एक ही तत्त्व से अधिष्ठित है। दर्शन की भाषा में इसे '**सर्वात्म दर्शन**' कहते हैं और संस्कृति की भाषा में '**वसुधैव कुटुम्बकम्**' अथवा विश्वबन्धुत्त्व की भावना कहते हैं। भारतीय संस्कृति की शाश्वतता और चिरन्तनता का यही रहस्य है। जो इस रहस्य को नहीं जानते हैं वे इसकी अनेक प्रकार से व्याख्या करते रहते हैं। वेद संस्कृति को वैष्णव संस्कृति इसीलिए कहा गया है कि विष्णु में ब्रह्म के सभी गुणों का समावेश हो गया है, '**पुरुष एवेदं सर्व यद्भूतं यच्च भाव्यम्।**' (ऋ० १०।९०।३)। भारतीय संस्कृति के मूल तत्त्वों की व्याख्या गीता में बड़े ही सुन्दर ढंग से की गई है, उसमें यज्ञ के स्वरूप को भली-भाँति समझा दिया गया है जिससे किसी को भ्रान्ति न हो। इस विश्व संस्कृति का उद्गम स्थल भारत है—इसलिए इसे भारतीय संस्कृति कहा गया है। शान्ति पर्व में लिखा है—

> यत्र वेदाश्च यज्ञश्च तपः सत्यं दमस्तथा।
> अहिंसाधर्मसंयुक्ताः प्रचरेयुः सुरोत्तमाः॥

इस देश का नाम ही भारतवर्ष है।

३६. भारतीय संस्कृति के प्रतीक

वेदविद्या भारतीय संस्कृति का पहला प्रतीक है। वेदविद्या त्रयीविद्या कहलाती है। ऋक्, यजुः और साम ही त्रयीविद्या हैं। चतुर्थ वेद अथर्व तो त्रयी का ही उपलक्षण है। त्रयीविद्या का सम्बन्ध अग्नित्रय से है। अग्नि, वायु और आदित्य ये तीन तत्त्व ही विश्व में व्याप्त हैं। पुरुष ब्रह्म के तीन पैर ऊपर हैं और एक पैर विश्व है। त्रयीविद्या के समान ज्ञान, कर्म और उपासना का त्रिक् वेद विद्या का दूसरा स्वरूप है, जिसके माध्यम से वेद ब्रह्म की सत्, चित् और आनन्द इन तीन विभूतियों की अभिव्यक्ति हो रही है। विश्व के सम्पूर्ण धर्मों के केन्द्र बिन्दु इस त्रिक् में ही स्थित हैं। यह त्रिक् ही और अधिक विशिष्ट रूप में गायत्री, गंगा और गौ के रूप में प्रस्फुटित हुआ है। इसलिये गायत्री, गंगा और गौ के तत्त्व को ठीक-ठीक समझना ही भारतीय संस्कृति के मूल तत्त्वों को समझना है।

३७. भारतीय संस्कृति के प्रतीक और उनकी विश्वग्राह्यता

गौ, गंगा और गायत्री को अब तक भारतीय संस्कृति के प्रतीकों के रूप में स्वीकार किया गया है। वास्तव में भारत की सम्पूर्ण प्रजा भी उन्हें संस्कृति के रूप में मान्यता नहीं देती। गौ को सामान्य पशु और गंगा को सामान्य नदी तथा गायत्री को एक सम्प्रदाय का मंत्र मात्र मानने की धारणा रखने वालों की संख्या भारत में भी पर्याप्त है। ऐसी स्थिति में इन्हें सारे विश्व में संस्कृति का प्रतीक माना जाना कैसे सम्भव हो सकता है और यदि ऐसी कोई सम्भाव्यता हो सकती है तो वह बड़ी रहस्यपूर्ण होगी, जिसे सामान्य मानव को समझ पाना असम्भव-सा प्रतीत होता है। अतः भारतीय संस्कृति को सार्वजनीनता का रूप देना एक निष्फल चेष्टा है।

यह विषय रहस्य अवश्य है, पर एक तथ्य है और इससे इनकार नहीं किया जा सकता। जब तक किसी रहस्य को जान न लिया जाय, तब तक उसमें आस्था नहीं होती। आज विज्ञान प्रकृति के अनेक पदार्थों के रहस्य का उद्घाटन कर रहा है, इसीलिए हमारी इसमें आस्था बढ़ती जा रही है। यदि विज्ञान का स्वरूप विशुद्ध विध्वंसक ही हो तो उससे हमारी आस्था ही नहीं हटेगी, बल्कि उसके लिए घृणा भी बढ़ेगी। स्वरूपज्ञान से ही किसी वस्तु के प्रति आस्था-अनास्था होती है। गायत्री, गंगा और गौ के वास्तविक स्वरूप को भी लोग भूल गये हैं। पाश्चात्य सभ्यता के आवरण में यथार्थ ज्ञानशक्ति और क्षीण हो गयी। जब तक समाज में इन प्रतीकों के स्वरूप की प्रतिष्ठा नहीं होती, इनका यथार्थ ज्ञान समाज को नहीं हो सकता और यथार्थ ज्ञान के बिना आस्था भी नहीं हो सकती। एक दूसरी बात यह भी है कि यह युग उपयोगितावाद का है—और उपयोगिता में प्रतीक्षा की भी गुंजाइश नहीं है, 'तुरंत दान महाकल्याण' का सिद्धान्त आज के समाज पर सोलहों आने लागू होता है। इसलिए आज के प्राणी की आस्था उन्हीं विषयों पर होती है, जिनकी अविलम्ब उपयोगिता हो। यही कारण है कि संस्कृति के उपादानों और धर्म के तत्त्वों से लोगों की आस्था उठती जा रही है। आज का साधारण मनुष्य यह भी नहीं सोचता कि जब भौतिक

उपलब्धियों के प्रत्यक्षीकरण में ही दशाब्दियाँ लग जाती हैं और उनके लिए अपरिमित धन का अपव्यय करना पड़ता है, तो आध्यात्मिक उपलब्धियों के लिए कितनी साधना और समय अपेक्षित होंगे। ऋषियों ने बड़ी तपस्या के पश्चात् संस्कृति और धर्म के प्रतीकों को नवनीत के समान साधारण समाज के सम्मुख प्रस्तुत किया। कालचक्र ने उन प्रतीकों को समाज से अप्रतिष्ठित कर दिया। आज फिर उनकी पुनः प्रतिष्ठा की आवश्यकता है।

३८. भारतीय संस्कृति के प्रतीक और उनका रहस्य

यह बहुविदित और बहुसम्मत तथ्य है कि गौ, गंगा और गायत्री ही भारतीय संस्कृति के मुख्य और मूल प्रतीक हैं। गौ और गंगा की महत्ता-उपयोगिता साधारणतया सभी को मान्य है। जो लोग उन्हें देवतारूप में स्वीकार नहीं करते, वे भी उनकी लौकिक उपयोगिता से इनकार नहीं कर सकते। रह गयी गायत्री की बात, उसके विषय में शास्त्रों के द्वारा जानकारी प्राप्त की जा सकती है। धर्मशास्त्रों में गायत्री के जप का विधान है। गायत्री विद्या वेद की प्राण है। इस विद्या का विस्तृत विवेचन छान्दोग्योपनिषद् में हुआ है। इस विद्या के द्वारा भूत को प्राणमय बनाया जाता है। भूतविद्या पदार्थ विद्या है, जिसे आजकल भौतिकी कहते हैं। पदार्थ में जो शक्ति है, उसे ही प्राण कहते हैं। इन दोनों के रहस्य को समझना ही गायत्री की उपासना है। तीन प्रकार से गायत्री की व्युत्पत्ति हो सकती है—'यद् गायते तद् गायत्री, गायन्तं त्रायने इति गायत्री तथा गच्छतीति गायत्री।' तीनों ही व्युत्पत्तियाँ ठीक हैं। गायत्री के सम्बन्ध में वेद में एक आख्यान आता है, जिसमें यह बताया गया है कि गायत्री ने किस प्रकार सोम का आहरण किया। यह सोम तत्त्व गायत्री का मूलतत्त्व है, जिससे इस विश्व की रक्षा होती है। सूर्य की शक्ति को सावित्री कहते हैं। वह शक्ति निरन्तर असंख्य किरणों के रूप में पृथ्वी की ओर आ रही है। ये किरणें आज के विज्ञान के अध्ययन का विषय हैं। गायत्री इन किरणों का नियमन करती है, जिससे प्राणतत्त्व की रक्षा होती है और सौरमण्डल के ग्रह अपने-अपने केन्द्रों में गतिमान् होते हैं। गायत्री जप में इसी शक्ति का संग्रहण किया जाता है। इससे मन, प्राण और वाक् की एकसूत्रता होती है। यह एकसूत्रता ही मानव-जीवन का रहस्य है। 'धी' या 'बुद्धि' मन का ही संकल्पात्मक रूप है, उसकी सत् प्रेरणा के लिए ही गायत्री से प्रार्थना की जाती है। गोपथ ब्राह्मण में भी गायत्री के तत्त्व का विवेचन हुआ है। उसमें भर्ग का अर्थ 'अन्न' बताया है, वरेण्य का 'छन्द' और धी का 'कर्म'। गायत्री उपनिषद् में भी कर्म को धी बताया गया है। गायत्री मन्त्र का रहस्य बड़ा ही विचित्र है। इसमें ब्रह्म के सत् स्वरूप की व्याख्या हुई है। ओंकार की तीन मात्राएँ त्रिगुणात्मक जगत् की अक्षर रूप में प्रतीक हैं और गायत्री की तीन व्याहृतियाँ, उस ब्रह्म की प्रपंचात्मक अभिव्यक्ति हैं।

३९. गंगा

गायत्री की भाँति गंगा का रहस्य भी बड़ा गम्भीर है। मूल रूप में गंगा और गायत्री एक ही हैं। जितना क्षेत्र गायत्री का है उतना ही गंगा का। इसी भाव को स्पष्ट करने के लिए गंगा की तीन धारायें मानी गयी हैं—पाताल गंगा, भागीरथी गंगा और आकाश गंगा। पृथ्वी तत्त्व से जो शक्ति प्राप्य है, वह पाताल गंगा है, जलीय तत्त्व से वही शक्ति भागीरथी है और तेज तत्त्व से वही आकाश गंगा है। जिस प्रकार गायत्री त्रिपक्ष है, उसी प्रकार गंगा भी त्रिधारा हैं। ऋग्वेद में 'आपः' को अन्तरिक्ष का देवता कहा गया है और चार सूत्रों में इस दिव्य देवता की स्तुति की गयी है। अग्नि अथवा तेज तत्त्व जल में रहने वाला है। अग्नि का जन्म ही जल से बताया गया है। जल का मूलतत्त्व पार्थिव है। जो 'भेषजमय' है और जिससे मनुष्य को जीविका भी प्राप्त होती है। इस प्रकार 'आपः' के तीन रूप हो जाते हैं। यही गंगा के तीन रूप हैं।

यद्यपि वेदों में गंगा के अतिरिक्त अन्य नदियों का भी वर्णन है—जैसे सिन्धु, सरस्वती आदि किन्तु उन्हें संस्कृति का प्रतीक न मानकर गंगा को ही संस्कृति का प्रतीक माना जाता है। इसका रहस्य उक्त नदियों और गंगा के उद्गम और वेद में प्राप्त उनके वर्णन से विदित हो सकता है।

ऋग्वेद के एक सम्पूर्ण सूक्त में सिन्धु का यशोगान हुआ है। इस सूक्त के एक मन्त्र में सिन्धु नदी की सहायक नदियों का भी उल्लेख हुआ है। इसी प्रकार सरस्वती का स्तवन भी ऋग्वेद के तीन सूक्तों तथा अनेक मंत्रों में हुआ है। ऋग्वेद के एक मंत्र में तो सरस्वती, सरयू और सिन्धु को ही बड़ी नदियों के रूप में स्वीकार किया गया है—

'सरस्वतीसरयूः सिन्धुरूर्भिमिर्महो महीश्वसायन्तु वक्षणीः'

(ऋग्वेद १०।६४।९)

इस प्रकार एक मन्त्र में अन्य नदियों का उल्लेख हुआ है—

इमं मे गंगे यमुने सरस्वति शुतुद्रि स्तोमं सचता परुष्ण्या।
असिक्न्यांमरुद्वृधे वितस्तयाऽऽर्जीकीये शृणुह्या सुषोमया॥

वेद में सरस्वती का इतना अधिक और व्यापक विवेचन हुआ है कि उसके सम्बन्ध में यह निर्णय करना कठिन है कि वह ज्ञान की अधिष्ठात्री देवी है अथवा विशुद्ध नदी। ऋग्वेद के अनेक वर्णन प्रतीक रूप में हुए हैं। सरस्वती का वर्णन वेद में नदी के प्रतीक रूप में भी हुआ है और ज्ञान के प्रतीक रूप में भी। ज्ञान के प्रतीक के रूप में सरस्वती का आवाहन अन्य देवताओं के साथ किया गया है। देवता रूप में सरस्वती के कई (अन्य देवताओं के साथ) उपाख्यान वेद में मिलते हैं। इड़ा और भारती के साथ सरस्वती का सम्बन्ध जोड़ा गया है और सरस्वती का स्थान देवत्रय में माना गया है। जहाँ नदी के रूप में सरस्वती का वर्णन हुआ है, वहाँ सरस्वती को पार्थिव रूप में ही ग्रहण किया गया है। ब्राह्मण ग्रन्थों में सरस्वती को वाक् कहा गया है। सरस्वती के उद्गम स्थल के सम्बन्ध में अभी भी मतभेद है। उत्तराखण्ड में बदरीनाथ से ऊपर एक सरस्वती नदी अलकनन्दा में मिलती है। वह सरस्वती जिस पर्वतीय प्रदेश में बहती है, उसका अधिकांश भाग हिम से आच्छादित रहता है। उसके तट पर अनेक आश्रम तथा पावन तीर्थ हैं। हो सकता है कि वैदिककाल में उस सरस्वती का ही महत्त्व रहा हो। केवल एक बात लक्ष्य करने की यह है कि वेद में सरस्वती के उद्गम स्थल का जैसा वर्णन है, वह गंगा के उद्गम स्थान से बहुत मिलता-जुलता है। इस प्रकार सरस्वती विशुद्ध ज्ञान का प्रतीक अवश्य है, परन्तु उसे संस्कृति का प्रतीक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि संस्कृति ज्ञान की धारा होती है। अनन्त और अव्यक्त ज्ञान को संस्कृति से स्वरूप और दिशा मिलती है। पुराणों में भारतवर्ष की प्रमुख नदियों का विस्तृत विवेचन मिलता है। प्रत्येक नदी का अपना धार्मिक और सांस्कृतिक महत्त्व है, परन्तु गंगा का महत्त्व सर्वव्यापी है। उत्तर से

दक्षिण और पूर्व से पश्चिम, सम्पूर्ण देश में गंगा का महत्त्व स्वीकार किया गया है। भारतीय संस्कृति का सर्वाधिक विवेचन और विश्लेषण महाभारत में हुआ है। इसीलिए महाभारत को हिन्दू धर्म और संस्कृति का विश्वकोश कहा जाता है। महाभारत के अनुशासनपर्व के छब्बीसवें अध्याय में भारतवर्ष के तीर्थों का ही अधिक माहात्म्य बताया गया है। सत्ताईसवें अध्याय में गंगा की विशेष रूप से प्रशंसा की गयी है। वे देश, वे जनपद, वे आश्रम, वे पर्वत वास्तव में धन्य हैं, जो गंगा के तटवर्ती हैं। गंगाजल की प्रशंसा में यहाँ तक कह दिया गया है कि उसके सेवन से जन्म जन्मान्तर के पाप नष्ट हो जाते हैं और यदि संसार में गंगा न रहे तो जगत् का अस्तित्व ही व्यर्थ है—

वर्णाश्रमा यथा सर्वे स्वधर्मज्ञानवर्जिताः।
ऋतवश्च यथासोमास्तथा गंगां विना जगत्॥
यथाहीनं नभोऽर्केण भूः शैलः खं च वायुना।
तथा देशादिशश्चैव गंगाहीना न संशयः॥

गंगा के जल के लिए यहाँ तक कह दिया गया है कि जिस प्रकार देवताओं के लिए अमृत, पितरों के लिए स्वधा तथा नागों के लिए सुधा, उसी प्रकार मनुष्य के लिए गंगाजल है। गंगा तट के बालू का भी बड़ा महत्त्व है। उसके सेवन से अनेक रोगों की शान्ति होती है। सम्पूर्ण अध्याय में गंगा का बड़ा सुन्दर और भव्य वर्णन हुआ है। लगभग एक सौ पाँच श्लोकों में गंगा का माहात्म्य बताया गया है। महाभारत में जो गंगा का वर्णन है, वह साधारण जन को अतिशयोक्तिपूर्ण अवश्य लगेगा, परन्तु जो विद्वान् व्यास-शैली से परिचित हैं, वे सहज ही उस स्तवन से अर्थवाद को हटाकर मूल सिद्धान्तों को हृदयंगम कर सकते हैं। महाभारत में गंगा के लिए जिन विशेषणों का प्रयोग हुआ है, उनका महत्त्व धार्मिक दृष्टि से तो है ही, साथ ही उपयोगिता और विज्ञान की दृष्टि से भी उनका महत्त्व है। गायत्री का विवेचन करते हुए उसके मूलतत्त्व की ओर संकेत किया जा चुका है। विश्व का सम्पूर्ण ज्ञान-विज्ञान तो गायत्री में समाविष्ट है ही, साथ ही गायत्री विश्व की सम्पूर्ण विद्या, विभूति और सत्त्व की भी प्रतीक है। गंगा का त्रिपथगा विशेषण सकारण है, साथ ही महाभारत में गंगा को **'यशस्विनी बृहती विश्वरूपा'** कहा गया है, जो सब प्रकार की ऋद्धि-सिद्धि को देने वाली है। सहस्ररश्मि सूर्य का भी गंगा से सम्बन्ध बताया गया है। गम्भीरता से विचार किया जाय तो ज्ञात होगा कि सूर्य की किरणों को भी वेद में नदियों के नाम से अभिहित किया गया है। वेद में सूर्य को दस किरण वाला बताया है—**'रश्मिभिर्दशभिः।'** सूर्य की दस किरणों में एक किरण का नाम कपिल है, जिसका सम्बन्ध वाक् से है। शेष नौ किरणों का सम्बन्ध नौ नदियों से है। वे नौ नदियाँ हैं—गंगा, यमुना, सरस्वती, शुतुद्रि, परुष्णी, असिक्न्मी, मरुद्वृधा, वितस्ता और आर्जिकीया। सूर्य की दस किरणों में सात किरणें पृथ्वी पर व्यक्त होती हैं। वे सात किरणें ही सात नदियाँ हैं। सूर्य की किरणें त्रिवृत्त कही गयी हैं **'त्रिवृत्तं सप्ततन्तुन्'**। किरणों के तीन रूप हैं—अप, जल और अग्नि। अप आकाश तत्त्व है। आकाश में व्याप्त वायु तत्त्व है। इस वायु के द्वारा अप तत्त्व तेज रूप में परिवर्तित होता है और फिर वही तेज जल-स्वरूप बन जाता है। इसीलिए गंगा को त्रिपथगा कहा है। गंगा के जितने भी विशेषण हैं, सब सार्थक और वैज्ञानिक हैं। सूर्य की प्रमुख सातों किरणों का आविष्कार सात ऋषियों ने किया। महाभारत में गंगा को ऊर्जावती और मधुमती कहा गया है। साथ ही यह भी कहा गया है कि गंगा की ख्याति नक्षत्रलोक, द्युलोक और पृथ्वीलोक में है—

ख्यातिर्यस्याः खं दिवं च नित्यं। पुरा दिशो विदिशश्चावतस्थे।।

(अनुशा० २७।८६)

इसी प्रकार गंगा को घृतवाहा, विश्वतोया और रुक्मगर्भा कहा गया है। महाभारतकार गंगा की प्रशंसा में अनेक विशेषणों का प्रयोग करते हुए नहीं थकते। गंगा तीनों लोकों की माता हैं। जैसे—

उस्त्रां जुष्टां मिषतीं विश्वतोयामिरां वज्रीं रेवतीं भूधराणाम्।
शिष्टाश्रयामृतां ब्रह्मकान्तां गंगाश्रयेदात्मवान्सिद्धिकामः॥

(अनुशा० २७।९४)

गंगा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में पुराणों में अनेक कथाएँ आती हैं। सभी कथाओं का प्रतीकात्मक महत्त्व है। ब्राह्मी, नारायणी, वैष्णवी, माहेश्वरी, जाह्नवी, भागीरथी आदि विशेषणों के अन्तराल में सृष्टि की उत्पत्ति और विकास का रहस्य है। ये सब विशेषण गंगा के माध्यम से भारतीय संस्कृति के प्रतीक हैं। एक श्लोक कितना सुन्दर है, जिसमें चन्द्र और सूर्य दोनों का ही सम्बन्ध गंगा से बताया गया है—

नारायणादक्षपात्पूर्वजाता विष्णोः पदाच्छिशुमाराद्ध्रुवाच्च।
सोमात् सूर्यान्मेरूपाच्च विष्णोः समागताशिवमूर्ध्नो हिमाद्रिम्।।

विष्णु की शक्ति सूर्य, चन्द्र आदि विभिन्न देवों के रूप में ही तो अभिव्यक्त हुई है। अथर्ववेद कहता है—

यस्मिन् भूमिरन्तरिक्षं द्यौर्यस्मिन्नध्याहिता।
तत्राग्निश्चन्द्रमाः सूर्यो वातस्तिष्ठन्त्यर्पिताः॥
स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः॥

(अथर्व० १०।७।१२)

विष्णु के सम्बन्ध से ही गंगा को विष्णुपदी कहा गया है। अमरकोश में गंगा के नाम हैं—

गंगाविष्णुपदी जह्नुतनया सुरनिम्नगा।
भागीरथी त्रिपथगा त्रिस्त्रोता भीष्मसूरपि॥

(अमर० १।३१)

वेद विश्व का विज्ञान है, मानव शरीर ब्रह्माण्ड का लघुत्तम रूप है और संस्कृति वेद का आचार है। इसीलिए सप्त किरणों, सप्त नदियों और सप्त ऋषियों की सत्ता शरीर में ही बतायी गयी है। यजुर्वेद में लिखा है—

सप्तऋषयः प्रतिहिताः शरीरे सप्त रक्षन्ति सदमप्रमादम्।
सप्तापःस्वपतो लोकमीयुस्तत्रजागृतौ अस्वप्नजौसत्रसदौ च देवौ॥

(यजु० ३४।५५)

हठयोग में भी पिंगला नाड़ी को सूर्य नाड़ी तथा गंगा कहा गया है और इड़ा नाड़ी को चन्द्र नाड़ी कहा गया है। पिंगला नाड़ी में ही प्राण वायु का संचार होता है। प्राणतत्त्व ही गंगा तत्त्व है। गंगा के जल में प्राण तत्त्व विद्यमान होने के कारण ही वह कभी विकृत नहीं होता और केवल गंगा जल में ही ऐसी जीवनदायिनी शक्ति है, जो मनुष्य को बहुत दिनों तक जीवित रख सके। गंगा जल का परीक्षण विज्ञान की प्रयोगशालाओं में भी हो चुका है। भारतीय और पाश्चात्य विद्वानों ने गंगा जल के प्राणतत्त्व की भूरि-भूरि प्रशंसा की है।

उपयोगिता की दृष्टि से गंगा का जो महत्त्व है, वह किसी से छुपा नहीं है। भारतवर्ष कृषि प्रधान देश है और गंगा उसके लिए अमृतस्वरूपा हैं। जिन्होंने गंगा के सम्पूर्ण प्रवाह के तटवर्ती प्रदेशों को देखा है, वे ही उसके भौतिक और आध्यात्मिक महत्त्व का सही मूल्यांकन कर सकते हैं। गंगा के प्रवाह के समान ही भारतीय संस्कृति का प्रवाह अजस्र, अबाध और शाश्वत है।

४०. संस्कृति की दृष्टि से गौ का महत्त्व

संस्कृति की दृष्टि से गौ का महत्त्व तो गायत्री और गंगा से भी बढ़कर है। गायत्री की साधना में कठिन तपस्या अपेक्षित है। गंगा सेवन के लिये भी कुछ त्याग करना ही पड़ता है। परन्तु गौ का लाभ तो घर बैठे ही मिल जाता है। दुःख की बात यह है कि आज गौ को साधारण पशु समझकर, उसकी उपेक्षा की जाती है और भारतवर्ष में लोग उसका महत्त्व नहीं समझते। यदि वाक् गायत्री है, प्राण गंगा है, तो मन गौ है। मन की शुद्धि के बिना न तो कोई साधना हो सकती है और न ही भौतिक उपलब्धि का सुख प्राप्त हो सकता है। मनुष्य की सम्पूर्ण क्रियाओं का मूल मन है और गौ मन की शुद्धि का हेतु है। मानव-जीवन से पशु जगत् का यों भी घनिष्ठ सम्बन्ध है, फिर दिव्य पशु तो मानव-जीवन की आधारशिला है। वेद में सामान्य और दिव्य पशुओं का पर्याप्त विवेचन हुआ है। गौ और गौ की सन्तान दोनों ही दिव्य पशु हैं। ऋग्वेद में इन्द्र को वृषभ कहा गया है। कभी-कभी वृषभ का प्रयोग रुद्र आदि के लिये भी हुआ है। वृषभ गौ का ही पुल्लिंग रूप हे। वेद में सबसे अधिक वर्णन गौ का हुआ है। जिस प्रकार गायत्री और गंगा, प्रतीक और स्थूल दोनों ही रूपों में विश्व विज्ञान और मानव-जीवन का प्रतिनिधित्व करती हैं, उसी प्रकार गौ का भी महत्त्व है। ऊषा की रश्मियों को गौ के ही रूप में चित्रित किया गया है। मेघ का भी गौ के रूप में मूर्तीकरण हुआ है। मेघ रूप गौ से ही विद्युतरूप बछड़े का जन्म होता है। बड़े सुन्दर-सुन्दर रूपकों और उपमानों से वेद में गौ-महिमा गायी गयी है। अथर्ववेद में लिखा है—'विश्वरूपा धेनुः कामदुधा मेऽस्तु' (अथ० ४।३४।८) भारतीय संस्कृति कर्म प्रधान है। यज्ञ भी कर्म का ही एक रूप है। जिस प्रकार यज्ञचक्र गौ के बिना सम्भव नहीं है, उसी प्रकार कर्मचक्र को भी सुन्दर, सुखद और अनुकूल बनाने के लिये गौ की आवश्यकता है। गौ के पाँचों गव्यों का उपयोग जिस प्रकार यज्ञ में होता है, उसी प्रकार मानव जीवन में भी पंचगव्य का बहुत उपयोग है। वेद में गौ की इतनी महिमा है कि देवताओं की माता अदिति को 'धेनु' कहा गया है और देवताओं को गोजात बताया गया है। यत्र-तत्र गौ के दूध और घी की आहुति को इड़ा कहा गया है। गाय का सर्वाधिक व्यवहार वेद में उस समय हुआ है, जब इन्द्र ने पर्वत से गायों की मुक्ति कराई और उन्हें मानव जाति के लिये सुलभ किया। वेद में गौ को अहिंस्य और अवध्य बताया गया है। इससे सिद्ध होता है कि वैदिक काल में ही गौ की पूजा होने लगी थी। सामान्य रूप से वेद में गौ के लिए 'अघ्न्या' शब्द का प्रयोग हुआ है, जिसका अर्थ भी अवध्य है। वाजसनेयी संहिता में गौ को अनेक नामों से अभिहित किया गया है और उसे हर प्रकार से पूज्य माना गया है—

चिदसि मनासि धीरसि दक्षिणासि क्षत्रियासि यज्ञियादितिरस्युभयतः शीर्ष्णी। सा नः सुप्राची सुप्रतीच्येधि मित्रस्त्वापदि बध्नीतां पूषाध्वनस्पात्विन्द्रायाध्यक्षाय अनुत्वा माता मन्यतामनुपितानु भ्राता सगर्भ्योऽनु सखा सयूथ्य। सा देवि देवमच्छेहीन्द्राय सोमं रुद्रास्त्वा, वर्तयतु स्वस्ति सोमसखा पुनरेहि॥

(वा०सं० ४।१९-२०)

अथर्ववेद में तो 'अघ्न्ये ते रूपाय नमः' कहकर गौ की देववत् पूजा का विधान है। ऋग्वेद में उस स्थल को भी पवित्र माना गया है, जहाँ गाय निवास करती है। इस प्रकार वेद में ही गाय को सर्वदेवमयी माना गया है। ब्राह्मणों में इस विषय को और भी विस्तार से कहा गया है। वेदानुसारी धर्मशास्त्रों में भी गौ के महत्त्व पर बहुत कुछ लिखा गया है तथा गोदान को सबसे उत्तम दान बताया गया है। सभी प्रमुख स्मृतियों और पुराणों में गौ की महिमा का गान है। यह सब प्रशस्ति किसी कारण विशेष से की गयी थी और कारण विशेष यही था कि मानव जीवन में गौ से बढ़कर कोई दूसरा पदार्थ नहीं है। गौ की महिमा का सबसे अधिक वर्णन महाभारत के अनुशासन पर्व में हुआ है। इस पर्व के आठ अध्याय केवल गौ से ही सम्बन्ध रखते हैं। श्रुति को उद्धृत करते हुए भीष्म कहते हैं—

गौर्मे माता गोवृषभः पिता मे, दिवं शर्म जगती मे प्रतिष्ठा

(अनुशा० ७५।७)

ऊर्जस्विन्य ऊर्जमेधाश्च यज्ञो, गर्भोऽमृतस्य जगतश्च प्रतिष्ठा।
क्षितौ राधः प्रभवः शश्वदेव, प्राजापत्याः सर्वमित्यर्थवादः॥

गायत्री और गंगा की भाँति गौ का सम्बन्ध सूर्य और चन्द्रमा से है—इसलिए सौर्य और सौम्य विशेषण गौ के लिए प्रयुक्त हुए हैं तथा उशीनर से लेकर चक्रवर्ती दिलीप तक के गौ-प्रेम का वर्णन महाभारत तथा पुराणों में हुआ है। वेद में सूर्य की एक प्रमुख किरण का नाम कपिला है। उस किरण का शरीरी रूप गौ है। इसलिए महाभारत में कपिला गौ की बहुत प्रशंसा की गयी है। यज्ञ में जिस सोम की चर्चा है, वह कपिला से ही प्राप्त होता है—'यज्ञैराप्यायते सोमः स च गोषु प्रतिष्ठितः'। कपिला गौ की उत्पत्ति और स्वरूप का भी महाभारत में विवेचन हुआ है। गौ की प्रशंसा में महाभारतकार कहता है—

गावः प्रतिष्ठा भूतानां गावः स्वस्त्ययनं महत्।
गावो भूतं भविष्यं च गावः पुष्टिः सनातनी॥
गावो लक्ष्म्यास्तथामूलं गोषु दत्तं न नश्यति।
अन्नं हि सततं गावो देवानां परमं हविः॥
स्वाहाकारवषट्कारौ गोषु नित्यं प्रतिष्ठितौ।
गावो यज्ञस्य हि फलं गोषु यज्ञाः प्रतिष्ठिताः॥

(७७।५-७)

दूध, घी और दही के अतिरिक्त गौ का मूत्र और गोबर भी इतने उपयोगी माने गये हैं कि महाभारत में स्पष्ट लिख दिया गया है—'गवां मूत्रपुरीषस्यनोद्विजेत कदाचन।' फिर आगे लिखा है—'गोमयेन सदा स्नायाद् गोकरीषे च संविशेत्।' धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चारों पुरुषार्थों की सिद्धि गौ से सम्भव है—

गावो महार्थाः पुण्याश्च तारयन्ति च मानवान्।
धारयन्ति प्रजाश्चेमाः पयसा हविषा तथा॥

(अनु० ८०।२)

गास्तु सुश्रूषते यश्च समन्वेति च सर्वशः।
तस्मै तुष्टाः प्रयच्छन्ति वरानपि सुदुर्लभान्॥
न द्रुह्येन्मनसा चापि गोषु ताहि सुखप्रदाः।
अर्चयेत् सदा चैव नमस्कारैश्च पूजयेत्॥

गौ का गोबर श्रीयुक्त होता है—इसकी एक बड़ी सुन्दर व्याख्या अनुशासन पर्व के इक्यासीवें अध्याय में आती है। गौ की कृषि के लिए उपयोगिता का उल्लेख भी महाभारत में है—

धारयन्ति प्रजाश्चैव पयसा हविषा तथा।
एतासां तनयाश्चापि कृषियोगमुपासते॥
जनयन्ति च धान्यानि बीजानि विविधानि च।
ततो यज्ञाः प्रवर्तन्ते हव्यं कव्यं च सर्वशः॥
(अनु० ८२। १७-१८)

गौ के सम्बन्ध में एक विशेष बात लक्ष्य करने की यह भी है कि पृथ्वी के अर्थ में भी गौ शब्द का प्रयोग अनेक बार हुआ है—इसी प्रकार गौ शब्द का अर्थ इन्द्रिय भी है। इसलिए गोतत्त्व का विचार पृथ्वी और इन्द्रियों के सम्बन्ध से किया जाता है। किसी इन्द्रियवान् प्राणी का जीवनतत्त्व पित्त है—यह तथ्य प्रायः सभी औषधि विज्ञानों में मान्य है। इसी प्रकार पृथ्वी का मूलाधार तत्त्व सुवर्ण है, जिसे वेद में पृथ्वी का पित्त बताया गया है। महाभारत तथा पुराणों में सुवर्ण की उत्पत्ति की अनेक रोचक कथाएँ हैं और सुवर्ण का सम्बन्ध गंगा से बताया गया है। सुवर्ण वास्तव में पृथ्वी का अग्नितत्त्व है और पित्त प्राणि शरीर का अग्नितत्त्व है **'अग्निर्हि देवताः सर्वाः सुवर्णः च तदात्मकम्।'** स्वर्ण के कारण ही पृथ्वी वसुमती कहलाती है। पौराणिक उपाख्यान के रूप में स्वर्ण को गंगा के माध्यम से अग्निपुत्र बताया गया है। गौ के सन्दर्भ में इस रहस्य को भली-भाँति समझा जा सकता है। विज्ञान के प्रयोगों से यह सिद्ध किया गया है कि पंचगव्य में जितनी पित्त की मात्रा है—उतनी किसी दूसरे पदार्थ में उपलब्ध नहीं है। पृथ्वी के कण-कण में व्याप्त स्वर्ण सर्वसुलभ नहीं है—इसी प्रकार गांगेय स्वर्ण प्राप्त करने के लिए भी श्रम और साधना आवश्यक है। परन्तु साक्षात् शरीरी वसुमती गौ माता से पित्तरूपी स्वर्ण सहज ही प्राप्त किया जा सकता है। मानवजीवन के लिए गौ की उपयोगिता का इससे बड़ा प्रमाण नहीं हो सकता।

४१. शास्त्रों में वर्णित गोमांस का अर्थ

अनेक आधुनिकों का यह आक्षेप है कि भारत में एक ओर तो गौ को उदात्त संस्कृति का प्रतीक माना जाता है और दूसरी ओर देखा यह जाता है कि भारतीय शास्त्रों में गोमांस भक्षण की प्रचुर चर्चा है। इससे तो भारतीय मस्तिष्क की दिग्भ्रान्तता प्रतीत होती है। भला भारतीय शास्त्रों से विरुद्ध और विषम प्रतिवाद के रहते भारतीय संस्कृति के सम्बन्ध में मनुष्य की आस्था कैसे रह सकती है।

जो आधुनिक इस प्रकार के आक्षेप प्रस्तुत करते हैं वे वास्तव में मानव नहीं कहे जा सकते, क्योंकि मानव की सिद्धि ही मन से होती है। आधुनिकों में न आस्था है और न मन है। शास्त्रों की निन्दा या उनका मनमाना अर्थ निकालना ही उनका ध्येय है। वेद में किसी भी प्रकार के मांस भक्षण का निषेध है। शब्दों और धातुओं के अनेक अर्थ होते हैं, परन्तु शब्द की परिधि अर्थ से सदा ही बड़ी होती है। इनमें व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध हैं। शब्द व्यापक होता है और अर्थ व्याप्य। इसलिए अर्थ में वैभिन्य सम्भव है। पहले तो यही समझ लिया जाय कि वेद में एक भी यज्ञ वाचक शब्द ऐसा नहीं है जिससे हिंसा का दूर से भी अर्थ निकाला जा सके। प्रत्येक यज्ञ में अध्वर्यु अनिवार्य अंग होता है। अध्वर्यु शब्द का अर्थ ही है—अहिंसाशील, क्योंकि अहिंसा ही प्रथम वैदिक आचार हैं। वेदों में गौ को अघ्न्या कहकर नमस्कार किया गया है फिर गोवध का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। यज्ञों में तो मांस भूनने वाली अग्नि तक से परहेज है—

'क्रव्यादग्निं प्रहिणोमि दूरम्' (ऋग्वेद १०। १६। ९)

यजुर्वेद में तो पशु हिंसा का स्पष्ट शब्दों में निषेध किया गया है—

पशून् पाहि, गां मा हिंसीः, अजां मा हिंसीः, अविं मा हिंसोः।
इमं मा हिंसीः द्विपादंपशुं, मा हिंसीरेकशफंपशुं, मां हिस्यात्सर्वभूतानि।।

वेदों में मांस-भक्षण का स्पष्ट शब्दों में निषेध है—

एतद् वा उ स्वादीयो यदधिगवं क्षीरंवा मांसं वातदेव नाश्नीयात्।
(अथर्व० ९। ६। ९)

यः पौरुषेयेण क्रविषा समङ्क्ते यो अश्व्येन पशुना यातुधानः।
यो अघ्न्यायाः भरति क्षीरमग्ने तेषां शीर्षाणि हरसापि वृश्च॥
(ऋ० ८।४। १८)

मांस-भक्षण, सुरापान, जुआ खेलना तथा व्यभिचार एक जैसे ही पाप हैं—इनके करने वाले व्यक्ति दण्ड्य बताये गये हैं। मांस-भक्षण किसी भी प्रकार मनुष्य का स्वाभाविक और प्राकृतिक धर्म नहीं हो सकता। शास्त्रों के जिन स्थलों से मांस-भक्षण का प्रतिपादन किया जाता है, वे स्थल या तो प्रक्षिप्त हैं या उनका अनर्थ किया जाता है। महाभारत में इस बात का स्पष्ट उल्लेख है—

श्रूयते हि पुराकल्पे नृणां व्रीहिमयोः पशुः।
येनायजन्त जज्वानः पुण्यलोकपरायणाः॥
(महा०अनु० ११५। ५६)

सुरां मत्स्यान्मधुमांसमासवं कृसरौदनम्।
मानान्मोहाच्च ह्येतन्नैतद् वेदेषु कल्पितम्।।
(महा० शां० मो० २६५। ९-१०)

'अर्थात् यज्ञ में अन्न का ही विधान है। पुण्यात्मा लोग उसी से यज्ञ किया करते थे। मद्य, मत्स्य, मांस आदि का प्रचार तो धूर्तों का किया हुआ है।

वेद में एक-एक शब्द के अनेक अर्थ होते हैं, यह बात निघण्टु को देखने से स्पष्ट हो सकती है। गौ शब्द के ही अनेक अर्थ हैं। गौ का अर्थ जिह्वा भी है, वाणी भी है और किरण भी है। निरुक्त में चर्म, स्नायु, श्लेष्मा, प्रत्यंचा आदि गौ के पर्याय हैं। अनेक औषधियों और पशुओं के नाम भी समान हैं।'

निम्न वचनों से गोमांस, मद्य और मैथुन का सही अर्थ व्यक्त होता है उसे पामर बोध्य अर्थ में ग्रहण करना सर्वथा अनुचित है—

गोमांसं भक्षयेन्नित्यं पिबेदमरवारुणीम्,
कुलीनं तमहं मन्ये इतरे कुलघातकाः।
गोशब्देनोदिता जिह्वा तत्प्रवेशो हि तालुनि,
गोमांसभक्षणं तत्तु महापातकनाशकम्॥

अनेक प्रकार के धान्यों को वेद में धेनु कहा है और चावलों को धान्यों का बछड़ा बताया है। इसको न जानने से सामान्य जनता में धेनु और वत्स शब्द मात्र से भारी भ्रान्ति हो सकती हैं। चावलों के कणों के विषय में अथर्ववेद में लिखा है—

अश्वाः कणगावस्तण्डुलामशकास्तुषाः

(अथर्व० ११।३।५)

श्याममयोऽस्य मांसानि लोहितमस्य लौहितम्

(अथर्व० ११।३।७)

ब्राह्मण ग्रन्थों में भी ऐसे शब्दों का प्रयोग किया गया है। यदि उनका ठीक अर्थ न किया जाय तो बड़े अनर्थ की सम्भावना रहती है। योगशास्त्र में ऐसे भी शब्दों का प्रयोग हुआ है, जिनका अर्थ रहस्यमय है और जिसे गुरु परम्परा से योगी ही जानता है। प्राण को अपान में तथा अपान को प्राण में हवन करने को अनेक उपमानों से वर्णित किया गया है। मांस तो सदा से यक्षों, राक्षसों और पिशाचों का भक्ष्य रहा है। पंचतंत्र में ठीक ही कहा है—

वृक्षांश्छित्वा पशून् हत्वा कृत्वा रुधिरकर्दमम्।
यद्येवं गम्यते स्वर्गे नरके केन गम्यते॥

अथर्ववेद में साफ लिखा है कि वेद की ऋचाओं के अर्थ को जो नहीं समझते, वे वेद से कोई लाभ नहीं उठा सकते। ऋचाएँ शब्दात्मक होती हैं, जिनकी स्थिति चिदाकाश में होती है। ऋचाओं के अर्थ ही वेद के देवता हैं। इसलिए वेद को ठीक-ठीक समझने के लिए अक्षर के अर्थों का सही ज्ञान होना ही चाहिए—

ऋचोऽक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत् तद् विदुस्ते अभी समासते॥

(अथर्व० ९।१०।१८)

इस प्रकार श्रुति, स्मृति और पुराण आदि से यह सिद्ध होता है कि गौ भारतीय संस्कृति का सर्वसुलभ प्रतीक है। इसलिए गौ सर्वप्रकारेण पोष्य हैं, रक्ष्य और उपास्य हैं।

४२. गोपालन और अर्थव्यवस्था

अर्थव्यवस्था समाज की रीढ़ है, परन्तु जिस प्रकार रीढ़ की दृढ़ता के लिए प्राण आवश्यक है—उसी प्रकार अर्थव्यवस्था की दृढ़ता के लिए धर्माचरण अनिवार्य है। धर्म निरपेक्ष काम और अर्थ न तो व्यक्ति के लिए ही सुखकर हो सकते हैं और न समाज के लिए ही। इसलिए महाभारत में कहा गया है **'धर्मादर्थश्च कामश्च स धर्मः किं न सेव्यते।'** अर्थ व्यवस्था के सन्दर्भ में धर्म का अर्थ बड़ा व्यापक है, जिसमें लोककल्याण और समष्टि हित का भाव निहित है। जहाँ तक गौ के साथ अर्थव्यवस्था का प्रश्न है—इस पक्ष पर अभी तक गम्भीरता से विचार नहीं हुआ है। बेचारी गाय तो राजनैतिक दुरभिसन्धियों का लक्ष्य बनायी जाती है। यदि इस पक्ष पर विचार होता भी है तो वह तथाकथित धर्मनिरपेक्ष भाव से होता है और पश्चिमी देशों की नकल करके मांस भी उसकी उपयोगिता में शामिल हो जाता है। यह दृष्टि सर्वथा एकांगी और दोषपूर्ण है। गौ के सम्बन्ध में तो भारतवर्ष को अन्य देशों के सम्मुख आदर्श प्रस्तुत करना चाहिए। जहाँ तक गाय सम्बन्धी आँकड़ों का प्रश्न है, वे केन्द्रीय गोसंवर्धन परिषद ने भी प्रस्तुत किये हैं और गोरक्षा समिति ने भी इधर गौ की आर्थिक उपयोगिता पर बल दिया है। गौ की उपयोगिता मानव-जीवन के व्यापक परिवेश में देखनी चाहिए। अनुपयोगी और वृद्धा गायों की रक्षा और पालन उसी प्रकार होना चाहिए, जिस प्रकार अनुपयोगी और वृद्ध माता-पिता का किया जाता है। हाँ, यदि आर्थिक व्यवस्था की यह माँग है कि अनुपयोगी और वृद्ध माता-पिता वध्य हैं तो इस समस्या पर दूसरे ढंग से विचार करना होगा। उचित और आवश्यक तो यह है कि गृहस्थ कम-से-कम एक गाय पालें और उसकी ठीक प्रकार से देख-भाल करें-सेवाभाव से। निश्चित ही पाँच-सात वर्ष में गाय की आर्थिक उपयोगिता किसी भी अन्य पदार्थ की उपयोगिता से बढ़कर सिद्ध हो जायगी। अपने पूज्य और श्रद्धेय व्यक्तियों के सम्बन्ध में आँकड़ों की बातें नहीं की जातीं। अनुभव ही बता सकता है कि उनकी सेवा का कितना फल होता है। विदेशों में गाय के प्रति धर्म-भावना न होते हुए भी उसे सुख और समृद्धि की जननी कहा जाता है और दूध के लिए गायों का ही उपयोग होता है। यह भारत देश का ही दुर्भाग्य है कि यहाँ गौ जैसे परम दुर्लभ पदार्थ की उपेक्षा की जाती है। एकमात्र गौ का पालन ही सबसे बड़ा धर्म है।

४३. भारतीय संस्कृति और व्यवहार पक्ष

भारतीय संस्कृति के सम्बन्ध में शास्त्रों में आचार्यों और सन्तों ने जो कुछ कहा है, अनेक लोग उसे भारतीय संस्कृति की व्यावहारिकता में बाधक समझते हैं, किन्तु यह समझ सही नहीं है; क्योंकि भारतीय संस्कृति के सम्बन्ध में जो कुछ कहा गया है, वह सब वास्तव में उसका व्यवहार पक्ष ही है। आचार और व्यवहार में कोई बड़ा भारी भेद नहीं है। सबसे बड़ा धर्म, सबसे बड़ा आचार और सबसे बड़ा व्यवहार यही है कि विचार, भाषण तथा क्रिया में सामंजस्य होना चाहिए। आज हमारी सबसे बड़ी समस्या यही है कि हम सोचते कुछ हैं, कहते कुछ हैं और करते कुछ और हैं। इस प्रकार का व्यवहार ही मानवता और समाज का कट्टर शत्रु है। यदि व्यवहार में समता आ जाय तो—

न वै राज्यं न राजासीन्न दण्डो न च दाण्डिकः।
धर्मेणैव प्रजा सर्वा रक्षन्तिस्म परस्परम्॥

राज्य की आवश्यकता, न राजा की, न दण्ड की और न दण्ड्य की। शासन-व्यवस्था विचारों को नहीं बदल सकती। विचार तो सम भाव से ही बदले जा सकते हैं। जिस प्रकार काम शमन भोग से नहीं हो सकता, उसी प्रकार दण्ड से विचारों में उत्तेजना हो जाती है, परिवर्तन नहीं—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥

(मनु० २।९४)

भारतीय संस्कृति की साधारण व्यवहार की एक बात यह है—

मातृवत्परदारेषु परद्रव्येषु लोष्ठवत्।
आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पश्यति॥

दूसरी स्त्री को माता के समान, दूसरे के धन को काष्ठ और मिट्टी के समान तथा सब प्राणियों को अपने समान देखो। व्यक्ति और समाज के गतिरोध को दूर करने का एकमात्र उपाय सर्वात्मदर्शन है।

प्राणिमात्र का कल्याण भारतीय संस्कृति का सार तत्त्व है—

सर्वस्तरतु दुर्गाणि सर्वो भद्राणि पश्यतु।
सर्वः सद्बुद्धिमाप्नोतु सर्वः सर्वत्र नन्दतु॥

दुर्जनः सज्जनो भूयात् सज्जनः शान्तिमाप्नुयात्।
शान्तो मुच्येत बन्धेभ्यो मुक्तश्चान्यान् विमोचयेत्।
सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत्॥

भारतीय धर्म, संस्कृति, आचार और व्यवहार का यही प्रतिफलन है।

कृष्णाय वासुदेवाय हरये परमात्मने।
प्रणतः क्लेशनाशाय गोविन्दाय नमो नमः।।

४४. धर्मानुकूल आचरण

वेदव्यास का कथन है—

न रणे विजयाच्छूरो ज्ञानानैव च पण्डितः।
न वक्ता वाक्पटुत्वेन न दाता चार्थदानतः॥
इन्द्रियाणां जयाच्छूरो धर्माचारीद्धि पण्डितः।
हितं प्रवक्लसौ वक्ता दाता सम्मानदानतः॥

शूर कौन है, पण्डित कौन है, वक्ता और दाता कौन है? केवल रण में विजय प्राप्त करने से ही कोई शूर नहीं बन सकता, वास्तविक शूर वह है, जो अपनी इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करे। वैसे ही केवल विद्याध्ययन और ज्ञान से कोई पण्डित नहीं बन जाता। पण्डित तो यथार्थ में वह है, जो विद्याध्ययन के साथ-साथ अपना आचरण भी धर्मानुकूल रखे। केवल वाणी की चतुरता से ही किसी को वक्ता नहीं मान लेना चाहिए, वक्ता तो यथार्थ में वह है जो कल्याणकारी बात कहे, भलाई की बात कहे। यही बात दानियों की भी है। धनदान के साथ-साथ दाता का जीव-मात्र पर दया करना और उनका सम्मान करना ही यथार्थ दान है।

भगवान् के प्रति हमारा भाव शुद्ध हो सके और उनके प्रति हमारा समर्पण शुद्ध हो इसके लिए एक और आवश्यक प्रतिपाद्य विषय है, अहिंसा। अहिंसा को परमधर्म कहा गया है।

परमधर्म-श्रुति विदित अहिंसा मन, वचन तथा कर्म से किसी का भी अनिष्ट नहीं चाहना, यही वास्तविक अहिंसा है। ऐसा करने से सभी ओर हमारी दृष्टि मित्रवत् होगी। सभी हमारे मित्र होंगे और हमारा जीवन कल्याणमय होगा। यह सृष्टि भगवान् का मंगलमय विधान है। ऐसा मानना, जानना और प्राणिमात्र से प्रेम व्यवहार करना ही जीवन का आदर्श है। सभी में भगवान् है, यही जानकर सबसे आदर तथा प्रेम का व्यवहार करना भी भगवान् के साथ प्रीति सम्बन्ध है।

सुखी किसको माना जाय, यह विचारणीय प्रश्न है। लोग यह समझते हैं कि जिसके पास अधिक धन है, अनेक नौकर-चाकर हैं, अनेक मोटरकारें हैं, अथवा जो ऊँचे-ऊँचे पदों पर आसीन हैं जैसे जज, कलक्टर, कमिश्नर, गवर्नर आदि, शायद वे लोग बहुत सुखी हैं। जिसके पास ये सारी सुविधाएँ नहीं हैं या कोई सुविधा नहीं है, वह दुःखी, दीन और दरिद्र है। किन्तु ऐसा सोचना पूर्णतः गलत है। ऐसे सम्पन्न व्यक्ति से, जिसे सुखी समझा जाता है यदि जाकर पूछा जाय तो वह यही उत्तर देगा कि मैं सुखी नहीं हूँ। जिसे तुम सुख समझते हो, वह केवल विडम्बना है। जनसाधारण के विचार में ये सारी साधारण वस्तुएँ सुख देने वाली प्रतीत होती हैं। किन्तु जिसको ये वस्तुएँ प्राप्त हैं, वे अनेकानेक चिन्ताओं से ग्रस्त हैं। चिन्ताओं का पहाड़ उनके सामने खड़ा है और उन्हें सन्तोष नहीं है। एक इच्छा की पूर्ति हुई, एक चिन्ता दूर हुई कि दूसरी इच्छा, दूसरी चिन्ता सम्मुख उपस्थित हो जाती है। इसी प्रकार उनके अन्दर इच्छाओं का और चिन्ताओं का ताँता लगा रहा है, जिनके समाधान में उनका सारा जीवन व्यतीत हो जाता है और उनको सुख प्राप्त नहीं होता।

सुखी किसे कहें और दरिद्र किसे कहें, इसके विषय में शास्त्रकारों का मत है—

को वा दरिद्रो हि विशालतृष्णः, श्रीमाश्चं को यस्य समस्ततोषः।
जीवन्मृतः कस्य निरुद्यमो यः, किंतामृतं स्यात् सुखदा निराशा॥

पहली पंक्ति में जो प्रश्न है वह है—दरिद्र कौन है? और इसका उत्तर है—जिसे बहुत तृष्णा हो। दरिद्रता के निवारण के लिए तृष्णा का त्याग आवश्यक है। तृष्णा क्या है? इच्छाओं की पूर्ति की प्यास। जिनके मन में अनेकानेक इच्छाएँ हैं, जिन्हें इच्छाओं की पूर्ति की प्यास लगी है, उनकी एक इच्छा की किसी प्रकार पूर्ति हुई कि दूसरी इच्छा व्यक्त हो जाती है। इस प्रकार जिसके मन में इच्छाओं का ताँता लगा रहता है, जो तृषित व्यक्ति है, वह सम्पूर्ण वैभवों से सम्पन्न भी क्यों न हो, उसे वास्तव में दरिद्र ही कहना चाहिए। वैभव सम्पन्न होने से ही कोई सुखी नहीं माना जा सकता, यदि उसने तृष्णाओं का त्याग नहीं किया।

दूसरा प्रश्न है—श्रीमान् कौन है? श्रीमान् अर्थात् लक्ष्मी सम्पन्न व्यक्ति वह है, जिसे सब प्रकार का संतोष हो, केवल धन होने से कोई श्रीमान् नहीं बन सकता, धन तो चिन्ताओं और भय का कारण है। संतोष का यह अभिप्राय नहीं कि हाथ पर हाथ रखकर बैठे रहें और कोई काम-धंधा न करें। इसकी भी शास्त्रों ने निन्दा की है। परमपिता परमात्मा ने जो सम्पदा दी है, उनकी अनुकम्पा मानकर उसकी उत्तरोत्तर उन्नति करनी चाहिए, इसी को पुरुषार्थ कहते हैं। इसी के विषय में प्रश्नोत्तर श्लोक की तीसरी पंक्ति में है। उद्यम करने को पुरुषार्थ कहते हैं। यह कर्मभूमि है, यहाँ काम करना है और काम भी वही करना है, जिससे उन्नति हो।

जो व्यक्ति काम नहीं करता—निरुद्यमी है, वह जीवित रहते हुए भी मृतक है। जीवन में काम करने की बड़ी महत्ता है। जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त अलग-अलग यथोचित कर्मों का विधान है। मनुष्य पहले बालक, बाद में युवा और उसके बाद वृद्ध गिने जाते हैं। बाल्यावस्था में ब्रह्मचर्य का, युवावस्था में गृहस्थाश्रम का तथा वृद्धावस्था में वानप्रस्थ और संन्यास का विधान है और उनके लिए अलग-अलग कर्त्तव्य निर्धारित हैं। दूसरे शब्दों में अवस्थानुसार बताए हुए कर्मों का यथावत् पालन करने का ही नाम 'पुरुषार्थ' है। जब तक शरीर में प्राण हैं, तब तक कर्त्तव्य करते रहना चाहिए, किसी दूसरे पर आश्रित तथा निर्भर नहीं रहना चाहिए। किसी भी आत्म-निर्भर पुरुषार्थी के लिए शरीर को भी स्वस्थ रखना आवश्यक है, जिसके लिए बहुत से नियम और उपनियम बनाये गये हैं। यहाँ उन समस्त नियमों और उपनियमों के विवेचन की आवश्यकता नहीं है। केवल इतना ही मानना और जानना चाहिए कि पुरुषार्थ के लिए अपने शरीर को सदा स्वस्थ रखने की विशेष आवश्यकता है। उपनिषदों में इसके सम्बन्ध में प्रार्थना के मन्त्र हैं—

अप्याभन्तु मामङ्गानि वाक् प्राणश्चक्षुः।
श्रोत्रमथा बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि॥

हे परमेश्वर! मेरे सारे अंग-प्रत्यंग, वाणी नेत्र, श्रोत्र आदि सभी इन्द्रियाँ, प्राण समूह, शारीरिक, मानसिक बल और ओज, पुष्टि और वृद्धि को प्राप्त हों।

भगवद्भजन अमृत है। इस अमृत का पान तो केवल संत-महात्मा करते हैं। भगवद्भजन में जो अमृततुल्य आनन्द है, उसका रसास्वादन करना तो संत ही जानते हैं। यही कारण था कि पूर्वकाल में अनेक राजा-महाराजा अपनी सारी सम्पत्ति, राज्य-वैभव तथा सम्पूर्ण कामनाओं का त्याग कर अंत में संतों की शरण में आते थे और वहाँ रहकर ईश्वर-भजन रूप में अमृत का पान करते थे, एवं जीवन्मुक्त हो जाते थे। राजा-महाराजाओं को कौन-सी वस्तु अप्राप्त थी, जिसे भगवान् से प्राप्त करने की उन्हें अन्त समय में इच्छा हुई और जिसने उन्हें ईश-भजन में लगाया? इसका उत्तर है कि उन्हें सब प्रकार सुख भले ही प्राप्य रहा हो, किन्तु वास्तविक सुख तो उस अमृत पान में है जो केवल संत-महात्माओं को ही प्राप्त है और वह समस्त सुख-भोग को छोड़कर भगवान् के निष्काम भजन में ही है।

निष्काम भक्ति का ही प्रतिपादन सम्पूर्ण गीता में है। स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने श्रीमुख से कहा है—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

भगवान् की अनन्य शरणागति में ही अनन्त अमृत भरा है। सब प्रकार की आशा-तृष्णाओं का त्याग करकें भगवान् की शरण में जाओ, भगवान् तुम्हें समस्त पापों से और उनसे उत्पन्न होने वाले दुःखों से अवश्य मुक्त कर देंगे, इसमें तनिक भी संदेह न करो। यह भगवद् वचन है।

कबीरदास भी कह गये हैं—

जो सुख पायो राम भजन में, सो सुख नाहीं अमीरी में।

इसलिए अमृत पाने की इच्छा हो तो संतों की शरण में जाओ और सब इच्छाओं का त्याग करके उनसे भगवद्भजन करना सीखो। यही सब धर्मों का सार और पूर्ण ऐश्वर्य है।

चाह का फंका जो करे, उसका नाम फकीर।

इच्छाओं का दमन करना और उन पर विजय प्राप्त करना ही यथार्थ सुख है, जो संतों के संसर्ग से ही प्राप्त होता है। संत बार-बार यही कहते हैं—

जाल लिए जम फिरत अहेरा, हरि विमुखन पर देत उडेरा।
झंझा फेर न कीजिय भाई, सिर पर काल रहा मडराई।।

यमराज शिकार की खोज में घूम रहे हैं। जो भगवान् से विमुख हैं, वे ही उनके जाल में फँसते हैं। इसलिए अपने अन्दर विराजमान उस आत्मतत्त्व को समझो, जो परमात्मा का स्वरूप है और जिसके विषय में यह कहा जाता है कि न वह मरता है न जन्म लेता है वह तो शाश्वत और नित्य रहने वाला है। गीता में भगवान् ने कहा है—

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो, न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥

(गीता २। २०)

इसके अतिरिक्त और भी उपदेशमय सूक्त हैं—

नाहं मनुष्यो न च देवयक्षो, न ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्रः।
न ब्रह्मचारी न गृही नवस्थी, भिक्षुर्न चाहं निवोधरूपः।।

अर्थात् वास्तव में न तो मैं मनुष्य, देव या यक्ष हूँ, न ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र हूँ। इसी प्रकार न मैं ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ या संन्यासी हूँ। मैं तो यथार्थतः वही परमात्मतत्त्व हूँ जो इस शरीर से भिन्न और निर्विकार है, जो सदा एकरस रहने वाला, क्षय और वृद्धि से रहित एवं पुरातन है। विभिन्न शरीरों को धारण किये रहने पर भी अन्दर एक ही परमात्म तत्त्व बह रहा है, जिसकी न कोई जाति है न वर्ण। वह तो एक ही परमात्मा का अंश है। यही यथार्थ में जानना और समझना है, जिसको मनुष्य भूला हुआ है। मोह के वशीभूत होकर, अपने उस वास्तविक स्वरूप को पहचान नहीं रहा है। सुरदुर्लभ मनुष्य शरीर पाकर भी, कीट पतंग की भाँति इसे व्यर्थ नष्ट कर देते हैं। अतएव अपने आपको भेद रहित नित्य-चेतन-स्वरूप समझकर तथा सांसारिक भोग पदार्थों की कामना से रहित होकर संतों की शरण में रहते हुए उस परम पिता परमात्मा का निष्काम भजन और साक्षात्कार ही वास्तव में सुखी जीवन है। अन्यथा सर्वत्र दुःख, दीनता और दरिद्रता ही तो है।

४५. सदाचार और धर्म

फूलों में जो स्थान सुगन्ध का है, फलों में जो स्थान मिठास का है, भोजन में जो स्थान स्वाद का है, ठीक वही स्थान जीवन में सदाचार का है। सदाचार के बिना जीवन फीका, नीरस और व्यर्थ है। इसलिए विद्वान् सदाचारी न हो तो वह विशेष निन्दा का पात्र होता है। रावण विद्वान् था तथा अनेकानेक गुणों से युक्त भी लेकिन सदाचार का पालन नहीं करने से वह निंदा का पात्र बन गया।

जीवन को सुखी, सुन्दर और सफल बनाने के लिए अन्यान्य योग्यताओं के साथ सत्य-सदाचार की विशेष आवश्यकता है। जैसे बिना मुकुट के कोई राजा नहीं माना जा सकता, राजा के लिए मुकुट धारण करना जैसे अनिवार्य है, वैसे ही जीवन को सुखी और समृद्धिशाली बनाने के लिए सदाचारी होना अत्यन्त आवश्यक है। सदाचार का अभिप्राय केवल सच्चरित्रता अथवा दोषरहित जीवन ही नहीं है, बल्कि इसका विशेष अभिप्राय शास्त्रों द्वारा और आप्त पुरुषों द्वारा प्रतिपादित कर्मों का अनुष्ठान करना है।

सृष्टि के आरम्भ से ही जैसे श्रुति-स्मृति को धर्म का निर्णायक माना गया है, उसी प्रकार सदाचार को भी धर्म का निर्णायक माना गया है।

धर्म के लक्षणों की व्याख्या करते हुए मनु ने, जो आदि-विधायक कहे जाते हैं, कहा है—

वेदः स्मृति सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एवच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्॥

धर्म के जो चार लक्षण बताये गये हैं, उनमें वेद और स्मृति के साथ-साथ सदाचार और अपनी आत्मा को प्रिय लगने वाला आचरण भी धर्म कहा गया है। मनु ने और भी कहा है—

आचारः परमो धर्मः श्रुत्युक्तः स्मार्त एव च।
तस्मादस्मिन् सदा युक्तो नित्यं स्यादात्मवानद्विजः॥
एवमाचरतो दृष्ट्वा धर्मस्य मुनयो गतिम्।
सर्वस्य तपसो मूलमाचारं जगृहुः परम्।।

(मनुस्मृति १। १०८-११०)

श्रुतियों तथा स्मृतियों द्वारा प्रतिपादित आचरण ही सर्वश्रेष्ठ धर्म है और इसके लिए द्विजमात्र अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रियों, वैश्यों को सदा प्रयत्नशील रहना चाहिए। सदाचार से ही धर्म की प्रतिष्ठा देखकर मुनियों ने इसे तपस्या का मूल माना है। धर्म और सदाचार एक दूसरे से अलग नहीं हो सकते, ये एक दूसरे के पूरक हैं। यदि धर्म का पालन किया गया तो सदाचार का ही पालन हुआ और सदाचार का पालन किया गया तो धर्म का ही पालन हुआ।

धर्म के विषय में कहा गया है—

धर्मएव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः।
तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो मा नोधर्मो हतो वधीत्॥

जिसने धर्म की रक्षा की, धर्म भी उसी की रक्षा करता है और जिसने धर्म का हनन किया, धर्म भी उसका विनाश कर देता है। यही दशा सदाचार की है। जिसने सदाचार का पालन किया, सदाचार भी उसकी रक्षा करता है और जिसने सदाचार का पालन नहीं किया, अनाचार या दुराचार किया, उसका विनाश अवश्यम्भावी है। इसलिए जीवन की रक्षा के लिए—जीवन में प्रतिष्ठा, सम्मान पाने के लिए, धर्म के साथ-साथ सदाचार का पालन करना भी नितान्त आवश्यक है। लोग धर्म को संकुचित अर्थ में लेते हैं और सदाचार को उससे अलग समझते हैं, लेकिन यह उनकी भूल है। बिना सदाचारी बने धर्म हो ही नहीं सकता। जिसे धार्मिक बनना है, उसके लिए सदाचार का पालन अनिवार्य है। जो सदाचारी है, वही धार्मिक भी है। ये दोनों एक दूसरे के पर्याय हैं, धर्म से सदाचार और सदाचार से धर्म को अलग नहीं किया जा सकता।

सदाचार का सीधा अर्थ है—सत् आचार अर्थात् अच्छा आचरण। अच्छा आचरण उसी व्यक्ति का होगा, जिसका सहयोग धर्म से होगा। हमारा आचरण अच्छा हो, इसके लिए नियमों का भी विधान शास्त्रों ने किया है। शास्त्रों ने इन्हें दो भागों में बाँटा है—यम और नियम। दोनों पाँच-पाँच हैं। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—ये पाँच यम हैं। शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान—ये पाँच नियम हैं। यम और नियमों की अलग-अलग व्याख्या करने की आवश्यकता नहीं है। उन नामों से ही उनके भाव प्रकट हो जाते हैं। सदाचार का पालन करने वाले के लिए उन पर चलना, उनके अनुकूल अपने जीवन को बनाना अत्यावश्यक है। वे सभी वर्णों के लोगों के लिए प्रत्येक अवस्था में समान रूप से आचरणीय हैं। उन पर चलकर हमारे पूर्वज महान् यश प्राप्त कर चुके हैं और अपना नाम इतिहास में अमर कर गये हैं।

मानव अपने पूर्वजों के जीवन और उदाहरणों को देखकर भी अपना जीवन तदनुकूल नहीं बनाता और न उनके बताये हुए मार्ग पर चलता ही है। उन्हीं यमों और नियमों का पालन करने से और उन्हीं के अनुकूल आचरण करने से, यह देश किसी समय इतना महान् था। इसके विपरीत आज उनका पालन न करने से लोग दिन-प्रतिदिन कितनी गिरी हुई स्थिति पर पहुँच रहे हैं। यह भली-भाँति स्पष्ट है।

ऋषि, मुनि, संत, महात्मा अपने जीवन द्वारा जो आदर्श हमारे सामने उपस्थित कर गये हैं, उनका पालन ही हमारे जीवन का मार्ग है। जैसे मार्ग पकड़कर मनुष्य कहीं से कहीं चला जाता है, वैसे ही ऋषि, मुनि, संत, महात्मा के द्वारा किये गये आचरण का अनुसरण करके ही, हम अपने गन्तव्य स्थान पर पहुँच सकते हैं। धर्म का तत्त्व समझना सहज नहीं है, किन्तु महान् पुरुषों के जीवन को पथ-प्रदर्शक मानकर, अपना जीवन सुधारना सरल है और इसके माध्यम से हम आसानी से सदाचारी बन सकते हैं। जन-साधारण के सुव्यवस्थित तथा सदाचारी जीवन के लिए धर्मग्रन्थों की अपेक्षा महापुरुषों का जीवन, अधिक सार्थक माना गया है। कहा गया है—

तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्ना, नैको मुनिर्यस्य वचः प्रमाणम्।
धर्मस्य तत्त्वं निहित गुहायां, महाजनो येन गतः स पन्था॥

अनेक लोग अनेक प्रकार के तर्क करते हैं। श्रुतियाँ भी भिन्न-भिन्न मिलती हैं। मुनियों के विचार भी भिन्न-भिन्न हैं। धर्म का तत्त्व बड़ा गहन है, वह सबकी समझ में शीघ्र आने वाला नहीं है। इसलिए ऐसी विकट परिस्थिति में महापुरुषों के आचरण का अनुसरण ही सर्व-साधारण के लिए एकमात्र धर्म और सदाचार है। आजकल जो व्यक्ति जिस पद पर और जिस क्षेत्र में काम कर रहा है, उस क्षेत्र में और उस पद पर जो व्यक्ति नाम और यश प्राप्त कर चुके हैं, उन्हीं के जीवन को आदर्श मानकर और उन्हीं के द्वारा बताये मार्ग पर चलकर, दूसरे लोग भी महान् और यशस्वी बन सकते हैं। इसी कसौटी पर सदा अपने कर्त्तव्यों की जाँच करते रहना चाहिए।

४६. अन्न का महत्त्व

मनुष्य अन्न खाते हैं और यही समझते हैं कि बिना अन्न खाये हम जीवित नहीं रह सकते। मनुष्य ही क्यों, अन्य प्राणियों के लिए भी अन्न (आहार) अनिवार्य है, लेकिन अन्न की महत्ता पर सबका ध्यान नहीं जाता। अन्न संस्कृत भाषा का शब्द है, जिसकी व्याख्या निम्न प्रकार है—

अद्यते अद्यि च इति अन्नम्।

अन्न सभी प्राणी खाते हैं। साथ ही अन्न भी सभी प्राणियों को खा जाता है और अन्त में सबको अपने में विलीन कर लेता है। अन्न सब प्राणियों का भोजन है, इसे हम पूरी तरह समझते हैं। अन्न किस प्रकार सबको खाकर अपने में विलीन कर लेता है, यह विचारणीय प्रश्न है। अन्न का उद्गम स्थान पृथ्वी है, पृथ्वी से ही अन्न उत्पन्न होता है और हमारे मरणोपरान्त हमारी भी अंतिम गति इस पृथ्वी में ही होती है। किसी का शव पृथ्वी में गाड़ा जाता है और किसी के शव का इस पृथ्वी पर दाह-संस्कार होता है। इस प्रकार अन्न के उद्गम स्थान में ही हमारी भी अंतिम गति होती है। इसके अतिरिक्त एक भाव और भी है। हमारी मृत्यु के अन्यान्य कारण भले ही नजर आयें, लेकिन उन कारणों में एक कारण हमारे भोजन से भी सम्बन्ध रखता है, जिसके द्वारा अन्त समय में हमारी मृत्यु हो जाती है। इस प्रकार अन्न जिलाता भी है और अन्त में अन्न मनुष्य को खाकर विलीन भी कर लेता है।

उपनिषद् काल में अन्न के विषय में कुछ विचार हुआ है। तैत्तिरीयोपनिषद् में एक मन्त्र है—

अन्नाद्वै प्रजाः प्रजायन्ते। याः काश्च पृथिवीं श्रिताः। अथो अन्नेनैव जीवन्ति। अथैनदपि यन्त्यन्ततः। अन्नं हि भूतानां ज्येष्ठम्। तस्मात्सर्वौषधमुच्यते। सर्वं वै तेऽन्नमाप्नुवन्ति येऽन्नंब्रह्मोपासते।
(२।२।१)

अर्थात् पृथ्वी का आश्रय लेकर रहने वाले जो प्राणी हैं, वे सब अन्न के द्वारा ही उत्पन्न होते, अन्न से ही जीते हैं और अन्त में इस अन्न में विलीन हो जाते हैं। अन्न ही सब भूतों में श्रेष्ठ है, अतएव सर्वौषध रूप कहा गया है। जैसे ब्रह्म ही जगत् को उत्पन्न करता, पालता और अन्त में संहार करता है, ठीक उसी प्रकार अन्न ही सभी प्राणियों को उत्पन्न करता है, पालता है और अन्त में संहार करके अपने में विलीन कर लेता है। अन्न को ब्रह्म ही जानना और मानना आवश्यक है और अन्न की तुलना ब्रह्म से की गयी है।

इसी उपनिषद् में एक और भी प्रसंग है। एक बार भृगुऋषि को परमात्मा के तत्त्व को जानने की उत्कट अभिलाषा हुई और वे अपने पिता वरुण के पास गये। वरुण ने परमात्मा के तत्त्व को जानने के लिए उन्हें तप करने को कहा। तप के द्वारा भृगु ने जो प्रारम्भिक अनुभव प्राप्त किया, वह इस प्रकार है—

अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात्। अन्नाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।
अन्नेन जातानि जीवन्ति। अन्नं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति।

(३।२।१)

इसका भाव भी वैसा ही है। भृगु ने अन्न को ही ब्रह्म जाना, क्योंकि अन्न से ही प्राणियों की उत्पत्ति होती है, अन्न से ही वे जीते हैं और अन्त में प्रयाण के समय वे अन्न में ही प्रवेश कर जाते हैं। इस प्रकार ब्रह्म के गुण अन्न के द्वारा प्रकट होते हैं, अतएव अन्न को ब्रह्म ही माना गया है।

इस अन्न ब्रह्म का शरीर से सीधा सम्बन्ध है, किन्तु इस सम्बन्ध पर लोग पूर्णरूपेण विचार नहीं करते। यदि विचार किया जाय कि अन्न भोजन के द्वारा हमारा ब्रह्म से सम्बन्ध हो रहा है तो हमारे शारीरिक-कर्म सभी भगवन्मय हो जायं। जब भोजन करो तो यह हृदयंगम करना चाहिए कि हम साक्षात् ईश्वर का प्रसाद पा रहे हैं। इस प्रकार से अन्न का भोजन करने वाले एक प्रकार का यज्ञ करते हैं। यज्ञ करने वालों के सब पाप छूट जाते हैं। श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान् श्रीकृष्ण का वचन है—

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुंजन्ते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥

(३।१३)

यज्ञ से शेष बचे हुए अन्न को खाने वाले पुरुष सब पापों से छूट जाते हैं और जो बिना भगवान् को अर्पित किये अपना ही पेट भरते हैं, वे एक प्रकार से पाप खाते हैं। इसलिए भगवत्समर्पण के साथ-साथ भगवान् का स्मरण करते हुए ही अन्न का भोजन करना चाहिए। भोजन का सम्बन्ध चूँकि शरीर से है और शरीर से ही मनुष्य को सारे धर्म कर्म करने हैं, अतएव भोजन कब, कितना और कैसे करना चाहिए, ताकि शरीर नीरोग रहे—इस पर धार्मिक ग्रन्थों से लेकर आयुर्वेद के ग्रन्थों तक में, विस्तृत विवरण है।

मनुष्य का ध्यान सदा भोजन पर ही न रहे, अतएव साथ-साथ उपवास की भी विशेष महत्ता बतलायी गयी है। शरीर की जो शक्ति अन्न के पाचन में व्यय होती है, वही शक्ति उपवास द्वारा शारीरिक व्याधियों को दूर करती है। यह बात मनुष्य को सदा स्मरण रखनी चाहिए कि जैसे भोजन शरीर के लिए आवश्यक है, ठीक उसी प्रकार समय-समय पर उपवास की भी महत्ता है। इसकी विशेषता वही व्यक्ति ठीक-ठीक अनुभव कर सकता है, जो अपना रहन-सहन तदनुकूल बनाये रखता है। शास्त्रों में मिताहार की भी बड़ी महिमा कही गयी है—

सुस्निग्धमधुराहारश्चतुर्थांश विवर्जितः।
भुङ्क्ते शिवशुभं प्रीत्यै मिताहार स उच्यते॥

बहुत रूखा-सूखा नहीं खाना चाहिए। इतना ही नहीं, आहार मधुर भी होना चाहिए और वह भी उतना ही खाना चाहिए, जिससे पेट का चौथा अंश खाली रहे। इस प्रकार भोजन करने वाले का सदा शुभ होता है और वह शरीर से सुखी रहता है। इसी को मिताहार कहा जाता है, जो यौगिक क्रियाओं में अत्यन्त आवश्यक माना गया है।

भोजन से लेकर अन्यान्य कार्यों तक—जो भी कर्म मनुष्य प्रतिदिन अपने शरीर द्वारा करता है, उनका सम्बन्ध भगवान् से बना रहना चाहिए। इस विषय में भगवद्गीता में श्रीकृष्ण भगवान् ने स्वयं एक श्लोक में बतलाया है—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

(९।२७)

हे अर्जुन! जो कुछ कर्म तुम करो, जो खाओ, जो भी यज्ञ करो, जो दान करो और जो तप करो, वह सब मुझे अर्पण कर दो।' यह बात अर्जुन के माध्यम से श्रीकृष्ण सभी से कहते हैं। भाव यह है कि जैसे शरीर का सीधा सम्बन्ध भगवान् से है, उसी प्रकार मनुष्य की अन्यान्य क्रियाओं का भी सम्बन्ध भगवान् से रहना चाहिए। यही वास्तविक यज्ञ और तप है और इसके द्वारा ही मनुष्य अपने को भगवन्मय बना सकते हैं।

भगवान् की अनन्त कृपा से यह मनुष्य शरीर प्राप्त होता है, लेकिन यह शरीर है क्या? इस पर मनुष्य विचार नहीं करता। इस मानव शरीर में दो भाग हैं—एक बाह्य भाग जो पाँच कर्मेन्द्रियों और पाँच ज्ञानेन्द्रियों का समूह है, जिसे देखते हैं। किन्तु इस शरीर का एक अन्तर्भाग भी है, जिसे देखते नहीं लेकिन अनुभव करते हैं। इस अन्तर्भाग में कुछ दिव्य शक्तियाँ हैं, जिनको आत्मा, बुद्धि और मन कहते हैं। चूँकि इन शक्तियों को देखते नहीं, इसीलिए इनके विषय में विशेष विवेचन नहीं करते।

उपनिषद् का एक मन्त्र है—जिसका भावार्थ यह है कि शरीर में जो इन्द्रियाँ हैं, उनके ऊपर मन है, मन के ऊपर बुद्धि है, बुद्धि के ऊपर आत्मा है और आत्मा के ऊपर परमपिता परमात्मा हैं, जो सर्वशक्तिमान्, सर्वान्तर्यामी, निर्विकार और अखिल ब्रह्माण्ड के नियन्ता हैं। उन्होंने दया करके इस जीवात्मा को, अपने से बिछुड़कर संसार के बीहड़ वन में भटकते हुए और कहीं सुख तथा शान्ति न पाते हुए देखकर, उसे मानव शरीर रूपी सर्व साधन सम्पन्न रथ और उसे खींचने के लिए इंद्रियरूपी बलवान् घोड़े दिये हैं। इतना ही नहीं, उन्होंने उसके नथुनों में मनरूपी लगाम लगाकर उसे बुद्धिरूपी सारथि के हाथों में सौंप दिया है और जीवात्मा को उस रथ में बैठाकर उसे आदेश दिया है कि बुद्धि की सहायता से, इन्द्रियों को वश में करके, उन्हें नाम-रूप-लीला-धाम रूप भगवान् की ओर ले जाने वाले मार्ग से चलाये और क्रमशः भगवान् के पास पहुँच जाय।

किन्तु जीवात्मा परमात्मा के आदेश का पालन नहीं करता। वह तो सांसारिक माया-मोह में फँसकर जीव के परम लक्ष्य परमात्मा को भूल गया है। परिणाम यह हुआ है कि बुद्धि को उचित प्रेरणा नहीं मिलने से उसने मनरूपी लगाम को इन्द्रियरूपी घोड़ों की इच्छा पर छोड़ दिया।

जीवात्मा इस प्रकार इन्द्रियों के अधीन होकर संसार-चक्र में डालने वाले विषयों में भटकने लगा है इसी विषय में उपनिषद् का मन्त्र है—

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च॥

(कठोप० १।३।३)

इसका भाव ऊपर स्पष्ट कर दिया गया है। यहाँ प्रश्न यह होता है कि बुद्धिरूपी सारथि मनरूपी लगाम के द्वारा इन्द्रियों पर किस प्रकार शासन करे, जिससे वे विषयों में न भटककर भगवान् की ओर अग्रसर हों। इसके लिए उपनिषद् में पुनः उल्लेख है—

यस्तु विज्ञानवान् भवति युक्तेन मनसा सदा।
तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः॥

(वही १।३।६)

अर्थात् जिस मनुष्य की बुद्धि अपने लक्ष्य की ओर ध्यान रख अपने नियंत्रण में रखी हुई मनरूपी लगाम से इन्द्रियों को सन्मार्ग पर चलाने में सदा तत्पर रहती है, उसकी इन्द्रियाँ उसकी निश्चयात्मिका बुद्धि के अधीन होकर वैसे ही चलती है, जैसे सावधान सारथि के घोड़े उसके वश में रहकर उसके द्वारा निर्दिष्ट मार्ग पर चलते हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि शरीर में जो इन्द्रियाँ हैं, उनका सीधा सम्बन्ध मन से है। मन यदि इन्द्रियों पर पूरा शासन रखे और इन्द्रियों को इधर-उधर भटकने न दे तो मनुष्य अपने शरीर से महान् से महान् काम कर सकता है—इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है।

इन्द्रियों पर मन के शासन को ही एक प्रकार मन का शुद्ध संकल्प कह सकते हैं। मन का संकल्प शुद्ध हो और उसके अनुकूल इन्द्रियों का संचालन हो तो कौन-सी ऐसी वस्तु होगी जो प्राप्त न हो? विशेषतया भगवान् की उपलब्धि, जो इस जीवन का लक्ष्य है।

अब यदि मनुष्य चाहे कि मन के संकल्प शुद्ध हों और मन का सम्बन्ध भगवान् के नाम-रूप-लीलाधाम से हो तो इसके लिए आवश्यकता है सत्संगति की। सत्संगति का अर्थ है—सन्त-महात्माओं से सम्पर्क होना। सन्त-महात्मा बताते हैं कि भगवन्नाम वाणी और कान का विषय है। अपनी वाणी और श्रवणेन्द्रिय को भगवान् के नाम-गुण-कीर्तन में और उनकी महिमा के श्रवण में लगा देना चाहिए। अपने नेत्रों से भगवान् के रूप तथा लीलाओं का दर्शन करना चाहिए। पैरों द्वारा भगवान् के शास्त्रोक्त धामों की यात्रा करनी चाहिए, जिससे अन्यान्य जीवनोपयोगी कर्मों को करते हुए जो शेष क्षण सुविधापूर्वक उपलब्ध हों, वे भगवान् की पुण्य स्मृति में ही बीतते रहें।

अपनी इन्द्रियों द्वारा जो भी काम मनुष्य को करने हैं, उनको तो वह अवश्य करें, किन्तु उन इन्द्रियों के सारे कर्म अपने मन द्वारा नियंत्रित रखे। इन्द्रियाँ मन के अधीन होनी चाहिए, न कि मन ही इन्द्रियों के अधीन हो। परन्तु मन भी तो बड़ा चंचल है और उसकी चंचलता के कारण इन्द्रियाँ इधर-उधर चलायमान होती रहती हैं। इस सम्बन्ध में जो थोड़ी-सी बातें अर्जुन और भगवान् श्रीकृष्ण के बीच हुई हैं, वे मनन-योग्य हैं। अर्जुन भगवान् श्रीकृष्ण से कहते हैं—

चंचल हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्।
तस्याहं निग्रह मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥

(गीता ६।३४)

हे कृष्ण! यह मन स्वभावतः बड़ा चंचल है और बहुत बलवान है, इसलिए उसको वश में करना वायु के वेग को रोकने की भाँति कठिन है। ऐसी दशा में जो स्वयं चंचल है, उसके द्वारा इन्द्रियों का नियमन कैसे सम्भव है? इसके उत्तर में भगवान् श्रीकृष्ण का जो कथन है। वह और भी मननीय है। भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते॥

(गीता ६।३५)

अर्थात् हे अर्जुन! मन निःसन्देह बड़ा चंचल है और स्वयं कठिनता से वश में आने वाला है; किन्तु अभ्यास करने से और सांसारिक विषयों में वैराग्य करने से, अनासक्ति के द्वारा, वह वश में लाया जा सकता है।

भगवान् के नाम और गुणों का श्रवण, मनन, कीर्तन, जप तथा भगद्विषयक ग्रन्थों का पठन-पाठन इत्यादि बार-बार करने का नाम ही अभ्यास है। इस प्रकार अभ्यास करने से और विषयों के प्रति वैराग्य से शनैः-शनैः मन और उसके द्वारा नियंत्रित इन्द्रिय-समूह, शुभ में प्रवृत्त होते जायंगे—इसमें तनिक भी सन्देह नहीं करना चाहिए। मन से चाहे सांसारिक विषयों में फँसा रहे या मोक्ष प्राप्त कर ले—इसमें पूर्ण स्वतंत्रता है। इस विषय में सदा यह याद रखना चाहिए—

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।

इस मन के द्वारा यदि सतत अभ्यास हो—भगवन्नाम का श्रवण, मनन और जप हो, तो निश्चय ही मानव मुक्त हो सकता है, अन्यथा इस प्रपंच-जाल में फँसे रहना अनिवार्य ही है।

मनो हि द्विविधं प्रोक्तं शुद्धं चाशुद्धमेव च।

मन दो प्रकार का होता है—एक शुद्ध और दूसरा अशुद्ध। अशुद्ध मन वह है, जो सांसारिक कामनाओं से युक्त हो, जो इन सांसारिक विषयों में गला-पचा रहे। और शुद्ध मन वह है, जिसके द्वारा भगवन्नाम का जप, मनन, श्रवण आदि हुआ करे। मनुष्य को संसार में ही रहना है और सांसारिक कार्यों को भी करना है, अतः जहाँ तक सम्भव हो उसे संसार के कार्य करते हुए ही मन को भगवच्चरणों में लीन करने का जोड़-तोड़ परिश्रम करना चाहिए। ऐसा अभ्यास बराबर करने से ही मन के संकल्प सदा शुभ और वासना-रहित होंगे और संसार में रहते हुए भी वह जीवन मुक्त माना जायगा।

भोजन जैसे बाह्य शरीर का पोषक है, वैसे ही भजन आन्तरिक शरीर का। अपने शरीर के सर्वांगीण विकास के लिए दोनों की आवश्यकता को हृदयंगम करना चाहिए। इन दोनों में कुछ सम्बन्ध भी है, जिससे एक दूसरे की महत्ता का भाव प्रकट होता है। जैसे भोजन के बिना भजन ठीक से नहीं हो सकता—इसका अनुभव सभी को है, वैसे ही यदि सभी यह व्रत ले लें कि बिना भजन किये भोजन नहीं करेंगे और व्रत का पालन करना आरम्भ कर दें तो सभी का सम्बन्ध भगवान् से होने में देर नहीं लगेगी। इस प्रकार के व्यवहार से मनुष्य की समीपता भगवान् के साथ बढ़ती जायगी। ये दोनों ही कल्याण के मार्ग हैं। भोजन से शरीर की स्थिति बनी रहती है तो भजन ईश्वर से सम्पर्क बढ़ाता है। इस यथार्थता को सबको नित्यप्रति याद रखना चाहिए।

भगवान् श्रीकृष्ण गीता में कहते हैं—

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥

(६।१७)

दुःखों का नाश करने वाला योग तो यथायोग्य आहार-विहार करने वाले का, कर्मों के लिए यथायोग्य चेष्टा करने वाले तथा यथायोग्य सोने और जागने वाले का ही सिद्ध होता है।

भोजन के सम्बन्ध में इतना ही ध्यान रखना आवश्यक है कि भोजन युक्त मात्रा में हो—न आवश्यकता से अधिक हो, न कम, संयमपूर्ण एवं नियमानुकूल हो। भोजन के असंयम से ही शरीर में रोग का प्रवेश होता है, जो भजन में बाधा उपस्थित करता है। अतएव भोजन की युक्तता पर, ध्यान देना आवश्यक है। शरीर के लिए युक्त कर्म की आवश्यकता है, जो न अधिक और न कम हो। कर्म के साथ-साथ उचित मात्रा में अंगों का विश्राम भी आवश्यक है। यह सब हो तभी दुःखों का नाश करने वाले योग की सिद्धि प्राप्त की जा सकती है। योग अथवा भजन की सिद्धि न तो अधिक खाने वाले को और न ही कम खाने वाले अर्थात् उपवास करने वाले को, न अधिक जागने वाले और न अधिक सोने वाले को प्राप्त हो सकती है, क्योंकि इसमें युक्तता की कमी हो जाती है—

नात्यश्नतस्तु योगोस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुनः॥

(गीता ६।१६)

भजन की, जो दूसरे शब्दों में इस शरीर के लिए एक प्रकार का योग माना गया है, सिद्धि के लिए आहार-विहार अपने शरीर द्वारा विविध कर्म—ये सब उचित मात्रा में ही करने चाहिए। उचित मात्रा में इनको करने वाले को ही योग-शास्त्र में युक्त कहा गया है। भजन करने वाले योगियों के विषय में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्युयुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः॥

(गीता १२।२)

जो योगी भक्त मुझ परमेश्वर में अपने मन को एकाग्र करके तथा मुझसे नित्य जुड़े रहकर अतिशय श्रद्धा के साथ मेरा स्मरण करते हैं, वे मेरे भक्त योगियों में श्रेष्ठ हैं—मेरी ऐसी मान्यता है। ऐसे भक्त योगियों के प्रति भगवान् का भी कुछ विशेष कर्त्तव्य हो जाता है, जिसको उन्होंने निम्न शब्दों में व्यक्त किया है—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥

(गीता ९।२२)

जो व्यक्ति अनन्यभाव से मुझ परमेश्वर का चिन्तन करते हुए उपासना करते हैं, ऐसे प्रेमी भक्तों का योग-क्षेम मैं स्वयं वहन करता हूँ। भगवत्प्राप्ति को योग और उसके साधन को क्षेम कहा गया है। इस योग-क्षेम से स्पष्ट है कि ऐसे प्रेमी भक्तों की यथावत् देखभाल सर्वशक्तिमान् कृपालु भगवान् स्वयं करते हैं।

○○



भावमग्न श्री बाबा

भक्ति-दर्शन
(चतुर्थ खण्ड)



व्याख्यातं योगिराजेन निर्मलं भक्तिदर्शनम्।
मनः शुद्धिं हरौ प्रीतिं कुर्यात् सर्वस्य देहिनः॥

योगिराज़ श्री देवराहा बाबा द्वारा वर्णित निर्मल भक्ति-दर्शन
सम्पूर्ण प्राणियों की चित्तशुद्धि और भगवत् प्रीति का कारक हो।



भावमग्न श्री बाबा



श्री बाबा—सहजावस्था में

भक्ति-दर्शन

भारतीय वाङ्मय में व्यापक और निर्विवाद रूप से इस तथ्य का प्रतिपादन किया गया है कि भगवत् प्राप्ति ही मानव जीवन का लक्ष्य है। अच्छी समाज-व्यवस्था, सुदृढ़ शासन-व्यवस्था और शिक्षा, दीक्षा, चिकित्सा, मठ, मंदिर, तीर्थ, आश्रम आदि की सार्थकता केवल इसी बात में है कि मनुष्य इन सुविधाओं को पाकर भगवान् को प्राप्त करने की दिशा में प्रयत्नशील हों और अपनी सारी जीवनचर्या ऐसे ढंग से ढाले जिससे वह भगवान् को पा सके। श्रीमद्भागवत में मानव को भगवान् की सर्वश्रेष्ठ रचना कहा गया है और इस बात को अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में उपन्यस्त किया गया है कि समूचे विश्व की रचना कर लेने पर भी ईश्वर को अपने निर्माण कार्य से तब तक प्रसन्नता नहीं हुई जब तक उसके हाथ से मनुष्य का निर्माण नहीं हुआ। मनुष्य का निर्माण हो जाने पर ही उसे प्रसन्नता हुई और उससे अच्छी और कोई रचना सम्भव न होने के कारण ही, मनुष्य की रचना के बाद भगवान् ने अपने रचना-व्यापार से विराम ले लिया। भागवतकार ने मनुष्य की रचना से भगवान् के संतोष और प्रसन्नता का कारण एकमात्र यही बताया है कि मनुष्य में ब्रह्मतत्त्व को समझने की प्रतिभा और उसे आत्मसात करने की क्षमता है। इससे स्पष्ट है कि ब्रह्मप्राप्ति ही मानव जन्म की सार्थकता है। भागवतकार का वचन इस प्रकार है—

सृष्ट्वा पुराण विविधान्यजयाऽत्मशक्त्या,
वृक्षानिसरीसृपपशून्खगदंशवत्स्यान् ।
तैस्तैस्तुष्टहृदयो मनुजन्य विधाय,
ब्रह्मावबोध भीषणं मुद मानदेवः॥

इस लक्ष्य की प्राप्ति के तीन साधन शास्त्रों में बताये गये हैं—कर्म, ज्ञान और भक्ति। कर्म का अर्थ है विभिन्न ऐहलौकिक और पारलौकिक फलों के लिये शास्त्रविहित कर्मों तथा अधम योनियों में जन्म और विभिन्न नरकों के प्रापक शास्त्र निषिद्ध कर्मों का त्याग करते हुए नित्य नैभित्तिक कर्मों का अनुष्ठान्। किवा निषिद्ध कर्मों से दूर रहकर अपने सभी लौकिक और शास्त्रीय कर्मों को भगवान् में अर्पण करने की बुद्धि से संपादित करना। जैसा कि भगवद्गीता में कहा गया है—

यत् करोषि यदश्नासि यज्जूहोषि ददासि यत्।
यत् तपस्यसि कौन्तेय तत् कुरुष्व मदर्पणम्॥

फल बुद्धि का त्याग कर शुद्ध भगवद् अर्पण बुद्धि से कर्मों का अनुष्ठान करते हुए जीवन यापन करने से मनुष्य को भगवान् की प्राप्ति होती है। ज्ञान का अर्थ है समूचे जंगत को और उसकी उत्तमोत्तम उपलब्धियों को नश्वर और दुःखमय समझ कर उसमें आसक्त न होते हुए शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वभाव परब्रह्म परमात्मा का साक्षात्कार। यह साक्षात्कार जब ऐसे रूप में परिणत हो जाता है, जिसमें परमात्मा से भिन्न किसी वस्तु का किंचित भी आभास न होकर एकमात्र भगवत्स्वरूप का ही आभास होता है, तब मनुष्य का जगत् से सम्बन्ध टूट जाता है और उसे भगवान् की प्राप्ति हो जाती है। भक्ति का अर्थ है सच्चिदानन्द परब्रह्म परमात्मा में मनुष्य की अनन्य प्रीति। ऐसी प्रीति, जिसके समक्ष उसे संसार की सारी वस्तु नीरस लगे और एकमात्र भगवान् को देखने, उनसे मिलने और उन्हीं में अपने आपको सदा के लिए समर्पित कर देने की आतुरता हो। यह स्थिति मनुष्य की तभी बनती है, जब उसे भगवद-भक्ति के रसामृत से भरपूर बुद्धि प्राप्त हो जाती है, भगवान् को पाने की व्यग्रता करोड़ों कल्पों के अर्जित पुण्य-पुंज के परिपाक से ही उपलब्ध होती है।

भगवत प्राप्ति के मार्ग पर चलने वाले तथा लक्ष्य को प्राप्त कर कृतकृत्य साधकों ने एकमत से यह घोषणा की है कि भगवत् प्राप्ति के उक्त तीनों साधनों में भक्ति ही सुलभ होने से सर्वश्रेष्ठ है। यही कारण है कि बाबा अपने दर्शनार्थ आने वाले भक्तों के समक्ष ज्ञान और कर्म की उतनी ही चर्चा करते हैं, जितनी भक्ति में अपरिहार्य है। विशेष रूप से वे भक्तों के समक्ष भक्ति का ही उपदेश देते हैं और भक्ति के विभिन्न साधनों में सबसे सरल भगवन्नाम जप करने की ही प्रेरणा प्रदान करते हैं। वे मुक्तकंठ से कहते हैं कि नाम और नामी में भेद न होने के कारण भगवन्नाम का जप करने से नामी भगवान् जप कर्ता के हृदय में अपना आवास बना लेते हैं और वहीं उसे दर्शन देकर कृतार्थ कर देते हैं। प्रस्तुत भक्ति-दर्शन खण्ड में बाबा के उपदेशों के आधार पर भक्ति का परिचय देने का प्रयास किया गया है।

१. मूर्ति पूजा और उसका रहस्य

भारतवर्ष में मूर्तिपूजा का इतिहास अत्यन्त पुरातन है। इसका गूढ संकेत वेदों और उपनिषदों में भी प्राप्त होता है। पुराणों में तो मूर्तिपूजा के उल्लेख की भरमार है। किन्तु कुछ ऐसे भी उपासक सदा से होते रहे हैं जो उपासना में इसे आवश्यक नहीं मानते। उनका कहना है कि मूर्ति की कोई परमार्थ सत्ता तो है नहीं, वह तो वास्तव में परमेश्वर की, साधक की भावना के अनुसार, कल्पित प्रतिमा है। उपासना तो उसके माध्यम से अमूर्त परमात्मा की ही होती है, फिर मूर्त को बीच में क्यों लाया जाय, क्यों न सीधे अमूर्ति की उपासना की जाय। इस विचार वाले उपासकों ने मूर्तिपूजा के स्थान में अमूर्त, निर्गुण और निराकार की उपासना को प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया। पूजा और उपासना ही इन दोनों मान्यताओं के कारण हैं। मूर्ति-पूजा चिरकाल से विवाद और शास्त्रार्थ का विषय रही है। आर्य समाज के प्रवर्तक के समय इस विषय पर विद्वानों में विशेष शास्त्रार्थ और वाद-विवाद दोनों की प्रवृत्ति वृद्धिगत हुई। हजार या बारह सौ वर्ष पहले निगम और आगम पद्धति को लेकर शास्त्रार्थ चलते थे। शास्त्रार्थ और वाद-विवाद भारतीय मनीषा के मूलतत्त्व हैं, परन्तु वाद-विवाद अथवा शास्त्रार्थ का मुख्य प्रयोजन तत्त्वज्ञान रहा है। ये सब विद्वान् पंडितों के विषय हैं—भक्तों के नहीं। भगवदाकार वृत्ति वाले भक्त के लिए तो सब कुछ भगवान् ही हैं। गोस्वामी तुलसीदासजी ने मन्दोदरी से भगवान् के विराट् रूप का कितना सुन्दर वर्णन कराया है—

बिस्वरूप रघुबंस मनि करहु बचन बिस्वासु।
लोक कल्पना बेद कर अंग अंग प्रति जासु॥

(लंका काण्ड, १४)

निगमागम पद्धतियों को लेकर अनेक संहिताओं की रचना हुई है। उस रहस्य को यदि जानना हो तो वैष्णव परम्परा की वैखानस, पांचरात्र और भागवत—तीनों शाखाओं का अध्ययन करना होगा तथा श्रौत, गृह्य और धर्मसूत्रों का अध्ययन करना होगा। पांचरात्र शाखा में एक सौ आठ

प्रमुख संहिताएँ हैं। संहिताओं के माध्यम से निगम और आगम पद्धतियों का समन्वय हुआ। वैखानसों का सम्बन्ध कृष्ण यजुर्वेद की औखय शाखा से और पाँचरात्रियों का एकायन शाखा से सम्बन्ध है—इसी प्रकार भागवतों का सम्बन्ध वाजसनेय से है। इन शाखाओं की अनेक स्मृतियाँ भी मिलती हैं। यामुनाचार्य जी पांचरात्र शाखा के प्रमुख पोषक थे। उनका 'आगम प्रामाण्य' ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण है। 'रात्र' शब्द का अर्थ है ज्ञान, जो पाँच प्रकार का है—तत्त्व, मुक्ति, भक्ति, योग और विशेष। इस प्रकार संहिताओं के द्वारा श्रौत, स्मार्त और आगम परम्पराओं का सुन्दर समन्वय हुआ। समन्वय के सब प्रयत्न संस्कृत के माध्यम से हुए हैं। गोस्वामी तुलसीदासजी ने भाषा के माध्यम से समन्वय का महनीय प्रयत्न किया। पांचरात्र संहिताओं में दर्शन, मंत्र, यंत्र, माया, योग, मन्दिर निर्माण, प्रतिष्ठा विधि, संस्कार, वर्णाश्रम धर्म तथा उत्सव—इन दस विषयों का विस्तार से विवेचन हुआ है। पंचदेवोपासना संहिताओं का प्रमुख विषय है। पंचदेवों में भी कुछ-कुछ भिन्नता मिलती है—

रवि शम्भुं तथा शक्तिं विघ्नेशं च जनार्दनम्।
यजन्ति समभावेन मिश्रं पाशुपतं हि तत्॥

तथा—

आदित्यमथाम्बिकां विष्णुं गणनाथं महेश्वरम्।
पंचयज्ञपरो नित्यं गृहस्थः पंच पूजयेत्॥

इन संहिताओं में अवतार चर्चा भी महत्त्वपूर्ण विषय है। सात्त्वत अथवा भागवत शाखा में वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध का चतुर्व्यूह है। काश्मीरागम में नारायण, कपिल, नृसिंह तथा वराह, चतुर्मूर्ति हैं तथा वैखानसों में विष्णु, सत्य, पुरुष, अच्युत और अनिरुद्ध पंचवीर हैं। निगम और आगम परम्पराओं के समन्वय से ही अवतार संख्या बढ़ती गई और अवतार अनेक प्रकार के माने गये। पहले दशावतार ही माने गये। दशावतारों में नृसिंह, वराह, पुरुष, वामन, मत्स्य और कूर्म की चर्चा तो वैदिक साहित्य में है ही, पांचरात्रिकों के वासुदेव और संकर्षण कृष्ण तथा बलराम के रूप में तथा बौद्ध धर्म के शास्ता गौतम बुद्ध के रूप में दशावतारों में परिगणित होने लगे। अहिर्बुध्न्य संहिता में तो ३९ अवतार बताये गये हैं तथा श्रीमद्भागवत में चौबीस अवतारों की चर्चा है। अवतारों के अनेक प्रकार हैं, जैसे—व्यूह, विभव, अन्तर्यामी और अर्चा आदि। पांचरात्र विधि से प्राणप्रतिष्ठा करने पर मूर्तियाँ भी अवतार हो जाती हैं जो अर्चावतार की कोटि में आती हैं। इसलिए सम्प्रदायों में मूर्तियों को प्रस्तर मूर्तियों के रूप में स्वीकार नहीं किया जाता, बल्कि अर्चाविग्रह के रूप में माना जाता है।

२. मूर्ति पूजा की प्रामाणिकता

मूर्ति पूजा के सम्बन्ध में अनेक आलोचकों का कहना है कि यह पूजा वैदिक न होकर पौराणिक अथवा तान्त्रिक है। अतः भारत के सर्वपुरातन वाङ्मय वेद में इसका विधान न होने से इस पर वेदमूलक प्रामाणिकता की छाप नहीं है। अतः वेदावलम्बी जनता के लिए इसकी उपादेयता संदिग्ध है। इस विषय में यह ध्यातव्य है कि यद्यपि पुराणों और तन्त्रों में मूर्ति पूजा का बाहुल्येन प्रतिपादन और उसके अनुष्ठान विधियों का विस्तृत वर्णन है और वेद में ऐसा नहीं है, किन्तु यह समझना सही नहीं है कि वेदों में इसका कोई संकेत ही नहीं है और वेद उसकी चर्चा से सर्वथा पराङ्मुख है। **'एकं सत् विप्रा बहुधा वदन्ति'** के द्वारा वेद में भी अद्वितीय सत्य परमात्मा की बहुरूपता अभिहित की गयी है और इस बहुरूपता में परमात्मा की मूर्तिमत्ता का भी समावेश हो ही जाता है; और जहाँ इन्द्र आदि शब्दों से परमात्मा का वर्णन है, वहाँ उनके शरीर में विभिन्न अवयवों, आयुध तथा वाहन आदि के वर्णन का स्पष्ट ही बोध होता है। इससे यह कहना कि मूर्ति पूजा की वेद मूलकता का नितान्त अभाव है, उचित नहीं है। सत्य तो यह है कि साधक को इस झमेले में पड़ने का कोई प्रयोजन ही नहीं है। उसको वैदिकता और अवैदिकता से कोई सरोकार नहीं रखना चाहिए। उसके लिए तो मूर्ति पूजा इस दृष्टि से मान्य और उपादेय है कि मनुष्य कदाचित् अनादिकाल से विभिन्न नामों और मूर्तियों में नृत्य करते रहने के कारण अमूर्त और अनाम को सहसा ग्रहण नहीं कर सकता। अतः संसारी नाम-रूपों से उत्कृष्ट नाम-रूपों की कल्पना करें। उन्हीं के माध्यम से परमात्मा को चित् का अवलम्बन बनाया जाय।

इस सम्बन्ध में यह दृष्टिगत करना आवश्यक है कि वैदिक पूजा पद्धति यज्ञ बहुला है और विष्णु को यज्ञरूप में स्वीकार किया गया है, **'यज्ञो वै विष्णुः'** (यजु० २२। २०)। विष्णु को यज्ञ पुरुष भी कहा गया है। इससे सिद्ध होता है कि प्रतीकोपासना का स्वरूप तो बहुत ही पुराना है परन्तु देवालयीय साधना का विशुद्ध वर्णन आगम संहिताओं में ही मिलता है। इसमें मन्त्र सहित देवपूजा का विधान है। जयाख्य संहिता में एक समाधि उपाय का भी विधान है जिसके अनुसार मौन होकर हत्पुंडरीक में गरुड़स्थ भगवान् का ध्यान किया जाता है। परंतु भगवद्भक्तों के लिए आलयार्चा को ही उत्तम बताया गया है। देवालय को उसी प्रकार भगवद्विग्रह स्वीकार किया गया है, जिस प्रकार यह प्रपंचात्मक जगत् भगवान् का व्यक्त और मूर्त स्वरूप है—

एवमेष हरिः साक्षात् प्रासादत्वेन संस्थितः।
जंघात्वस्य शिवो ज्ञेया स्कन्धे धाताव्यवस्थितः।
ऊर्ध्वभागे स्थितो विष्णुरेव तस्य स्थितस्य हि॥

(अग्निपुराण, अ० ६१। २५-२७)

देवालय के प्रासाद का निर्माण इसी भावना से किया जाता है। प्रासाद की तीन भूमिकाएँ होती हैं जिनमें तीन आवरण होते हैं—प्रथम आवरण में भगवान् और पार्षदों की भोग मूर्तियाँ होती हैं, मध्यम आवरण में संहार मूर्तियाँ होती हैं तथा सर्वोच्च आवरण में भगवान् की योग मूर्तियाँ होती हैं। इनके अतिरिक्त आस-पास सिद्ध, गंधर्व, अप्सरा तथा भक्तों की मूर्तियाँ होती हैं तथा सम्पूर्ण प्रासाद को विश्व रूप में व्यक्त किया जाता है। मन्दिर के गर्भगृह में भगवान् कूटस्थ रूप में निवास करते हैं और विशिष्ट अवसरों पर भक्तों को दर्शन देते हैं। गर्भगृह में रहने वाला अर्चा विग्रह **'ध्रुववेर'** कहलाता है तथा उत्सव और सभामण्डप वाला विग्रह **'कौतुक वेर'** कहलाता है। दोनों रूपों की अर्चनाओं का बड़ा विस्तार से विवेचन हुआ है। विश्व के अधिष्ठाता सम्राट् के रूप में भगवान् की पूजा का विधान है। आलयार्चा का दर्शन भी बड़ा रहस्यमय है। गृह में प्रतिष्ठित भगवद् विग्रह की आराधना गृहार्चा कहलाती है, इसका भी संहिताओं में विवेचन किया गया है। भक्ति सम्प्रदायों में देवालयीय अर्चा के अलग-अलग विधान तथा स्वरूप हैं परन्तु सभी सम्प्रदायों में भगवद् विग्रह को चिन्मय तथा साक्षात् भगवान् ही स्वीकार किया गया है।

प्रतीक रूप में मूर्तिपूजा का विधान शास्त्रीय नहीं है, क्योंकि भावना

के बिना उपासना का कोई अर्थ ही नहीं है और न ही तदाकार वृत्ति का विशेष प्रयोजन। परन्तु प्रतीकोपासना का साधन रूप में महत्त्व अवश्य है। अर्चा-विग्रह को भी आजकल के बुद्धिजीवी प्रतीक रूप में ही ग्रहण करते हैं। राष्ट्रध्वज का अभिवादन भी प्रतीक रूप में ही होता है। इसी प्रकार सत्पुरुषों तथा नेताओं की मूर्तियों और चित्रों की वन्दना भी प्रतीक रूप में की जाती है। यह प्रतीक पूजा विश्व के सब धर्मों तथा आस्थाओं में किसी-न-किसी रूप में विद्यमान है। एक बात और भी है कि देव-मूर्ति-विधान से वास्तुकला, मूर्तिकला, चित्रकला, संगीतकला और काव्यकला सभी को प्रोत्साहन मिला है तथा वैष्णव देवालयीय अर्चा ने कला को जीवन्त रूप दिया है, 'मंगल्या च मनोहरा च जगतो मातेव गंगेव च'। भगवान् के विभिन्न रूपों की कलात्मक अभिव्यक्ति भारतीय संस्कृति का प्राण है। जहाँ तक भक्ति का प्रश्न है—उसमें भाव की ही प्रधानता है। 'भगवद्भक्तिरसायन' में श्री मधुसूदन सरस्वती ने भाव की बड़ी सुन्दर व्याख्या की है—

द्रुते चित्ते विनिक्षिप्तः स्वीकारो यस्तु वस्तुना।
संस्कार-वासना-भाव-भावनाशब्दभागसौ॥ (१।६)

चित्त की एकाग्रता से जब मन बाह्य विषयों से हटकर उपास्य के अभिमुख होता है तो वह द्रवित होने लगता है, उस समय उपास्य का स्वरूप उसमें विनिक्षिप्त हो जाता है और मन तद्भावभावित होकर तदाकार वृत्ति युक्त हो जाता है। इसी को भाव-भक्ति, परा-भक्ति, रागानुगा-भक्ति या प्रेमलक्षणा-भक्ति कहते हैं।

३. प्रेमाभक्ति और भाव-भक्ति

संतों में दो प्रकार के भक्त प्राप्त होते हैं—एक वह जो प्रेमाभक्ति में आस्थावान् होते हैं और दूसरे वह जो भाव-भक्ति में आस्थावान् होते हैं। इनमें प्रथम श्रेणी के भक्त प्रेमोपासक और दूसरी श्रेणी के भक्त भावोपासक कहे जाते हैं। प्रेम का अर्थ है चित्त की सान्द्रावस्था और भाव का अर्थ है चित्त की द्रवावस्था। आशय यह है कि साधक का चित्त जो भगवान् को आलम्बन कर द्रवित हो जाता है परन्तु उसमें पूरी दृढ़ता न होने पर भगवत् प्रतिबिम्ब चंचल बना रहता है। जब वह चित्त का द्रव स्थिर हो जाता है और उसमें भगवत् प्रतिबिम्ब स्थायित्त्व प्राप्त कर लेता है तो वही प्रेम बन जाता है। इस प्रकार भाव और प्रेम दोनों एक ही चित्तवृत्ति की दो अवस्थायें हैं। इनमें प्रेम ही भक्ति का चरम साध्य है—

प्रेम भगति जो बरनि न जाई, सोइ मधुरता सुसीतलताई॥

गोस्वामीं तुलसीदासजी प्रेमाभक्ति को निर्भरा भक्ति कहते हैं और भगवान् राम से इसी की कामना भी करते हैं—

भक्तिं प्रयच्छ रघुपुंगव, निर्भरां मे, कामादि दोष रहितं कुरु मानसं च

इस निर्भर प्रेमाभक्ति के स्वरूप को गोस्वामीजी ने सुतीक्ष्ण की दशा में चित्रित किया है—

निर्भर प्रेम मगन मुनि ग्यानी । कहि न जाय सो दसा भवानी॥
दिसि अरु विदिस पंथ नहिं सूझा। को मैं चलेऊं कहाँ नहीं बूझा॥
कबहुंक फिरि पाछें पुनि जाई । कबहुंक नृत्य करई गुन जाई॥
अविरल प्रेम भगति मुनि पाई । प्रभु देखहिं तरु ओट लुकाई॥

प्रेम और भगवान् में कोई अन्तर नहीं है। भगवान् के विराट रूप की अनुभूति और उससे तादात्म्य प्रेम के बिना सम्भव ही नहीं है। भगवत्कृपा से ही प्रेम की प्राप्ति सम्भव है। उस समय सब कुछ भगवन्मय हो जाता है—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।

प्रेम की प्राप्ति होने पर विधि—निषेध का बन्धन भी नहीं रहता है। प्रेम एक भावमय बन्धन है जो नाश का कारण रहने पर भी नष्ट नहीं होता—

सर्वथाध्वंसरहितः सत्यपि ध्वंसकारणे।
यद्भाव बन्धनं यूनोः तत्प्रेम परिकीर्तितम्॥

प्रेम में विषयासक्ति का अवसर ही नहीं होता क्योंकि भगवदाकार वृत्ति में विषयों की सत्ता ही कहाँ है? प्रेम में न मर्यादा है और न विवेक। लौकिक प्रेम में वासना रहती है। उसकी पूर्ति से प्रेम की निवृत्ति हो जाती है परन्तु भगवत्प्रेम अलौकिक होता है। ज्ञान भी प्रेम के सामने तुच्छ है—

ज्ञानमेव तुलितं तुलायां प्रेम नैव तुलितं च तुलायाम्।

ज्ञानी को तो विवेक द्वारा पर-वैराग्य की प्राप्ति होती है परंतु प्रेमी को वह स्थिति अनायास ही प्राप्त हो जाती है, क्योंकि वह सम्पूर्ण दृश्य प्रपंच को भगवान् का ही शरीर मानता है; परन्तु भगवान् अपने शरीर से अलग भी हैं। इसी प्रकार प्रेमी चेतन सत्ता से अपने शरीर से अलग हैं। समष्टि रूप में जो ईश्वर की चेतन सत्ता है—व्यष्टि रूप में वही प्रेमी की है—इसलिये दोनों एक ही हैं—यही ज्ञानी का कैवल्य या स्वरूपावस्थिति है। इस प्रेम लक्षणा भक्ति का अनेक ग्रन्थों में विस्तार से विवेचन हुआ है। प्रेम की आठ भूमिकाएँ होती हैं—

आदौ श्रद्धा ततः साधुसंगोऽथ भजनक्रिया।
ततोऽनर्थनिवृत्तिः स्यात्ततो निष्ठारुचिस्तथा।।
अथासक्तिस्ततो भावस्ततः प्रेमाभ्युदंचति।
साधकानामयं प्रेरणः प्रादुर्भावे भवेत् क्रमः॥

श्रद्धा, साधु संगति, भजन, अनर्थ निवृत्ति, भजन में निष्ठा तथा रुचि, आसक्ति भाव और प्रेम—यह प्रक्रिया भक्तिरसामृतसिन्धु में बतायी गयी है। श्री मधुसूदन सरस्वती ने अपने भक्तिरसायन ग्रन्थ में प्रेम की ग्यारह भूमिकाएँ बतायी हैं—

प्रथमं महतां सेवा तद्दयापात्रता ततः।
श्रद्धाथ तेषां धर्मेषु ततो हरिगुणश्रुतिः॥
ततः रत्यं कुरोत्पत्तिः स्वरूपाधिगतिस्ततः।
प्रेमवृद्धिः परानन्दे तस्यार्थस्फुरणं ततः॥
भगवद्धर्मनिष्ठातः स्वस्मिंस्तद्गुणशालिता।
प्रेम्णोऽथ परमा काष्ठेत्युदिता भक्तिभूमिकाः॥

प्रायः सभी आचार्यों ने भगवत्प्रेम को ही भक्ति का चरम साध्य माना है। आचार्यों के अतिरिक्त शाण्डिल्य और नारद के भक्तिसूत्र भी प्रसिद्ध हैं। शाण्डिल्य भक्ति सूत्र में, 'सा परानुरक्तिरीश्वरे' अर्थात् ईश्वर में परम अनुरक्ति को ही भक्ति कहा है। देवर्षि नारद ने पाँच सूत्रों में भक्ति की व्याख्या की है—

'सात्वस्मिन् परमप्रेमरूपा। अमृतस्वरूपा च। यल्लब्ध्वा पुमान् सिद्धो भवति, अमृतो भवति, तृप्तो भवति। यत्प्राप्य न किंचिद् वांछति, न शोचति, न द्वेष्टि, न रमते, नोत्साही भवति। यज्ज्ञात्वा मत्तो भवति, स्तब्धो भवति, आत्मारामो भवति।'

भाव स्पष्ट है कि भक्ति ईश्वर के प्रति परम प्रेमरूपा है और अमृत

स्वरूपा है, जिसको प्राप्त कर मनुष्य तृप्त हो जाता है, सिद्ध हो जाता है और अमर हो जाता है। उसकी प्राप्ति होने पर मनुष्य न किसी वस्तु की इच्छा करता है, न शोक करता है, न किसी वस्तु में आसक्त होता है। उसे प्राप्त कर मनुष्य मत्त हो उठता है, स्तब्ध हो जाता है और आत्माराम बन जाता है। प्रेमाभक्ति ही पराभक्ति कहलाती है और इसी को भूमानन्द कहते हैं। श्रीमद्भगवद्गीता और श्रीमद्भागवत में प्रेमाभक्ति का ही निरूपण है।

४. प्रेमाभक्ति में अनुभूयमान आनन्द का स्वरूप

प्राणि-मात्र के जीवन का परम पुरुषार्थ आनन्द ही तो है, क्योंकि आनन्दोपलब्धि से ही दुःख की आत्यंतिक निवृत्ति सम्भव है। आनन्द का अधिष्ठान यह प्रपंच नहीं है, बल्कि आत्मा ही है। सच्चिदानन्द रूप परब्रह्म पूर्णानन्द का अधिष्ठान है तथा अंश रूपेण जीवात्मा भी आनन्द का अधिष्ठान है। जन्म-जन्मान्तरों के संस्कार, वासना तथा मल-विक्षेप ही जीव के लिए आनन्दोपलब्धि में बाधक हैं। प्रेमाभक्ति जीव को विशुद्ध रूप में भगवान् के सम्मुख कर देती है—सारा संसार पीछे छूट जाता है। वेदांती जिस परब्रह्म का साक्षात्कार सत् रूप में करता है तथा योगी चित् रूप में, भक्त उसका आनन्द रूप में साक्षात्कार करता है, क्योंकि उस पूर्णकाम परब्रह्म की आत्मारमणं की प्रेरणा के मूल में आनन्द ही तो है। इसलिए आत्मोपलब्धि का दूसरा नाम ही आनन्द है। सांसारिक विषयों का आनन्द इन्द्रियों का आनन्द होता है—आत्मा का नहीं। इसलिए वह सापेक्ष और नश्वर होता है। आत्मा का आनन्द निरपेक्ष, पूर्ण और नित्य होता है—वाह्येन्द्रियों में प्रतिबिम्बित होकर वह सापेक्ष हो जाता है और अहम् की सीमाओं में बंधकर सुखदुःखात्मक हो जाता है। कामनाओं और वासनाओं का आवरण भंग होते ही लौकिक आनन्द की सापेक्षता समाप्त हो जाती है और वह नित्य, निरपेक्ष हो जाता है। जीव अपने स्वभाव से ही इस आनन्द की खोज में रहता है और उसके अभाव में नाना प्रकार की यातनाओं को भोगता रहता है। उसकी प्राप्ति के लिए मानव अनादिकाल से प्रयत्नशील है। यह मनुष्य का स्वभाव है कि आनन्द की खोज में लगा रहे। बहिर्मुखी वृत्ति होने के कारण आनन्द की अनुभूति भी बाह्य चेतना से ही होती है—इसलिए उस आनन्द की अनुभूति की बाह्य चेतना से ही होती है। उस आनन्द से जीव की तृप्ति नहीं होती। पूर्णानन्दस्वरूप परब्रह्म का साम्मुख्य निर्भरा प्रेमाभक्ति से ही सम्भव है। इसीलिए प्रेम ही आनन्द का साधन तथा साध्य है।

भगवत्प्रेम ही विश्वप्रेम है और वही परमानन्द है। आनन्द और प्रेम दोनों की प्रक्रिया एक है। आनन्द में अहम् का बन्धन क्षीण हो जाता है और प्रेम में भेद दृष्टि समाप्त हो जाती है। जब तक जीव अहंता और ममता से आवृत्त रहता है, उसमें भेदभाव भी रहता है और वासनाजन्य प्रेम भी। प्रेम से जब वासना का भाव विच्छिन्न हो जाता है, तो विशुद्ध आनन्द की प्राप्ति होती है। इसलिए आनन्द की उत्कृष्ट इच्छा ही प्रेम कहलाती है। प्रेम को आनन्द का सान्द्र प्रकाश कह सकते हैं। प्रेम में दुःख का अत्यन्ताभाव होता है और आनन्द में दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति। भगवत्प्रेम ही आत्यन्तिक सुख है। वही नित्य है और वही निरपेक्ष है, क्योंकि वह भगवान् के प्रति होता है; जो नित्य और परमानन्दस्वरूप हैं। योगी के आनन्द और भक्त के आनन्द में थोड़ा-सा भेद यह है कि योगी का आनन्द निस्तरंग समुद्र के समान है और भक्त का आनन्द सतरंग समुद्र के सदृश। आनन्द में लीला की अनुभूति होती रहती है और लीला तरंगों के विलास से भक्त का मन प्रफुल्ल और उल्लसित रहता है।

प्रेम आज के युग की माँग है। घोर-से-घोर भौतिकवादी मानव भी प्रेम की तलाश में है। मानवतावाद इस प्रेम का ही भौतिक रूप है। परन्तु जड़ोन्मुख होने के कारण मानवतावाद में न तो स्थायित्त्व है और न निरपेक्षता ही। भगवत्प्रेम निस्सीम के प्रति होने के कारण देश और काल से अतीत होता है, जबकि बुद्धिजीवी का प्रेम देश और काल की सीमाओं से परिसीमित होकर संकीर्ण हो जाता है। सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो भगवत्प्रेम वास्तविक विश्वप्रेम ही है। स्वार्थत्याग भगवत्प्रेम का मूल है और आनन्द उसका फल। परम प्रेमास्पद सच्चिदानन्द स्वरूप भगवान् को प्राप्त करने का एकमात्र सरल उपाय प्रेमलक्षणा भक्ति है। यह साधन भी है और साध्य भी। इस मार्ग में कठिन योग साधनों अथवा यौगिक क्रियाओं द्वारा चित्तवृत्तियों का निरोध नहीं करना पड़ता, केवल उनकी दिशा बदल देनी पड़ती है। सम्पूर्ण सृष्टि में भगवान् की चित् और आनन्द शक्ति का अनुभव करना तथा उसी प्रकार व्यवहार करना ही भगवत्प्रेम का स्वरूप है। इस प्रक्रिया से मानव उस दिव्य चेतना का साक्षात्कार करता है, जो विशुद्ध आनन्दस्वरूप है। आज का बुद्धिवादी मनुष्य चेतना में विश्वास अवश्य करता है, परन्तु उसकी चेतना विषयग्रस्त इन्द्रियों की चेतना है, चिन्मय इन्द्रियों की चेतना नहीं। इसलिए वह दुःखी है। प्राकृत मानव चेतना तो दिव्य चेतना का प्रतिबिम्ब है। सारा ब्रह्माण्ड उसी दिव्य चेतना से संचालित है। इसलिए दिव्य चेतना के प्रति जो प्रेम होगा, वह प्राकृत न होकर चिन्मय होगा। ऐसा प्रेम सदा एक रस और एक रूप होता है। इस प्रेम की प्राप्ति होने पर भक्त सब प्राणियों में भगवान् को ही देखता है। भागवत के ग्यारहवें स्कन्ध में तथा गीता के छठे अध्याय में इसी भाव को स्पष्ट किया गया है। भागवतकार कहता है कि जो अपने मन में यह भेद-भाव नहीं रखता कि मैं अलग हूँ, भगवान् अलग हैं, सब लोग भिन्न हैं, किन्तु जो सब प्राणियों में यह भाव रखता है कि भगवान् और हम दोनों एक हैं और जो यह समझता है कि भगवान् सब प्राणियों में हैं और मुझमें भी हैं—वही सब भागवतों में श्रेष्ठ है। इस भगवत्प्रेम का स्वरूप अनिर्वचनीय है। प्रेमास्पद को छोड़कर प्रेमी की दृष्टि में कुछ नहीं रहता। भागवत में इस प्रेम रूपा भक्ति को अहैतुकी निर्गुण भक्ति कहा है। इसके प्राप्त होने पर भक्त की कर्म गति और चित्त वृत्ति का प्रवाह अविच्छिन्न रूप से भगवान् की ओर बहता रहता है और उसकी समस्त क्रियाएँ भगवान् के लिए ही होती हैं, सब कुछ उसके लिए वासुदेवमय हो जाता है।

५. भगवान् का दिव्य प्रेम और वैष्णव धर्म

इस दिव्य प्रेम की प्राप्ति वास्तव में बड़ी साधना की अपेक्षा रखती है, परन्तु विचार और अभ्यास से सब कुछ सम्भव हो जाता है। आसक्ति जीव मात्र का स्वाभाविक धर्म है। काम, क्रोध, मद, लोभ और मोह आदि उस आसक्ति के ही बदले हुए रूप हैं। काम, लोभ और मोह को ही साधारण व्यवहार में प्रेम कहा जाता है। किसी वस्तु या विषय की आसक्ति का पहला स्वरूप काम ही है, उसके योग-क्षेम की

भावना लोभ है तथा जब वह भावना अन्य आसक्तियों को आच्छादित कर लेती है, तब उसे मोह कहने लगते हैं। संसार व्यापार इन्हीं वृत्तियों से चल रहा है। इन वृत्तियों को राग-द्वेषमयी वृत्ति कहते हैं। एक मनुष्य का संसार उसके अपने राग-द्वेष का ही संसार है—उससे आगे का संसार या तो उसके कुतूहल का विषय है या सामान्य ज्ञान का। ज्यों-ज्यों उसके राग-द्वेष की परिधि बढ़ती जायगी—उसका संसार बढ़ता जायगा। परिवार, जाति, समाज, प्रदेश, राष्ट्र और विश्व की भावना के मूल में यह राग-द्वेष की भावना का व्यापार ही चल रहा है। जातीयता, प्रान्तीयता, राष्ट्रीयता, अन्तर्राष्ट्रीयता और मानवता के नारे इसी राग-द्वेष की भावना के फल हैं। जो मनुष्य अपने परिवार तक सीमित है, वह उसके लिए सर्वस्व त्याग सकता है; उसके हित में घोर-से-घोर कर्म कर सकता है। इसी प्रकार जाति, प्रदेश तथा राष्ट्र के सम्बन्ध में भी जान लेना चाहिए। अपने-अपने क्षेत्र में अपनी-अपनी भावना के अनुकूल मनुष्य बड़ा-से-बड़ा त्याग और बलिदान कर सकता है। इधर विज्ञान की विभीषिकाओं से त्रस्त और दानवता से ग्रस्त होकर कुछ सम्भ्रान्त मानव मानवतावाद का भी नारा लगाने लगे हैं। कहने का भाव यह है कि उदात्त प्रेम की भावना मनुष्यमात्र में है—केवल उसका सही उपयोग नहीं है। प्रत्येक देश के धर्मों के मसीहा इस भावना को सही दिशा देने का प्रयास करते रहते हैं। वैष्णव धर्म में इस भावना को अधिक उदार और व्यापक बनाने के प्रयास हुए हैं। इसीलिए वैष्णव धर्म का साधारण लक्षण ही यह हो गया कि जिस धर्म के द्वारा मानव की भावना का परिष्कार होता है, जिससे उसके हृदय में सत्य, अहिंसा, प्रेम की प्रतिष्ठा होती है तथा जिसके द्वारा प्राणिमात्र के लिए दयालुता, स्निग्धता, सहिष्णुता, उदारता और मधुरता का संचार होता है, वह वैष्णव धर्म है। हिन्दू, मुसलमान, सिक्ख, ईसाई, नास्तिक सभी वर्गों के लोग इस धर्म की ध्वजा के नीचे समानभाव से बैठ सकते हैं। जाति-पाँति के बन्धनों से परे सामाजिक भेद-भावों को तोड़कर मानव, मानव को एक धरातल पर खड़ा करने वाला यह वैष्णव धर्म मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति का प्रतिफलन है। भारतवर्ष का इतिहास इस बात का साक्षी है कि अनेक विदेशियों ने भी इस धर्म को स्वीकार कर गर्व और गौरव का अनुभव किया है। हूण, आन्ध्र, पुलिन्द, पुल्कस, यवन, खस आदि अनेक जातियों और वर्गों के लोग भी इस धर्म की ध्वजा के आश्रय में पवित्र माने गये हैं—

किरात-हूणान्ध्र पुलिन्द पुल्कसाः, आभीर-कंका यवनाः खसादयः।
येऽन्यत्र पापा यदुपाश्रयाश्रयाः, शुध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः॥

'वसुधैव कुटुम्बकम्' इस धर्म का मूलमन्त्र है, अहिंसा इसका आधार है, प्रपंच में भगवद्विश्वास इसकी साधना है तथा प्राणिमात्र से प्रेम इसका सुमधुर फल है। यह धर्म प्रवृत्तिपरक है निवृत्तिपरक नहीं—

नारायणपरोधर्मः पुनरावृत्ति दुर्लभः।
प्रवृत्ति लक्षणश्चैव धर्मो नारायणात्मकः॥

महाभारत के शान्तिपर्व में वैष्णव धर्म और भारतीय संस्कृति को लगभग समकक्ष ही माना गया है। यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो ज्ञात होगा कि वैष्णव धर्म में विश्वसंस्कृति के सभी तत्त्वों का समावेश है। श्रीमद्भगवद्गीता में भी इसी धर्म का सार संगृहीत है। सभी वैष्णव आचार्यों तथा सन्तों की साधना का मूल रूप भगवत् प्रेम की प्राप्ति ही है। बाह्य रूप से सम्प्रदायों में चाहे जितना वैषम्य हो, उनके मूल तत्त्वों में कोई बड़ा भारी भेद नहीं है। सभी वैष्णव सम्प्रदाय भगवत् तत्त्व को सगुण और साकार मानते हैं और उसके मूल में निर्गुण और निराकार ब्रह्म विद्यमान रहता है। भगवान् स्वभाव से ही स्वामी, विभु और शेषी हैं, जबकि जीव स्वभाव से दास, अणु और शेष है। कर्म चित्तशुद्धि का साधन है और ज्ञान आत्म बोध का हेतु। परम तत्त्व की प्राप्ति भक्ति के द्वारा ही हो सकती है, जिसका एकमात्र साधन भगवत्प्रेम है। प्रपत्ति अर्थात् शरणागति और समर्पण की भावना से ही भगवत्प्रेम अथवा भगवदानुग्रह की उपलब्धि सम्भव है।

योगी, भक्त और ज्ञानी में भी कोई तात्त्विक भेद नहीं है। जिस प्रकार ज्ञान पक्ष में ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान होते हैं तथा योग में ध्याता, ध्येय और ध्यान स्वीकार किये गये हैं, उसी प्रकार प्रेम में प्रेमी, प्रेम और प्रेमास्पद तीन पक्ष होते हैं। साधारण व्यवहार में भी ये तीन पक्ष होते हैं—प्राकृत प्रेम में लोभ अथवा मोह का तारतम्य भी इन तीन पक्षों से समन्वित है। साधारण व्यवहार में जिसे हम प्रेम कहते हैं, वह वास्तव में लोभ अथवा मोह का ही रूप है। स्थूल रूप से हम यों कह सकते हैं कि जड़ोन्मुख भावना लोभ तथा मोहादि को जन्म देती है तथा चिन्मयी भावना प्रेम को। निरन्तर अभ्यास, सत्संग तथा गुरु के उपदेश से ही भावना को चिन्मय किया जा सकता है। परिवार इस भावना को चिन्मय बनाने की सबसे पहली प्रयोगशाला है। धीरे-धीरे इसका स्वरूप व्यापक होता जाता है और अन्ततोगत्वा सम्पूर्ण प्रपंच इसकी परिधि में आ जाता है। प्राकृत प्रेम जीव को अधोगति की ओर ले जाता है, जबकि दिव्य प्रेम उसके उद्धार का हेतु बनता है। दिव्य प्रेम में स्वार्थ त्याग की भावना भी जीव को स्वभाव से ही प्राप्त होती है। माता-पिता अपने बच्चों से निःस्वार्थ प्रेम करते हैं। इस प्रेम में स्वार्थहीनता तो है, साथ ही संकीर्णता भी है। यदि संकीर्णता को दूर कर दिया जाय तो सारे संसार के बच्चे उनके अपने बच्चे हो जायंगे। अहंता, ममता का भाव ही स्वार्थ है, संकीर्णता है, भेदबुद्धि है।

६. दिव्य प्रेम और स्वार्थ भावना का सामंजस्य

कुछ लोगों की यह आलोचना है कि दिव्य प्रेम केवल कल्पनामात्र है, क्योंकि उसका जैसा वर्णन सुनने को मिलता है उसके अनुसार सम्पूर्ण स्वार्थ के बलिदान की आवश्यकता प्रतीत होती है जो मनुष्य के लिए सम्भव नहीं है, क्योंकि इसका पहला व्यवहार स्वार्थमूलक होता है। अतः प्रेम के व्यवहार में भी उसके स्वार्थ का सर्वथा अभाव नहीं हो सकता। यद्यपि यह सत्य है कि मनुष्य के लिए स्वार्थ का सर्वथा त्याग करना सम्भव नहीं है, किन्तु यह समझना उसकी भूल है कि उसे दिव्य प्रेम की प्राप्ति के लिए समग्र स्वार्थ का पूर्णरूप से बलिदान करना होगा। वास्तविकता यह है कि प्रेम के लिए स्वार्थ का त्याग नहीं किन्तु स्वार्थ की परिधि का शोधन और विस्तार की अपेक्षा है। व्यष्टि का समष्टि में विलय वांछित है। ऐसा होने पर मनुष्य का स्वार्थ व्यक्तिगत स्वार्थ न होकर समष्टि का स्वार्थ बन जायगा। बात यह है कि 'स्व' का पारमार्थिक अर्थ आत्मा है और आत्मा का प्रयोजन स्वरूपावस्थिति है, इसीलिए गोस्वामी तुलसीदास आदि भक्तों ने जहाँ स्वान्तः सुखाय का प्रयोग किया है, वहाँ उसका अर्थ आत्म सुखाय ही है अर्थात् व्यष्टि का समष्टि में विलय। अन्तःकरण चतुष्टय का स्वरूप आत्मा में विलय ही सबसे बड़ा स्वार्थ है।

७. भक्ति और अद्वैत दृष्टि

निश्चय ही भक्ति द्वैत आश्रित है। जब तक भक्त और भजनीय में भेद न होगा तब तक भक्ति का अस्तित्व हो ही नहीं सकता, क्योंकि भक्ति शब्द भज् धातु से भाव में स्तिन् प्रत्यय द्वारा निष्पन्न होता है जिसका अर्थ है—भजन क्रिया। यह क्रिया सकर्मक है अत: इसके लिए कर्ता और कर्म दोनों का होना आवश्यक है। भजनीय होने से भगवान् इस क्रिया के कर्म और इस क्रिया का अनुष्ठाता होने से भक्त इस क्रिया का कर्ता है। वास्तव में भक्ति और अद्वैत का सामंजस्य कठिन प्रतीत होता है। भक्ति और अद्वैत में प्रतीत होने वाला काठिन्य सरलता से परिहार योग्य है। आशय यह है कि भक्त की द्वैतावस्था साधनावस्था है, सिद्धावस्था में भक्त और भगवान् का भेद मिट जाता है। गीता में लिखा है—

भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥

(१८।५५)

अर्थात् मेरे स्वरूप का तात्त्विक ज्ञान भक्ति से होता है, ज्ञान होने पर भक्त मुझमें ही आ मिलता है। भक्त और भगवान् का मिलन ही आत्मा और ब्रह्म का ऐक्य है। श्रद्धा और विश्वास के द्वारा ही यह ज्ञान सम्भव है। श्रद्धा और विश्वास के बिना योगी भी अन्तःस्थ ब्रह्म का साक्षात्कार नहीं कर सकता। इस प्रकार उपास्य, उपासक और उपासनारूपी त्रिपुटी का लय ही भगवत्प्रेम का सच्चा व्यापार है। सब कुछ आत्मस्वरूप ही हो जाता है, व्यवहार में कुछ भेद बना भी रहे तो कोई हानि नहीं है। तुलसीदास, कबीरदास, नामदेव, ज्ञानदेव, तुकाराम आदि सब ऐसे ही सन्त हो गये हैं, जिन्होंने सम्पूर्ण विश्व को उसकी विभूति के रूप में ही स्वीकार किया है। सन्त तुकाराम कहते हैं—

गुड़ सा मीठा है भगवान्, बाहर भीतर एक समान।
किसका ध्यान करूँ सविवेक, जलतरंग से हैं हम एक॥

इसी प्रकार कबीरदास ने भी कहा है कि—

लोगा भरम न भूलो भाई।
खालिकु खलक खलकु मँह खालिक पूरि रह्यो सब ठाई॥
माटी एक अनेक भाँति करि साजी साजन हारे।
ना कछु पोच माटी के भाँड़े न कछु पोच कुम्हारे॥
सब महि सच्चा एकै सोई, तिनका किया सबि कुछ होई।
हुकुम पछानै सु ऐकी जानै बंदा कहिए सोई॥
अल्लह अलख न जाई लखिया, गुरु गुड़ दीना मीठा।
कहि कबीर मेरी संका नासी, सर्व निरंजन डीठा॥

(कबीर ग्रन्थावली, पृ० १०४)

सभी सन्तों ने प्रेम तत्त्व को अनिर्वचनीय और अवर्णनीय कहा है। सन्त तुकाराम की भाँति कबीर भी प्रेमस्वरूप भगवान् को गूँगे का गुड़ ही बताते हैं—

अकथ कहाणी प्रेम की, कछू कही न जाई।
गूँगे केरी सरकरा, बैठि बैठि मुसुकाई॥

(कबीर ग्रन्थावली, पृ० १२७)

सर्वात्म-दर्शन का मूल-तत्त्व यही है कि जो आत्मा मुझमें है, वही सब प्राणियों में भी—'सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि'। ज्ञान मार्ग में जो परमेश्वर अव्यक्त है, भक्तिमार्ग में वह परमेश्वर व्यक्त है। गीता के 'वासुदेवः सर्वम् इति' का भाव यही है कि जो कुछ है, सब वासुदेवमय है। भागवत पुराण में भी यही बात कही गयी है—

सर्वभूतेषु यः पश्येद् भगवद्भावमात्मनः।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः॥

(११।२।४५)

८. भक्तिनिष्ठा और ज्ञाननिष्ठा

भक्ति की परिपक्वावस्था में भक्त और भगवान् के भेद की निवृत्ति मानने पर यह प्रश्न उठता है कि यदि यही वस्तु स्थिति है तो इन निष्ठाओं में भेद क्या है? इन निष्ठाओं में वास्तव में कोई भेद नहीं है। भेद केवल अन्तिम अनुभूति को प्राप्त करने की इनकी प्रक्रियाओं में है, लक्ष्य की दृष्टि से इनमें कोई भेद नहीं है। ज्ञाननिष्ठा में ईश्वर के शुद्ध निर्विशेष स्वरूप की उपासना की जाती है और भक्तिनिष्ठा में साकार, सविशेष की। भक्त भी ज्ञानी हो सकता है और ज्ञानी भी भक्त। ज्ञानी भक्त, भक्ति द्वारा इस तत्त्व का निर्णय करता है। हाँ, वह उस आनन्द से वंचित हो जाता है जो भक्त को प्राप्त होता है। जैसे चन्द्रिका चन्द्र से अलग नहीं, उसी प्रकार भक्ति ज्ञान से अलग नहीं। जिस प्रकार समुद्र की तरंगें समुद्र का ही अभिन्न अंग हैं, उसी प्रकार भक्ति ज्ञान का ही अभिन्न अंग है। भक्त अपने को समर्पित करके निश्चिन्त हो जाता है, उसे संचित, प्रारब्ध, क्रियमाण अथवा नित्य, नैमित्तिक तथा निषिद्ध कर्मों की कोई चिन्ता नहीं रहती है, वह तो भगवान् की गोद में बैठा रहता है अबोध बालक की तरह। ज्ञानी को इन सबकी चिन्ता होती है और तत्त्वज्ञान से वह इनका निराकरण करता रहता है। इसलिए जो भगवत्प्रेम में उन्मत्त है, वह तत्त्वज्ञान की चिन्ता ही नहीं करता। उसका तत्त्वज्ञान तो भगवदाकार-वृत्ति ही है। उसके लिए विद्या-अविद्या आदि में कोई भेद नहीं। ज्ञानी को अविद्या अथवा माया से मुक्त होना पड़ता है। जो आचार्य भक्ति को ज्ञान के साधन रूप में स्वीकार करते हैं, वह भक्ति वास्तव में वैधी अथवा साधनरूपा भक्ति है, क्योंकि प्रेमाभक्ति में तो ज्ञान की इच्छा नहीं होती। इसका अर्थ यह नहीं है कि भक्त अज्ञानी ही रहता है। भक्त के ज्ञान की परिधि इस सारे प्रपंच में व्याप्त है, क्योंकि वह उसमें ही भगवद् दर्शन करता है। ज्ञानी की दृष्टि में परमार्थ तत्त्व के साथ माया का कोई सम्बन्ध ही नहीं है। भक्त भेद में अभेद देखता है, जबकि ज्ञानी भेद को देखना ही नहीं चाहता है। ज्ञानी को विवेकख्याति के द्वारा विषयों से वैराग्य होता है। भक्त की विषयों में दोषदृष्टि ही नहीं होती, फिर वैराग्य का प्रश्न ही कहाँ है? दीर्घ साधना के पश्चात् ही ज्ञानी को समाधि प्राप्त होती है, जबकि भक्त हर समय भाव समाधि में रहता है और निरन्तर प्रपंच में भगवत्लीला का साक्षात्कार करता रहता है। वह स्वभाव से ही विदेह है। ज्ञानी का देहाध्यास अभ्यास से छूटता है। भक्त को अपने प्रेम में अनन्यता लानी होती है। उसी से विषयों से आसक्ति छूट जाती है। उसकी आसक्ति भी भगवन्मय है क्योंकि सारे विषय ही भगवन्मय हैं। भक्त का यह अनन्य भाव ही प्रेम कहलाता है। ज्ञानी को सारे प्रपंच का अत्यंताभाव करना पड़ता है, तब उसकी ब्राह्मी स्थिति होती है और परमात्मा की प्राप्ति होती है। भक्त का जीव भाव भी बना रहता है, कर्ता-भोक्तापन भी बना रहता है और उसे परमानन्द की प्राप्ति भी हो जाती है। ब्रह्मानन्द और

प्रेमानन्द में वही अन्तर है जो समुद्र की निस्तरंग और सतरंग अवस्था में है तथा चन्द्रमा की चन्द्रिका सहित और चन्द्रिका रहित स्थिति में है। ज्ञानी को व्यवहार में सब कुछ करना पड़ता है, परन्तु केवल साक्षी भाव से। इसलिए यह स्थिति बड़ी कठिन है। भवसागर को पार करने के लिए उसे अपने ही प्रयत्नों का अवलम्ब लेना पड़ता है, जबकि भक्त भगवान् की गोद में बैठकर भवसागर को पार करता है। गीता में भगवत्तत्त्व को प्राप्त करने वालों की कोटियाँ गिनाई गई हैं—

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुनः।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥
तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हिं ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः॥
उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्॥
बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥

(गीता ७।१६-१९)

'वासुदेवः सर्वम् इति' का सिद्धान्त भक्त का ही है। असल बात तो यह है कि कर्म, ज्ञान और उपासना में भेद मानना अज्ञान का ही फल है। ज्ञान अथवा भक्ति का अहंकार भी अज्ञान ही समझना चाहिए। तत्त्व ज्ञान की प्राप्ति के लिए ज्ञानी भक्ति को साधन बताता है, जबकि भक्त के लिए भक्ति ही साध्य है। ज्ञानी जिस अवस्था को ज्ञानावस्था कहता है, भक्त की वह प्रेमावस्था है और योगी जिस अवस्था को ज्ञानावस्था कहता है भक्त की वह भी प्रेमावस्था है और योगी की, निर्विकल्पक समाधि है। भक्ति भावनास्वरूपा है और ज्ञान बोधस्वरूपा। भक्त पहले अपने शरीर को चिन्मय बनाता है और उस चिन्मय शरीर के माध्यम से ही चिन्मय भगवान् के दर्शन करता है। वही उसका सच्चा आनन्द है। उसका आनन्द तो अज्ञानी रहने में ही है। विचार, विवेक और बोध से भक्त का आनन्द कुण्ठित हो जाता है, क्योंकि विवेक में भाव के लिए और भाव में विवेक के लिए कोई स्थान नहीं है। प्रेमी अपने प्रेमास्पद में अवगुणों अथवा दोषों की कल्पना कर ही नहीं सकता, क्योंकि उसके लिए प्रेमास्पद से भिन्न कोई पदार्थ है ही नहीं। उसके नाम, स्वरूप, लीला, धाम आदि में लीन होना ही उसका चरम लक्ष्य है।

भागवतकार ने ज्ञान और भक्ति का सामंजस्य बड़े सुन्दर ढंग से किया है। भगवान् के स्वरूप का विवेचन करते हुए भागवतकार लिखते हैं—

वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥

(भागवत् १,२, ११)

ब्रह्म, परमात्मा और भगवान्—ये तीनों एक ही परम तत्त्व की दृष्टि-भेद से त्रिविध अनुभूति मात्र हैं। ज्ञान रश्मि के उदय काल में भगवान् का जो आलोक साधक के शुद्ध, सात्त्विक हृदय पटल पर प्रतिफलित होता है, उसे ही ब्रह्म कहते हैं। यही आलोक पुंज जब विश्वरूप से साधक के हृदयाकाश में प्रतीत होता है, तब उसे परमात्मा कहते हैं। योगी जन हृदय प्रदेश में इस आकाश का दीपमालिका के समान दर्शन करते हैं और उसे जगत् का अन्तर्यामी मानते हैं। ये ब्रह्मानुभव और परमात्मदर्शन दोनों ही भगवत् तत्त्व के खण्ड या अंश बोधमात्र हैं। जब उस ब्रह्म का दर्शन उसके अधिष्ठानभूत विराट में होने लगता है, तब उसे भगवान् कहते हैं। प्रेमाभक्ति के द्वारा ही सर्वदा, सर्वत्र, सर्व रूप में भगवान् के दर्शन सम्भव हैं। वास्तव में ज्ञान और भक्ति में कोई तात्त्विक भेद नहीं है। भक्ति की पराकाष्ठा ज्ञान है और ज्ञान की पराकाष्ठा भक्ति। पराभक्ति और पराज्ञान दोनों एक ही वस्तु हैं। भागवत् के माहात्म्य में भक्ति ने ज्ञान और वैराग्य को अपना पुत्र बताया है। नारद ने भक्ति की प्रतिष्ठा पर बड़ा सुन्दर प्रवचन किया है तथा भक्ति को ही कलियुग में एकमात्र अवलम्ब बताया है, क्योंकि भक्ति के द्वारा शरीर, जाति, ज्ञान आदि अभिमान समाप्त हो जाता है। असल बात तो यह है कि भक्ति से ज्ञान और योग दोनों की ही सिद्धि स्वतः हो जाती है। साकार दृष्टि से जो भगवान् है, निराकार दृष्टि से वही परमात्मा है, ज्ञान दृष्टि से वही ब्रह्म है। भक्त को स्वभाव से ही ज्ञान और वैराग्य हो जाता है, क्योंकि उसका चित्त निरन्तर एक ओर ही रहता है। इसलिए उसे दुःख भी सहन नहीं करना पड़ता, क्योंकि उसे दुःख निवारक की सदा ही सन्निधि प्राप्त है।

९. श्रीरामचरित मानस में ज्ञान और भक्ति

गोस्वामी तुलसीदास ने ज्ञान और भक्ति के विवाद को बड़े सुन्दर ढंग से सुलझाया है और तर्कसम्मत रूप से सिद्ध किया है कि ज्ञानमार्ग की अपेक्षा जन-साधारण के लिए भक्तिमार्ग ही अधिक सुगम और सरल है। गोस्वामी जी ने जिस सामाजिक पृष्ठभूमि में भक्ति का निरूपण किया है, वह आज की परिस्थितियों में भी सर्वथा अनुकूल और उपादेय है, क्योंकि उन्होंने जीवन के विस्तृत और बहुविध आधारफलक पर भक्ति का चित्रांकन किया है। उनकी भक्ति पद्धति व्यवहार में भी आचरणीय है। मानव-जीवन का चरम लक्ष्य गोस्वामीजी परमानन्द की उपलब्धि मानते हैं और उसकी प्राप्ति का सर्वोत्तम मार्ग, भक्तिमार्ग को समझते हैं। स्वयं राम से गोस्वामीजी ने यह कहलाया है—

जो परलोक इहाँ सुख चहहू । सुनि मम वचन हृदय दृढ़ गहहू॥
सुलभ सुखद मारग यह भाई । भगति मोरि पुरान श्रुति गाई॥
ग्यान अगाम प्रत्यूह अनेका । साधन कठिन न मम महुँटेका॥

(रा० ७।४४।१-२-३)

ऐसा कौन व्यक्ति है जो इस लोक में सुख की कामना न करता हो? परलोक में आस्था न रखने वाले इस लोक में तो आस्था रखते ही हैं। गोस्वामी जी ज्ञानमार्ग के विरोधी नहीं हैं, परन्तु उसे सुलभ और सुखद नहीं समझते, क्योंकि उसमें क्लिष्ट साधना और कठोर तप अपेक्षित है। गोस्वामी जी ने बड़ी शालीनता और नम्रता से अपने पक्ष का प्रतिपादन किया है। निर्गुण और सगुण पक्ष में अभेद की घोषणा करते हुए भी उन्होंने सगुण पक्ष का ही प्रतिपादन किया। गोस्वामीजी बड़े विनोदी थे। उत्तरकाण्ड में वे घोषणा करते हैं—

भगतिहिं ग्यानहिं नहिं कुछ भेदा। उभय हरहिं भव संभव खेदा॥

परन्तु तुरन्त ही काक भुशुण्डि जी से ज्ञान का उपहास कराने लगते हैं और व्याकरण का आश्रय लेकर अपने पक्ष को पुष्ट करते हैं—

ग्यान बिराग जोग विग्याना । ए सब पुरुष सुनहु हरिजाना॥
पुरुष प्रताप प्रबल सब भाँती। अबला अबल सहज जड़ जाती॥

पुरुष होने के नाते विज्ञान आदि स्त्रियों पर मोहित हो सकते हैं, कोई बड़ा वैराग्यवान पुरुष ही जिस पर भगवान् की विशेष कृपा हो स्त्री की चपेट से बच सकता है, क्योंकि स्त्री माया का ही स्वरूप है। इस प्रकार ज्ञानी के लिए सदा ही यह सम्भावना बनी रहती है कि माया उसे अपने चक्र में फँसा न ले। भक्ति को यह खतरा नहीं, क्योंकि एक तो 'मोह न नारि नारि के रूपा' फिर 'पुनि रघुवीरहिं भगति पिआरी। माया खलु नर्तकी विचारी।।' भगवान् भी भक्ति के पक्ष में ही रहते हैं। इसलिए माया उससे डरती रहती है—

भगतिहि सानुकूल रघुराया। ताते तेहि डरपति अति माया॥

परन्तु गोस्वामी जी का यह तर्क बड़ा हल्का तर्क है। बुद्धिवादियों को इससे संतोष नहीं हो सकता। परन्तु गोस्वामी जी भक्ति के पक्ष में पहले ही पृष्ठभूमि तैयार कर चुके हैं, इसलिए उनकी यह युक्ति उस संदर्भ में हल्की नहीं पड़ती। उत्तरकाण्ड में ही उन्होंने सनकादिक मुनि, वसिष्ठ, विश्वामित्र आदि को भक्ति के सम्मुख नतमस्तक कराया है। मुनि वसिष्ठ कहते हैं—

प्रेम भगति जल बिनु रघुराई । अभि अन्तर मल कबहुँ न जाई॥
सोइ सर्वग्य तग्य सोइ पंडित । सोइ गुन गृह बिग्यान अखंडित॥
दच्छ सकल लच्छन जुत सोई । जाके पद सरोज रति होई॥
नाथ एक बर माँगउँ राम कृपा करि देहु।
जनम जनम प्रभु पद कमल, कबहुँ घटै जनि नेहु॥
(राम० ७।५०)

वसिष्ठ, विश्वामित्र आदि की उक्तियों पर कदाचित् किसी को विश्वास न हो, इसलिए गोस्वामी जी तर्कपुष्ट प्रमाणों से ज्ञानमार्ग की दुरूहता और भक्तिमार्ग की सरलता प्रतिपादित करते हैं। उत्तरकाण्ड के अन्त में एक बड़े ही सुन्दर रूपक द्वारा गोस्वामी जी अपनी बात को समझाते हैं—

ईस्वर अंस जीव अविनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी॥
सो मायाबस भयउ गोसाईं । बध्यो कीर मरकट की नाईं॥
जड़ चेतनहि ग्रंथि परि गई। जदपि मृषा छूटत कठिनई॥

जड़ चेतन की ग्रन्थि यद्यपि मिथ्या है, फिर भी मोहरूपी अन्धकार से ग्रस्त जीव इस ग्रन्थि को खोल नहीं पा रहा है। इस मोह अंधकार को दूर करने का एकमात्र उपाय ज्ञान-दीपक का प्रकाश है। उस दीपक को प्रज्ज्वलित करने का विधान गोस्वामी तुलसीदास जी ने इस रूपक में बताया है। ज्ञानमार्ग की कठिन-से-कठिन साधना और तपस्या इस रूपक का प्रतिपाद्य है। ज्ञान की कठिन साधना और तपस्या से धैर्य का भी धैर्य छूट सकता है, क्योंकि उस मार्ग में अनेक विघ्न हैं। अनेक विघ्नों को पारकर साधक जब ज्ञानमय दीपक को प्रज्ज्वलित करता है तो उस दीपक की 'सोऽहमस्मि' रूप में शिखा प्रज्ज्वलित होती है और ऋतम्भरा प्रज्ञा का उदय होता है, परन्तु जैसे ही प्रज्ञा ग्रंथि को खोलकर स्वरूपानुसंधान करना चाहती है, वैसे ही ऋद्धि-सिद्धि के रूप में अनेक झंझावात के झकोरे चलने लगते हैं और वह दीपक बुझ जाता है—

जब सो प्रभंजन उर गृह जाई। तबहिं दीप बिग्यान बुझाई॥
ग्रंथि न छूटि मिटा सो प्रकासा। बुद्धि बिकल भई बिषय बतासा॥

यह वैज्ञानिक तथ्य है कि इन्द्रियों का स्वभाव ही बहिर्मुखता है, वे अपने विषयों में स्वभाव से ही आसक्त होती हैं, इसलिए इन्द्रियों की वृत्तियों को रोकना बहुत ही कठिन है। यदि किसी प्रकार से मन को अंतर्मुख करके कठिन साधन से इन्द्रियों को विषयों से हटाया भी जाय, तो इसका क्या विश्वास है कि विषयों के उपस्थित होने पर, इन्द्रियाँ उनमें आसक्त न होंगी। इसलिए गोस्वामी तुलसीदास जी ने स्पष्ट कहा है—

कहत कठिन समुझत कठिन साधन कठिन विवेक।
होई घुनाच्छर न्याय जौं पुनि प्रत्यूह अनेक॥
ग्यान पंथ कृपान कै धारा । परत खगेस होइ नहिं बारा॥
जो निर्विघ्न पंथ निर्वहई । सो कैवल्य परम पद लहई॥
अति दुर्लभ कैवल्य परम पद । संत पुरान निगम आगम बद॥

अव्यक्त की उपासना दुर्लभ तो अवश्य है—लोहे के चने चबाने हैं। गीता में भी लिखा है—

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ताहि गतिर्दुखं देहवदभिरवाप्यते॥

इसलिए ज्ञानमार्ग कृपाण की धार के समान है, जिसमें पतन की सम्भावना बहुत ही अधिक है। यदि ज्यों-के-त्यों करके ज्ञानी को कैवल्य की प्राप्ति हो भी जाय तो वह उस परमानन्द से वंचित रह जायगा जो भक्त को मिलता है, अर्थात् भगवत्प्रेम रूपी आनन्द—

करत कष्ट बहु पावई कोऊ। भक्ति हीन मोहि प्रिय नहिं सोऊ॥

और भी, भक्त यदि मुक्ति की इच्छा करे तो भक्ति से उसे वह भी प्राप्त हो सकती है—

राम भजत सोइ मुक्ति गोसाईं । अनइच्छित आवइ बरिआईं॥
जिमि थल बिनु जल रहि न सकाई । कोटि भाँति कोउ करै उपाई॥
तथा मोच्छ सुख सुनु खगराई । रहि न सकै हरि भगति बिहाई॥
अस बिचारि हरि भगत सयाने । मुक्ति निरादर भगति लोभाने॥

गोस्वामी जी ने जिस प्रकार ज्ञानमार्ग की दुरूहता और क्लिष्टता को सिद्ध करने के लिए दीपक का रूपक प्रस्तुत किया, उसी प्रकार भक्तिमार्ग की सरलता सिद्ध करने के लिए भक्ति को चिन्तामणि के सदृश बताया है, जिससे हृदय में सदा-सर्वदा प्रकाश रहता है। न तो काम, क्रोध, मद, लोभ आदि ही सताते हैं और न ही प्रबल अविद्या का अन्धकार। उस चिंतामणि को प्राप्त करना भी बहुत कठिन काम नहीं है—

पावन पर्बत बेद पुराना । राम कथा रुचिराकर नाना॥
मर्मी सज्जन सुमति कुदारी। ग्यान बिराग नयन उरगारी॥
भाव सहित खोजइ जो प्रानी। भाव भगति मनि सब सुख खानी॥

और इससे भी सरल उपाय संत समागम है, क्योंकि—

मोरे मन प्रभु अस बिस्वासा । राम ते अधिक राम कर दासा॥
अस विचारि जोइ करि सतसंगा। राम भगति तेहि सुलभ विहंगा॥

इस प्रकार गोस्वामी जी ने ज्ञान और भक्ति का वास्तविक चित्र जनता के सम्मुख प्रस्तुत कर दिया, जिसको जो पसन्द आये चुन ले। फिर यदि कोई ज्ञानमार्ग को ही चुने तो बेचारे गोसाईं जी कर ही क्या सकते हैं, अधिक-से-अधिक मन-ही-मन खीझ सकते हैं—

जे असि भगति जानि परिहरहीं। केवल ज्ञान हेतु श्रम करहीं॥
ते जड़ कामधेनु गृह त्यागी। खोजत आकु फिरहिं पय लागी॥

सुनु खगेस हरि भगति बिहाई। जे सुख चाहहिं आन उपाई॥
ते सठमहासिन्धु बिनु तरनी। पैरि पार चाहहिं जड़ करनी॥

रामचरित मानस धर्म और संस्कृति का विश्वकोश है, क्योंकि इसमें मानव धर्म और विश्व-संस्कृति के सभी तत्त्वों का विवेचन हुआ है। भक्ति धर्म और संस्कृति की ही सार सुधा है। इसलिए रामचरित मानस में भक्ति का सुनियोजित और व्यवस्थित विवेचन हुआ है। जीवन को रसमय और आनन्दमय बनाने के लिए भक्ति का आश्रय परम आवश्यक है। इसलिए गोसाईं जी ने रामचरित मानस में जीवन के प्रत्येक पक्ष में भक्ति को इस प्रकार ओत-प्रोत कर दिया है कि वह जीवन का अभिन्न और अनिवार्य अंग बन गयी है। गोस्वामी जी ने कर्म से विमुखता का उपदेश कहीं नहीं किया, बल्कि भगवान् राम को भी घोर-से-घोर कर्म करने पड़े हैं। गोस्वामी जी तो केवल इतना ही चाहते हैं कि भगवान् को सम्मुख रखकर सारे कर्त्तव्य कर्मनिष्ठा से करो। यही उनकी भक्ति का स्वरूप है—

राम बिमुख संपति प्रभुताई। जाई रही पाई बिनु पाई॥

तथा—

सो सुखु करमु धरमु जरि जाऊ। जहँ न राम पद पंकज भाऊ॥

तुलसी के राम ब्रह्म, परमात्मा और भगवान्—सभी कुछ हैं। भक्ति के लिए उनके स्वरूप का ज्ञान आवश्यक है—

जाने बिनु न होइ परतीति। बिनु परतीति होइ नहिं प्रीति॥
प्रीति बिना नहिं भगति दिढाई। जिमि खगपति जल कै चिकनाई॥

सम्पूर्ण रामचरित मानस में भगवान् राम के विभिन्न रूपों का विवेचन हुआ है। स्वयं गोस्वामी जी ने भक्ति को एक योग बताया है और उस योग की प्राप्ति के साधन भी बताये हैं। भक्ति यद्यपि एक स्वतन्त्र योग है और ज्ञान और विज्ञान उसी के अधीन हैं फिर भी जन साधारण के लिए भगवान् स्वयं ही भक्ति प्राप्ति का उपाय बताते हैं—

भगति के साधन कहउँ बखानी। सुगम पंथ मोहि पावहिंप्रानी॥
प्रथमहि विप्र चरन अति प्रीति। निज निज कर्म निरत श्रुति रीति॥
एहि कर फल पुनि विषय बिरागा। तब मम धर्म उपज अनुरागा॥
श्रवनादिक नव भक्ति दृढ़ाहीं। मम लीला रति अति मन माहीं॥
संत चरन पंकज अति प्रेमा। मन क्रम बचन भजन दृढ़ नेमा॥
गुरु पितु मातु बंधु पति देवा। सब मोहि कहँ जाने दृढ़ सेवा॥
सम गुन गावत पुलक सरीरा। गदगद गिरा नयन बह नीरा॥
काम आदि मद दंभ न जाके। तात निरंतर बस मैं ताके॥
बचन कर्म मन मोरि गति भजहुँ करहिं निःकाम।
तिन्ह के हृदय कमल महुँ करउँ सदा विश्राम॥

जिस प्रकार जीवन के प्रत्येक कार्य में, चाहे वह लौकिक हो अथवा पारलौकिक, श्रद्धा और विश्वास की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार जीवन की आनन्दमय अनुभूति भक्ति में भी श्रद्धा और विश्वास अनिवार्य है। प्रत्येक आचरण के लिए श्रद्धाभाव आवश्यक है, क्योंकि जब तक किसी कार्य में निष्ठा न होगी, हम उसमें प्रवृत्त ही नहीं हो सकते। जीवन की थोड़ी-बहुत विफलताओं से विचलित होने वाले व्यक्ति सफलता प्राप्त नहीं कर सकते। इसलिए किसी कार्य में प्रवृत्त होने के पश्चात् सफलता प्राप्ति के लिए विश्वास अनिवार्य है। यह श्रद्धा और विश्वास ही भक्ति के मूलतत्त्व हैं। तुलसीदासजी ने कहा भी है—

बिनु विस्वास भगति नहिं तेहि बिनु द्रवहिं न राम।
राम कृपा बिनु सपनेहु जीव न लह विश्राम॥

विश्वास का पैमाना भी गोस्वामीजी ने बता दिया है—

मोर दास कहाइ नर आसा। करइ तौ कहहु कहा विस्वासा॥

विश्वास की पूर्णता से ही प्रेमाभक्ति का उदय होता है, जिसका आदर्श गोस्वामी जी ने चातक को माना है—

जलदु जनम भरि सुरति बिसारउ। जाचक जलु पबि पाहन डारउ॥
चातकु रटनि घटें घटि जाई। बढ़े प्रेमु सब भाँति भलाई॥
कनकहिं बान चढ़ई जिमि दाहे। तिमि प्रियतम पद नेम निबाहे॥

इस प्रकार का भगवत्प्रेम होने पर प्रेमी के काम, क्रोध, लोभ, मोह इत्यादि सब स्वतः ही समाप्त हो जाते हैं। क्योंकि उस स्थिति में भक्त संपूर्ण विश्व को प्रभुमय देखता है और सबके कल्याण की बात सोचता है। इसलिए राग-द्वेष का कहीं प्रश्न ही नहीं होता।

उमा जे रामचरन रत । बिगत काम मद क्रोध।।
निज प्रभुमय देखहि जगत। केहि सन करहि बिरोध॥

सनकादिक मुनियों ने इसीलिए भगवान् राम से प्रेमाभक्ति की प्रार्थना की है—

परमानंद कृपायतन मन परिपूरन काम।
प्रेम भगति अनपायनी देहु हमहिं श्रीराम॥

१०. प्रेमाभक्ति और सूरदास

भगवान् कृष्ण तो रसमय, प्रेममय और आनन्दमय ही हैं, उनकी भक्ति में तो प्रेम तत्त्व ही सब कुछ है। भगवान् कृष्ण की लीला-भूमि प्रेमभूमि है। ब्रज के कण-कण से निरन्तर प्रेम की ध्वनि ही झंकृत होती रहती है। उस भूमि में पद-पद पर मधुरस की होली होती है। श्रीमद्भागवत् के माहात्म्य में स्वयं भक्ति ने ही कहा है—

उत्पन्ना द्रविड़े साहं वृद्धिं कर्णाटके गता।
क्वचित्क्वचिन्महाराष्ट्रे गुर्जरे जीर्णतां गता॥
तत्र घोरकलेर्योगात्पाखण्डैः खण्डिताङ्गका।
दुर्बलाहं चिरं याता पुत्राभ्यां सह मन्दताम्॥
वृन्दावनं पुनः प्राप्य नवीनेव सुरूपिणी।
जातमहं युवती सम्यक्प्रेष्ठरूपा तु साम्प्रतम्॥
(श्रीमद्भागवत माहा० १। ०४, ४९, ५०)

वृन्दावन में स्वयं भक्ति को ही यौवन प्राप्त हो गया तो साधारण जीवों की तो बात ही क्या है! भगवान् कृष्ण की सम्पूर्ण लीलाएँ प्रेममय हैं। सभी कृष्णभक्तों ने भगवान् कृष्ण की प्रेम लीलाओं का भाव-विभोर होकर चित्रांकन किया है, जिनमें माधुर्य भाव ओत-प्रोत है। भक्तप्रवर सूरदास जी ने भी प्रेमाभक्ति की महिमा का वर्णन किया है—

प्रेम भक्ति बिनु मुक्ति न होय नाथ, कृपा कर दीजै सोइ।
और सकल हम देख्यो जोइ तुम्हरी कृपा होइ सो सोइ॥

वास्तव में प्रेम की बड़ी महिमा है। प्रेम से ही ऐहिक और पारलौकिक कार्य सिद्ध होते हैं, इस प्रेम का मूल भी प्रेम ही है। प्रेम से ही प्रेम की उत्पत्ति होती है—

प्रेम प्रेम ते होइ प्रेमते पारहि पइये।
प्रेंम बँध्यों संसार प्रेम परमारथ लहिये॥

एकै निश्चय प्रेम को जीवन-मुक्ति रसाल।
साँचौ निश्चय प्रेम को जेहि ते मिलें गोपाल॥

कृष्ण भक्तों के लिए तो ब्रज भूमि का निवास ही प्रेमभक्ति का फल है, क्योंकि फिर सारा संसार कृष्णमय हो जाता है। नारद जैसे ज्ञानी भक्त भी ब्रजवालाओं को भक्त शिरोमणि मानने के लिए विवश हैं। जिस प्रकार गोस्वामी तुलसीदास जी ने रामकृपा और सत्संग को प्रेमाभक्ति की प्राप्ति का साधन माना है, उसी प्रकार सूरदास ने भी हरिकृपा और सत्संग को भक्ति के साधन रूप में स्वीकार किया है। भक्ति के बिना ज्ञान और प्रेम भी व्यर्थ हैं।

सूरदास जी ने भी एक रूपक के द्वारा इस बात को समझाया है। जिस प्रकार पतंग दीपक से प्रेम करता है और उसकी दीपशिखा से न डरता हुआ भी उस पर गिर पड़ता है, उसी प्रकार ज्ञानी पुरुष भी अपने ज्ञानरूपी दीपक से सांसारिक दुःखरूपी कूप को प्रकट रूप से देखता हुआ भी उसमें गिर जाता है। भगवान् के यहाँ जाति-पाँति की भी, कोई पूछ या पहचान नहीं है। सूरदास का यह भी कहना है कि मनुष्य का अपना सारा पुरुषार्थ व्यर्थ है, क्योंकि जो भगवान् चाहता है, वही होता है—

करी गोपाल की सब होय।
जो अपनो पुरुषारथ मानत अति झूठो है सोय॥

भगवद्भक्ति के बिना वनिता, सूत, हाथी, घोड़े आदि का सुख व्यर्थ है। सूरदास ने यह भी बताया है कि जब तक मन से कामना नहीं छूटती, तब तक न तो मनुष्य ज्ञानमार्ग में प्रवृत्त हो सकता है और न भक्तिमार्ग में। उन्होंने कहा—

जौ लों मन कामना न छूटै।
तौ कहा जोग जज्ञ व्रत कीन्हें बिनु कन तुस को कूटै॥
कहा सनान किये तीरथ के, अंग भस्म जट-जूटै।
कहा पुरान जु पढ़े अठारह ऊर्ध्व धूम के घूँटै॥
जग शोभा की सकल बड़ाई, इन तै कछू न खूटै।
करनी औरै कछू और मन दश हूँ दिश टूटै॥
काम, क्रोध, मद, लोभ, सत्रु हैं, जो इतननि सौं छूटै।
सूरदास तबही तम नासै ज्ञान अगिन झर फूटै॥

सूर की भाँति भाषा के अन्य संत भक्तों ने भी प्रेमाभक्ति को ही महत्त्व दिया है। प्रेमाभक्ति के विषय में संत तुकाराम ने बड़े सुन्दर अभंग लिखे हैं। जिसका भाव यह है कि भगवान् के लिए सब जीव समान हैं। वह केवल भाव का भूखा है। इस भाव का एक पद हिंदी में इस प्रकार है—

क्या द्विजाति क्या शूद्र ईश को वेश्या भी भज सकती है,
श्वपचों को भी भक्ति-भाव में शुचिता कब तज सकती है?
अनुभव से कहता हूँ, मैंने उसे कर लिया है बस में।
जो चाहे सो पिये प्रेम से अमृत भरा है इस रस में।

गीता में भी इस विषय में कैसे सुन्दर शब्द कहे गये हैं—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यगव्यवसितो हि सः॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥

११. प्रेमाभक्ति की आनन्दात्मकता का रहस्य

सब साधनाओं का रहस्य स्वरूप-ज्ञान है। प्रेम भी एक साधना ही है। यह साधना सहज और स्वाभाविक है, इसलिए इसका महत्त्व अधिक बताया गया है। इस साधना में स्व अर्थात् अपने भाव की साधना है। जब मनुष्य अपने भाव को पहचान लेता है, तो माया का आवरण भंग हो जाता है और उसका चिन्मय भाव खुल जाता है, उसी का नाम स्वभाव है। नाम, कीर्तन, जप, ध्यान आदि के द्वारा इस भाव को ही खोलना पड़ता है। जिसका यह भाव खुल जाता है, वही भक्त हो जाता है। वह भाव ही प्रेम के रूप में परिणत होता है। इस प्रकार भाव का परिपाक ही रस रूप प्रेम में होता है, उस समय सारा विश्व ही उसे चिन्मय प्रतीत होता है। भाव-देह के खुल जाने पर चित्त का प्रवेश सहज भाव से ही हृदयाकाश में हो जाता है। योगी भी हृदयाकाश में प्रवेश करने का प्रयत्न करता है। संतों ने एक गुह्यिनी नाड़ी का संकेत किया है। कहीं-कहीं बंकनाल का भी वर्णन हुआ है। सहस्त्रार चक्र को वेधकर योगी ऐश्वर के स्थान तक ही पहुँचता है, उसे आनन्द की उपलब्धि नहीं होती, क्योंकि आनन्द का स्थान तो हृदय चक्र है। इसलिए योग साधना में सहस्त्रार चक्र से आगे भी चक्रों की कल्पना की गयी है। उस कल्पना का भाव यही है कि योगी सहस्त्रार चक्र को पार कर गुह्यिनी नाड़ी के माध्यम से हृदय चक्र में प्रवेश करता है। प्रेमाभक्ति में इस साधना की अपेक्षा नहीं रहती, क्योंकि भाव के खुल जाने पर चित्त में द्रुति आ जाती है और चित्त स्वयमेव हृदयप्रदेश में प्रवेश कर जाता है। यही प्रेमाभक्ति का रहस्य है। इसी को योगियों ने अचिन्त्य पद की प्राप्ति बताया है। वहाँ पहुँचकर सुन्न भी मर जाता है, अजपा भी मर जाता है, अनहद नाद भी मर जाता है, सुरति निरति में समा जाती है और जीव अचिन्त्य ब्रह्मपद में लीन हो जाता है। कबीर ने कहा है—

सुरति समांणी निरति में, अजपा माहैं जाप।
लेख समांणा अलेख में, यूँ आपा माहैं आप॥

सहस्त्रार चक्र में स्थिर होकर बंकनाल के द्वारा जब योगी आनन्द प्रदेश से सम्पर्क स्थापित करता है, तो उस समय उसकी अवस्था पूर्ण रूप से आनन्दमय हो जाती है। कबीर ने इस अवस्था का बड़ा सुन्दर वर्णन किया है—

अवधू गगन मंडल घर कीजै।
अमृत झरै सदा सुख उपजै, बंक नालि रस पीजै॥
मूल बाँधि सर गगन समाना सुषमन यों तन लागी।
काम क्रोध दोउ भया पलीता, तहाँ जोगणी जागी॥
मनवा जाइ दरीवै बैठा, मगन भया रसि लागा।
कहै कबीर जिय संसा नाहीं, सबद अनाहद बागा॥

१२. भक्त के लक्षण

भगवान् को ऐसे ही भक्त प्रिय होते हैं, जिन्हें न कभी हर्ष होता है, जो न द्वेष करते हैं, न शोक करते हैं, न कामना करते हैं तथा जो शुभाशुभ के त्यागी होते हैं। भगवान् गीता में कहते हैं—

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति।
शुभाशुभ परित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः॥

(गीता १२। १७)

ऐसे परम भक्तों का शरीर भक्ति के आह्लाद में भगवान् का गुणगान करते-करते पुलकित हो जाता है, वाणी गद्गद हो जाती है और नेत्रों से प्रेमाश्रु बहने लगते हैं तथा वह काम, क्रोध, दम्भ आदि मनोविकारों से मुक्त रहता है। भगवान् श्रीराम कहते हैं—

मम गुन गावत पुलक सरीरा। गदगद गिरा नयन बह नीरा॥
काम आदि मद दंभ न जाके। तात निरंतर बस मैं ताके॥

(रामचरितमानस, अरण्यकाण्ड)

श्रेष्ठ भक्त वही है, जिसके चित्त में भगवान् के अतिरिक्त दूसरा नहीं होता है अर्थात् जो अनन्यचेता होता है, वही श्रेष्ठ भक्त है। ऐसे अनन्यचेता भक्त को भगवान् सहज रूप में प्राप्त हो जाते हैं। भगवान् ने कहा है—

अनन्य चेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥

(गीता ८।१४)

ऐसा अनन्यचेता भक्त जो मन, वचन और कर्म—तीनों से निष्काम भाव की भक्ति प्रदर्शित करता है, उसके हृदय में ही भगवान् सदा विश्राम करते हैं—

वचन कर्म मन मोरि गति भजनु करहिं निःकाम।
तिन्ह के हृदय कमल महुँ करउँ सदा विश्राम॥

(रामचरितमानस, अरण्यकाण्ड)

१३. भक्तों के प्रकार

भक्त भी दो प्रकार के होते हैं। एक प्रकार के भक्त वे हैं, जो कठिनाइयों को झेलते हुए, सभी प्रकार के कष्टों को सहते हुए, दृढ़ विश्वासपूर्वक भगवान् का भजन करते हैं और इसके बदले में भगवान् से कुछ भी नहीं माँगते। यहाँ तक कि बैकुण्ठ प्राप्ति की भी कामना वे नहीं करते। दूसरे प्रकार के भक्त वे हैं, जो अपनी पूजा के पुरस्कार रूप में भगवान् से वैकुण्ठ की प्राप्ति चाहते हैं। एक की भक्ति निष्काम और दूसरे की सकाम है। दोनों ही प्रकार की भक्ति अच्छी है। जिसके मन में जो भाव हो, उसी के अनुसार उसे भगवद्भजन अवश्य करना चाहिए। दुर्लभ नर तन पाकर भगवद्भजन करना, मनुष्य मात्र का परम कर्तव्य है।

सोइ पावन सोइ सुभग सरीरा। जो तनु पाइ भजिअ रघुबीरा॥

उसी मनुष्य का जीवन सार्थक है, जो अविराम भगवान् की भक्ति में लीन रहता है। जो मनुष्य भगवान् की भक्ति और उनका भजन नहीं करता, उसको मुर्दे की संज्ञा दी गयी है। वह जीवित ही मुर्दे के समान है। अतएव अपने जीवन को सार्थक बनाने के लिए भगवान् की उपासना अवश्य करनी चाहिए। संसार के सारे पदार्थ जिन्हें अपनी आँखों से देख सकते हैं या देखते हैं, स्वप्नतुल्य हैं, नाशवान हैं; एकमात्र भगवान् ही सत्य हैं, चिरन्तन हैं। उनका कभी नाश नहीं होता। शिवजी ने एक ही पद्यांश में अपना सारा अनुभव भगवती पार्वती को बतला दिया है, जो सारे धर्मों का, सारे उपदेशों का सार है और जिस पर चलना सभी मनुष्यों के लिए आवश्यक है। वह पद्यांश है—

उमा कहउँ मैं अनुभव अपना। सत हरि भजनु जगत सब सपना॥

अतएव जहाँ तक हो, अनन्य विश्वास और श्रद्धा के साथ अपने दैनिक कर्तव्यों के साथ-साथ भगवद्भजन अवश्य करना चाहिए। जो ऐसा नहीं करता, जो केवल विषय-भोग और धन-धान्य की चिन्ता में लगा रहता है, वह अपनी ही हानि करता है। ऐसे दुर्लभ मानव तन का इस प्रकार दुरुपयोग करने वाला, अपना लोक-परलोक दोनों ही नष्ट करता है।

१४. भक्तों में भगवान् की व्याप्ति

भगवान् के संकल्प से ही अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड की रचना होती है। अतः भगवान् के ही अंशभूत जीवों के संकल्प में भी निस्सीम शक्तियाँ हैं। जो दाहकत्व शक्ति अग्नि में है, वही उसके अंशभूत विस्फुलिंग (चिनगारी) में भी होती है। अतः संकल्प का प्रभाव स्पष्ट है। परम करुणामय भगवान्, विषम से विषम स्थितियों में भी जीवात्मा का साथ नहीं छोड़ते। गर्भावस्था में, विभिन्न योनियों में, यहाँ तक कि नरक में भी भक्त-वत्सल प्रभु का सान्निध्य बना रहता है।

जीव कभी भी अनन्त आनन्दसिंधु परमानन्दकंद भगवान् से विमुक्त नहीं होता। फेन, तरंग, बुदबुदे के भीतर-बाहर जैसे जल ही ओत-प्रोत है, वैसे ही जीवों के भीतर-बाहर सर्वत्र भगवान् ही व्याप्त हैं। आस्तिक-नास्तिक सभी जीव भगवान् के पुत्र 'अमृतस्य पुत्रा' हैं। भगवान् का सच्चिदानन्दस्वरूप जीव में भी है। जल में जो रसादि गुण होते हैं वे उसके विकार फेन, बुदबुदे तथा तरंग में भी होते हैं। अग्नि के विस्फुलिंग (चिनगारी) में अग्निगत दाहकत्व, प्रकाशत्व आदि सभी गुण हैं, इसलिए अखण्ड, अनन्त, अपरिच्छिन्न परमानन्द भगवान् जीव के और जीव भगवान् के हैं। जैसे द्रवीभूत लाख में हरिद्रा आदि का रंग मिलाया जाय तो करोड़ों प्रयत्न करने पर भी लाख हरिद्रा रंग को दूर नहीं कर सकती एवं रंग भी करोड़ों उपायों द्वारा लाख से विमुक्त नहीं होता, वैसे ही भक्त या भगवान् चाहने पर भी परस्पर विमुक्त नहीं होते। इसलिए अमलात्मा परमहंस महामुनीन्द्र भी अद्वैत अनन्त अखण्ड ब्रह्म से मन हटाकर, सगुण-साकार भगवान् में मन लगाते हैं। शुक-सनकादिक जैसे ब्रह्मनिष्ठ महामुनीन्द्र भी मुग्ध हो जाते हैं। भगवान् के चरणारविन्द मकरन्द मिश्रित तुलसी के मकरंदरेणु नासिका द्वारा जिस समय अक्षर ब्रह्मनिष्ठ सनकादिकों के हृदयान्तर्गत हुए, उनके शरीर और मन में क्षोभ हो गया, शरीर में पुलकावली, नयनों में अश्रु और मन में द्रवता उठ गयी। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण श्रीमद्भागवत में है—

तस्यारविन्द नयनस्य पदारविंद,किंजल्क मिश्र तुलसी मकरन्द वायुः।
ऋन्ततर्गतः स्वविवरेण चकारतेषां संक्षोभमक्षरजुषामपि चित्र तन्वोः॥

(श्रीमद्भागवत ३।१३।४५)

यही स्थिति ज्ञानयोगी शुकदेव की भी हो गयी थी।

१५. भक्ति और उसके साधन

मोक्ष का श्रेष्ठ तथा सुलभ साधन भक्तियोग है। श्रीनारायण का आधार और भक्तियोग का आश्रय पाकर हृदय निष्काम हो जाता है और बुद्धि स्थिर हो जाती है। अन्य सभी साधनों की अपेक्षा भक्ति का मार्ग सरल है। परन्तु भक्तियोग में ईश्वर का तैल धारावत् सतत अनुसंधान, चिन्तन तथा ध्यान आवश्यक है।

तन से कर्म करै विधि नाना,
मन राखै जहँ कृपा निधाना।
मन ते सकल वासना भागी,
केवल राम चरण लव लागी॥

वैराग्य से ही ज्ञान और भक्ति दृढ़ होती है। संसार के विषयों में जब तक वैराग्य नहीं आता, तब तक शुद्धाभक्ति का आरम्भ नहीं हो सकता—

तुलसी जौ लौं विषय की सुधा माधुरी मीठि।
तौ लों सुधा सहस्त्र सम राम भगति सुठि सीठि॥

भक्तिमार्ग के बाधक शत्रु हैं—काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर। इनमें काम, क्रोध और लोभ अत्यन्त प्रवल होते हैं। ये बड़े-बड़े साधकों को भी क्षणभर में ही साधन-पथ से विचलित कर दुःखी बना देते हैं। इनका नाश भगवान् पर पूर्ण विश्वास होने पर भगवत्कृपा से ही होता है। भगवन्नाम का जप जैसे बने करते रहो, भगवान् का आश्रय ग्रहण करने वाला, काम क्रोधादि का नाश कर ही लेता है। इनके निराकरण का उपाय है—भगवद्विश्वास, जो एकमात्र भजन से प्राप्त होता है। अनिच्छापूर्वक ही सही, किन्तु नाम-स्मरण का अभ्यास अवश्य करना चाहिए, वह भी कल्याण का साधन होता है। गोस्वामी जी ने निर्देश किया है—

'भाव कुभाव अनख आलसहूँ, नाम जपत मंगल दिशि दसहूँ॥'

(मानस १। २७)

जव विश्वास हो जायगा कि नाम-जप से लाभ होता है तो अनिच्छा रहने पर भी जप नहीं छूटेगा। किसी ने कहा है—

आठ मास मुख सों जपै, सोलह कंठ को जाप,
बतिस हृदय में जब जपै, तन में रहै न ताप।
तन में रहै न ताप, भक्ति का उपजै पौधा।
मन रुक जाय जहाँ अपार बल कहिए योधा॥
बहुरि आवै नाभि में ताका कहूँ विचार,
पाँच वर्ष जप नाभि में रग-रग बोलै राम।
देह जीव निजमुक्त हो, पहुँचे हरि के धाम॥

वास्तविक सुख प्राप्त करने के निमित्त सारे कुतर्कों का त्याग अत्यावश्यक है।

नाम-जप का अभ्यास करते-करते स्वयं नाम से प्रेम हो जायगा और प्रेम की प्रगाढ़ता आ जाने पर भगवान् स्वयं प्रकट हो जायंगे। वे तो प्रेम के भूखे हैं—

प्रेम ते प्रभु प्रगटइ जिमि आगी। (मानस १। १८४। ४)

फिर तो वे करुणासागर समस्त दुःखों का नाश कर सच्चा सुख प्रदान करेंगे। जब तक हृदय-मन्दिर में चापबाणधारी श्रीराम का वास नहीं होता, तब तक लोभ मोहादि दोप मानव को सताते रहते हैं, सच्ची भक्ति प्राप्त होने नहीं देते हैं—

तब लगि हृदय बसत खलनाना। लोभ मोह मच्छर मदमाना॥
जब लगि उर न बसत रघुनाथा। धरें चाप सायक कटिभाना॥

(मानस ५। ४६। १)

यह संसार विकट वन की तरह है। इसमें पग-पग पर दुःख और संकट के काँटे बिछे हुए हैं। यहाँ पर भटकने वाले मनुष्यों के लिए एकमात्र भगवान् की भक्ति ही सुखद आश्रय है। मनुष्यों द्वारा किये गये सम्पूर्ण पाप भक्ति की अग्नि में भस्मसात् हो जाते हैं।

१६. भक्ति का स्वरूप

भक्ति प्रेम की अनिर्वचनीय लहर है। इस लहर में प्रेमी, प्रेम और प्रेमास्पद में कोई अन्तर नहीं रह जाता है। इसमें तीनों एकलय हो जाते हैं। ध्याता, ध्यान और ध्येय एकस्वरूप हो जाते हैं और तब दुर्लभ आध्यात्मिकता की सृष्टि होती है।

वस्तुतः भक्ति एक ऐसी भाव-लहर है जो आराध्य के गुण, माहात्म्य और कृपा का स्मरण कराकर चित्त को द्रवित करती है तथा धाराप्रवाह मन की सारी वृत्तियों को उसी ओर उन्मुख करती है। इसी तथ्य को श्री मधुसूदन सरस्वती ने अपने 'भक्तिरसायन' में स्पष्ट किया है—

द्रुतस्य भगवद्धर्माद् धारावाहकतां गता।
सर्वेश मनसो वृत्तिर्भक्तिरित्यमि धीयते॥

अर्थात् भगवान् के गुण माहात्म्य कृपा को स्मरण करके चित्त द्रवित हो जाय और धाराप्रवाह मन की सब वृत्तियाँ, भगवान् के ध्यान में लीन हो जायं, यही भक्ति है।

आराधना-साधना के अन्य साधनों में जहाँ अनेकशः अर्हताएँ हैं, वहाँ भक्ति के क्षेत्र में बाध्यता नहीं है। भक्ति के अधिकारी अनन्त सृष्टि के सभी प्राणिमात्र हैं। गोस्वामी तुलसीदास जी ने भगवान् श्रीराम के मुखारविन्द से कहलाया है—

पुरुष नपुंसक नारि वा जीव चराचर कोइ।
सर्व भाव भज कपट तजि मोहि परम प्रिय सोइ॥

(रामचरित मानस, उत्तरकाण्ड)

अर्थात् निष्कपट भाव से पुरुष, स्त्री, नपुंसक, चर-अचर जो भी भगवद्भक्ति में प्रवृत्त होते हैं, वे मेरे लिए परमप्रिय हैं।

भक्ति के लिए भक्त-हृदय में निष्कपटता अनिवार्य है। जो भक्त मद-मोह-कपट छोड़ देता है, भगवान् उसको तुरन्त अपना लेते हैं और ऐसे भक्तों का योगक्षेम स्वयं भगवान् वहन करते हैं। लेकिन यह तभी सम्भव है, जब हम अपनी वृत्तियों को सांसारिक माया-मोह से मुक्त कर लें।

१७. भक्तियोग का साधन

भक्त और भगवान् अर्थात् आराधक और आराध्य को संयुक्त करने वाली प्रेममयी साधना भक्तियोग है। जब भक्त अहंकार त्याग कर विश्वासपूर्वक भगवान् में दृढ़ अनुराग करता है तो वे भक्त पर द्रवीभूत होते हैं। अतएव भगवान् के प्रति अटूट अनुराग और अनन्य चेतना होना ही भक्तियोग का साधन है। भक्ति साधना के चार सोपान बतलाये गये हैं—नाम, रूप, लीला और धाम। भक्त जब अपने आराध्य के नाम, रूप, लीला और धाम का स्मरण-चिन्तन करता है, तब उसे निर्बीज समाधि की सिद्धि होती है और उनके परमधाम का वह आश्रयी बन जाता है। इस प्रक्रिया को भक्त अपने साधना-गुरु से प्राप्त करता है। इसीलिए भक्तियोग में भी सद्गुरु अनिवार्य माना गया है। साधना के प्रथम क्रम में गुरु प्रदत्त मंत्र के जप के साथ गुरु के सम्पूर्ण विग्रह में भावमग्न होने की आवश्यकता है। ध्यान की दृढ़ता का प्रमाण यह है कि साधक के मनोराज्य में गुरुलीला का चिन्तन ही सर्वस्व हो जाता है। साधना के द्वितीय क्रम में चित्तवृत्तियाँ द्रवीभूत होनी प्रारम्भ हो जाती हैं और लीला में आसक्ति हो जाती है, मनोराज्य समाप्त प्राय हो जाता है।

तृतीय क्रम में आनन्दोपलब्धि होने लगती है और चतुर्थ क्रम में पूर्ण समर्पण हो जाता है तथा इष्ट की सिद्धि हो जाती है।

किन्तु भक्तियोग की इस साधना की प्रारम्भिक अवस्था में भक्त का चित्त अस्थिर और चंचल रहता है। अतएव इसमें दृढ़ अभ्यास की अपेक्षा है। यदि कुछ दिनों तक अभ्यास करने पर भी भक्त की भावभूमि में स्थिरता नहीं आती तो घबराकर अभ्यास से विमुख नहीं होना चाहिए।

सूर्य का ताप ऊपर के शरीर पर लगता है, पर गर्मी भीतर तक प्रवेश कर जाती है। मनुष्य स्नान के समय शरीर के ऊपर ही जल डालता है पर ठंडक शरीर के अंदर भी पहुँच जाती है। मनुष्य को मन न लगने पर भी, आराधना से विमुख न होना चाहिए। उसका असर अन्दर भी होगा।

भक्ति के क्षेत्र में ध्यान का अनिवार्य अंग स्मरण है, पुनः-पुनः स्मरण है, निरन्तर स्मरण है, क्योंकि स्मरण ही आसक्ति का मूल है—

ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।

जैसे-जैसे आसक्ति बढ़ेगी, चित्तवृत्ति में स्थिरता आती जायगी और धीरे-धीरे ध्याता और ध्येय के भेद का भान भी नहीं होगा। उस स्थिति में श्वास-प्रश्वास की गति मन्द होते-होते स्वयं ही स्थिर हो जायगी। इसी को भक्तजन भाव-समाधि कहते हैं, जिसमें देहाध्यास भी छूट जाता है।

१८. भक्तियोग और सत्संग

भक्ति का मूलाधार सत्संग है, क्योंकि भक्ति में भगवान् का प्रेमपूर्वक संग ही होता है। 'सत्' का संग हो जाना भगवत्प्राप्ति है। सत्संग का अनिर्वचनीय आनन्द स्वर्ग और मुक्ति से भी बढ़कर है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने कहा है—

तात स्वर्ग अपवर्ग सुख धरिअ तुला एक अंग।
तूल न ताहि सकल मिलि जो सुख लव सत्संग॥

सत्संग के बिना भगवान् की कथा सुनने को नहीं मिलती। भगवान् की कथा के बिना मोह (अज्ञान) का नाश नहीं होता और अज्ञान के नाश हुए बिना भगवान् में दृढ़ प्रेम नहीं हो सकता है—

बिनु सत्संग न हरिकथा तेहि बिनु मोह न भाग।
मोह गए बिनु रामपद होइ न दृढ़ अनुराग॥

(रामचरित मानस, उत्तरकाण्ड)

अतः भगवान् व्रत, यज्ञ, वेदाध्ययन, तीर्थाटन और यम-नियम के पालन से उतना वश में नहीं होते, जितना सम्पूर्ण आसक्तियों को दूर करने वाले सत्संग से होते हैं। श्रीमद्भागवत में भगवान् स्वयं कहते हैं—

व्रतानि यज्ञश्छन्दांसि तीर्थानि नियमा यमाः।
यथावरुन्धे सत्संगः सर्वसंगापहो हि माम्॥

(श्रीमद्भागवत, ११।१२।२)

वस्तुतः भक्ति परमसुख का मूल है और वह तभी प्राप्त होती है, जब संत प्रसन्न होते हैं—

भगति तात अनुपम सुखमूला। मिलइ जो संत होई अनुकूला॥

(रामचरित मानस, अरण्यकाण्ड)

अतएव भक्तियोग में सत्संग की महत्ता सर्वोपरि है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने राम के मुख से इसी सत्य को व्यक्त कराया है—

भक्ति सुतंत्र सकल सुख खानी। बिनु सतसंग न पावहि प्रानी॥
पुन्य पुंज बिनु मिलहिं न संता। सत्संगति संसृति कर अंता॥

(रामचरित मानस, उत्तरकाण्ड)

१९. भक्ति की महिमा

भक्ति की महिमा अनिर्वचनीय है। जाति, कुल धर्म, बड़ाई, धन, बल, कुटुम्ब, गुण और चातुर्य—इन सबके होने पर भी, भक्ति रहित मनुष्य जलहीन बादल के सदृश शोभाहीन है—

जाति पाँति कुल धर्म बड़ाई। धन बल परिजन गुन चतुराई॥
भगति हीन नर सोहइ कैसा। बिनु जल वारिद देखिअ जैसा॥
मिलहिं न रघुपति बिनु अनुरागा। किये जोग तप ग्यान विरागा॥
भगति हीन गुन सब सुख कैसे। लवन बिना बहु व्यंजन जैसे॥

जैसे बिना नमक के सभी व्यंजन व्यर्थ हैं, वैसे ही बिना भक्ति के भगवान् को प्रसन्न करने के लिए किये गये जप, व्रत, पूजा आदि अधूरे ही हैं और रहेंगे। अतः भगवत्प्राप्ति के लिए किये गये साधन, भक्तिमय होने चाहिए।

तात्त्विक दृष्टि से भगवद्भक्ति ही वास्तविक विश्व प्रेम है। परम प्रेमास्पद सच्चिदानन्द स्वरूप भगवान् को प्राप्त करने का एकमात्र सरल उपाय प्रेमलक्षणा भक्ति है। यह साधन भी है और साध्य भी। इस मार्ग में कठिन योगसाधनों अथवा यौगिक क्रियाओं द्वारा चित्तवृत्तियों का निरोध नहीं करना पड़ता, केवल उनकी दिशा बदल देनी पड़ती है। सम्पूर्ण सृष्टि में भगवान् की चित् और आनन्द की शक्ति का अनुभव करना तथा उसी प्रकार व्यवहार करना ही भगवत्प्रेम का स्वरूप है। इस प्रक्रिया से मानव उस दिव्य चेतना का साक्षात्कार करता है, जो विशुद्ध आनन्द-स्वरूपा है।

२०. निष्कपट भगवद्भक्ति

निर्मल मन जन सो मोहि पावा। मोहि कपट छल छिद्र न भावा॥

जिस भक्त का मन निर्मल है वही भगवान् को पाता है, भगवान को कपट, छल, छिद्र अच्छा नहीं लगता।

तजि मदमोह कपट छल नाना। करउँ सद्य तेहि साधु समाना॥

जो भक्त मद, मोह, कपट, छल छोड़ देता है, भगवान् उसको तुरन्त साधु बना देते हैं और अपना लेते हैं। ऐसे भक्तों का योग-क्षेम स्वयं भगवान् वहन करते हैं। लेकिन यह तभी सम्भव है, जब मनुष्य अपना मोह सांसारिक वस्तुओं से हटा ले। सांसारिक वस्तुएँ वासनामय हैं और वे चित्त को भ्रमित करती रहती हैं, इसलिए जिससे जहाँ तक बन सके, इन सबसे अपना सम्बन्ध काट कर, भगवान् के नाम, गुण, रूप और लीला में अनुरक्त हो।

जननी जनक बंधु सुत दारा, तनु धनु भवन सुहृद परिवारा।
सबकै ममता ताग बटोरी, मम पद मनहि बाँध बरि डोरी॥

माता, पिता, भाई, पुत्र, स्त्री, शरीर, घर, धन, मित्र और परिवार इन सबकी ममता के धागों को इकट्ठा करके भगवान् के चरणों से बाँध देना चाहिए। अर्थात् भगवान् के चरणों में श्रद्धा-विश्वासपूर्वक

मन लगाना चाहिए और उन्हीं को अपना सब कुछ समझना चाहिए। ऐसे श्रद्धालु भक्तों के साथ भगवान् का क्या सम्बन्ध होता है, यह भगवान् स्वयं बतलाते हैं—

अस सज्जन मम उर बस कैसे। लोभी हृदय बसई धन जैसे॥

ऐसे श्रद्धालु, समदर्शी, हर्ष, शोकरहित भक्तों को, उनके आत्मसमर्पण से प्रसन्न होकर भगवान् स्वयं अपने हृदय में उसी प्रकार वास देते हैं, जैसे लोभियों के हृदय में निरन्तर धन का वास रहता है।

सब तजि तुम्हहि रहई लव लाई, तेहि के हृदयँ रहहु रघुराई।

२१. भगवान् और भक्त

भक्त भगवान् का स्मरण करता है और भगवान् भक्त का। भगवान् कृष्ण ने अर्जुन से कहा है—

हम भक्तन के भक्त हमारे।
अर्जुन सुनहु प्रतिज्ञा मेरी, यह व्रत टरत न टारे॥

सन्त कबीर ने एक दोहे में इसी की सम्पुष्टि की है—

मन ऐसा निर्मल भया जैसे गंगा नीर,
पीछे-पीछे हरि फिरैं कहत कबीर-कबीर।
माला फेरौं न कर फेरौं जिह्वा जपौं न राम,
सुमिरन मेरा हरि करैं मैं पायों विश्राम॥

अन्ततोगत्वा कबीर ने अन्यतम स्थिति का वर्णन किया, जिस अवस्था को प्राप्त करने के बाद भक्त और भगवान् में एकरूपता हो जाती है।

यह महाभाव सहजता से गोपियों ने प्राप्त किया था—

भले भयो हरि बिसर्‌यो सर से टली बलाय।
जैसा था वैसा भया अब कछु कही न जाय॥

भगवान्, भक्ति और भाव के भूखे हैं, भावाधीन हैं, इसी से वे भक्तों के वश में हो जाते हैं। भक्तराज हनुमान की अन्यतम भक्ति के सम्बन्ध में सन्त तुलसीदास कहते हैं—

सुमिरि पवन सुत पावन नामू। अपने बस करि राखे रामू॥

मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् राम ने हनुमान् जैसे अनन्य भक्त के स्वरूप और लक्षण का वर्णन किया है—

सो अनन्य जाके अस, मति न टरइ हनुमंत।
मैं सेवक सचराचर, रूप राशि भगवंत॥

लीला पुरुषोत्तम योगेश्वर भगवान् कृष्ण ने भी नित्य-सखा अर्जुन से गीता में संकेत किया है—

भक्त्या त्वनन्यया शक्यं अहम् एवं विधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप॥

(गीता ११।५४)

श्रीमद्भागवत महापुराण में भगवान् कृष्ण द्वारा वर्णित साधुओं के प्रति भावना का उद्रेक—

साधवो हृदयं मह्यं साधनां हृदयं त्वहम्।
मदन्यत ते न जानन्ति ना हतेभ्योमनागपि॥

मैं साधुओं के हृदय में निवास करता हूँ और वे मेरे। मैं उनके सिवा किसी को नहीं जानता, न वे मेरे सिवा किसी को जानते हैं।

इन आप्त वाक्यों द्वारा स्पष्ट होता है कि भक्त और भगवान् में अभिन्न सम्बन्ध है।

अहं हि सर्व भूतानामादिरन्तोऽन्तरंबहिः।
भौतिकानां यथा खंवार्भूवार्युज्योतिरंगनाः॥
एवं ह्येतानि भूतानि भूते स्वात्माऽऽड्त्मनाततः।
उभयं मध्यमपरे पश्यता भातमक्षरम्॥

किसी संत का वचन है—

व्याधस्याचरणं ध्रुवस्यचवयो विद्यागजेन्द्रस्य का।
का जाति विदुरस्य यादव पतेरुग्रस्य किं पौरुषम्॥
कुब्जायाः कमनीय रूपमधिकं किं तत् सुदाम्नोधनम्।
भक्त्या तुष्यति केवलं न च गुणैः भक्तिप्रियो माधवः॥

व्याध का उत्तम आचरण क्या था? ध्रुव की अवस्था क्या थी? गजेन्द्र ने कौन-सा शास्त्र पढ़ा था? क्या विदुर उत्तम जाति के थे? यादवों के अधिपति उग्रसेन के पास कौन-सा पौरुष था? कुब्जा बहुत सुन्दरी थी क्या? सुदामा के पास कौन-सा धन था?

अतः भगवान् भक्ति द्वारा ही तुष्ट होते हैं, गुण के द्वारा नहीं।

भक्त जिस भावना से भगवान् की उपासना करते हैं, भगवान् भी उनकी भावनाओं के अनुरूप उनका स्मरण करते हैं और उनकी रक्षा के लिए विभिन्न स्वरूप धारण कर, उनके कार्यों का सम्पादन कर, उन्हें कृतार्थ करते हैं।

शबरी, गृध्रराज, केवट, कोल-किरात, खग-मृग, देव-दनुज, नर-नाग इसके उदाहरण हैं।

शरणापन्न भक्त भगवान् से प्रार्थना करता है—

आपन्नोऽस्मि शरण्योऽस्मि सर्वावस्थोऽस्मि सर्वदा।
भगवनस्त्वां प्रपन्नोऽस्मि रक्षमां शरणागतम्॥

भगवान् कहते हैं—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्व भूतेभ्यो ददाम्येतत व्रतं मम॥

अतएव भक्त और भगवान् का प्रेम-सम्बन्ध अनिर्वचनीय है, इसे कोई भगवत्कृपा प्राप्त ही जान सकता है। भगवान् के लिए जाति, विद्या, रूप, कुल, धन, क्रियादि भेद नहीं हैं—

नास्ति तेषु जाति विद्या, रूप, कुल, धन क्रियादि भेदः।

(नारद भक्ति-सूत्र)

२२. भगवान् का स्मरण

भगवान् सर्वव्यापक ही नहीं, हमारे अत्यन्त निकट हैं। यह सभी जानते और मानते हैं, लेकिन उन्हें नित्यशः भक्तिभाव से स्मरण नहीं करते। कभी कार्य व्यस्तता तो कभी दूसरी अड़चन—इस प्रकार कोई-न-कोई मिथ्याधार रखकर भक्तिभाव से भगवान् के स्मरण में लोग लापरवाही करते हैं। भगवान् का नित्य स्मरण नहीं करना, अपना ही हनन करना है। वे बड़ी भारी भूल करते हैं, जो भगवान् के नित्य स्मरण में लापरवाही करते हैं। भगवान् अत्यन्त कोमल-हृदय, दयालु एवं क्षमाशील हैं। उनकी दया और कृपा पर विश्वास कर, मनुष्य को अपने सम्पूर्ण कर्मों को उनके प्रति अर्पण करते रहना चाहिए और यह

समझना चाहिए कि जिस दिन हमने श्रद्धा से भगवान् का स्मरण नहीं किया, वह दिन व्यर्थ गया।

एक सन्त का कथन है—

'जे दिन बीते राम भजन में, वे दिन आवें गिनती में।'

वही दिन सार्थक है और उसी दिन की जीवन में गणना की जाती है, जिस दिन भजन किया गया हो। भगवान् के साथ थोड़ा-सा भी सम्बन्ध भक्तिभाव से नित्य जोड़ते रहो और कर्तव्य मान कर उनका नित्य स्मरण करो तो भगवान् अपनाने में देर नहीं करेंगे।

सन्मुख होइ जीव मोहि जबहीं। जन्मकोटिअघ नासहि तबहीं॥

जिस क्षण मनुष्य भगवान् को सम्मुख मानकर उनकी भक्तिपूर्वक आराधना करता है, उसी क्षण उसके करोड़ों जन्मों के पाप नष्ट हो जाते हैं।

पापवंत कर सहज सुभाऊ। भजनु मोर तेहि भाव न काऊ॥

पापियों का यह स्वभाव ही है कि उनको भगवान् का भजन अच्छा नहीं लगता।

२३. भगवद्-दर्शन के साधन

जिस प्रकार यज्ञ में दो अरणियों के संघर्ष से अग्नि प्रकट होती है, उसी प्रकार हृदय के साथ भगवन्नाम के बार-बार के संस्पर्श के फलस्वरूप ज्ञानाग्नि उत्पन्न होती है। एक अरणी राम-नाम है, दूसरी हृदय, दोनों के निरन्तर पारस्परिक सम्मिलन से मन का विक्षोभ मिटेगा और ब्रह्म साक्षात्कार होगा। यदि रस नहीं मिलता, तब भी किसी प्रकार भगवान् का नाम लेते जाओ, कुछ दिनों बाद जब रस मिलने लगेगा तो छुड़ाने पर भी नहीं छूटेगा।

तुलसी विरबा बाग में सींचे तु कुम्हिलाय।
राम भरोसे जो रहै पर्वत पर हरि आय॥

सदा सच्चिदानन्द भगवान् की आशा ही श्रेष्ठ है। मनुष्य सदा ईश्वर के सम्मुख जाने पर तो पाप नहीं करेगा। उसे स्मरण रखना चाहिए कि सब समय ईश्वर उसके आस-पास हैं और उसके हृदय में हैं। वह आजीवन यही समझे कि भगवान् के चरणों का चिन्तन करने के हेतु ही मैं जीता हूँ।

जहं-जहं डोलों सोइ परिकरमा, जो कुछ करो सो सेवा,
जब सोवो तब करो दण्डवत्, पूजो और न देवा।
कहो सो नाम, सुनो सो सुमिरन, खावं-पियो सो पूजा,
गिरह-उजाड़ एक सम लेखो, भाव न राखो दूजा॥

२४. मायापति की शरण गहो

माया-मोह में पड़कर मनुष्य भगवान् का स्मरण ही भूल जाते हैं, यही सबसे बड़ी भूल है। इस भूल को मिटाना है। माया-मोह के चक्कर में पड़कर 'पुनरपि जननं पुनरपि मरणं पुनरपि जननी जठरे शयनम्' निश्चित है। अतः लोगों को अपनी भूल पर गम्भीरता से विचार करना चाहिए। यदि श्वानवृत्ति ही हो तो सर्व-नियन्ता भगवान् के प्रति होनी चाहिए। कबीरदास ने कहा है—

कबिरा कुत्ता राम का, मोतिया मेरा नाँव।
गले में बाँधी जेवरी, जित खींचे उत जाँव॥

भगवान् का कुत्ता बनने का अभिप्राय है भगवान् की इच्छा पर चलना, उनका भक्त बनना।

यह चिन्तनीय है कि मनुष्य ने माया के चक्कर में पड़कर अपना वास्तविक स्वरूप भुला रखा है। भगवान् को स्मरण करो और अपने को उनकी शरण में डाल दो। मायापति की शरण ग्रहण करते ही माया अपना प्रभाव स्वतः हटा लेती है—यह नियम है। वास्तव में वे ही वास्तविक रक्षक हैं, सहज स्नेही हैं, उनकी सुहृदयता को समझो और अपने को उन पर छोड़कर सदा के लिए निर्भय-निश्चिन्त हो जाओ।

२५. वास्तविक स्वरूप का स्मरण

मनुष्य अपने को भूल गया है। वह नहीं समझता कि वास्तव में वह है कौन? वह तो यही मान बैठा है कि हाड़-मांस का पुतला ही वह है, अन्य कुछ नहीं। किन्तु वास्तव में मनुष्य चैतन्य आत्मा है, वह केवल हाड़-मांस का पुतला नहीं है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने कहा है—

ईश्वर अंस जीवन अविनासी। चेतन अमल सहज सुख रासी॥
सो माया बस भ्रमउ गोसाईं। बंध्यो चीर मरकट की नाईं॥
जड़ चेतनहि ग्रन्थि पर गई। जदपि कृपा छूटत कठिनाई॥
तब ते जीव भयउ संसारी। छूट न ग्रंथि न होइ सुख़ारी॥

यही ईश्वर और मनुष्य का सम्बन्ध है। लोग माया में पड़कर अपने वास्तविक स्वरूप को भूल गये हैं। वे चैतन्य आत्मा हैं, इसकी स्वीकृति होती ही नहीं। जितना ही इस विषय को समझाया-बुझाया जाता है, उतनी ही यह समस्या जटिल होती जाती है।

श्रुति पुरान बहु कहेउ उपाई। छूट न अधिक अधिक अरुझाई॥

वेद और पुराणों में अनेकानेक उपाय बताये गये हैं कि किस प्रकार जीव बन्धन से छूटे, परन्तु उसे जितना ही यह बताया जाता है, वह उतना ही अधिक बन्धनों में उलझता जाता है। उसका उद्धार कैसे हो, इस सम्बन्ध में गीता में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥

यह अलौकिक अर्थात् अति अद्भुत त्रिगुणमयी मेरी योगमाया बड़ी दुस्तर है, परन्तु जो मेरी शरण में आते हैं—मुझे ही निरन्तर, भजते हैं, वे इस माया को पार कर जाते हैं।

२६. ईश्वर समर्पण बुद्धि

भगवान् के बताये ढंग से चलने पर, ईश्वर-समर्पण बुद्धि से, तुम्हारे सारे कार्य तो होते ही रहेंगे, वे सफल भी होंगे और भगवान् के साथ तुम्हारा सान्निध्य बना रहेगा। भगवान् से निकटता प्राप्त करने का यह सरल साधन है। इसके लिए कोई तप, जप या अनुष्ठान करना नहीं है, सभी कर्तव्य करने की छूट है। आवश्यकता है केवल इस बात की कि अपने काम ईश्वरार्पण बुद्धि से करें। इस छोटी-सी बात को यदि दिन-प्रतिदिन के कार्यों को करते समय, याद रखो तो तुममें और किसी संत-महात्मा में कोई अन्तर नहीं रह जायगा। भगवान् किसी व्यक्ति विशेष से ही सम्बन्ध रखते हों, केवल साधु-महात्माओं के हाथों की कठपुतली हों—ऐसी बात कदापि नहीं है। सामान्य से

सामान्य व्यक्ति भी, यहाँ तक कि दुराचारी भी, उन्हें प्राप्त कर सकता है। उनकी घोषणा है—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेवः स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥

यदि कोई दुराचारी व्यक्ति भी ईश्वरार्पण बुद्धि से अपने काम करता है या करने का निश्चय कर लेता है तो भगवान् की दृष्टि में वह साधु ही मानने योग्य है।

भगवान् ने कोई खास नियम या विधान नहीं बतलाये हैं कि अमुक नियम पर सबको समान रूप से चलना ही होगा, तभी वे हमको प्राप्त कर सकेंगे, अन्यथा नहीं। यह कितनी बड़ी छूट भगवान् ने लोगों को दे रखी है। भगवान् अपने तक पहुँचने का सरल-से-सरल मार्ग सबके लिए बतलाते हैं—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः॥

अर्थात्—तुम्हारा मन निरन्तर मुझ में लगा रहे, तुम निरन्तर श्रद्धासहित मुझको भजते रहो—मन, वाणी और शरीर द्वारा मेरे परायण हो जाओ, मेरी पूजा-अर्चा करो, मेरी शरण होकर, मुझे नमस्कार करो। इस प्रकार मेरी शरण होकर, अपने को मेरे साथ करके, तुम मुझको अवश्य प्राप्त कर लोगे।'

भगवान् के प्रति इस प्रकार सरल समर्पण होना चाहिए। यह संसार कर्मक्षेत्र है और कर्म करने के लिए मनुष्य यहाँ भेजे गये हैं, किन्तु वे जो कुछ करते हैं, उसे भगवत्प्रीत्यर्थ नहीं करते, अपितु अपने स्वार्थ के लिए करते हैं और इस प्रकार भगवान् को क्रमशः भूल जाते हैं।

२७. ईश्वरीय और मानवीय विधान

संसार में दो प्रकार की व्यवस्थाएँ देखने में आती हैं—एक व्यवस्था मनुष्यों द्वारा निर्मित होती है, जिसे शासन-व्यवस्था कहते हैं, जिसके अनुसार शासन प्रजा की सुख-सुविधा की संयोजना करता है और बदले में प्रजा शासन को कई प्रकार के कर देती है।

ठीक इसके विपरीत भगवान् की अपनी व्यवस्था है, जो बड़ी ही सरल, सुलभ और सस्ती है। भगवान् की इस व्यवस्था का नाम भगवत्कृपा है। अपने द्वारा दी हुई वस्तुओं का कोई भी मूल्य भगवान् नहीं लेते। भगवान् तो करुणानिधान हैं। उनकी अहैतुकी कृपा सदा सब पर बरसती रहती है।

यही दो विधान हैं—एक मानुषी विधान, दूसरा ईश्वरीय। मनुष्यकृत विधान कटु, अपर्याप्त और परिणाम में दुःखदायी है, जबकि ईश्वरीय विधान दयापूर्ण, पर्याप्त और सुखदायी है। यथार्थ में कोई तुलना ही दोनों में नहीं हो सकती।

यहाँ एक विचारणीय प्रश्न उपस्थित होता है। एक ओर तो शासन जनता की सुविधा के लिए जनता से कर के रूप में कुछ द्रव्य लेता है, तभी वह जनता की सुख-सुविधा की व्यवस्था करता है। दूसरी ओर भगवान् ने अनेकानेक वस्तुएँ मनुष्य को प्रदान कर रखी हैं और कर रहे हैं तथा अपनी दया की धारा सतत बरसा रहे हैं, किन्तु इसके बदले में वे लोगों से कुछ नहीं लेते। ऐसी दशा में उनके प्रति विवेकशील प्राणी होने के नाते, मनुष्य का कोई कर्त्तव्य है या नहीं?

इस प्रश्न का उत्तर बहुत गम्भीर है। ईश्वर और जीव के सम्बन्ध पर शास्त्रों में जो कुछ लिखा गया है, उसके अध्ययन से जीव का कर्तव्य स्पष्ट होता है कि भगवान् से वह जुड़ा रहे, उनसे विलग या विमुख नहीं हो। भगवान् के साथ जितना निकट का सम्बन्ध होगा, भगवान् की करुणा और दया उतनी ही मात्रा में प्राप्त होती जायगी।

भगवान् के साथ इस सम्बन्ध को उपासना कहते हैं। उपासना का अर्थ है—उप अर्थात् निकट और आसन अर्थात् स्थित होना। भगवान् के निकट होने का नाम ही उपासना है। उपासना कभी व्यर्थ नहीं जाती, मनुष्य जो कुछ करेगा, उसका फल उसे मिलेगा। भगवान् ने जो आश्वासन दिया है वह बड़ा उत्साहप्रद है; इसका उल्लेख पहले भी हो चुका है—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम॥

भगवान् की घोषणा है कि जो एक बार मेरी शरण में आकर यह कह देता है कि हे भगवान् मैं तुम्हारा हूँ और मुझसे रक्षा की प्रार्थना करता है, उसे मैं सभी प्राणियों से अभय कर देता हूँ—यह मेरा व्रत है।

२८. ईश्वरोपासना तथा गृहस्थ धर्म

शिक्षक जिस विद्यार्थी को पढ़ाता है, उसको पुस्तक का विषय न पढ़ाये और यही कहें कि केवल तुम भगवन्नाम का ही जप करो तो उस शिक्षक को हम पागल कहेंगे। उसी प्रकार किसी वकील के पास कोई अपना विवादग्रस्त विषय उपस्थित करे और उत्तर में वकील केवल राम-नाम ही जाप करने को कहे तो उसे भी लोग पागल ही कहेंगे। ठीक उसी प्रकार किसी कृषक या व्यवसायी के पास कोई जाय और वह उससे कोई वस्तु खरीदे या भाव-ताव करे और उत्तर में वह राम-नाम ही जाप करावे तो उसे भी लोग पागल ही कहेंगे। भाव यह है कि जो जैसी व्यवस्था या पेट का धन्धा कर रहा है, उसको छोड़े नहीं। उसे करे, पर अपनी आभ्यन्तरिक शुद्धि यानी भगवन्नाम-स्मरण नियमानुसार करते हुए ही। ऐसा करने वाला ही उत्तम कहा जायगा। यही गृहस्थों के लिए उचित कार्य है। केवल एक को ही किया जाय और दूसरे की उपेक्षा की जाय, यह गलत है और गलत होगा। गृहस्थों को दोनों काम एक साथ नियमानुसार करने हैं—यही शास्त्रों की शिक्षा है।

२९. ईश्वर-प्राप्ति के उपाय

ईश्वर को कहीं अन्यत्र खोजने की आवश्यकता नहीं, वह दयामय पास ही विराजमान हैं, परतु मन के शुद्ध हुए बिना वह दिखाई नहीं देता—

निर्मल मन जन सो मोहि पावा।

शुद्ध मन से ही उसका दर्शन-स्पर्शन होता है, जैसे दर्पण के शुद्ध हुए बिना मुख का प्रतिबिम्ब उसमें स्पष्ट नहीं दीखता, उसी प्रकार जब तक मनरूपी दर्पण मैला है, तब तक ईश्वर का दर्शन नहीं हो सकता। इस पर जन्म-जन्मान्तरों का मैल बैठा है, जो सहज में छूटने वाला नहीं है। गोस्वामीजी ने कहा है—

मोह जनित मल लाग विविध विधि कोटिहु जतन न जाई।
जनम जनम अभ्यास-निरत चित, अधिक अधिक लपटाई॥

मन की वृत्ति सर्वदा बाह्य विषयों की ओर दौड़ती रहती है। यदि यह वृत्ति अपने स्वभाव को छोड़कर अन्तर्मुखी हो जाय और चंचलता छोड़ दे तो उस आनन्दसिंधु ईश्वर के दर्शन में विलम्ब नहीं होगा। इसके

वास्ते आवश्यकता प्रपन्न होने की है। प्रपन्न भगवान् के चरणों में आत्मसमर्पण कर देता है, उसके तन-मन-धन सब भगवान् के हो जाते हैं। उसका एक ही कर्त्तव्य रह जाता है—भगवत्कैंकर्य। भगवान् के कैंकर्य से वह एक क्षण भी अपने को अलग नहीं रख सकता।

श्रीयामुनाचार्यजी ने कहा है—

न देहं न प्राणान्न च सुखमशेषाभिलषितम्।
न चात्मानं नान्यीत्कमपि तव शेषत्वविभवात्॥
बहिर्भूतं नाथ क्षणमपि सहे यातु शतधा।
विनाशः तत्सेत्थं मधुमथन विज्ञापनमिदम्॥

प्रपन्न का जीवन भगवान् को समर्पित होता है, अत: उसके सारे कर्म—कायिक, वाचिक, मानसिक भगवत्कैंकर्य ही हो जाते हैं। जो कुछ वह करता है, भगवान् की सेवा समझकर ही करता है। भगवान् की आज्ञा से तथा कर्त्तव्य की प्रेरणा से ही वह कर्म करता है; स्वार्थ तथा वासना से नहीं। अपकर्म वह कर ही नहीं सकता तथा अशुद्ध एवं अपवित्र भोजन उसके लिए सर्वथा त्याज्य हो जाता है। वह जो कुछ करेगा और जो कुछ खायेगा, सब कुछ भगवान् को अर्पित होगा। भगवान् ने स्वयं कहा है—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

(गीता ९। २७)

इस प्रकार कर्म मात्र को ईश्वर की सेवा समझ कर करने से चित्त-वृत्ति का निरोध हो जाता है, भगवदाकार वृत्ति हो जाती है, जिससे सर्वत्र परमात्मा का दर्शन होता है। अत: मन को एकाग्र तथा सावधान करके परमात्मा की सेवा की भावना से सभी कार्य करना चाहिए। ब्रह्म तो पास से भी पास है, वह तो अपनी आत्मा ही है। कहीं से ब्रह्म को लाना नहीं है। मन को ही ब्रह्ममय बनाना है।

३०. अवतार का हेतु

इस प्रकार जो सांसारिक वस्तुओं से यथाशक्ति अपना मन हटा लेते हैं, भगवान् भी उन्हीं के हृदय को अपना निवास बनाते हैं। ऐसे ही प्रिय भक्तों के हेतु भगवान् मनुष्य-शरीर धारण करते हैं। विभीषण से मिलते हुए भगवान् राम स्वयं कहते हैं—

तुम्ह सारिखे संत प्रिय मोरे। धरउँ देह नहिं आन निहोरे॥

मैं भक्तों के लिए ही शरीर धारण करता हूँ। किसी और का निहोरा करने के कारण नहीं।

इसलिए मनुष्य-शरीर की विशेष महत्ता है।

भगवान् ने जो मनुष्य-शरीर दिया है, उसे केवल विषय-भोग में नहीं लगाना है, बल्कि सभी वासनाओं से मुक्त होकर इस मानव शरीर से यथासम्भव भगवान् की स्तुति उपासना करनी है। यही इस मनुष्य-शरीर का यथार्थ उद्देश्य है—

देह धरे कर यह फलु भाई । भजिऊ राम सब काम बिहाई॥
सोइ गुनग्य सोई बड़भागी । जो रघुबीर चरन अनुरागी॥

भगवान् ने जो मनुष्य का शरीर दिया है, उसका यथार्थ फल यही है कि सब वासनाओं का त्याग करके मनुष्य यथासम्भव भगवान् के नाम-रूप-लीला-धाम का मनन और चिन्तन भक्तिपूर्वक करे।

३१. नाम-जप का साधन

भक्ति के साधनों में भगवान् का नाम-जप एक सरल, सहज और सुगम साधन है। भगवान् राम ने शबरी को नवधाभक्ति का उपदेश देते हुए नौ साधनों में नाम-जप को भी स्थान दिया है। भक्ति के नौ साधन बताते हुए, वे पाँचवें साधन का उपदेश करते हैं—

मंत्र जाप मम दृढ़ बिस्वासा । पंचम भजन सो वेद प्रकासा॥

भगवान् राम का अभिमत है कि दृढ़ विश्वास के साथ मेरे मंत्र का जाप करना ही भजन नामक पाँचवाँ साधन है। भगवान् राम का कौन-सा मंत्र है? वही राम-नाम।

भगवान् कृष्ण ने यज्ञों में जप यज्ञ को प्रधानता दी है। वे गीता में अर्जुन से कहते हैं—

यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः॥

भगवान् कृष्ण स्पष्ट घोषणा करते हैं कि जितने भी यज्ञ हैं—द्रव्ययज्ञ, योगयज्ञ, तपयज्ञ, स्वाध्याय यज्ञ, ज्ञानयज्ञ, ब्रह्मयज्ञ, देवपूजन यज्ञ, आत्म-संयम यज्ञ, जपयज्ञ आदि उनमें भगवान् की विभूति जप-यज्ञ में ही वास करती है। भगवान् उसे सुगमता से मिलते हैं, दर्शन देते हैं, उसके निकट पहुँचते हैं, जो अनन्यचित्त से नित्य, प्रतिपल, प्रतिक्षण भगवान् का स्मरण करता है। गीता में भगवान् कृष्ण का उद्घोष है—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥

(गीता ८। १४)

नाम का स्मरण, नित्य हो, सतत-निरन्तर हो, तो भगवान् सुलभ हो जाते हैं। गोस्वामी जी तो स्पष्टतया मार्ग बताते हुए कहते हैं कि कलियुग में केवल राम-नाम का स्मरण, कीर्तन ही भगवद्भक्ति का एकमात्र साधन है—

कलियुग केवल नाम अधारा॥
चहुँ जुग चहुँ अति नाम प्रभाऊ,
कलि विशेषि नहिं आन उपाऊ।
नहिं कलि करम न भगति विवेकू।
राम नाम अवलंबन एकू॥

३२. स्मरण की निरन्तरता

इस सम्बन्ध में कुछ सरल उपाय निर्दिष्ट किये गए हैं, जिन पर आचरण करने में कोई कठिनाई नहीं होगी, केवल भक्ति और भाव चाहिए—

१. जब कहीं जाओ तो यह समझो कि भगवान् की परिक्रमा कर रहे हो।
२. कुछ भी देखो तो समझो कि हम भगवान् के विभिन्न रूपों के दर्शन कर रहे हैं।
३. जब भोजन करो तो यह भाव रखो कि हम भगवान् का प्रसाद पा रहे हैं।
४. जब जल पीयो तो यह समझो कि भगवान् का चरणामृत पान कर रहे हो।
५. जब सोओ तो भगवान् का नाम-गुण चिन्तन करते हुए सोओ और यह समझो कि प्रभु की ममतामयी गोद में विश्राम कर रहे हो।
६. जब जगो तो यह समझो कि भगवान् का ही कार्य करने के लिए तुम जगे हो।

इस भाँति सोचने, समझने और व्यवहार करने से तुम्हारे सारे कार्य भगवत्सेवामय होने लगेंगे, बुद्धि भगवन्मय हो जायगी, जीवन में पाप की मात्रा घट जायगी और क्रमशः हम भगवान् के समीप होते जायंगे। जीवन का लक्ष्य भी यही है कि यह बिछुड़ा हुआ जीव भगवान् से मिल जाय, भगवान को प्राप्त कर ले और उनके परमधाम में जाकर सदा के लिए मुक्त हो जाय।

३३. समर्पण का भाव

उदाहरण से तो केवल वस्तुस्थिति का संकेत किया जाता है, उसकी यथार्थता का तो प्रयोग और अभ्यास से ही अनुभव किया जा सकता है। यह कोई कठिन काम नहीं, बात इतनी ही है कि जो भी काम करें, वह सब भगवान् को समर्पण कर दें। यह केवल अभ्यास से सिद्ध होगा और तभी भगवान् से साक्षात् सम्बन्ध होने लगेगा। एक संत ने कहा है—

जोग जग्य जप तप व्रत कीन्हा। हरहिं समर्पि परमपद लीन्हा।।
मन ते सकल बासना भागी। केवल राम चरन लव लागी।।

भाव स्पष्ट ही है। जो भी काम करो—योग, यज्ञ, तप, जप और व्रत—सबका सम्बन्ध भगवान् से स्थापित करके उसे भगवान् को समर्पित करके करो। इससे परमानन्द का लाभ होगा और क्रमशः मन से अन्यान्य वासनाएँ निकलती चली जायंगी और उनके स्थान पर भगवान् के प्रति अनुराग, उनके चरणों में स्नेह एवं भक्ति उत्पन्न होती जायगी। इससे निश्चय ही परम संतोष और शान्ति की प्राप्ति होगी।

३४. नाम-जप में मनोयोग

यदि मन नहीं साथ दे रहा हो तो भी भगवान् का नाम लेते जाओ। एक समय ऐसा आयेगा कि राम रोम-रोम में ठीक उसी प्रकार रम जायंगे, जिस प्रकार हाथ द्वारा अग्नि के तापने पर उसकी गर्मी थोड़े समय में सारे शरीर में फैल जाती है। धूप शरीर के ऊपर से स्पर्श करती है, लेकिन उसकी गर्मी भीतर तक प्रवेश कर जाती है। स्नान करते समय शरीर के ऊपरी भाग से ही जल का संस्पर्श होता है, लेकिन थोड़े समय में ही जल की ठंडक भीतर तक पहुँचकर सारे शरीर को सुशीतल कर देती है। अस्तु, इसमें सन्देह नहीं कि ऊपर के मन से भी यदि भगवान् का नाम लिया जाय तो अन्तःस्थल को प्रभावित और अनुप्राणित करेगा। इस सम्बन्ध में एक कथा द्रष्टव्य है—

एक जिज्ञासु ने एक महात्मा से इसी प्रकार का प्रश्न किया था। महात्मा ने प्रश्न सुनकर जिज्ञासु को एक पत्थर फेंक कर मार दिया। भक्त चोट का अनुभव कर क्रोध और आवेश से भर उठा। महात्मा ने शांत करते हुए कहा—देखो, पत्थर का आघात तो तुम्हारे शरीर के ऊपरी सतह पर हुआ पर चोट का अनुभव तुम्हारे भीतर हुआ, फलतः तुम कुपित हो गये! यही बात परमात्मा के नाम लेने के साथ भी है। उनका नाम यदि ऊपरी मन से भी लिया जाय तो उसका असर अन्तःकरण पर निश्चय ही पड़ेगा। इसमें रंचमात्र भी संशय नहीं।

३५. भगवन्नाम स्मरण

सर्व धर्मग्रन्थों और वेदों में जो प्रतिपादित विषय है, उनमें सार वस्तु है भगवन्नाम—स्मरण। गीता में स्वयं भगवान् ने कहा है—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥

अर्थात जो व्यक्ति अनन्य भाव से मुझ ईश्वर की उपासना करते हैं, उन भक्तों का योग-क्षेम में स्वयं वहन करता हूँ।

तमेव शरणं गच्छ सर्व भावेन भारत।
तत्प्रसादात् परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥

इसलिए सर्व-समर्पण कर भगवान् की शरण में जाना चाहिए। उन्हीं की एकमात्र कृपा से परमसुख-शान्ति की प्राप्ति होगी अन्यथा नहीं।

कभी-कभी कोई भक्त शंका करता है कि भगवन्नाम-जप से हमें कोई सफलता नहीं मिली। ऐसा हो सकता है और उसमें कारण है 'नामापराध'। प्रायः लोग ऐसा करते हैं कि वे कुकर्म से परहेज नहीं करते, कुकर्म छोड़ना नहीं चाहते, पाप करते रहेंगे और नाम से उनको दूर करते रहेंगे। इस प्रकार नाम के बल पर जो कुकर्म करते हुए नाम लेते रहेंगे, उनकी मुक्ति कुकर्म से नहीं हो सकती। इसी को नामापराध कहा गया है—

गुरोरवज्ञा श्रुतिशास्त्रनिन्दनं, तथार्थवादो हरिनामकल्पनम्।
नाम्नोबलाय यस्यहि पापबुद्धि, न विद्यते तस्य धर्मैहिं शुद्धिः॥

गुरु की अवज्ञा करना, श्रुति और धर्मशास्त्र की निन्दा करना, आचार्यों की बातों पर विश्वास न करना, हरि के नाम और यश को केवल कल्पना समझना, नाम-जप का आश्रय लेकर निषिद्ध कर्म करना—ये पाप बुद्धि हैं। ऐसे नाम-जापकों के मन कभी शुद्ध नहीं होंगे।

अतः साधक को नामापराध-दोष से बचकर भगवन्नाम का स्मरण और चिन्तन करना चाहिए, तभी वह लाभदायक और सुख-शान्ति-दायक हो सकता है।

३६. भगवन्नाम की अमोघ शक्ति

संसार में तीन प्रकार के कष्ट हैं—आधिदैहिक, आधिदैविक और आधिभौतिक। शरीर सम्बन्धी जो कष्ट हैं, उन्हें 'आधिदैहिक' कहते हैं। आधिदैविक कष्ट वे हैं जो दैव द्वारा होते हैं—जैसे अग्निकाण्ड, सूखा पड़ जाना, बाढ़ आ जाना इत्यादि। आधिभौतिक कष्ट वे हैं, जो जीवों द्वारा मनुष्यों को भोगने पड़ते हैं जैसे—साँप का काटना, बिच्छू का डंक मारना तथा अन्यान्य छोटे-बड़े जीवों द्वारा मनुष्य शरीर पर आक्रमण। इन्हीं तीन कष्टों या तापों से मनुष्य व्याकुल रहता है। इनसे मुक्ति पाने की सबकी सतत इच्छा होती है और तदनुकूल लोग भाँति-भाँति के प्रयत्न भी करते हैं। इन सब प्रयत्नों में सबसे सरल और सुलभ वस्तु है—भगवन्नाम। भगवन्नाम की महिमा और संतों द्वारा इसके अनुभव यदि विस्तार से बताये जायं तो अनेक पोथियाँ तैयार हो जायंगी, लेकिन तब भी उसका अन्त नहीं होगा। संक्षेप में इतना कहना पर्याप्त होगा कि भगवन्नाम सभी अमंगलों का नाश करने वाला और जीवों को शाश्वत सुख देने वाला है। भगवान् के नाम और यश में अमोघ शक्ति है। भगवन्नाम के समान पुण्यप्रद संसार में अन्य कोई वस्तु नहीं है। इस कलिकाल में तो इसकी विशेष महत्ता है। अतएव हर व्यक्ति का यह कर्त्तव्य होना चाहिए कि वह ऐसा अभ्यास बना ले कि उसके द्वारा निरन्तर भगवान् का नाम-स्मरण हो तथा सभी अवस्थाओं में भगवन्नाम का जप हो, उसमें कभी त्रुटि न हो। लोग संसार की भोग-वस्तुओं में अपना जीवन बिताते हैं, किन्तु जब भगवान् के नाम-स्मरण के लिए कहा जाता है तो उत्तर मिलता है—अभी समय नहीं है, फिर कभी कर लिया जायगा। इस मनोवृत्ति से पतन और विनाश निश्चित है। यह लोक

तो गया ही, परलोक भी चला जायगा। मनुष्य-जीवन साधन क्षेत्र है, ऐसा सबको स्मरण रखना चाहिए। गोस्वामी तुलसीदास ने यथार्थ ही कहा है—

'साधन धाम मोक्ष कर द्वारा, पाइ न जे परलोक सँवारा'

इसलिए सबको अपने जीवन में ऐसा नियम बना लेना चाहिए कि बिना किसी त्रुटि के वह प्रतिदिन जैसे अन्य सांसारिक काम करता है, भगवन्नाम का भी स्मरण अवश्य करे। सब धर्म-ग्रन्थों और वेदों का भी यही सार है—

'नामैव वेद सारांशं सिद्धान्तं सर्वदा शिवम्'

भगवन्नाम स्मरण का फल क्या है, इसको भी थोड़ा समझ लेना चाहिए। ये वृहस्पति के वाक्य हैं, जो उन्होंने इन्द्र के प्रति कहे थे—

स्नातं तेन समस्त तीर्थ सलिले दत्ता द्विजेभ्यो धरा,
यज्ञानांच हुतं सहस्त्रमयुतं देवाश्च सम्पूजिताः।
स्वाद्वन्नेन सुतर्पिताश्चः पितरः स्वर्गञ्च नीताः पुनः,
यस्य ब्रह्म विचारणे क्षणमपि आप्नोति धैर्यं मनः॥

जिसने क्षणमात्र भी परब्रह्म परमात्मा का समाहित मन से चिन्तन किया, उसने समस्त तीर्थों के जल में स्नान कर लिया, राजा बलि की तरह सम्पूर्ण पृथ्वी का सत्पात्र ब्राह्मणों को दान कर दिया, कोटि यज्ञों के अनुष्ठान का फल प्राप्त कर लिया, देवताओं के भली-भाँति पूजन का भी फल प्राप्त कर लिया और अपने पितरों को सुस्वादु अन्न से तृप्त करके उन्हें स्वर्गलोक भी भेज दिया। ऐसा ही फल भगवन्नाम-स्मरण करने वाले व्यक्ति को होता है।

यजुर्वेद का मन्त्र है—

न तस्य प्रतिमास्ति, यस्य नाम महद्यशः।

'जिस ब्रह्म के नाम और यश का महान् महत्त्व है उसकी प्रतिमा अर्थात् नाम की कोई उपमा नहीं है। वैदिक काल से लेकर आज तक, सभी धर्माचार्यों ने उस परमात्मा को अनन्त शक्ति, अनन्त गुण, अनन्त ऐश्वर्य, अनन्त सौन्दर्य-स्वरूप, सर्वाधार, सर्वव्यापक और सर्वशक्तिमान् कहा है। उसी का सान्निध्य प्राप्त करना ही मनुष्य-जीवन का लक्ष्य है, जिसको मनुष्य भूला हुआ है। गोस्वामी तुलसीदास ने भी कहा है—

कहउं कहाँ लगि नाम बड़ाई। रामु न सकहिं नाम गुन गाई॥

भगवान् की महिमा अनन्त है। स्वयं राम भी उसका वर्णन नहीं कर सकते। सारांश यह है कि भगवन्नाम के स्मरण और चिन्तन में अपूर्व बल है। इसके प्रभाव से आत्मा को दिव्य प्रकाश प्राप्त होता है, चित्त के सब विकार दूर हो जाते हैं और परमात्मा के साथ धीरे-धीरे एकात्मता का अनुभव होने लगता है। भगवन्नाम के प्रताप से ही अनेक ऋषि-मुनि, ध्रुव-प्रह्लाद आदि भक्त श्रेष्ठ परमगति को प्राप्त हुए। इस कलिकाल में तो उद्धार पाने का केवल एक ही साधन है और वह है भगवन्नाम का स्मरण और चिन्तन—**'कलियुग केवल नाम अधारा।'** इसको सदा याद रखते हुए सबको नित्य भगवन्नाम का नियमपूर्वक स्मरण करना चाहिए।

३७. सगुण-निर्गुण

निर्गुण और सगुण में कोई भेद नहीं है। बिजली जब तक मेघ में होती है, दृष्टिगोचर नहीं होती, और वही जब चमकती है अथवा किसी वृक्ष पर गिर कर प्रज्वलित होती है तो उसका प्रकटीकरण होता है। निर्गुण और सगुण में मात्र दृष्टि-भेद है। साँभर झील के पानी में नमक घुला रहता है। लेकिन उसे देख नहीं पाते। उसी को छानकर जब नमक तैयार किया जाता है तो वह आकार और रूप ग्रहण कर सगुण हो जाता है और पुनः यदि उसी घनीभूत नमक को जल में छोड़ दिया जाय तो वह निराकार बन अपनी पूर्वस्थिति में आ जाता है। तत्त्वतः निर्गुण तथा सगुण अभेद हैं।

३८. श्रीराम, जानकी, लक्ष्मण तथा हनुमानजी का ध्यान

गोस्वामी तुलसीदास ने दोहावली में राम, जानकी और लक्ष्मण के ध्यान को ही समस्त लौकिक तथा पारलौकिक कल्याणों को देने वाला कल्पवृक्ष बतलाया है—

रामबाम दिसि जानकी लखन दाहिनी ओर।
ध्यान सकल कल्यानमय सुरतरु तुलसी तोर॥

(दोहावली १)

यह ध्यान चित्रकूट में निवास के समय का है। इस काल तक श्री हनुमान् जी का साथ नहीं हो पाया था, इसलिए इस ध्यान में हनुमान् जी का अभाव है। दोहावली के इस दोहे के बाद के दोहों में भी चित्रकूटस्थ त्रिमूर्ति का ही ध्यान है—

सीता लखन समेत प्रभु सोहत तुलसीदास,
हरषत सुर बरसत सुमन सगुन सुमंगल वास।
चित्रकूट सब दिन वसत प्रभु सिय लखन समेत,
रामनाम जप जाप कहि, तुलसी अभिमत देत॥

(दोहावली ४)

इस अवधि के सम्पर्क वाले मुनियों ने अपने हृदय में इस त्रिमूर्ति के ही निवास की प्रार्थना की है। यथा शरभंग जी—

सीता अनुज समेत प्रभु नील जलद तनु स्याम।
मम हिय बसहु निरंतर सगुन रूप श्रीराम॥

(मा० ३।८)

सुतीक्ष्ण जी—

अनुज जानकी सहित प्रभु चाप बान धर राम।
मम हिय गगन इंदुइ बसहु सदा निहकाम॥

(मा० ३।११)

भगवान् श्रीराम सर्वशक्तिमान्, सर्वान्तर्यामी और सर्वसमर्थ ही नहीं हैं, सर्व कल्याण गुणों के पारावार भी हैं। आपकी कृपा से रजोगुण, तमोगुणादि माया के त्रिविध गुण संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण कर्म, तथा कलि आदि काल किसी प्रकार की भी बाधा नहीं पहुँचा सकते। आप षडैश्वर्य-सम्पन्न अनन्त कोटि ब्रह्माण्डनायक और सर्वनियन्ता तथा परात्पर ब्रह्म होकर भी सबके सुहृद् तथा सर्वलोक शरण्य हैं।

श्री राम की उपमा किसी से नहीं दी जा सकती। श्री राम के समान श्री राम ही हैं। जैसे सूर्य को अरबों खद्योतों के समान बताकर सूर्य को अत्यन्त छोटा बता देना है, वैसे ही अपनी बुद्धि के अनुसार मुनीश्वरों ने प्रभु का कुछ-न-कुछ वर्णन तो कर डाला है, किन्तु प्रभु राम इतने कृपालु हैं कि वे भक्त का भाव ही देखते हैं। वे बड़े प्रेम से वही थोड़ा-सा वर्णन सुनकर रीझ उठते हैं।

निरुपम न उपमा आन राम समान रामु निगम कहै।
जिमि कोटि सत खद्योत सम रति कहत अति लघुता लैहै॥
एहि भाँति निज निज मति विलास मुनीस हरिहिं बखानही।
प्रभु भाव गाहक अति कृपालु सप्रेम सुनि सुख मानहीं॥

कालक्रम से श्रीरामजी के बाद हमें श्री लक्ष्मण जी के दर्शन होते हैं। श्री लक्ष्मण जी के रामानुराग के प्रारम्भ का कोई निश्चित काल नहीं है।

बचपन से ही अपना हितकारी और स्वामी मानकर लक्ष्मण जी ने राम जी के चरणों में प्रीति मानी—

बारेहिं ते निज हित पति जानी। लछिमन राम चरन रति मानी॥

(मा० १। १९८)

अनन्तरूप लक्ष्मण जी के साहचर्य से राम जी के अनन्त रूपों का प्राकट्य होता है। श्री लक्ष्मण जी कहीं वत्स बनकर श्री राम जी के वात्सल्य को प्रकाशित करते हैं तो कहीं दीन बनकर उनकी दीनबन्धुता को।

राम जी की दाहिनी ओर, दाहिनी भुजा सदृश लक्ष्मण जी का नित्य निवास है। राम जी का और लक्ष्मण जी का अलगाव सम्भव नहीं है। स्वयं लक्ष्मण जी राम जी से कह रहे हैं—हे राघव, जैसे पानी से अलग कर देने पर मछलियाँ जी नहीं सकतीं, उसी प्रकार आपसे अलग होकर न सीता जी जी सकती हैं, न मैं जी सकता हूँ—

न च सीता त्वया हीना न चाहमपि राघव।
मुहूर्तमपि जीवावो जलान्मत्स्याविवोद्धृतौ॥

(वाल्मी० २।५३।३१)

राम जी श्यामघन हैं तो लक्ष्मण जी उसमें निरन्तर थिरकने और चमकने वाली परमाकर्षक विद्युत्। विद्युत् घन से पृथक् रहती ही नहीं हैं और घन विद्युत् के बिना प्रोद्भासित होता ही नहीं है। गोस्वामी जी ने राम जी को ***'तन घन श्याम'*** लिखा है और लक्ष्मण जी को ***'दामिनि बरन लखन सुठनी के'*** लिखा है। तात्पर्य यह है कि इन दोनों का सम्बन्ध घन और विद्युत् की तरह अटूट है। महर्षि वाल्मीकि जी ने इन दोनों का सम्बन्ध बतलाते हुए कहा है कि लक्ष्मण राम जी के दूसरे बाहरी प्राण के समान हैं—

बहिः प्राण इवापरः (वाल्मी० १।१८।३०)

महर्षि ने आगे बतलाया है—लक्ष्मण जी राम जी की दाहिनी भुजा हैं—

रामस्य दक्षिणो बाहुः

पुरुषोत्तम श्री राम को श्री लक्ष्मण के बिना नींद नहीं आती तथा उनके अभाव में सामने आये हुए मधुर भोजन को भी वे नहीं खाते—

न धातेन बिना निद्रां लभते पुरुषोत्तमः।
मृपुमन्नमुपानीतमश्नाति नहि तं विना।

(वाल्मी० १।१८।३०)

प्राण के अभाव में नींद का प्रश्न कैसा है? इसी प्रकार दाहिने हाथ के अभाव में भोजन कैसे हो? सारांश यह है कि राम के जीवन के लिए लक्ष्मण का सह-निवास अनिवार्य है।

श्रीराम भगवान् विष्णु के अवतार हैं। श्री लक्ष्मण भगवान् शेष के। यामुनाचार्यकृत 'आलवन्दार' के अनुसार भगवान् शेष ही भगवान विष्णु की शय्या और आसन हैं। बिना अपनी शय्या के भगवान् को नींद कैसे आवे और बिना अपने आसन के वे भोजन कैसे करें?

लक्ष्मण जी राम जी के बिना क्षणभर भी जी नहीं सकते तथा इधर भगवान् की प्रतिज्ञा है।

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्। (गीता ४। ११)

अर्थात् जो जिस प्रकार मेरे शरणागत होते हैं, मैं भी उसी प्रकार उनकी सेवा करता हूँ। जब राम जी के बिना लक्ष्मण नहीं जी सकते तब लक्ष्मण के बिना राम जी कैसे जी सकते हैं? सबसे बड़ी बात तो यह है कि जब लक्ष्मण राम जी के प्राण ही हैं, तो शरीर से पृथक् प्राण को कैसे रखा जा सकता है? अतएव राम जी के साथ लक्ष्मण का निवास और ध्यान अनिवार्य है।

आनन्द रामायण के अनुसार सीता जी और लक्ष्मण जी के बिना अकेले राम जी की पूजा करनी ही नहीं चाहिए। यदि ऐसी पूजा की जाय तो वह अवश्य ही विघ्न करने वाली होती है—

सीतानुजौ विनापूजां रामस्येकस्य नाचरेत्।
कृता चेद्विघ्नकर्मी सा भवेत् न संशयः॥

(आ०रा०म० काण्ड ३। १४८)

महर्षि अगस्त्य जी ने बतलाया है कि लक्ष्मण-कवच के पाठ के बिना राम-कवच का पाठ उसी तरह हो जाता है, जिस प्रकार बिना घी का नैवेद्य।

पठितं रामकवचं सौमित्रिकवचं बिना।
घृतेन हीनो नैवेद्यस्तेन दत्तो न संशयः॥

(आ०रा०म० काण्ड १५।२३)

जब लक्ष्मण-पूजा के बिना राम-पूजा नहीं हो सकती और लक्ष्मण-कवच के पाठ के बिना राम-कवच का पाठ भी नहीं हो सकता, तब लक्ष्मण जी के अभाव में रामजी का या सीता-राम जी का ध्यान कैसे हो सकता है? इसीलिए भगवान् शंकर भी महाराज रामचंद्र जी से महारानी सीता और लक्ष्मण के साथ ही अपने हृदय में निरन्तर निवास की प्रार्थना कर रहे हैं—

अनुज जानकी सहित निरंतर। बसहु राम नृप मम उर अंतर॥

(मा० ६। ११४। ४)

कोई भी प्राणी सम्पूर्ण सांसारिक सुखों से संयुक्त होकर भी श्री राम शरणागति के बिना स्वप्न में भी सच्ची शान्ति पा नहीं सकता। इसलिए प्रपत्तिपूर्वक श्री राम का ध्यान प्रत्येक प्राणी के लिए परमावश्यक कर्त्तव्य है।

श्री राम जी की शरण में जाने से ही सबका कल्याण होता है। धनवान हो या धनहीन, बड़ा हो या छोटा, विद्वान् हो या मूर्ख, बलवान हो या बलहीन, शरणागति सबके लिए आवश्यक है। गोस्वामी तुलसीदास कहते हैं—

गए राम सरन सबको भलो।
गनी गरीब बड़ो, छोटो बुध-मूढ़ हीन बल अति बलो॥

(गीतावली, सु० ४२)

इस श्री राम-शरणागति के लिए सबसे बड़ी सहायिका हैं, जनकनन्दिनी जानकी। आप लोकोत्तर ममतामयी जगज्जननी हैं। आपके हृदय में पुत्रों के लिए वात्सल्य का सागर सदैव लहराता और उफनता

रहता है। अन्य माताएँ क्रमशः पुत्री और पत्नी होने के बाद, मातृत्व का उच्च पद पाती हैं। पार्वती गिरिराज किशोरी होने के बाद महेश-मुख-चन्द्र-चकोरी अर्थात् शिवपत्नी बनती हैं। इसके बाद ही गजानन और कार्तिकेय की माता। पार्वती जी की स्तुति करती हुई जनक-किशोरी कहती हैं—

जय जय गिरिराज किसोरी। जय महेश मुख चंद चकोरी॥
जय गजबदन षड़ानन माता। जगत जननि दामिनि दुति गाता॥

(मा० १-२३४।३)

इधर सीताजी की वन्दना करते हुए गोस्वामी जी कहते हैं—

जनकसुता जगजननि जानकी। अतिसय प्रिय करुनानिधान की॥

(मा० १।१९।४)

जानकी जी जनक-पुत्री होने के बाद जगदम्बा पहले बनती हैं; रामवल्लभा पीछे। वह सर्वप्रथम पुष्पवाटिका में अपने करुणानिधान प्रियतम राम के दर्शन पाती हैं, किन्तु वहाँ राम जी अकेले नहीं हैं, वात्सल्यपात्र जीवाचार्य लक्ष्मण जी के साथ हैं। इसलिए प्रथम दर्शन में ही शृंगार, वात्सल्य से बाधित हो जाता है। इस प्रकार सीता जी के सम्पूर्ण जीवन में वात्सल्य का ही प्राधान्य है। गौरी जी श्री सीता जी को आशीर्वाद देती हुई राम जी के लिए प्रथम विशेषण के रूप में 'करुणानिधान' शब्द का प्रयोग करती हैं—

करुनानिधान सुजान सील सनेहु जानत रावरो॥

(मा० १।२।३५)

सीता जी इस करुणानिधान विशेषण को ही विशेष्य मानकर मूलमंत्र की तरह मन-ही-मन जपती हैं और अन्तःपुर के एकान्त स्थान में इस गोपनीय रहस्यमय नाम से ही अपने वल्लभ को सम्बोधित करती हैं। इस नाम से सम्बोधित करने का उद्देश्य होता है—अनन्त कल्याण-गुणों के समुद्र भगवान् की करुणावृत्ति को उद्दीप्त करके जीवों के बड़े-से-बड़े अपराध को भी क्षमा करांना और जीवों का उद्धार करना। जगज्जननी के इस कार्य को 'पुरस्कार' कहा जाता है। भट्टार्क स्वामी ने श्री जी की स्तुति करते हुए बतलाया है कि हे जगज्जननी, आपके प्रियतम परिपूर्ण अपराधी जीवों के कल्याण के लिए पिता की तरह जब कभी क्रुद्ध होते हैं, तब आप उनको समझाती हैं कि यह क्रोध अनुचित है। इस संसार में निर्दोष है कौन? इस प्रकार आप अपराध क्षमा के योग्य उपायों के द्वारा प्रभु के दोष-दर्शन की दृष्टि को बदलकर अपराधी जीव को प्रभु-प्रिय बना देती हैं। पिता हितैषी होते हैं और माता प्रियैषिणी—

पितेव त्वत्प्रेयांजननि परिपूर्णांगी स जने,
हित स्रोतोतृत्या भवति च कदाचित्कलुषधीः।
किमेतन्निर्दोषः क इह जगतीति त्वमुचितै—,
रुपायैर्विस्मार्य स्वजनयसि माता तदसि नः॥

(श्री गुण ५२)

जनकनन्दिनी में प्राणिमात्र के लिए करुणा स्वाभाविक है। वे अक्षम्य-से-अक्षम्य अपने व्यक्तिगत अपराधी को भी बिना माँगे ही कृपापूर्वक क्षमादान देती हैं। अशोक-वाटिका में रावण के आदेशानुसार राक्षसियाँ क्रूरतापूर्वक उनको सदा सन्त्रस्त रखती थीं। लंका-विजय के बाद हनुमान जी ने सीता जी से जब उन महाअपराधिनी राक्षसियों के वध की आज्ञा माँगी, तब उन्होंने उन राक्षसियों के वध को रोकते हुए क्रुद्ध हनुमान को समझाया—

हे वानरोतम, चाहे कोई पापात्मा वध के योग्य ही क्यों न हो, किन्तु सज्जन को उस पर कृपा करनी चाहिए। ऐसा कोई नहीं है, जिससे अपराध नहीं हो पाता हो। लोक-हिंसा जिनका खेल है, उन इच्छानुसार रूपधारण करने वाले पापाचरण में लगे हुए राक्षसों की भी बुराई नहीं करनी चाहिए—

पापानां वा शुभानां वा वधार्हाणां प्लवंगम्।
कार्यं कारुण्यमार्येण न कश्चिन्नपराध्यति॥
लोकहिंसाविहाराणां रक्षसां कामरूपिणाम्।
कुर्वतामपि पापानि नैव कार्यमशोभनम्॥

(वा०रा० २।११६।४४-४५)

काकरूपधारी इन्द्र पुत्र जयन्त ने अपनी तीखी चोंच और कठोर पंजों के कठिन प्रहार से जगदम्बा जानकी जी के सम्पूर्ण शरीर को क्षतविक्षत कर दिया था। फिर भी जगदम्बा ने उसे अपना बेढंगा बेटा मानकर और करुणार्द्र होकर राघवेन्द्र के ब्रह्मास्त्र से उसकी रक्षा करायी। इसके बाद प्राणों के संशय में पड़े हुए कौए को सीता जी ने देखा और दया से द्रवित होकर अपने समर्थ स्वामी से बोलीं—इसकी रक्षा कीजिए। इसके बाद कृपामृत के समुद्र गुणवान् राम ने उस कौए को हाथ से उठाकर उसकी रक्षा की और दयापूर्वक उसे देखने लगे—

प्राणसंशयमापन्नं दृष्ट्वा सीताथ वायसम्।
त्राहि त्राहीति भर्वारमुवाच दयया विभुम्॥
तमुत्थाप्य करेणाथ कृपापीयूषवारिधिः।
ररक्ष रामे गुणवान् वायसं दययक्षत्॥

(पद्मपुराण, उत्तर० २६९।२०७)

जिस क्रूर कौए ने वात्सल्यमयी करुणामयी सीता माता को अकारण अपार कष्ट पहुँचाया, उस अक्षम्य अपराधी को भी उन्होंने क्षमा-दान दे दिया। अहैतुकी कृपा का ऐसा बेजोड़ उदाहरण नहीं मिल सकता। ऐसी सहज वात्सल्यमयी करुणामयी जगज्जननी का भगवान् राम की वामांगवर्तिनी अर्द्धांगिनी बनकर अपराधी जीवों के उपचार के लिए और उद्धार के लिए सदैव विराजमान रहना परमावश्यक है और सबका पावन कर्त्तव्य है, जगत्पिता राघवेन्द्र के साथ-साथ जगज्जननी जनकात्मजा का निरन्तर ध्यान करना। 'गिरा अरथ जल बीचि सम कहियत भिन्न-न-भिन्न' के अनुसार सीता जी और राम जी एक ही ब्रह्मतत्त्व के दो रूप हैं। इसीलिए वे अभिन्न हैं।

भगवान् राम के सामने विराजमान और भगवान् के चरणों में दृष्टि लगाये हुए, पवन-पुत्र हनुमान् जी का ध्यान करना है। सम्पूर्ण विश्व के भक्त तो अपने-अपने हृदय में श्री सीता-राम और श्री लक्ष्मण को बसाना चाहते हैं, किन्तु श्री सीता-राम जी और लक्ष्मण जी अपने प्राणरक्षक अंजना-नंदन को अपने-अपने मन में बसाये रहते हैं; और निरंतर अपनी सन्निधि में इन्हें सामने ही देखते रहना चाहते हैं। न इन तीनों के बिना मारुतात्मज रह सकते हैं, न मारुतात्मज के बिना ये तीनों।

हनुमान् जी सेवा-धर्म और उपकार-कर्म के अप्रतिम आदर्श हैं। उनकी स्वाभाविक सेवा और सहज उपकार से भगवान् राम, भगवती सीता और सेवाव्रती लक्ष्मण, इतने प्रभावित हैं कि उनके मन में हनुमान

जी की सेवा और उपकार के सजीव चित्र सदैव अंकित रहते हैं और विना हनुमान जी के उनका जी ही नहीं लगता। तभी तो गोस्वामी तुलसीदास जी लिखते हैं—

'राम लखन सीता मन बसिया' (ह०चा०)

सीतान्वेषण के असम्भव राम-कार्य को सुसम्पन्न करने के बाद जब अंजनानन्दवर्धन हनुमान ने श्री सीता जी का पूरा समाचार राम जी को सुना दिया, तब परमकृतज्ञ और परमकृपालु राघवेन्द्र जी कृतज्ञता के स्वर में अपने सहज सेवक और अनुपम उपकारी हनुमान् जी से कहने लगे—

सुनु कपि तोहि समान उपकारी। नहिं कोउ सुर नर मुनि तनुधारी।।
प्रति उपकार करौं का तोरा। सनमुख होइ न सकत मन मोरा।।
सुनु सुत तोहि उरिन मैं नाहीं। देखेउँ करि विचार मन माहीं।।
(मा० ५। ३१। ३-४)

कपि सेवा बस भए कनौड़े कह्यो पवनसुत आउ।
देवे को न कछू रिनियाँ हौ धनिक तू पत्र लिखाउ॥
(वि० प० पद १००)

पवन-पुत्र की अनुपम सेवा और बेजोड़ उपकार के सामने त्रिभुवन के स्वामी को त्रिभुवन की सारी-की-सारी सम्पत्ति इतनी तुच्छ प्रतीत हो रही है कि वह अंजनानन्दन को देने ही योग्य नहीं ठहरती। त्रिलोकीनाथ इतना अकिंचन बन गया है कि वह अपने महाजन हनुमान जी का ऋण चुकाने में असमर्थ हो गया है और ऋण-पत्र लिखने को प्रस्तुत हो गया है। धन्य है, सेवकाग्रगण्य हनुमान-सा परम दुर्लभ महाजन और धन्य है भगवान् राम-सा लोकोत्तर कृतज्ञ ऋणी। निष्काम सेवा का ऐसा चमत्कार हुआ कि पशु-योनि में जन्म लेकर भी हनुमान जी आराधक से आराध्य बन गये और अनंत ब्रह्माण्ड नायक भगवान् राम आराध्य से आराधक।

भगवान् के ध्यान से लोक और परलोक दोनों को परम प्रकाश मिलता है और विषयों के ध्यान से समूल सर्वनाश। स्वयं भगवान् ने बतलाया है—

ध्यायतोविषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते,
संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते।
क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः,
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥
(गीता २। ६२-६३)

विषयों का ध्यान करने वाले पुरुष को उनमें आसक्ति उत्पन्न होती है। आसक्ति से कामना होती है, इससे स्मृति में भ्रम पैदा होता है, भ्रम से बुद्धि का नाश होता है और बुद्धि का नाश होने से मनुष्य का पूर्ण विनाश हो जाता है।

इस प्रकार विषय-ध्यान से सम्पूर्ण विनाश होता है और परमात्म-ध्यान से परिपूर्ण कल्याण।

विषयों का ध्यान अन्धकार की ओर, असत्य की ओर और मृत्यु की ओर ले जाता है तथा परमात्मा का ध्यान प्रकाश की ओर, सत्य की ओर और अमृतत्व की ओर।

३९. पुनर्जन्म से त्राण

मर्त्यलोक से लेकर ब्रह्मलोक तक के सुख ऐश्वर्य प्राप्त करने पर भी जीवन के गिरने का भय बना रहता है, लेकिन जो सुखों के स्रोत, ऐश्वर्य के सागर, सच्चिदानन्द भगवान् को प्राप्त कर लेते हैं, उन्हें कभी गिरने का भय नहीं रहता। जो भगवान् का सतत् स्मरण करने वाले हैं, जिनके समस्त कार्य भगवान् के लिए होते हैं, जिन्हें अपनी कोई इच्छा नहीं, ऐसे व्यक्तियों को भगवान् अपने परमधाम में ले लेते हैं, जहाँ पहुँचकर वे पुनर्जन्म को प्राप्त नहीं होते। वहाँ से पुनः गिरने का कोई भय नहीं होता। अपने परमधाम के वर्णन में गीता में भगवान् कहते हैं—

न तद्भासयते सूर्यो न शशांको न पावकः।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥

'उस स्वयं प्रकाशमय परमपद को न सूर्य प्रकाशित कर सकता है, न चन्द्रमा और न अग्नि ही प्रकाशित कर सकती है तथा जिस परमपद को प्राप्त होकर मनुष्य पीछे संसार में नहीं आते हैं, वही मेरा परमधाम है।'

गीता में भगवान् ने परमधाम का स्वरूप बतलाया है—

अव्यक्तोक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥

'जो यह अव्यक्त' अक्षर ऐसे कहा गया है, उसी अक्षर नामक अव्यक्त भाव को परमगति कहते हैं तथा जिस सनातन अव्यक्त भाव को प्राप्त होकर मनुष्य वापस नहीं आते हैं, वह मेरा परमधाम है।'

४०. परमधाम क्या है ?

वास्तव में परमात्मा का मधुर मिलन ही परमधाम है। परमात्मा के बिना संसार दुःखों का घर है। जो अपने कर्मों से भगवान् में मिल गया, उसका पुनरागमन नहीं होता। जैसे नमक का बना हुआ हाथी यदि समुद्र में डाल दिया जाय तो वह पुनः लौटकर नहीं आ सकता, ठीक यही दशा उन संत-महात्माओं की है, जो अपने शुद्ध अन्तःकरण से भगवान् के समीप पहुँचकर भगवान् के साथ एकरूप हो जाते हैं। उनके जन्म-मरण का क्रम समाप्त हो जाता है। यह भगवत् मिलन ही भगवान् का परमधाम है।

संसार में बहुत से ऐसे व्यक्ति हैं, जो भगवान् से सम्बन्ध स्थापित करने को कोई महत्त्व नहीं देते। वे जागतिक दृष्टि से बड़े-बड़े व्यक्तियों से सम्पर्क स्थापित करने में ही अपना गौरव समझते हैं। यदि किसी का अपने देश के किसी बड़े अधिकारी से जैसे राष्ट्रपति या प्रधानमंत्री से कुछ संपर्क हो जाता है तो वह इसमें अपना विशेष गौरव मानता है और अपने को बड़ा भाग्यशाली समझता है तथा अभिमान में फूला नहीं समाता। किंतु परमात्मा के संबंध की तुलना में इन उच्चपदस्थ व्यक्तियों का संबंध कुछ भी महत्व नहीं रखता।

एक छोटे से उदाहरण से इसे समझो। कल्पना करो कि तुम राष्ट्रपति के परम मित्र हो, उनकी कृपा से राष्ट्र से तुम्हें सब प्रकार की सहायता प्राप्त हो सकती है। किन्तु तुम किसी नदी में स्नान कर रहे हो और घड़ियाल ने आकर तुम्हारा पैर पकड़ लिया। उस समय राष्ट्रपति के साथ तुम्हारी मित्रता कोई काम नहीं आ सकती। जब तक राष्ट्रपति को घड़ियाल द्वारा तुम्हारे पकड़े जाने की सूचना मिले और वे

बचाने की व्यवस्था कर सकें, तब तक घड़ियाल तुम्हें समाप्त कर चुकेगा। किन्तु ऐसे समय में यदि भगवान् का स्मरण करो तो वे तुमको तत्काल बचा सकते हैं। भगवान् तो तुम्हारे परम सुहृद हैं—'सुहृदं सर्वभूतानाम्' (गीता ५। २९)। वे तुम्हारे स्मरण मात्र पर सदा उपस्थित रहने वाले हैं। साथ ही वे सर्वसमर्थ हैं—कुछ भी उनकी सामर्थ्य के बाहर नहीं है।

४१. शरणागति भाव

भक्तों को सदा यह समझना चाहिए कि मैं भगवान् के सम्मुख हूँ और संसार पीछे छूट गया है। मनुष्य जैसा विचार करता है, वह क्रमशः वैसा ही बन जाता है। विचारों की विशेष प्रधानता मानी गयी है। 'मैं भगवान् के सम्मुख हूँ' इसका अर्थ यह है कि मैं भगवान् की शरण में हूँ। इसी को 'शरणागति' कहते हैं। जब तक भक्त भगवान् की शरण में नहीं जाता है, उसे भगवान् प्राप्त नहीं हो सकते। जो भगवान् की शरण में चला जाता है, उसे भगवान् निर्भय बना देते हैं। संत तुलसीदास ने कहा है—

मम पन सरनागत भय हारी॥

सुनि प्रभु बचन हरष हनुमाना। सरनागत बच्छल भगवाना॥

भगवान् शरणागत-वत्सल हैं। वत्सल का भी भाव बड़ा सुन्दर है। जैसे गौ अपने बछड़े के बदन पर लगे हुए मैल को स्वयं अपनी जीभ से चाट-चाट कर साफ करती है, उसे निर्मल बना देती है, वैसे ही भगवान् अपने भक्तों को पाकर द्रवित हो जाते हैं और उनके पापों का नाश कर देते हैं—

सरन गए प्रभु ताहु न त्यागा, विस्व द्रोह कृत अघ जेहि लागा।

सन्मुख होइ जीव मोहिं जबहीं, जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं॥

भगवान् के सम्मुख जाने का यही अर्थ है। भगवान् अपने भक्तों के सैकड़ों जन्मों के पापों को भी क्षमा कर दे सकते हैं। बड़े-से-बड़ा पापी भी, जिसने अपने को भगवान् को समर्पण किया, तुरन्त धर्मात्मा बन गया। गीता में भगवान् कहते हैं—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्,
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥ (९/३०)
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति,
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥ (९/३१)

अतिशय दुराचारी भी अनन्य भाव से भगवान् की शरण में यदि चला गया तो उसे साधु ही मानना चाहिए। यथार्थ में वह धर्मात्मा हो ही गया और भगवान् ने उसका उद्धार कर दिया। यही भगवान् के सम्मुख होने का अर्थ है।

'संसार पीछे छूट गया' इसका क्या भाव है? संसार तो माया है और वह नश्वर है। जब भगवान् की प्रतीति होगी तो माया का विनाश होगा ही। इसका विचार रखना होगा कि माया छूटे। माया से छूटने का सरल साधन है अपनी इच्छाओं का नाश; जहाँ मनुष्य की एक इच्छा की पूर्ति हुई कि दूसरी इच्छा सामने चली आती है। उसकी भी पूर्ति के लिए विकलता आरम्भ हो जाती है। इस तरह इच्छा पर इच्छा आती गयी और उसका एक जाल बन गया। यही संसार है, जिससे विरक्त होने का भाव मन में करना है और जिसे क्रमशः त्यागना है।

यह जगत् नश्वर है, एकमात्र भगवान् ही शाश्वत हैं। इस जगत् का नाश होना ही है। भगवान् की ही स्थिति सदा-सर्वदा है और रहेगी। भगवान् कालों के भी काल महाकाल हैं। उनको काल नहीं खाता, काल भी उन्हीं में विलीन हो जाता है। इसलिए ऐसे भगवान् जिसके सम्मुख और सहायक हों, उसे भय किसका? भगवान् को केवल भक्ति और भाव चाहिए। वे तो भक्तों के अधीन रहने वाले हैं। जहाँ भक्त उन्हें शुद्ध मन से याद करते हैं, वहाँ वे तत्क्षण पहुँच जाते हैं।

भगवान् को अपने सम्मुख रखने का एक भाव यह भी है कि वे प्रणत के पथनिर्देशक हों। यह बड़ा उच्च भाव है जो अर्जुन के जीवन में प्रत्यक्ष हुआ है। यदि अर्जुन ने अपने जीवन-रथ का सारथि भगवान् को न बनाया होता तो महाभारत की लड़ाई में पाण्डवों की जीत नहीं होती। इसलिए हर एक भक्त का यह ध्यान होना चाहिए कि वह भगवान् के सम्मुख है और भगवान् भी उसके सम्मुख हैं। भगवान् से सदा यही विनय करनी चाहिए कि वे आगे रहकर मार्ग-निर्देशन करें और कहीं से पतन न होने दें। यहीं शरणागति और उसका रहस्य है।

४२. संसारासक्ति से परित्राण

संसार की आसक्ति कठिनाई से, यत्न द्वारा ही छूट सकती है। उसके प्रति उदासीन होना सहज नहीं। जिसका संसार यह है, उस परमात्मा की कृपा के बिना भव-मोह नहीं जाता। इसलिए उसकी शरण जाना ही इस व्याधि से मुक्त होने का उत्तम उपाय है। किन्तु सच्चा शरणागति-भाव भी सहज उत्पन्न नहीं होगा, उसके लिए निरन्तर अभ्यास करना होता है। परमपद की प्राप्ति का मार्ग आसान नहीं है। गीता में भगवान् ने कहा है —

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषाअध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैर्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत्॥

'अर्थात् जिनमें मान और मोह यानी अहंकार एवं मिथ्यानुराग दूर हो गये हैं, आसक्ति के दोष को जिन्होंने जीत लिया है, परमात्मा के स्वरूप में, यानी आत्मज्ञान में जिनकी निरन्तर स्थिति है तथा जिनकी सारी इच्छाएँ भली-भाँति मिट गयी हैं, ऐसे सुख-दुःख नामक द्वन्द्वों से विमुक्त हुए ज्ञानीजन, उस अविनाशी परमपद को प्राप्त होते हैं।'

४३. मनुष्य देह की सार्थकता

परमात्मा की सृष्टि में मानव शरीर सर्वश्रेष्ठ है। यह शरीर करुणामय परमात्मा ने अत्यन्त कृपा करके दिया है, क्योंकि मनुष्य के अलावा अन्य सभी चौरासी लाख योनियाँ भोग प्रधान हैं, मात्र मनुष्य शरीर ही कर्म प्रधान है। बुद्धिमान् एकाग्रचित्त से इस शरीर में ईश्वर का साक्षात् अनुभव कर सकता है।

मनुष्य शरीर, ज्ञान तथा भक्ति प्राप्त करने का साधन होने से सर्वश्रेष्ठ है। उसमें भी भारतभूमि पर उत्पन्न मनुष्यों के लिए तो कहना ही क्या है। श्रीमद्भागवत में एक स्थान पर देवता लोग कहते हैं—

अहो अमीषां किमकारि शोभनं प्रसन्न, एषां स्विदुत स्वयं हरिः।
यौजन्म लब्धं नृषु भारताजिरे, मुकुन्द ऐवोपयिकं स्पृहाहिनः॥

अर्थात् इन मनुष्यों ने क्या पुण्य किया है कि इनके ऊपर हरि प्रसन्न हुए हैं, जिससे हरि-सेवा निमित्त इनको भारत-भूमि में मनुष्य जन्म प्राप्त हुआ। हमारी भी ऐसी ही अभिलाषा है। ऐसा परम मंगलमय मानव

शरीर पाकर भी यदि मनुष्य विषयों में लिप्त है तो इससे बड़ा दुर्भाग्य और क्या हो सकता है? गोस्वामी तुलसीदास ने कहा है—

काँच किरिच बदले ते लेहों, करेत डारि परसमनि देहों॥

इस मूल्यवान शरीर की तुझे पहचान ही नहीं है, तू सत्त्व को भूल बैठा है। तू इसे करुणामय परमात्मा के आचरणों में समर्पित कर, आनन्द-सिन्धु में गोते लगा सकता है। आध्यात्मिकता ही मानव जीवन का परम ध्येय है। तैत्तिरोयोपनिषद् (२।१।१) घोषित करती है—

ब्रह्मविदाप्नोति परम तदेषाभ्युक्ता सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म,
यो वेद निहितं गुहायां परमें व्योमन्।

अर्थात् यह जगत् पूर्ण चिन्मय है। इसकी सीमित एवं क्षण-स्थायी अभिव्यक्ति के भीतर एक ऐसी व्यापक सत्ता है, जो असीम चित् और असीम आनन्द रूप है। सीमित मानव का अन्त एवं लक्ष्य इसी असीम आत्मा की साधना द्वारा पूर्णत्व की प्राप्ति है।

श्री नारायण ही एकमात्र परम सुख और शाश्वत शान्ति के केंद्र हैं, एकमात्र वे ही संसार में प्राप्तव्य वस्तु हैं, उनके श्री चरणों में अनन्य निष्ठा रखते हुए उनकी प्राप्ति हेतु मनोयोग से साधन-भजन करना ही मनुष्य जीवन के कर्त्तव्य का पालन करना है। परन्तु मनुष्य अपनी बुद्धि को भोगासक्ति से पापार्जन में लगा रहा है। सूरदास जी ने कहा है—

काया हरि के काम न आई।
भाव भक्ति जहँ हरिजस सुनियत तहाँ जात अलसाई,
लोभातुर ह्वै काम मनोरथ तहाँ सुनियत उठि धाई।
चरन कमल सुन्दर जहँ हरि के क्यों हूँ न जात नवाई,
जब लगि श्याम अंग नहिं परसत अंधे ज्यौं भरमाई।
सूरदास भगवंत भजन तजि विषय परम विष खाई॥

जिस मनुष्य जीवन को शास्त्रों ने और संतों ने देव-दुर्लभ बताया है, उसकी सार्थकता भोग भोगने में नहीं, क्योंकि वह तो पशु-जीवन में भी सुलभ है। इसी से विषयानुरागी मनुष्य को भाग्यहीन बतलाया गया है—

सुनहु उमा ते लोग अभागी, हरि तजि होहिं बिषय अनुरागी।
तुलसिदास हरिनाम सुधा तजि, सठ हठि पियत विषय-विष माँगी।
सूकर-स्वान-सृगाल-सरिस जन, जनमत जगत जननिदुख लागी॥

अतः भगवत्प्राप्ति के पवित्र मार्ग पर आरूढ़ हो जाओ। मन को परमात्मा के चरणों में लगाओ, भगवत्पीत्यर्थ सारे काम करो तथा तत्परतापूर्वक भगवत्सेवा करो। तन-मन-धन तीनों लगाये बिना भक्ति नहीं होगी। जब अर्थ और क्रिया के साथ भावना होती है, तब सच्चाई आती है। जहाँ तक बन पड़े, खूब भगवन्नाम जप करो, संकीर्तन करो, संत-भक्तों की सेवा करो, दीन-दुःखियों की सहायता करो, भगवान् के महोत्सव करो तथा रामायण-गीता का श्रद्धापूर्वक नित्यप्रति पाठ करो। कुशल मनुष्य वे ही हैं, जो शरीर को संसार का अंश मान कर शुभ संकल्प से सभी भूत प्राणियों की सेवा, बुद्धि से परमात्मा का निश्चय और मन से भगवान् की उपासना करते हैं। भगवान् अवश्य दर्शन देंगे—इसी भावना और लगन के साथ भगवद्सेवा करो। श्रीमद्भागवत में ब्रह्मा ने कहा है—

तत्तेऽनुकम्पा सुसमोक्षमाणो, भुञ्जान एकवात्मकृतं विपाकम्।
हृद् वाग्वपुर्भिविदक्षनमस्ते, जोवेत् यो मुक्तिपदे स दायभाक्॥

(ज० १४।८)

ब्रह्मा जी कहते हैं कि श्यामसुन्दर, जो यह प्रतीक्षा करता है कि आप कब कृपा करेंगे और इस प्रतीक्षा के साथ प्रारब्ध को भोगता हुआ नमस्कार करता रहता है, आपकी भक्ति करता है, वह मुक्तिपद का अधिकारी हो गया। मुक्ति तो उसका स्वत्व बन चुकी है।

दयामय प्रभु से प्रार्थना करो—

नाथ योनि सहस्त्रेषु येषु व्रजाम्यहम्,
तेषु तेष्वच्युता भक्ति रच्युतास्तु सदा त्वयि।
या प्रोतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनो,
त्वामनुस्मरंतः सा मे हृदयान्मापसर्पतु॥

(विष्णु पु० १।२०।१८-१९)

हे नाथ! सहस्त्र योनियों में से जिस-जिस में मैं जाऊँ, उसी-उसी में हे अच्युत! आप में मेरी सर्वदा अक्षुण्ण भक्ति रहे। अविवेकी पुरुषों को विषयों में जैसी अविचल प्रीति होती है, वैसी ही प्रीति आपका स्मरण करते हुए हृदय से कभी दूर न हो।

भक्ति मार्ग में जीवन के अन्तिम श्वास तक विश्वास और धैर्यपूर्वक लगे रहना चाहिए, क्योंकि जन्म-जन्मान्तर की घोर साधना के पश्चात् भगवद्-साक्षात्कार होता है। गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है—

अनेक जन्म संसिद्धस्ततो याति परां गतिम्।

मंगलमय भगवान् यद्यपि सभी के हृदय में समान रूप से विराजमान हैं, परन्तु अंतःकरण की अशुद्धि के कारण उनका साक्षात्कार नहीं होता। यदि दर्शन की अभिलाषा है तो दर्पण को माँजते रहो।

दर्पण लागो काई, तब दरश कहाँ से पाई?

मानस में भी निर्देश है—

निर्मल मन जन सो मोहि पावा। मोहि कपट छल छिद्र न भावा॥

सावधानी और तत्परता से भजन-ध्यानादि साधनों का अनुष्ठान करते रहो। कालान्तर में तुम्हारा मन पवित्र हो जायगा। मन के ऊपर सत्संग का और भक्ति का अंकुश होगा, सतत ईश्वर चिन्तन होता रहेगा तो अन्दर के विकार धीरे-धीरे दूर हो जायंगे।

४४. सुर-दुर्लभ मानव शरीर और शरणागति

ईश्वर की तुम सब पर असीम कृपा है कि तुम्हें सुर-दुर्लभ, मानव-शरीर प्राप्त हुआ है, और भारत-भूमि जैसी पावन भूमि पर तुमने जन्म लिया है जहाँ आने को बड़े-बड़े देवी-देवता भी लालायित रहते हैं। कहा गया है—

गायन्ति देवाः किलगीतकानि। धन्यास्तु ते भारत भूमि भागे।।
स्वर्गावपर्गास्पद मार्ग भूते। भवन्ति भूयेः पुरुषाः सुरत्वात्।।

भगवत्कृपा के बिना मनुष्य शरीर पाना दुर्लभ है। जब जीव चौरासी लाख योनियों में भ्रमण करते-करते थक जाता है, तब परमात्मा करुणार्द्र हो उसे मानव-शरीर धारण करने का सुअवसर प्रदान करते हैं। गोस्वामी तुलसीदास ने कहा है—

नर तन सम नहिं कवनेहुँ देही, जीव चराचर जाँचत तेही।
कबहुँक करि करुना नर देही, देत ईस बिनु हेतु सनेही।
सरग नरक अपवर्ग निसेनी, ग्यान बिराग भगति सुख देनी।।

मनुष्य-जन्म की सार्थकता भगवत्प्राप्ति में ही है। अखिल ब्रह्माण्ड-नायक—इस प्रपंच के कर्ता, भर्ता और संहर्ता—की शरणागति सभी

सांसारिक बाधाओं का नाश करने वाली, सभी सुखों एवं मंगलों की विधायिका है।

सुखी मीन जे नीर अगाधा। जिमि हरि सरन न एकउ बाधा॥

भगवद्शरणागति जीव को निर्द्वन्द्व एवं निर्भय बनाने वाली है। शरणागत सब प्रकार से निश्चिन्त एवं निर्भय विचरण करता है।

अनादिकाल से यह जीव श्री नारायण से विलग हो गया है। यह जब सतत् निष्ठायुक्त साधना द्वारा पुनः श्री नारायण को प्राप्त कर लेगा, तो फिर यह जगत् नहीं रहेगा, न जीवन नाम की संज्ञा ही रहेगी, सारे शोक-दुःख समाप्त हो जायंगे। परमात्मा से भिन्न सांसारिक वस्तुओं का स्मरण ही दुःख का कारण है। जहाँ जगत है वहीं सुख और दुःख भी हैं, जहाँ जगत नहीं है वहाँ न तो सुख है और न दुःख ही है, वहाँ तो केवल परमानन्द है। संसार की ओर उन्मुख ममता के प्रवाह को भगवान् के श्रीचरणों से जोड़ दो, इसी में कल्याण है। गोस्वामी तुलसीदास ने कहा है—

तुलसी ममता राम सौ, ममता सब संसार।
राग न द्वेष न दोष दुःख, दा भये भव पार॥
सब कर ममता ताग बटोरी।
मम पद मनहिं बाँधि बर डोरी॥

मनुष्य का मन प्रायः हर समय सांसारिक पदार्थों का चिन्तन करके मूल्यवान् समय व्यर्थ नष्ट करता है। सांसारिक सुख और भोग विचार कर देखो कि क्या हैं। ये सब बन्धन के, मोह के, भ्रम के, अविद्या के और अविवेक के कारण हैं। संसार में रहकर संसार को छोड़ना सीखो। अपनी जीवन नौका को भगवान् के बनाये संसार में तैरने दो तो कभी दुःख की अनुभूति नहीं होगी। कष्ट तभी होता है जब तुम स्वनिर्मित संसार को ही सत्य मान कर उसके जल को अपनी जीवन नौका में भरने लगते हो। चिन्तन की दिशा मोड़ने के लिए नेत्र मूँद कर बिना जिह्वा हिलाये राम-नाम जपो और यह ध्यान रखो कि संसार पीछे छूट गया है, तुम श्री नारायण के समक्ष करबद्ध खड़े हो और प्रभु की प्रेममयी दृष्टि तुम पर पड़ रही है। इस प्रकार निरन्तर अभ्यास करने से मन संसार के विषयों से हट जाता है और परमात्मा के चरणों में—भगवत्स्वरूप में टिक जाता है।

जीव मात्र परमात्मा की प्रिय संतान हैं। भगवान् कृष्ण ने गीता (१४।४) में कहा है—

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः।
तासाँ ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता॥

परमात्मा को अपने प्रिय पुत्रों से मिलने की तीव्र इच्छा रहती है, किन्तु अभागा जीव बड़ा ही कृतघ्न है। वह प्यारे प्रभु से मिलने की इच्छा ही नहीं करता, शूकर-कूकर की भाँति सांसारिक भोगों में ही लिप्त रहा करता है। जीव यदि एक बार भी ईश्वर से मिल ले, परमात्मा यदि एक बार उसे अपने हृदय से लगा ले, उसका आलिंगन कर ले, तो फिर कभी भी ईश्वर से उसका वियोग नहीं होगा। वह अपने प्रेमास्पद में मिलकर ईश्वर रूप हो जायगा।

लाली मेरे लाल की जित देखूँ तित लाल।
लाली देखन मैं गयी, मैं भी हो गई लाल॥

और—

अब प्रभु कृपा करहुँ एहि भाँती। सब तजि भजन करहूँ दिन राती॥
यहि वर माँगउ कृपा निकेता। बसहु हृदय श्री अनुज समेता॥

४५. सच्चा वैष्णव

मात्र तिलक, छाप, कंठी, माला और रामनामी धारण करने से कोई वैष्णव नहीं बन सकता। ये सब तो वैष्णवता के बाह्य चिह्न मात्र हैं। जिन्होंने दया, क्षमा, अनसूया, शौच, मांगल्य, अकार्पण्य और अस्पृहादि गुणों को हृदय में धारण किया है, वे ही सच्चे वैष्णव हैं।

परम वैष्णव भक्त नरसिंह मेहता ने वैष्णवों का लक्षण बतलाते हुए कहा है—

वैष्णव जन तो तेने कहिये जे पीर पराई जाने रे।
पर दुःखे उपकार करे ते मन अभिमान न माने रे॥

अगर भक्त वैष्णव बनना चाहता है तो सर्वप्रथम प्राणिमात्र की सेवा का दृढ़ व्रत धारण करना होगा। जो प्राणियों के सुख-दुःख में खड़े होते हैं, परमात्मा भी उनके साथ खड़े होते हैं। तुम अपने मन में दूसरों को स्थान दोगे तो परमात्मा भी अपने हृदय में तुम्हें स्थान देंगे।

एक फकीर ने कहा है—

खुदा रहम करता न उसके असर पर।
न हो दर्द की चोट जिसके जिगर पर॥
गुजर जाये आफत किसी के भी सर पर।
पड़े गम का साया न उस बेअसर पर॥

उस दयामय प्रभु को दीन प्यारा है—

जेहि दीन पियारे, वेदपुकारे................।

दीनों की सेवा के लिये ही उनका अवतार होता है। तन, मन, धन सभी तो श्री नारायण की ही सम्पत्ति हैं, फिर उन्हें प्रभु के काम में लगा देने में अनिष्ट कैसा? इसी से यदि असहाय, रोगी, आर्त्त मनुष्य की सेवा करते-करते भक्त के प्राण चले जाते हैं या भूखे गरीबों की क्षुधा मिटाने में भक्त की सारी सम्पत्ति स्वाहा हो जाती है, तो वह अपने को धन्य समझता है और वही उस महाप्रभु का प्रिय एवं कृपापात्र भक्त है।

भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है—

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च,
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमो॥
सन्तुष्टः सततं योगी यदात्मा दृढ़निश्चयः,
मय्यर्पित मनो वुण्दिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥

(गीता १२।१३-१४)

व्यास जी ने स्कन्द पुराण में वैष्णवों का लक्षण बतलाते हुए कहा है—

उपकृति कुशला जगत्स्वजस्त्रं पर, कुशलानि निजानि मन्यमानाः।
अति अपि परपरि भावने दयार्द्राः शिवमनसः खलु वैष्णवाः प्रसिद्धाः।।
वृषदि पर धने च लोष्टखण्डे पर वनितासु च कूट शाल्मलीषु।
सखिरिपु सहजेषु बन्धुवर्गे सममतयः खलु वैष्णवाः प्रसिद्धाः।।

समस्त विश्व का उपकार करने में जो निरन्तर कुशलता का परिचय देते हैं, दूसरों की भलाई को अपनी ही भलाई मानते हैं, शत्रु का भी पराभव होता देखकर उसके प्रति दया से द्रवीभूत हो जाते हैं तथा जिनके चित्त में सबका कल्याण बसा रहता है, वे ही वैष्णव के नाम से प्रसिद्ध हैं। जिनको पत्थर, परधन और मिट्टी के ढेले में, परायी स्त्री और कूट शाल्मली नामक नरक में स्थित उसी नाम के काँटेदार वृक्षों में (जिनके स्पर्श से अंग छिद जाते हैं) मित्र, शत्रु तथा बन्धुओं में समान बुद्धि है, वे ही निश्चित रूप से वैष्णव के नाम से प्रसिद्ध हैं।

वैष्णव भक्त अपना हृदय, मन, बुद्धि, शरीर, परिवार, धन, ऐश्वर्य, वासना तथा कामना आदि सब कुछ भगवान् के चरणों में अर्पण कर निश्चिन्त हो जाता है। वह सारे संसार को अपने स्वामी से व्याप्त देखता है और अखिल विश्व के चराचर जीवों के साथ प्रेम करता है।

सो अनन्य जाके असि मति न टरई हनुमंत।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत॥

परमात्मा ने मनुष्य-शरीर इसलिए दिया है कि इससे मनुष्य अपना कल्याण साधन करे और यथाशक्य जैसा बन पड़े, दूसरों का उपकार करे। यदि श्रीनारायण महाप्रभु को प्रसन्न करना चाहते हो तो उनके प्यारे पुत्रों की सेवा करो। इससे वह विश्व-पिता, शीघ्र प्रसन्न हो दर्शन दें कृतार्थ करेंगे। पूजा करो, भगवान् के नाम की रट लगाओ, लेकिन उनकी सन्तान का तिरस्कार करो तो लोग भले ही तुम्हें महात्मा कहें, परन्तु उन दयामय ईश्वर का कृपापात्र नहीं बन सकते—

ग्रंथ पंथ सब जगत के बात बतावत तीन।
राम हृदय मन दया, तन सेवा लीन॥
चींटी से हस्ती तलक, जितने लघुगुरु देह।
सबको सुख देवी सदा परम भक्ति है येह॥

जो साधक इसी जन्म में ईश्वर का साक्षात्कार करना चाहता है, उसे सोच-समझकर विवेकपूर्वक जीवों पर दया करनी चाहिए। जहाँ तक हो सके दूसरों का भला करो। हर रोज सोचो—क्या मैंने आज किसी की कुछ सहायता की है, क्या मैंने जो परमात्मा को पसन्द आये, ऐसा कुछ कार्य किया है?

○○



दुर्लभ भाव-मुद्रा श्री बाबा

प्रकीर्णक

(पञ्चम खण्ड)

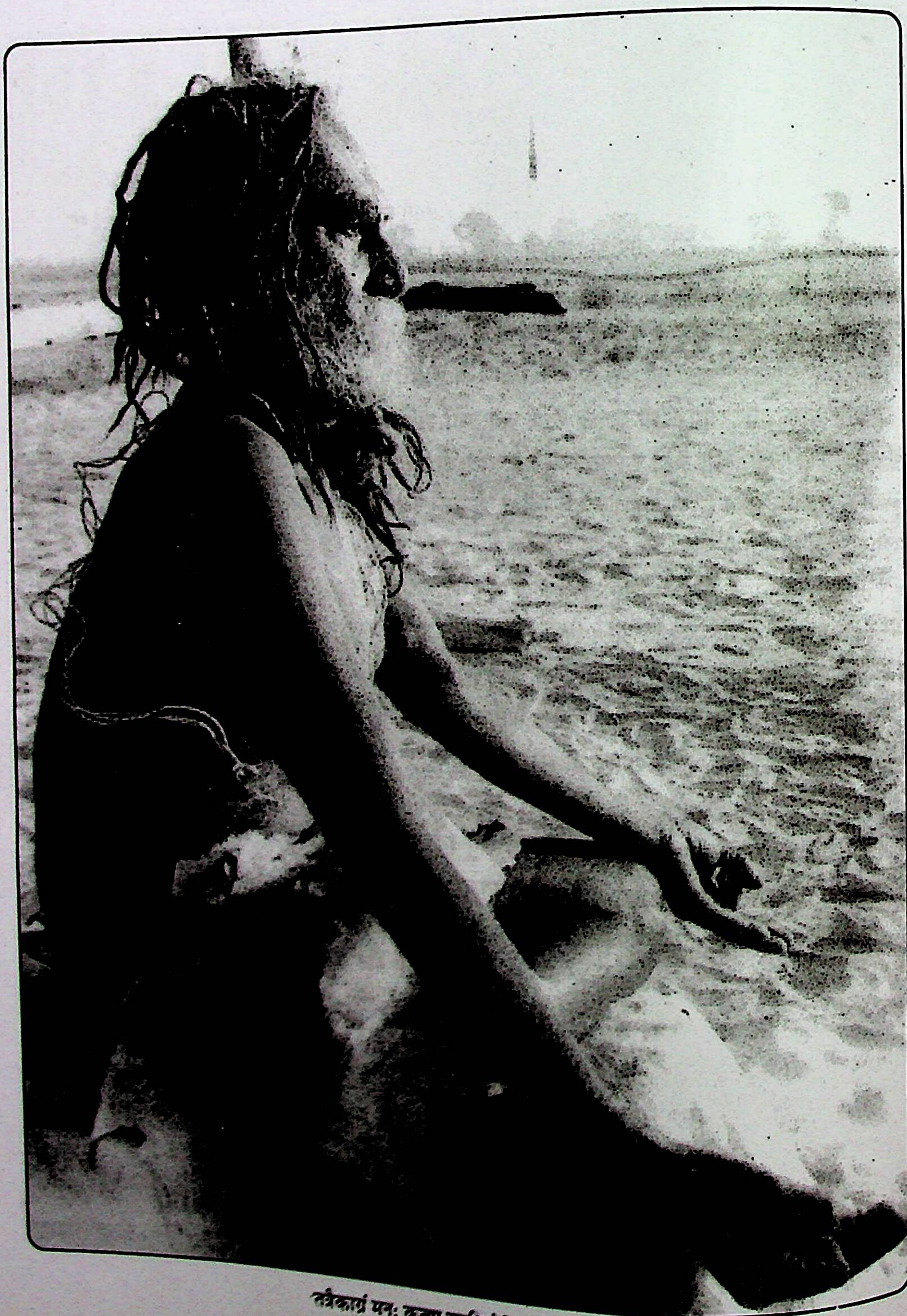


सूक्तिबोधामृतैः पूर्णं श्रेष्ठैः प्रकरणैर्युतम्।
दिव्यदर्शनसम्बद्धं श्रेयं श्रेयः प्रकीर्णकम्॥

'श्रेष्ठतम प्रकरणों, सूक्तियों, बोधकथाओं और अमृतोपदेशों से परिपूर्ण दिव्यदर्शन का प्रकीर्णक खण्ड सभी प्राणियों के श्रेय का कारक हो।'



श्री बाबा—अभय मुद्रा में



तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रिय ...

अमृतोपदेश

[प्रस्तुत प्रकरण में संकलित उपदेशामृत, पूज्यचरण श्री बाबा से उनके लार रोड सरयू-तट आश्रम पर एवं प्रयाग, वृन्दावन, हरिद्वार, वाराणसी आदि पुण्यस्थलों में, उनके अवस्थान-काल में प्राप्त हुए। इनका आकलन तथा संचयन अनेक सूत्रों से विभिन्न समय में किया गया।]

१. तमसो मा ज्योतिर्गमय

'यन्नवे भाजने लग्नः संस्कारो नान्यथा भवेत्।'

बाल्यावस्था में कोमल चित्त-वृत्तियों पर जो प्रभाव पड़ता है वह अमिट हो जाता है। बालकों का निर्मल मन साधना के क्षेत्रों में भी सहायक बनता है। अतएव महापुरुष प्रायः अपने बचपन में ही साधनालीन हो गये थे।

अतः बाल्यावस्था में ही यदि त्याग, तप और साधना करोगे तो महती सफलता प्राप्त होगी। अपने प्रत्येक क्षण का सदुपयोग करो। प्रातः तीन बजे ही निद्रा त्याग कर स्नानादि से निवृत्त होकर योग साधना में लीन हो जाओ। दुर्लभ अवसर कभी नहीं छोड़ना चाहिए। देखो, भर्तृहरि ने लिखा है—

यावत्स्वस्थमिदं शरीरमरुजं यावज्जरा दूरतो,
यावच्चेन्द्रिय शक्तिरप्रतिहता यावत्क्षयो नायुषः।
आत्मश्रेयसि तावदेव विदुषा कार्यः प्रयत्नो महान्,
प्रोद्दीप्ते भवने तु कूप खनने प्रत्युद्यमः कीदृशः॥

इसका भाव यह है कि जब तक यह शरीर व्याधि रहित हो और इसे बुढ़ापा न घेर ले, जब तक कि आयु क्षीण न हो जाय उससे पहले ही मनुष्य को आत्म कल्याणार्थ प्रयास करना चाहिए। आग लगने के बाद उसे बुझाने के लिए कुआँ खोद कर जल निकालने का प्रयास करना मूर्खता ही होती है। अतः प्रभु ने कृपा करके एक बड़ा ही दुर्लभ अवसर प्रदान किया है। इसका सदुपयोग कर सार्थक करना चाहिए। अन्यथा तुम्हारे द्वारा न लोक का उपकार होगा न परलोक का। शरीर-पोषण की चिन्ता मत करो, यह तो मात्र साधन है। उद्धार तो अपनी आत्मा का करना है। शरीर को पोसोगे तो आत्मा निर्बल और मलिन हो जायगी। घी से चुपड़ी रोटी की अपेक्षा रूखी रोटी ही सन्तों और साधकों को लाभप्रद होती है। यदि दर्पण में घी लगा हो तो उसमें मुँह नहीं दिखता। यदि उसे सूखी राख से ही मल दिया जाय तो वह साफ हो जाता है और उसमें प्रतिबिम्ब साफ हो जाता है। मन भी एक दर्पण है। इसे घी आदि से मलिन न बनाओ।

२. एको देवः

शास्त्रों के शब्दजाल के भीतर जाना पड़ता है, तब उनका मर्म समझ में आता है। परमतत्त्व तो एक ही है। वही नानारूपों में भासता है। वही एक अनेक बनकर दिखता है। अपने 'इष्ट' को पूरी श्रद्धा और विश्वास से पकड़ना है। अपने इष्ट तक पहुँच गये तो समझो परमतत्त्व तक पहुँच गये। भगवान् साधक के भाव के अनुरूप दर्शन देते हैं। किसी के लिए '**धनुष चाप धर**' है तो किसी के लिए '**मुरली धर**'। अपने-अपने भाव की पगडंडी पकड़कर उस भाव-पुरुष की ओर बढ़ना पड़ता है। भाव-पुरुष के सान्निध्य में पहुँचने पर तो फिर सब कुछ तदाकार ही दृष्टिगोचर होता है, कहीं कोई भिन्नता नजर नहीं आती—'**सर्वं खल्विदं ब्रह्म।**' छोटा-बड़ा कोई नहीं है। सभी प्रभु की लीला-मूर्ति ही हैं।

पुराणों में और शास्त्रों में एक देवता को श्रेष्ठ और दूसरे को जो छोटा कहा गया है, उसका उद्देश्य मात्र इतना ही है कि उस ग्रन्थ द्वारा प्रतिपादित मार्ग का अनुसरण करने वाला साधक अपने इष्टदेवता में अनन्यनिष्ठा प्राप्त करे। लक्ष्य तक पहुँचने के लिए अनन्यनिष्ठा अनिवार्य है; एकनिष्ठ होना ही पड़ेगा। अनन्य भाव से जैसे ही साधक उपासना प्रारम्भ करता है और उसका चित्त अन्तर्मुख होता है कि बड़े-छोटे की भ्रान्ति समाप्त हो जाती है। जब भगवद्दृष्टि हो जाती है तो भक्त को सर्वत्र उसके प्रभु के रूप के ही दर्शन होते हैं। '**वासुदेवमिति सर्वम्**'— ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर सभी एक ही हैं। महाशक्ति स्वरूपा-देवियाँ भी तो 'एक' के तेज से ही उत्पन्न हुई हैं। साधक प्रारम्भ में किसी को श्रेष्ठ मानकर उपासना शुरू करता है। अगर उसमें पाखण्ड नहीं है, सच्ची लगन और निष्ठा है तो ज्यों-ज्यों उसकी साधना प्रगाढ़ होती जायगी, उसकी दृष्टि का विस्तार होता जायगा और चित्त की मलिनता घटती जायगी। चित्त के निर्मल होते ही ईश्वर की सर्वव्यापकता अनुभूत होने लगेगी और किसी भी कारण से उत्कृष्टता-निकृष्टता का भाव ही उदित नहीं होगा। भेदभाव तो बाहर रहने पर है, दूर खड़े रहने पर है। तपश्चर्या से निर्मल चित्त अभेद-भाव से इष्ट के नाम, रूप, लीला और धाम को ग्रहण करता है।

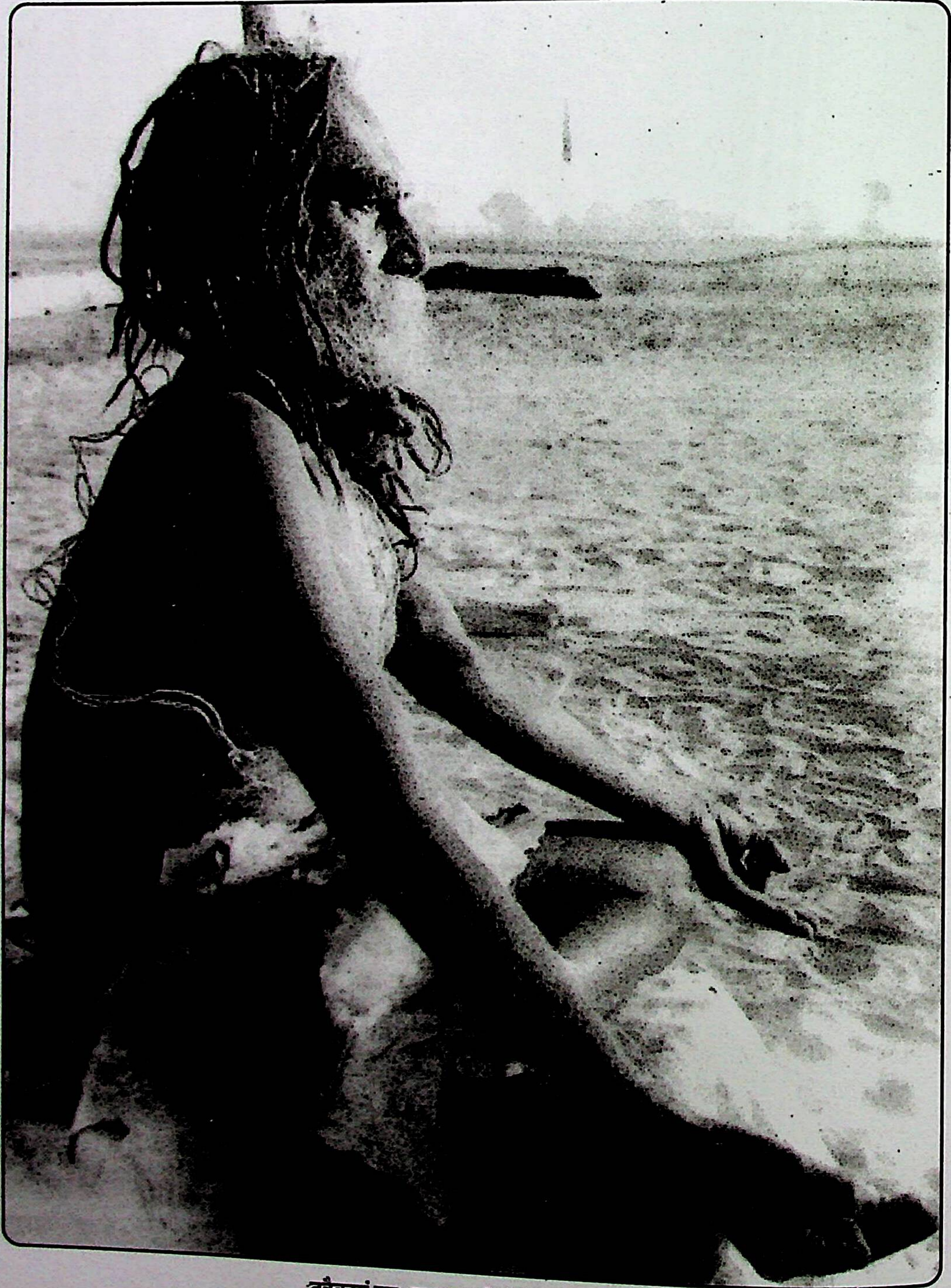
इष्ट-प्राप्ति के चार साधन बताये गये हैं—नाम, रूप, लीला और धाम। ये चारों चिन्मय हैं। इनमें से किसी एक का भी अवलम्ब लिया जाय तो लक्ष्य तक पहुँचा जा सकता है।

रामस्य नाम रूप च लीला धाम परात्परम्।
एतच्चतुष्टयं नित्यं सच्चिदानन्द विग्रहम्॥

(वसिष्ठ-संहिता)

अर्थात् राम (इष्ट) के नाम, रूप, लीला और धाम श्रेष्ठ-से-श्रेष्ठ हैं। ये नित्य मूर्तिमान् सच्चिदानन्द हैं। नाम को ही लो। नाम और नामी अभिन्न होते हैं। नाम अलौकिक शक्तिसम्पन्न है। इसके प्रभाव से ऐश्वर्य, मोक्ष एवं भगवत्प्रेम प्राप्त होता है।

नाम-जप करो। पूरी श्रद्धा और विश्वास के साथ नाम लो। इसी से कल्याण होगा। यही तप है, यही यश है, यही प्रेम है। वाक् या शब्द से ही समस्त भुवन उत्पन्न हुए हैं। शब्द ब्रह्म है। यह शब्द ब्रह्म परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी के रूप में क्रीड़ा करता है। नाम-जप और नाम-कीर्तन से धीरे-धीरे मनोराज्य घटेगा और प्रसन्न होकर प्रभु स्वयं मन को अन्तर्मुख कर देंगे। भगवान् के सारे नाम-रूप मन को अन्तर्मुख ही करते हैं।



तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रिय ...

अमृतोपदेश

[प्रस्तुत प्रकरण में संकलित उपदेशामृत, पूज्यचरण श्री बाबा से उनके लार रोड सरयू-तट आश्रम पर एवं प्रयाग, वृन्दावन, हरिद्वार, वाराणसी आदि पुण्यस्थलों में, उनके अवस्थान-काल में प्राप्त हुए। इनका आकलन तथा संचयन अनेक सूत्रों से विभिन्न समय में किया गया।]

१. तमसो मा ज्योतिर्गमय

'यन्नवे भाजने लग्नः संस्कारो नान्यथा भवेत्।'

बाल्यावस्था में कोमल चित्त-वृत्तियों पर जो प्रभाव पड़ता है वह अमिट हो जाता है। बालकों का निर्मल मन साधना के क्षेत्रों में भी सहायक बनता है। अतएव महापुरुष प्रायः अपने बचपन में ही साधनालीन हो गये थे।

अतः बाल्यावस्था में ही यदि त्याग, तप और साधना करोगे तो महती सफलता प्राप्त होगी। अपने प्रत्येक क्षण का सदुपयोग करो। प्रातः तीन बजे ही निद्रा त्याग कर स्नानादि से निवृत्त होकर योग साधना में लीन हो जाओ। दुर्लभ अवसर कभी नहीं छोड़ना चाहिए। देखो, भर्तृहरि ने लिखा है—

यावत्स्वस्यमिदं शरीरमरुजं यावज्जरा दूरतो,
यावच्चेन्द्रिय शक्तिरप्रतिहता यावत्क्षयो नायुषः।
आत्मश्रेयसि तावदेव विदुषा कार्यः प्रयत्नो महान्,
प्रोद्दीप्ते भवने तु कूप खनने प्रत्युद्यमः कीदृशः॥

इसका भाव यह है कि जब तक यह शरीर व्याधि रहित हो और इसे बुढ़ापा न घेर ले, जब तक कि आयु क्षीण न हो जाय उससे पहले ही मनुष्य को आत्म कल्याणार्थ प्रयास करना चाहिए। आग लगने के बाद उसे बुझाने के लिए कुआँ खोद कर जल निकालने का प्रयास करना मूर्खता ही होती है। अतः प्रभु ने कृपा करके एक बड़ा ही दुर्लभ अवसर प्रदान किया है। इसका सदुपयोग कर सार्थक करना चाहिए। अन्यथा तुम्हारे द्वारा न लोक का उपकार होगा न परलोक का। शरीर-पोषण की चिन्ता मत करो, यह तो मात्र साधन है। उद्धार तो अपनी आत्मा का करना है। शरीर को पोसोगे तो आत्मा निर्बल और मलिन हो जायगी। घी से चुपड़ी रोटी की अपेक्षा रूखी रोटी ही सन्तों और साधकों को लाभप्रद होती है। यदि दर्पण में घी लगा हो तो उसमें मुँह नहीं दिखता। यदि उसे सूखी राख से ही मल दिया जाय तो वह साफ हो जाता है और उसमें प्रतिबिम्ब साफ हो जाता है। मन भी एक दर्पण है। इसे घी आदि से मलिन न बनाओ।

२. एको देवः

शास्त्रों के शब्दजाल के भीतर जाना पड़ता है, तब उनका मर्म समझ में आता है। परमतत्त्व तो एक ही है। वही नानारूपों में भासता है। वही एक अनेक बनकर दिखता है। अपने 'इष्ट' को पूरी श्रद्धा और विश्वास से पकड़ना है। अपने इष्ट तक पहुँच गये तो समझो परमतत्त्व तक पहुँच गये। भगवान् साधक के भाव के अनुरूप दर्शन देते हैं। किसी के लिए '**धनुष चाप धर**' है तो किसी के लिए '**मुरली धर**'। अपने-अपने भाव की पगडंडी पकड़कर उस भाव-पुरुष की ओर बढ़ना पड़ता है। भाव-पुरुष के सान्निध्य में पहुँचने पर तो फिर सब कुछ तदाकार ही दृष्टिगोचर होता है, कहीं कोई भिन्नता नजर नहीं आती—'सर्वं खल्विदं ब्रह्म।' छोटा-बड़ा कोई नहीं है। सभी प्रभु की लीला-मूर्ति ही हैं।

पुराणों में और शास्त्रों में एक देवता को श्रेष्ठ और दूसरे को जो छोटा कहा गया है, उसका उद्देश्य मात्र इतना ही है कि उस ग्रन्थ द्वारा प्रतिपादित मार्ग का अनुसरण करने वाला साधक अपने इष्टदेवता में अनन्यनिष्ठा प्राप्त करे। लक्ष्य तक पहुँचने के लिए अनन्यनिष्ठा अनिवार्य है; एकनिष्ठ होना ही पड़ेगा। अनन्य भाव से जैसे ही साधक उपासना प्रारम्भ करता है और उसका चित्त अन्तर्मुख होता है कि बड़े-छोटे की भ्रान्ति समाप्त हो जाती है। जब भगवद्दृष्टि हो जाती है तो भक्त को सर्वत्र उसके प्रभु के रूप के ही दर्शन होते हैं। 'वासुदेवमिति सर्वम्'— ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर सभी एक ही हैं। महाशक्ति स्वरूपा-देवियाँ भी तो 'एक' के तेज से ही उत्पन्न हुई हैं। साधक प्रारम्भ में किसी को श्रेष्ठ मानकर उपासना शुरू करता है। अगर उसमें पाखण्ड नहीं है, सच्ची लगन और निष्ठा है तो ज्यों-ज्यों उसकी साधना प्रगाढ़ होती जायगी, उसकी दृष्टि का विस्तार होता जायगा और चित्त की मलिनता घटती जायगी। चित्त के निर्मल होते ही ईश्वर की सर्वव्यापकता अनुभूत होने लगेगी और किसी भी कारण से उत्कृष्टता-निकृष्टता का भाव ही उदित नहीं होगा। भेदभाव तो बाहर रहने पर है, दूर खड़े रहने पर है। तपश्चर्या से निर्मल चित्त अभेद-भाव से इष्ट के नाम, रूप, लीला और धाम को ग्रहण करता है।

इष्ट-प्राप्ति के चार साधन बताये गये हैं—नाम, रूप, लीला और धाम। ये चारों चिन्मय हैं। इनमें से किसी एक का भी अवलम्ब लिया जाय तो लक्ष्य तक पहुँचा जा सकता है।

रामस्य नाम रूप च लीला धाम परात्परम्।
एतच्चतुष्टयं नित्यं सच्चिदानन्द विग्रहम्॥

(वसिष्ठ-संहिता)

अर्थात् राम (इष्ट) के नाम, रूप, लीला और धाम श्रेष्ठ-से-श्रेष्ठ हैं। ये नित्य मूर्तिमान् सच्चिदानन्द हैं। नाम को ही लो। नाम और नामी अभिन्न होते हैं। नाम अलौकिक शक्तिसम्पन्न है। इसके प्रभाव से ऐश्वर्य, मोक्ष एवं भगवत्प्रेम प्राप्त होता है।

नाम-जप करो। पूरी श्रद्धा और विश्वास के साथ नाम लो। इसी से कल्याण होगा। यही तप है, यही यश है, यही प्रेम है। वाक् या शब्द से ही समस्त भुवन उत्पन्न हुए हैं। शब्द ब्रह्म है। यह शब्द ब्रह्म परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी के रूप में क्रीड़ा करता है। नाम-जप और नाम-कीर्तन से धीरे-धीरे मनोराज्य घटेगा और प्रसन्न होकर प्रभु स्वयं मन को अन्तर्मुख कर देंगे। भगवान् के सारे नाम-रूप मन को अन्तर्मुख ही करते हैं।

राम-नाम भीतर प्रवेश कर अपनी तरंगों से बहत्तर हजार नाड़ियों को स्पन्दित करने लगता है। रोमांच और आनन्द अनुभव होने लगता है। बाहर से उच्च वाणी में कीर्तन करने से सात्त्विक परमाणु एकत्र होने लगते हैं। फलस्वरूप ध्यान-धारणा की सघनता बढ़ने लगती है। अनुलोम में परा, पश्यन्ती मध्यमा और वैखरी वाणी थी, अब विलोमगति होने पर उस वैखरी के मध्यमा में पहुँचते ही अनाहद नाद आरम्भ हो जाता है। इस प्रकार नाम-जप और नाम-कीर्तन के कारण काम, क्रोध, मोह, अनुराग और स्नेह—ये देह-दोष नष्ट होने लगता है।

३. प्रशंसा और निन्दा

प्रशंसा और निन्दा-दोनों से बचना अच्छा है। प्रशंसा सुनकर प्रसन्न हो जाना और अपने को उस सराहना के योग्य मान लेना, अनर्थ की जड़ है। इससे मन में अहंकार पैदा होता है, फिर यह शैतान तो सिर पर चढ़कर बोलने लगता है। निंदा सुनकर प्रायः लोग दुःखी हो जाते हैं, अपने मन में क्षोभ का अनुभव करते हैं। इससे निंदक के प्रति द्वेष और हिंसाभाव पनपता है। प्रशंसकों के प्रति राग हो जाता है और निंदकों के प्रति द्वेष। फिर तो यह राग-द्वेष झमेला खड़ा कर देते हैं और मन को इसी में उलझा कर उसकी एकाग्रता नष्ट करते हैं। मन कमजोर पड़ जाता है। उसकी संकल्पशक्ति क्षीण हो जाती है। मनुष्य राग-द्वेष के वशीभूत होकर अनगिनत विकारों का शिकार हो जाता है और फिर उसके आचरण से समाज का अहित होने लगता है। महापुरुषों ने मानवोचित दयाभाव का जो मार्ग निर्धारित किया है, राग-द्वेष उससे विमुख करते हैं।

राग-द्वेष से बचने के लिए यह आवश्यक है कि प्रशंसा और निन्दा को समभाव से ग्रहण करने की शक्ति विकसित की जाय। दोनों से मन में उद्वेलन होता है, दोनों मन को क्षुब्ध करते हैं। शांताकार वृत्ति में आलोडन होने लगता है। अतएव प्रशंसा सुनकर प्रसन्न होना और निन्दा सुनकर दुःख करना, उचित नहीं है। महात्मा लोग इसी कारण मान और अपमान दोनों की उपेक्षा करते हैं।

व्यवहार में इसे दूसरे रूप में लो। प्रशंसा सुनकर उसके अनुरूप अपने चरित्र को ढालो। निन्दा सुनकर निन्दा के मूल कारण पर विचार करो और उस दोष से बचो। इस प्रकार प्रशंसा प्रतिभा एवं तेज की समृद्धि करेगी और निन्दा चरित्र को सम्बलित करेगी। इसके लिए भी निरन्तर अभ्यास की जरूरत पड़ती है। यह समभाव सहज प्राप्त नहीं होता। इसके लिए तप करना पड़ता है।

किसी की अकारण निन्दा मत करो, प्रशंसा भी न करो। केवल किसी को प्रसन्न करने के लिए उसकी सराहना और दुःखी करने के लिए उसकी निन्दा करना, शील के विरुद्ध है, पाप है। इससे उसके विनाश की भूमिका तैयार होती है और अपना पतन भी होता है।

जो अकारण किसी की निन्दा करता चलता है, वह भ्रमित है। ऐसे मनुष्य संसार में होते हैं, जिनके लिए कुछ भी कह देना और कुछ भी कर देना, सहज ही सम्भव है। ऐसे लोग विश्वास के पात्र नहीं होते और ऐसों से मेल-जोल तो दूर, बात-चीत का सम्बन्ध भी नहीं रखना चाहिए।

आजकल तो ऐसे लोगों की भरमार हो गयी है जो सामने तो प्रशंसा करते थकते नहीं, किन्तु पीठ पीछे निन्दा करते हैं। जो सामने तो गुणगान और परोक्ष में निन्दा करे, वह कुक्कुर के समान होता है। ऐसों की संगति तुरन्त छोड़ देनी चाहिए।

महाभारत में भीष्म ने युधिष्ठिर को समझाते हुए कहा है—'जो निन्दा करने वाले के ऊपर क्रोध नहीं करता, वह उसके पुण्य को ले लेता और अपने पाप धो डालता है। इसी प्रकार निन्दा करने वाला व्यक्ति, अपने पुण्य का क्षय करता है और जिसकी निन्दा करता है, उसका छठाँ भाग पाप ग्रहण कर लेता है।'

महाभारत में व्यास जी ने साफ लिखा है—'जो दूसरों की निन्दा और प्रशंसा से दूर रहता है, उसकी मुक्ति हो जाती है।'

४. मा शुचः

गीता में भगवान् के अन्तिम उपदेशात्मक वचन पदावली—'मा शुचः' में दो पद हैं। पदों का अर्थ है—'तुम शोक मत करो, चिन्ता मत करो।' ये शब्द श्रीकृष्ण के द्वारा अर्जुन के प्रति कहे गये हैं। यह संसार कर्मभूमि है, जहाँ हमें अपनी योग्यतानुसार कुछ करना होता है। हमें अपने कर्मों की सफलता की चिन्ता रहती है और यदि सफलता न हुई—हम असफल रहे तो उसके लिए हमें दुःख भी होता है, हतोत्साह हो जाते हैं। इस प्रकार हमें अपने कर्मों में पग-पग पर चिन्ता लगी रहती है, किन्तु भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—'तुम शोक मत करो।'

इन पदों पर गम्भीरता से विचार करने पर पता चलता है कि ये दोनों पद सामान्य कथा मात्र नहीं हैं, अपितु भगवान् श्रीकृष्ण के वरदान स्वरूप हैं, जिसे उन्होंने अर्जुन के माध्यम से सारे संसार को ही प्रदान किया है। यह वरदान उन्हें प्राप्त है, जो भगवान् श्रीकृष्ण के कथनानुसार उनकी गीता का अनुशीलन करते हैं। गीता का पाठ, मनन तथा तदनुकूल आचरण करने वाले को भगवान् का आश्वासन है—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

इस बात को ठीक से समझने के लिए गीता के १८वें अध्याय के उपर्युक्त ६६वें श्लोक का तात्पर्य समझना चाहिए। इस श्लोक का अर्थ यह है कि 'सब धर्मों को त्याग कर तू मेरी (अर्थात् परमात्मा की) शरण में आ जा, मैं तुझे सभी पापों से मुक्त कर दूँगा, तू शोक मत कर।' भाव यह है कि दुःखी मानव को सब प्रकार से आत्मतृप्त कर देना, निर्भय और निःशोक कर देना ही श्रीभगवान् एवं समग्र गीता का अभिप्रेत है। गीता में अन्य स्थलों पर भी ऐसे श्लोक हैं, जैसे—'न मे भक्तः प्रणश्यति' (९। ३१), 'मत्प्रसादात्तरिष्यसि' (१८। ५८)—'मेरा भक्त नष्ट नहीं होता' अथवा 'मेरी कृपा से तुम तर जाओगे' इत्यादि।

उक्त वचन सभी धर्मों का सार और गीता का परम आधार है। इस श्लोक के एक चरण में सभी धर्मों के त्याग का उपदेश वैराग्यपूर्ण कर्मयोग का सार है। दूसरे चरण में 'मेरी शरण में आ जा'—भक्ति का सार है और तीसरे चरण में 'मैं तुझे सम्पूर्ण पापों से मुक्त कर दूँगा, शोक मत कर'—यह ज्ञान का सार है। इस प्रकार उपर्युक्त श्लोक में कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञानयोग के सार-तत्त्व की अलौकिक त्रिवेणी समाविष्ट है। यह भगवद्वचन शरणागति का अमोघ अनुष्ठान मन्त्र है।

सभी धर्मों के परित्याग का भाव यह है कि हमारी जो इन्द्रियाँ हैं, उनके अलग-अलग धर्म हैं—जैसे वाणी का धर्म है बोलना, नेत्र का धर्म है देखना, जिह्वा का धर्म है रस लेना, नासिका का धर्म है सूँघना आदि और इन्हीं समस्त इन्द्रिय-धर्मों को परमात्मा की प्राप्ति का साधन बनाना ही अन्यान्य सब धर्मों का परित्याग है। इनमें आसक्ति या फल-त्याग का उपदेश गीता में स्थान-स्थान पर दिया गया है। इसी प्रकार इस

श्लोकांश **'मामेकं शरणं व्रज'** (मेरी शरण में आ जा) का तात्पर्य है—परमेश्वर एक है, उनकी शरण में जाना ही सर्वोत्तम है, यही परम भक्तियोग है।

समस्त कार्य प्रभु की प्रसन्नता के लिए उनकी आज्ञा से करना ही गीता में प्रतिपादित तथ्य का एक विशिष्ट अंग है। वस्तुतः शुभ काम करते-करते पाप स्वतः नष्ट हो जाते हैं। जिस प्रकार दीपक के जलने से अन्धकार का नाश हो जाता है, उसी प्रकार जो भी काम भगवान् को समर्पित कर उन्हीं की प्रसन्नता के लिए किये जाते हैं, उनके द्वारा पाप का नाश हो जाता है तथा जीवन में पूर्ण सात्त्विकता आ जाती है। कोई भी व्यक्ति-छोटा या बड़ा, ज्ञानी या अज्ञानी, पापी या धर्मात्मा—जो भगवान् की शरण में जाता है, वह पाप-मुक्त होकर भवसागर से निस्सन्देह तर जाता है। उसके लिए किसी शोक या चिन्ता का प्रश्न ही नहीं रहता। भगवान् द्वारा निर्दिष्ट मार्ग पर चलने तथा उन्हीं की प्रसन्नता के लिए समस्त कर्म उन्हीं को समर्पित करने से (पाप से) मुक्त हो जाओगे, अपने समुद्धार के लिए किसी भी प्रकार की चिन्ता करने की रंचमात्र भी आवश्यकता नहीं है, यह भगवान् का अमोघ वरदान-आश्वासन है।

इस प्रकार जो प्राणी भगवान् की शरण में जाता है, भगवान् उसको समस्त पाप-ताप से मुक्त कर अभय कर देतें हैं। **'मा शुचः'** भगवद्गीता की फलश्रुति है।

५. मनुष्य कौन है?

मनुष्य यदि अपनी बुद्धि, अपने विवेक और चिन्तन शक्ति का सदुपयोग नहीं करे तो वह इन जानवरों से भी हेय हो जाय! मनुष्य को ईश्वर ने जो शरीर प्रदान किया है वह बड़ा विचित्र देव मन्दिर है। स्वयं ईश्वर ही इस शरीर में बैठ गया है। अपने हृदय में विराजमान राम की जो बात सुनता है और दूसरी बातों की उपेक्षा कर देता है—वही अपने जीवन को सुफल करता है। देह धरने का एकमात्र उद्देश्य है अपने हृदयस्थ राम की बात सुनने और उसके अनुसार चल कर उस राम को पहचान लेने की क्षमता का विकास करना। जो इस क्षमता का विकास कर लेता है वह 'राम का हो जाता है'। जो राग-रंग में पड़ा रह गया, काम के फेंके फूलों की सुगन्ध सूँघने में ही मस्त रहा, वह मनुष्य नहीं हो सकता।

वह तो एक निकृष्ट कोटि का प्राणी है, क्योंकि आहार, निद्रा, भय और मैथुन आदि तो जानवरों में भी हैं। मानव-जीवन खाने और सोने के लिए नहीं मिला है। यह तो साधन का द्वार है। यह पिंड ब्रह्माण्ड का प्रतिरूप है और इसमें व्याप्त चैतन्य सर्वव्यापक परमचैतन्य का ही अंश है—**'ईश्वर अंश जीव अबिनासी, चेतन अमल सहज सुखराशी।'**—जो सच्चा मनुष्य है, उसे दुःख-सुख और हर्ष-विषाद नहीं होता। वह अपने चैतन्यस्वरूप में स्थित होकर सहजानन्द में निमग्न रहता है।

जब मनुष्य अपने वास्तविक आनन्दस्वरूप की सहजता को भूल जाता है तो उसमें विकृतियाँ आती हैं और मन मलिन होने लगता है। राग-द्वेष, काम-क्रोध और मद-मोह उन्हें विकृत कर भटका देते हैं। फलस्वरूप इनके बहकावे में आकर वह अपनी सहजता खो देता है और कुटिलता का बाना धारण कर असहज हो जाता है। इस स्थिति में उसमें राक्षसत्व पैदा हो जाता है, जानवर उत्पन्न हो जाता है। मनुष्य तो प्रेम का, दया का, सेवा का, आनन्द का मूर्तरूप होता हैं।

यह शरीर अजर-अमर नहीं है। इसका नाश किसी भी क्षण हो सकता है। मृत्यु ने इसे घेरे रखा है, दिन-रात बीत रहे हैं और शरीरपात की अवधि निर्धारित है। कर्त्तव्य पूरा हो गया या अधूरा बचा है, यह देखना मृत्यु का काम नहीं है। मनुष्य की कामनायें समाप्त हो गयीं या शेष हैं, यह देखना उसके जिम्मे नहीं है। वह तो नियत समय पर आयगी और अपना काम पूरा कर लेगी। उसके कर्त्तव्यपालन में कोई चूक सम्भव नहीं। मृत्यु का आगमन कब होगा, यह जीव को नहीं मालूम। तो फिर सुस्ती और प्रमाद क्यों? आज का काम कल पर क्यों? अभी क्यों नहीं? जो लक्ष्य है, इस जीवन का ध्येय है, उसकी ओर तीर की भाँति क्षिप्रगामी होना चाहिए और आबाल-वृद्ध-वनिता उस दिशा में चलना शुरू कर दें तो उनका कल्याण है।

मनुष्य वही है जो इस परम लक्ष्य को पहचानता है और लक्ष्य की दिशा में तीव्रता से बढ़ता है, किन्तु सहयात्रियों को रौंदते हुए नहीं, धकेलते हुए नहीं, वरन् उनकी सहायता करते हुए, उन पर दया और प्रेम लुटाते हुए। प्रत्येक प्राणी पर अपना प्रेम और करुणा लुटाना ही इस पथ का पाथेय है। मनुष्य वही है जो प्रेम करता है—परमात्मा से प्रेम करतां है और परमात्मा के ही नाना रूपों को भी प्यार करता है।

आसक्ति रस्सी की भाँति जीव को बाँधती है। केवल पुण्यात्मा ही इस बन्धन को काटते हैं। जो मनुष्य मन, वाणी और शरीर से जीवों को कष्ट नहीं देते, अन्य जीव भी उसके जीवन और अर्थ की हानि नहीं करते। भीतर का यही प्रेम सारे विश्व में प्रकट हो जाता है। ऐसे प्रेमी जीव के लिए सब कुछ सुलभ होता है। ऐसा ही मनुष्य भगवत्कृपा का पात्र होता है, क्योंकि प्रभु तो मंगलस्वरूप हैं। ऐसा मनुष्य सबके मंगल में ही अपना मंगल मानता है।

अमृत और मृत्यु—ये दोनों इसी शरीर में विद्यमान हैं। मोह से मृत्यु होती है और सत्य से अमरता मिलती है। अतः मृत्यु से अमृतत्व की ओर की यात्रा ही जीवन है, अन्धकार से प्रकाश की ओर बढ़ना ही मनुष्य का लक्ष्य है—**'तमसो मा ज्योतिर्गमय'**। जिसकी वाणी, विचार और कर्म में एकरूपता रहती है, जिसका मन सदा एकाग्र रहता है तथा जो तप, त्याग और सत्य में सदैव तत्पर रहता है, उसके लिए कुछ भी अप्राप्य नहीं है।

संसार में ज्ञान के समान कोई नेत्र नहीं है, सत्य के समान कोई तप नहीं है, राग के समान कोई दुःख नहीं है और त्याग के सदृश कोई सुख नहीं है। समता, सत्यप्रियता, सदाचार, अहिंसा, सरलता तथा सब प्रकार के काम्य कर्मों से निवृत्ति और प्रभु के श्रीचरणों की अनुरक्ति—इनसे बढ़कर मनुष्य के लिए और कोई ऐश्वर्य नहीं है।

६. शरीर एक नगर है

महर्षियों ने शरीर को नगर बतलाया है। बुद्धि उसकी स्वामिनी है। मन उस बुद्धि का मंत्री है, इन्द्रियाँ इस नगर की प्रजा हैं। इस नगर में रज और तम नामक दो दोष भी रहते हैं। बुद्धि, मन और इन्द्रियाँ आदि नगरनिवासी इन दो दोषों के कारण ही सुख-दुःख भोगते हैं।

इस नगर में बिगड़े हुए मनरूपी मंत्री के साथ मिलकर बुद्धिरूपी स्वामिनी भी दूषित हो जाती है और इन्द्रियाँ उस बिगड़े मन के डर से

चंचल हो उठती है। दूषित बुद्धि जिस विषय को हितकर समझती हैं, वह विषय अनिष्ट फल देकर नष्ट हो जाता है और मन उस नष्ट वस्तु को याद करके बहुत दुःखी होता है। इस प्रकार मन के दुःखी होने पर बुद्धि पीड़ित होती है और बुद्धि के पीड़ित होने पर आत्मा में भी दुःख होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि यह मन ही रजोगुण के साथ मित्रता कर आत्मा को और इन्द्रिय आदि समस्त नगरनिवासियों को दुःख में डाल देता है। इसलिए इस मन से सदा सावधान रहना चाहिए और इसे रज-तम से नहीं मिलने देना चाहिए।

भगवान् जब अपने भक्तों पर प्रसन्न होते हैं तो उन पर कृपा करके उन्हें बुद्धियोग प्रदान करते हैं, जिसके द्वारा वे अपनी साधना में सफलता प्राप्त करते हैं—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

(गीता १०।१०)

अर्थात् निरन्तर मेरे ध्यान में लगे हुए आत्मा और प्रीतिपूर्वक भजने वाले भक्तों को मैं तत्त्वज्ञान स्वरूप बुद्धियोग देता हूँ, जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते हैं।

निरन्तर भगवान् का स्मरण-ध्यान और प्रेम में मगन होकर उनका भजन करते रहने से भगवत्कृपा से बुद्धियोग प्राप्त होता है। सत्संग, भजन, पूजन, स्वाध्याय, जप, तप, दान, तीर्थाटन आदि जितने भी सत्कर्म हैं, सब सद्बुद्धि के लिए ही हैं। अभिप्राय है कि बुद्धि ऐसी बन जाय कि जिसके प्रभाव से यह मानव-जीवन निरर्थक न होने पावे। फिर से पशु-पक्षी आदि तिर्यक् योनियों में यह दुष्ट मन जीवात्मा को न ले जा सके।

मन का निरीक्षण ही सबसे बड़ा साधन है। आत्म-निरीक्षण के द्वारा ही वैराग्य का मार्ग प्रशस्त होता है। शास्त्र-सम्मत मार्ग का अवलम्बन करते हुए प्रभु को सदा-सर्वदा स्मरण करना चाहिए।

श्रीकृष्ण भगवान् ने कहा है—

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्परा।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते॥
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशित चेतसाम्॥

(गीता १२।६-७)

अर्थात् मेरे में परायण रहने वाले भक्तजन सम्पूर्ण कार्यों का मुझमें अर्पण करके मुझ सगुण रूप परमेश्वर को ही, अनन्य भक्तियोग से सतत चिंतन करते हुए भजते हैं। हे पार्थ! उन मुझमें चित्त लगाने वाले सभी प्रेमी भक्तों का मैं शीघ्र ही मृत्युमय संसार-सागर से उद्धार कर देता हूँ।

भवसागर से पार होने का साधन है भगवान् का परायण हो जाना और अपने सम्पूर्ण कर्मों को प्रभु को ही अर्पित कर देना। पूर्ण समर्पण, भगवान् की शरण, उन्हीं का अनन्य भाव से भजन, ध्यान-स्मरण की अनन्यता, तन्मयता और तीव्रता ही भगवत्कृपा को आकृष्ट करती है। भाव की यही प्रगाढ़ता प्रभु के अजस्र प्रवाहित कृपा-स्रोत में अवगाहन का आनन्द देती है।

अतः श्री भगवान् के नाम, रूप, गुण, प्रभाव तथा चरित्र का श्रवण, मनन और कीर्तन प्रेमपूर्वक, श्रद्धा तथा तत्परता के साथ नित्य-निरन्तर करने के लिए प्राणपण से चेष्टा करनी चाहिए।

७. अभेद दर्शन और व्यवहार

जिसे भेद-भाव कहा जाता है, वह अभेद-भाव का साधन है। भारतीय धर्म और संस्कृति के मूल में, भेद में अभेद और अभेद में भेद देखने की दृष्टि है। अभेद दर्शन भारतीय परम्परा का मूल तत्त्व है। जिसे भेद कहते हो, वह गुणों का भेद है, आत्मा का भेद नहीं है। यह भेद तो प्राणिमात्र में प्रकृतिजन्य है। अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार प्रत्येक प्राणी भिन्न-भिन्न गति, स्थिति और अवस्था को प्राप्त होता है। सब रोगों अथवा रोगियों का उपचार एक ही औषधि अथवा मात्रा से नहीं हो सकता। मनुष्य-मनुष्य में बल-बुद्धि और ऐश्वर्य का वैभिन्य है। इसी प्रकार देश, काल और स्थिति के अनुसार आचारों का भेद होता है। जहाँ तक आत्मतत्त्व का प्रश्न है, भेद का प्रश्न ही नहीं उठता—

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः;
सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।।

गीता में तो यहाँ तक कह दिया गया है—

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः।।

सभी भूतों में एक ही देव स्थित है। वह सर्वव्यापी परमात्मा ही सभी भूतों की अन्तरात्मा है। विद्वान् व सिद्ध पुरुष विद्या और विनय से समन्वित ब्राह्मण में, गाय, हाथी, कुत्ता और चाण्डाल में भी समदर्शी रहते हैं।

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति सः पश्यति॥
समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम्॥
यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा॥

(गीता १३।२७-३०)

अर्थात् जो पुरुष नष्ट होते हुए सब चराचर भूतों में परमेश्वर को अविनाशी और समभाव से स्थित देखता है, वही यथार्थतः देखता है, क्योंकि जो सब में समभाव से संस्थित परमात्मा को समान भाव से देखता हुआ स्वयं अपने द्वारा अपने को नष्ट नहीं करता, वह परमगति को प्राप्त होता है। जिस क्षण यह पुरुष भूतों के अलग-अलग भाव को एक परमेश्वर में ही स्थित तथा उसी परमात्मा से समस्त भूतों का विस्तार देखता है, उसी क्षण वह सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म को पा लेता है।

शरीर नाशवान् है, नष्ट हो जाता है, किन्तु आत्मा अमर है। आत्मतत्त्व निर्विकार है, नित्य चेतन है। ऐसा देखने वाला ही वस्तुतः देखता है, भिन्नता अज्ञान के कारण है। मृत्यु देह का और अमृतत्व आत्मा का स्वभाव है।

यह अभेद दृष्टि प्राप्त कर लेना ही ब्रह्मतत्व को पा लेना है। जैसे ही यह तथ्य अनुभूत हुआ, वैसे ही ब्रह्म प्रत्यक्ष हुआ। यह प्रकृति उसी परमात्मा का विस्तार है, वही एक नानारूपों में दर्शन दे रहा है, यहाँ उसके अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं। सभी उसी में स्थित हैं, वह सब में स्थित है। यही मूलतत्त्व है, यही ज्ञान है, यही अभेद दर्शन है।

यह ठीक है कि गीता में जिस समत्वयोग का विवेचन किया गया है, वह स्थिति है, परन्तु उसका अर्थ यह नहीं है कि स्थितप्रज्ञ को बाह्य

व्यवहार में भी समता का पालन करना चाहिए। स्थितप्रज्ञ के व्यवहार में आसक्ति तो नहीं होती और न ही वह आत्मतत्त्व की दृष्टि से प्राणी-प्राणी में भेद बुद्धि रखता है, परन्तु प्राणियों की सामर्थ्य और योग्यता के अनुसार उसे व्यवहार तो करना ही पड़ता है।

महाभारत के अनुसार सम व्यवहार का अर्थ इतना ही है कि सुख या दुःख, प्रिय अथवा अप्रिय, दान अथवा निषेध—इन सब बातों में मनुष्य को दूसरों के साथ वैसा ही आचरण करना चाहिए, जैसा कि वह अपने लिए कर सकता है—

न तत्परस्य संदध्यात् प्रतिकूलं यदात्मनः।
एष संक्षेपतो धर्मः कामादन्यः प्रवर्तते॥

देखने में व्यवहार का यह सिद्धान्त बड़ा ही सुन्दर है। इससे ही **'वसुधैव कुटुम्बकम्'** की सिद्धि होती है। महाभारत में तो यहाँ तक कह दिया गया है कि अपने साथ जो जैसा बर्ताव करता है, उसके साथ वैसा ही बर्ताव करना धर्म है। मायावी पुरुष के साथ मायावी व्यवहार करना चाहिए और साधु पुरुष के साथ साधुता का। व्यवहार पक्ष में यह आवश्यक है कि लोकरुचि और समाज की मर्यादा का पूर्णरूप से पालन किया जाय—

यस्मिन् यथा वर्तते यो मनुष्यः,
तस्मिंस्तथा वर्तितव्यं स धर्मः।
मायाचारी मायया बाधितव्यः,
साध्वाचारः साधुना प्रत्युपेयः॥

पर इतनी बात अवश्य है कि आचार-व्यवहार में भी पहले सद्-व्यवहार ही विधेय है। इसीलिए विदुर जी ने धृतराष्ट्र को यही बताया है कि दूसरे के क्रोध को शान्ति से, दुष्ट को साधुता से, कृपण को दान से और अनृत को सत्य से जीतना चाहिए—

अक्रोधेन जयेत् क्रोधं असाधुं साधुना जयेत्।
जयेत् कदर्यं दानेन जयेत् सत्येन चानृतम्॥

धर्म से मृत्यु पाना भी श्रेयस्कर है तथा पाप से प्राप्त जीत भी अच्छी नहीं है—

धर्मेण निधनं श्रेयः न जयः पापकर्मणा।

'कण्टकेनैव कण्टकम्' का न्याय इसके पश्चात् आता है, परन्तु काँटा तो काँटा ही है—अपना हो या पराया। यह संसार एक कर्मचक्र है—योगी और ज्ञानी भी वृत्ति रूप से इस कर्मचक्र का अनुवर्तन करते हैं। गीता में कहा है—

एवं प्रवर्तितं चक्रं चानुवर्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति॥

अर्थात् हे पार्थ! जो पुरुष इस लोक में परम्परा से प्रचलित सृष्टिचक्र के अनुकूल नहीं बरतता—अपने कर्त्तव्य का पालन नहीं करता, वह इन्द्रियों के द्वारा भोगों में रमण करने वाला पापयुक्त पुरुष व्यर्थ ही जीता है।

प्रकृति का एक चक्र है—मनुष्य यज्ञ—यह चक्र है। सबका अपना प्रकृतिजन्य स्वाभाविक गुण—स्वधर्म है—मनुष्यकर्त्तव्य पालन नहीं करना प्रकृति के नियमों के प्रतिकूल है। विषय भोग से इन्द्रियों की तृप्ति में ही लगे रहना इच्छाचारिता है, इससे दूसरों का अहित होता है। व्यवस्था में विघ्न पहुँचता है और जीवनभर वह मनुष्य अपने लिए, समाज के लिए दुःख ही बटोरता है। सबको सुख देना और प्रभु की प्राप्ति करना ही कर्त्तव्य है।

कर्त्तव्यपालन ही जीवन की सार्थकता है। परन्तु जो योगी और ज्ञानी हैं, उसके लिए कर्म शेष नहीं रह जाता, कर्म करना न करना उनके लिए बराबर है।

८. शील

शील चरित्र का प्रधान अंग है। शीलवान् पुरुष ही जीवन को सार्थक करता है। धर्म, सत्य, सदाचार, बल और लक्ष्मी—ये सभी शील के ही आधार पर रहते हैं। शील इन सबकी जड़ है। जहाँ शील नहीं, वहाँ धर्म नहीं रह सकता; वहाँ सत्याचरण भी नहीं हो सकता। शीलवान् स्त्री-पुरुष ही सदाचारी होते हैं। उन्हीं के पास शक्ति होती है और लक्ष्मी उन्हीं को समृद्ध करती है। जिसका शील नष्ट हो गया, उसके सद्गुण एक-एक कर नष्ट हो जाते हैं।

'मैं राजा हूँ, मंत्री हूँ, अमुक अधिकारी हूँ' आदि अपने पदादि के अभिमान में आकर दूसरों का अपकार करना, दूसरों की निन्दा करते रहना अच्छी बात नहीं है। इससे अपना शील नष्ट होता है। भगवत्कृपा से ही यश, उच्च कुल, उच्च पद और उच्चाधिकार प्राप्त होता है। यह सब निजी लाभ के लिए, अपने पास येन-केन-प्रकारेण सम्पत्ति एकत्र करने के लिए नहीं होता। अपने पद और अधिकार का उपयोग सदैव सबकी भलाई और समाज, राष्ट्र तथा धर्म के कल्याण में करना ही श्रेयस्कर है। यही शील है।

मन, वाणी और शरीर से किसी भी प्राणी के साथ द्रोह नहीं करो; किसी का अहित नहीं करो। प्राणिमात्र पर दयाभाव रखो। भगवान् ने धन दिया है तो उसे दान दो, जग का कल्याण करो, धर्म में लगाओ। धन केवल भोग के लिए नहीं होता। जिस काम से दूसरों का अहित होता हो, अन्यों की हानि होती हो और जिस काम को करने में मन सकुचाता हो तो समझो वह शील के विरुद्ध है। ऐसा कर्म सर्वथा त्याज्य है। स्मरण रखो कि परोपकार की भाँति कोई पुण्य नहीं है और दूसरों को पीड़ा पहुँचाने की तरह दूसरा कोई पाप नहीं है।

विनयी स्वभाव, परोपकार वृत्ति, अन्याय का प्रतिकार और धर्म का आचरण शील के अन्तर्गत हैं। यह मानव-शरीर इसलिए नहीं मिला है कि अपना समय जीवों को सताने में बिता दो—गरीबों एवं दुखियों की आह से सर्वस्व नष्ट हो जायगा—**'मरी खाल की साँस सों लौह भसम होइ जाय'**। अनमोल है यह मानव-जीवन। इसको भगवान् की ओर लगाओ। सर्वत्र भगवद्दर्शन करना, उत्तम शील का उत्स है।

९. लोभ

किसी भी वस्तु को चाहे जैसे भी हो प्राप्त कर संचय करने की प्रवृत्ति ही लोभ है। लोभ एक बड़ा भारी शत्रु है। लोभ से ही पाप करने की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है। लोभ से ही पाप, अधर्म और दुःख का जन्म होता है। इसी से काम-क्रोध, मोह-माया, अभिमान और अनम्रता की उत्पत्ति होती है।

मनुष्य जरा-जर्जर हो जाने पर भी, लोभ का शिकार होता रहता है और उसके लोभ में शिथिलता नहीं आती। अतः यत्नपूर्वक इस शत्रु को नष्ट कर देना ही उचित है।

लोभी मनुष्य में बहुत-से दुर्गुण स्वतः उत्पन्न हो जाते हैं—कृपणता, तृष्णा, विकर्मों में प्रवृत्ति, कुल-रूप-ऐश्वर्य का मद, सभी प्राणियों से द्रोह, सबके प्रति अविश्वास और सबके प्रति निष्ठुरता का व्यवहार—ऐसे ही दोष हैं। पराया धन चुरा लेना, पराई बहू-बेटियों का शीलहरण करना, परायी निन्दा में मन लगाना, इन्द्रियों के वश में होना, झूठ बोलना, दूसरों से घृणा करना आदि नाना प्रकार के दुर्गुण लोभी मनुष्यों में आ जाते हैं।

लोभी मनुष्य अपार सम्पत्ति जोड़ ले, कुबेर का खजाना पा जाय फिर भी और पाने की उसकी तृष्णा बढ़ती जाती है। चाहे जितनी भी नदियाँ समुद्र में गिरें उसका पेट नहीं भरता। उसी तरह चाहे जितना भी धन और भोग्य पदार्थ मिल जाय, लोभी का पेट नहीं भरता। लोभ मनुष्य को सदैव तृष्णा की आग में जलाता रहता है और वह इसी से बेचैन होकर अधर्म की शरण लेता है, पाप करता है। शास्त्रों की व्याख्या करने वाला पंडित भी जब कथा में तन्मय न होकर दक्षिणा की चिन्ता करता है तो वह सदा ही दुःख भोगता है।

अगर कोई कुआँ हो और उसके मुँह को घास-पात से ढँक दिया जाय तो उसमें गिरोगे कि नहीं? मधुर बोलकर ठगने वाले लोभी मनुष्य इसी प्रकार के कुएँ की भाँति हैं और निरन्तर दूसरों को ठगने की ही प्रवृत्ति उनकी बनी रहती है।

अगर लोभ करना ही हो तो क्यों नहीं उस अक्षय निधि के लिए करते, जिसको पाकर कुछ भी पाना शेष नहीं रहता। भगवान् की भक्ति और भगवन्नाम लेते रहना ऐसी ही निधि है।

१०. मरने और जीने की कला

महात्माओं को तो सर्वप्रथम महात्मा बनते वक्त ही मरना सिखलाया जाता है। मैं जीने की कला भी बताऊँगा, परन्तु उसके पहले मरने की कला बताता हूँ, ध्यानपूर्वक सुनो। वैसे तो योगी जब प्राण को अपान से मिला देते हैं तो उन्हें काल भी नहीं खा सकता, अर्थात् मृत्यु टल जाती है। कहा गया है—

योगी प्राण अपान मिलाये।
कबहुँ काल नहिं खाये॥

प्रयाण के समय मन से सम्पर्क रखना चाहिए और प्राण को भ्रूमध्य में अर्थात् दोनों भौहों के बीच स्थापित कर ईश्वर से जीव को यह प्रार्थना करनी चाहिए—'हे ईश्वर! यह पंचभौतिक शरीर अब मेरे काबू में नहीं है, अतः अब तुम इसे वापस ले लो और मुझे अपनी शरण में रख लो।' ऐसी प्रार्थना प्रभु से करते हुए उनके स्वरूप में मगन हो जाय तो प्रेम-समाधि लग जायगी। इस प्रकार अनन्त के ध्यान में जीव अनन्त बन जाता है, जिस प्रकार भृंगी कीड़े के सम्पर्क से दूसरी जाति का कीड़ा भी भृंगी बन जाता है और ऐसी प्रेमसमाधि वाले को काल भी नहीं खा सकता। वह तो अनन्त के ध्यान में अनन्त बन जाता है। गीता में भी भगवान् ने कहा है—

प्रयाण काले मनसाचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥

(गीता ८।१०)

'भक्ति युक्त वह पुरुष अन्तकाल में भी योगबल से भृकुटी के मध्य में प्राण को भली-भाँति स्थापित करके निश्चल मन से स्मरण करता हुआ, उस दिव्य स्वरूप परम पुरुष परमात्मा को ही प्राप्त होता है।'

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम्॥
साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः॥

(गीता ७।२९-३०)

'जो मेरी शरण में आकर जरा और मरण से छुटकारा पाने के लिए प्रयत्न करते हैं, वे उस ब्रह्म को, सम्पूर्ण अध्यात्म को, सम्पूर्ण कर्म को जानते हैं। जो पुरुष अधिभूत और अधिदैव के सहित तथा सबका आत्मस्वरूप मुझे अन्तकाल में भी जानते हैं, वे युक्त चित्त वाले पुरुष मुझे जानते हैं अर्थात् मुझे ही प्राप्त हो जाते हैं।'

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥

'जो पुरुष अन्तकाल में भी मुझको स्मरण करता हुआ शरीर त्यागता है, वह मेरे साक्षात् स्वरूप को प्राप्त होता है—इसमें कुछ भी संशय नहीं है।'

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन्॥

(गीता ८।८)

'हे पार्थ! परमेश्वर के ध्यान के अभ्यास रूपी योग से युक्त, अन्यत्र नहीं जाने वाले चित्त से सतत् स्मरण करता हुआ मनुष्य परम प्रकाश रूप दिव्य पुरुष को अर्थात् परमेश्वर का निरंतर चिन्तन करके दिव्यपुरुष को पा लेता है।'

तो साधु बनने में सर्वप्रथम इस प्रकार मरना सिखाया जाता है कि जिससे जीव स्वतः अनन्त में मिलकर आवागमन के चक्कर से सदा के लिए मुक्त हो सके।

अब रही जीने की कला की बात। एक महात्मा से एक शिष्य ने जब यही प्रश्न किया तो महात्मा ने अपने शिष्य को उपदेश दिया कि तुम कब्रिस्तान में जाओ और कब्र से मुर्दों को निकालकर उन्हें खूब गालियाँ देकर आओ। जब शिष्य वैसा ही करके और मुर्दों को खूब गालियाँ देकर महात्मा के पास लौटकर आया तो महात्मा ने पुनः उसे यह आदेश दिया कि तुम फिर कब्रिस्तान में जाओ और उन्हीं मुर्दों को जिन्हें तुम गालियाँ देकर आये हो, अब फूल चढ़ाकर, उनकी वन्दना करके और धूप-दीप वगैरह से आरती उतार कर आओ। उस शिष्य ने वैसा ही किया और फिर महात्मा के पास लौटकर आया।

महात्मा ने पूछा—''जिस समय तुमने उन मुर्दों को गालियाँ दीं, तब उन्होंने कुछ कहा?''

—जी नहीं, महाराज।

—उन्होंने अप्रसन्नता भी प्रकट नहीं की?

—जी नहीं महाराज, वे शान्त पड़े रहे।

—अर्थात् तुम्हारी गालियों का कोई प्रभाव उन पर नहीं पड़ा, किन्तु जब तुमने फूल अर्पित किये और स्तुति की, तब तो वे बड़े प्रसन्न हुए होंगे?

—जी नहीं महाराज, वे वैसे ही निस्पन्द पड़े रहे।

तब महात्मा ने कहा—तुम भी अपने को उसी प्रकार कब्रिस्तान का मुर्दा बना डालो; न निन्दा से अप्रसन्नता हो और न स्तुति से प्रसन्नता।

मानापमान में एक भाव से रहने का अभ्यास डालो। जब ऐसी स्थिति आ जायगी तो जीते जी मोक्ष मिल जायगा।''

कहने का अभिप्राय यह है कि कोई तुम्हें गाली दे तो उसे कीर्तन मानो। तभी जीने का सही ढंग तुम्हें आ सकेगा।

११. दरिद्र कौन है?

दरिद्र वह है जो अनन्त तृष्णा वाला है और समादृत तथा श्रीमान् वह है जो संतोषशील है।

दुनिया समझती होगी कि तुम्हारा वह मित्र, जिसे तुमने मिल-मालिक कहकर तन से सम्बोधित किया है, वह श्रीमान् है, किन्तु वह तो परम दरिद्र है। तुम लोग उसे मिल-मालिक कहकर भरमाते हो। यह मिल का मालिक कैसा? कारखाने में रहने वाला सर्प सोचता है कि मैं यहाँ का मालिक हूँ और चींटा बताता होगा कि मैं मालिक हूँ, तो यह तुम्हारा मित्र किस-किस चींटे और चूहे अथवा सर्प पर मुकदमा करेगा? तुम सिरहाने चीनी कपड़े में बाँधकर रखो तो चींटे उसमें घुस जायंगे और चीनी को चट कर जायंगे। वे अपने को चीनी का अथवा चीनी मिल का तुमसे कम अधिकारी नहीं मानते; और वह मिल-मालिक तो आज अपने मित्र से भी डरता होगा, उसे आता देखकर कहीं छिप जाता होगा कि मित्र कहीं कुछ माँग न ले। वह भिखारियों से भी डरता होगा कि वे भिक्षा न माँग बैठें। तब तुम्हीं सोचो कि यह कैसा मिल-मालिक है? वह अपने शरीर का तो मालिक बना नहीं, फिर बाहरी किसी वस्तु का मालिक क्या बनेगा?

काल जब चाहेगा तब मिल को नष्ट-भ्रष्ट कर देगा। संसार में मालिक कोई नहीं बन सकता। इस कारण त्याग-विराग ही श्रेष्ठ है।

चाह सभी को खा गई, चाह सभी की पीर।
चाह का फंका जो करे, उसका नाम फकीर॥

फ़कीरों की दुनिया अजब निराली है। चाह सबको खा जाती है, इच्छाएँ ही सबके मन की पीर हैं। इच्छा न पैदा हो तो कभी कष्ट नहीं हो, दर्द नहीं हो। जब इच्छाओं की पूर्ति नहीं होती तब दुःख होता है। फ़कीरों को किसी भी वस्तु की चाह नहीं होती। वे इच्छाओं पर विजय प्राप्त कर लेते हैं। चाह सबको खा जाती है, किन्तु फ़कीर चाह को ही फाँक जाते हैं। चाह ही तृष्णाओं के पीछे पागल बनाकर मनुष्यों को घुमाती-फिराती है। जब तक तुम इच्छाओं के दास हो, दरिद्रता तुम्हारे पास है। तुम लोग झूठे ही किसी को मालिक कहते हो। इसी से कहा है—

झूठे भोजन, झूठ चबेना, झूठे का सब लेना-देना।

वह तुम्हारा मित्र कहेगा कि कोठी मेरी और छिपकली और मकड़े कहेंगे कि कोठी मेरी। तुम सबके जीवन में यही तोर-मोर का झगड़ा चलता रहता है। इस तरह लोग भ्रम के कारण झूठ को सत्य मान लेते हैं, और साँप को रस्सी मान बैठते हैं। ऐसा मतिभ्रम ईश्वर को भूल जाने के कारण होता है। जीव ईश्वर को अविद्या, माया और अहंकार के आच्छादन से भूल जाता है।

जल में नाव का रहना अच्छा होता है, पर नाव में जल का होना अच्छा नहीं होता। यदि नाव को जल से भर दो तो नौका डूब जायगी। तुम लोगों की शरीर-नौका संसार में रहे तो कोई हानि नहीं, परन्तु शरीर में संसार का होना अच्छा नहीं। अन्तस्तल में भगवान् की प्रतिष्ठा चाहिए। यदि अन्तःस्थल में भगवान् को रख लो तो समझो बेड़ा पार है।

१२. सुखी कौन है?

सुखियों से प्रेम, दुःखियों पर दया और पापियों की उपेक्षा होनी चाहिए। पापियों की उपेक्षा का अर्थ पापियों के पाप-कर्म से घृणा करनी है, न कि पाप-कर्ता से। पापियों की उपेक्षा इसलिए करनी चाहिए कि पाप को प्रोत्साहन न मिले, उसका ह्रास हो।

'सुखियों से प्रेम करो, उनका साथ करो'। ऐसा इसलिए कहा गया है कि उनके साहचर्य से तू भी सुखी रह सकेगा। लेकिन वास्तव में सुखी तो वही रह सकता है जो परमात्मा से प्रेम करता है, परमात्मा के स्वरूप में स्थित है। परमात्मा से प्रेम करने वाला ही सन्त और महात्मा होता है। गलत सोचता है कि कोट-पैण्ट वाला अथवा हवाई जहाज और मोटर से चलने वाला सुखी होता है।

दैहिक, दैविक एवं भौतिक तापों से जिसने अपने को अलग कर लिया, वही जग में सुखी है। इन्हीं तीन तापों से अपने को पृथक् कर लेना पुरुषार्थ है। श्री कपिल मुनि प्रणीत सांख्ययोग के प्रथम श्लोक में वर्णित है—

अथ त्रिविध दुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः

ऐसा पुरुषार्थ कर लेने वाला ही सन्त है—

संत सोई जो काया साधे।

बहुत धन हो तो उससे सुख नहीं मिल सकता। धन का महत्त्व उसके सदुपयोग में है। धन का संचय दुःखकारक है, क्योंकि उसके लिए नाना प्रकार की चिन्ताएँ करनी पड़ती हैं और जिस मानव को चिन्ताओं ने घेर लिया, वह कभी सुखी नहीं हो सकता। अतः सुखी होने के लिए धनवान् होना जरूरी नहीं वरन् वैराग्यवान् होना जरूरी है। अर्थ-लोलुपता दुःखरूप है। धन का तो स्वभाव ही होता है—तृष्णा की निवृत्ति नहीं होने देना और तृष्णा जब तक बनी रहेगी, सुख नहीं मिल सकता।

मानव को जब वैराग्य, सुख, शान्ति, तृप्ति, सत्य, क्षमा और सर्वभूते दया—ये सभी गुण प्राप्त हो जाते हैं तो काम, लोभ, तृष्णा और कृपणता आदि स्वतः नष्ट हो जाते हैं। सत्त्वगुण में स्थित होते ही मनुष्य सुखी हो जाता है। मनुष्य जिस-जिस कामना को छोड़ देता है, उसकी ओर से सुखी हो जाता है, कामना के वशीभूत होकर तो वह सर्वदा दुःख ही पाता है।

महाभारत (शान्तिपर्व) में लिखा है—जो मनुष्य अपनी समस्त कामनाओं को पा लेता है और जो उनका सर्वथा त्याग कर देता है—इन दोनों में कामनाओं की पूर्ति से कामनाओं का त्याग करना ही श्रेष्ठ है।

यह बात सदैव स्मरण रखने की है कि इच्छाएँ ही दुःख की मूल उत्स हैं और कामनाओं के रहते सुखानुभूति कदापि नहीं हो सकती। दुःख और असंतोष—ये काम और क्रोध से उत्पन्न होते हैं। लोभ बड़े-बड़े पाप कराता है और मन को अशान्ति देता है। क्रोध में मनुष्य अन्धा हो जाता है और अपना बुरा-भला भी नहीं देख सकता। मोह बड़ा नाच नचाता है और परिणाम में केवल दुःख देता है। अतः ये षडरिपु ही मानव-जीवन में विष घोलते हैं। इनसे यत्नपूर्वक बचना ही सुखप्राप्ति के मार्ग पर अग्रसर होने का अवसर देता है।

चाहते हो कि सुखी रहो और जीवन में शान्ति-लाभ प्राप्त करो तो जो लोग तुम्हारा तिरस्कार करें, तुम्हारा अपमान करें, उन्हें तुम क्षमा कर दो। बदला लेने की भावना मत रखो अन्यथा ग्लानि, ईर्ष्या और पश्चात्ताप की आग तुम्हारी शान्ति को जला देगी। जो कोई तुम्हें कष्ट

पहुँचाता है, उसका भी अहित मत करो। तुमसे द्वेषवश यदि कोई अप्रिय व्यवहार करता है तो भी तुम उसकी उपेक्षा कर दो और अवसर मिलते ही उसके साथ प्रेम का मधुर व्यवहार करो। तृप्त और स्वस्थचित्त रहकर जो कुछ मिल जाय, उसी से निर्वाह करो और भगवत्कृपा मानकर प्रभु का धन्यवाद करो। भगवान् बड़े कृपालु हैं। उनकी शरण में ही शान्ति है। सच्चा सुख तो तृष्णाक्षय से ही मिलता है। जिसने काम की जड़ें काट डाली हैं, वही सुखी है।

दुःख की जड़ राग-द्वेष में है। व्यवहार में राग-द्वेष से निवृत्त हो जाओ तो सुख ही सुख है। राग-द्वेष वियुक्त होकर विषय भी दुःख नहीं देते। द्वेष की आग सबसे पहले तो दोषी को ही जलाती है। सद्बुद्धि और सत्कर्म से मन निर्मल होता है। जब मन सदैव प्रसन्न रहने लगेगा तो फिर दुःख स्पर्श भी नहीं करेगा। भगवान् ने कृपा करके तुम्हें मानव-तन दिया है, अनमोल थाती दी है। इससे धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष सब कुछ पा सकते हो। जीवन की हर साँस का सदुपयोग करो, संतुष्ट रहो तो मन शान्त और प्रसन्न रहेगा।

१३. संत कौन ?

दैहिक, दैविक एवं भौतिक—तीनों तापों से अपने को पृथक् कर लेना ही पुरुषार्थ है और ऐसा पुरुषार्थ कर लेने वाला ही सन्त है—

सन्त सोई जो काया साधे। तजि आलस और वाद विवादे॥
गहे धारणा सद्गति भारी। तजै विकलता अस्तुति गारी॥
छमावन्त धीरज को धारे। पाँचो वश करि मन को मारे॥
त्यागे झूठ, साँच मुख बोले। चित्त स्थिर, इत-उत नहिं डोले॥
तन जग में, मन हरि के पासा। लोक भाग से सदा उदासा॥

जिसमें ये गुण नहीं, वह सन्त नहीं।

साधु पुरुषों और सन्तों का हृदय वस्तुतः नवनीत के समान कोमल होता है। वे क्रोध भी करते हैं तो कल्याण के लिए। ईर्ष्या से दिया हुआ दण्ड ही बुरा है, दया से और कल्याण-भावना से दिया गया दण्ड तो आशीर्वाद होता है। काकभुशुण्डि को कौए का शरीर लोमश ऋषि के शाप से मिला था। सगुण-निर्गुण रूप को लेकर उन्होंने ऋषि से हठपूर्वक बहुत विवाद किया था और उनके कोपभाजन बने थे। किन्तु लोमश ऋषि ने ही पीछे उनको राममंत्र दिया तथा अविचल रामभक्ति में सुदृढ़ कर, अविद्या से उन्हें स्थायी रूप से मुक्ति दिला दी।

करुणा तो सन्त का स्वभाव है। प्राणियों पर दया करना सन्त की रहनी है। वह सेवा-कार्य और प्रभु-भजन, सोच-समझकर नहीं करता, कार्यक्रम बनाकर नहीं करता। उसकी हर साँस प्रभु की दया ही बाँटती है, उसका प्रत्येक पल सबके कल्याण के लिए होता है। जो सपने में भी किसी का अहित सोचे वह सन्त नहीं हो सकता।

संत मानापमान से परे, स्तुति-निन्दा से अनजान और व्यवहार में मन-वचन-कर्म की एकरूपता बरतता है। उसका न कोई शत्रु है, न मित्र। वह भेद-भाव नहीं करता। न हर्ष से इतराता है, न शोक में बिलबिलाता है। सुख-दुःख उसे नहीं व्यापते। उसकी अपनी कोई आकांक्षा नहीं होती। वह हर कार्य रामकाज समझकर भगवान् की प्रसन्नता के लिए करता है। उसकी काया सधी होती है, मन वश में रहता है। सत् उसका आचरण है, प्रेम उसका व्यवहार है। जिसके पास दो क्षण मिलते ही मन शान्त हो जाय, समझो कि वह सच्चा सन्त है।

१४. मन और इन्द्रियों का निग्रह

धर्म के अनेक विधान हैं। महर्षियों ने अपने-अपने अनुभवों एवं ज्ञान के अनुसार इन विधानों को बनाया है, किन्तु प्रायः सभी धर्मों का आधार है—दम, अर्थात् मन और इन्द्रियों का संयम।

मन तो बड़ा चंचल है। हरदम भटकता फिरता है। रोकने पर इसकी जिद्द और बढ़ जाती है। फिर भी बार-बार इसे किसी एक ही ध्येय की ओर बलपूर्वक लगाने के अभ्यास से, इसकी चंचलता नष्ट हो जाती है। निरन्तर अभ्यास की आवश्यकता पड़ती है, तब कहीं जाकर मन वशीभूत होता है। मन जब वशीभूत हो जाता है, तब लक्ष्य की ओर बड़ी तेजी से बढ़ता है। मन की एकाग्रता ही किसी कार्य की सफलता का मूलमंत्र है। एकाग्र मन से किया गया साधन अवश्य ही सिद्धि प्राप्त करता है।

इन्द्रियाँ भी काफी चंचल होती हैं और अपने विषयों की ओर उनमें अत्यधिक आसक्ति होती है। वे बार-बार अपने विषय में डूबकर सुख लेना चाहती हैं, इससे कोई लाभ नहीं होता। जरा-सा अवसर मिला कि इन्द्रियाँ विषयासक्त हो जाती हैं। मन इनके साथ दो कदम आगे बढ़कर विषयानन्द में तल्लीन हो जाता है। मन जब तक सहयोग नहीं करे, तब तक नेत्र न तो देख सकता है, न रसना रसास्वादन कर सकती है, न कान सुन सकते हैं। विषयासक्ति इन्द्रियों और मन दोनों में होती है। अतः संयम दोनों का आवश्यक होता है। मन संयमित हो जाय तो उसके अनुसार इन्द्रियाँ भी स्वतः संयमित हो जाती हैं। ज्ञान, भक्ति और योग—सब साधनों में मनोनिग्रह और इन्द्रिय-निग्रह को काफी महत्त्व मिला है। दम से ही विद्वानों को शुभकर्म की यथावत् सिद्धि होती है।

मनुष्य जब अपनी इन्द्रियों पर संयम नहीं करता तो वह पूरे समाज के लिए अभिशाप बन जाता है। ऐसा व्यक्ति खतरनाक होता है। वह जो मन में आये बोल सकता है, क्योंकि जीभ उसके वश के बाहर है। ऐसों के मित्र भी शत्रु बन जाते हैं। उच्छृंखलता का जन्म असंयम से ही होता है। असंयमी क्रोधवश कुछ भी कर सकता है; किसी को गाली देना, किसी को भी अपमानित कर देना उसके लिए सहज है। वह दिन-रात राग-द्वेष के कारण तिकड़म भिड़ाता रहता है। क्षुद्र सुख के लिए परिवार, पुरजन, नाता-रिश्ता कुछ भी नहीं देखता। गुरुजनों के लिए ऐसे लोगों के मन में कोई आदर नहीं होता। वे लोग छोटों से स्नेह नहीं करते। जो भी सामने मिला उसी से बकवास करने लगे। व्यर्थ की बातों में समय गँवाना उनके लिये साधारण बात है। आज समाज में क्या हो रहा है ? सुनता हूँ, छोटी-छोटी बातों पर हत्याएँ हो रही हैं। किसी के लिए श्रद्धा नहीं दिखती; कहीं दया नहीं होती। लोग या तो निन्दा में लगे हैं या स्तुति में। अपना कर्त्तव्य कोई नहीं देखता। ऐसा क्यों हो रहा है ? केवल संयम के अभाव से। आज इन्द्रियों के संयम एवं मनोनिग्रह की आवश्यकता बहुत अधिक है। कोई भी समाज और कोई भी राष्ट्र, असंयमी लोगों के कारण न तो सुखी रह सकता है और न विकास कर सकता है। संयम जितना व्यक्तिगत शान्ति एवं आध्यात्मिक उन्नति के लिए आवश्यक है, उतना ही समाज एवं देश की समृद्धि और एकता के लिए भी।

संयमी भावनाओं के प्रवाह में नहीं बह जाता। उसमें शीतलता होती है। उसमें अक्रोध, सरलता, सन्तोष, श्रद्धा, सत्यनिष्ठा, परोपकार की भावना, मितभाषिता, जितेन्द्रियता, धीरता, सुशीलता, सदाचारिता, प्रसन्नता आदि सद्गुण स्वतः आ जाते हैं। वह सभी प्राणियों को सुख

पहुँचाता है; सबका हित साधन करता है। उसके मन में ईर्ष्या या द्वेषवश क्षोभ पैदा नहीं होता है। इन सबका परिणाम होता है कि जीवन में वह प्रसन्नता एवं निर्भयता का अनुभव करता है।

जितेन्द्रिय वह है जो बहुत बड़ी सम्पत्ति पाकर भी हर्ष से पागल नहीं होता और न संकट की घड़ी में भय तथा शोक से घबराता है। उसके लिए सुख-दुःख, हर्ष-शोक, राग-द्वेष, मान-अपमान सभी समान होते हैं। जितेन्द्रिय संयमी पुरुष वास्तविक अर्थों में निर्द्वन्द्व हो जाता है। उसे व्यर्थ की चिन्ता नहीं होती। अतः आराम से गहरी नींद सोता है और अपने कर्तव्यपालन में सदैव तत्पर रहता है।

जीवन में शान्ति एवं सुख-संतोष के लिए इन्द्रियों तथा मन का संयम अत्यावश्यक है।

जिस शक्ति के द्वारा इन्द्रियों और मन को वश में कर सको, वही वास्तविक शक्ति है।

१५. त्याग

त्याग का अर्थ होता है—छोड़ देना, कोई सम्बन्ध नहीं रखना। जीवन में त्याग का बड़ा महत्त्व है। बिना त्याग किये, कुछ भी प्राप्त नहीं किया जा सकता। जो त्याग करता है, उसकी सभी गाथा गाते नहीं थकते। जो त्याग नहीं कर सकता, कुछ छोड़ने का सुख अनुभव नहीं कर सकता, वह पाने का सुख भी नहीं पा सकता। संग्रह में दुःख है और अपरिग्रह में सुख।

इस संसार में जो भी आया है, वह दुःख और सुख से घिरा रहता है। मन के अनुकूल हुआ तो सुख और मन के प्रतिकूल हुआ तो दुःख। वस्तुतः न तो कुछ मन के लिए अनुकूल होता है न प्रतिकूल। काल के प्रवाह में सब कुछ एकरस बहता है। सुख-दुःख की भावना आरोपित होती है, वास्तविक नहीं। प्रियता-अप्रियता तो मन द्वारा गढ़ी हुई होती है। अतः इन सारी बातों की जड़—संसार को ही त्याग देने की बात अर्थात् संसारी प्रपंचों को छोड़ देने की बात, बुद्धिमान् पुरुष करते हैं। यह संसार दुःखरूप है। संसार नाशवान् है। नाशवान् से राग क्या, द्वेष क्या? अतः जो संसार का त्याग कर देता है, संसार को छोड़ देता है, वह दुःख को छोड़ देता है। संसार छोड़ने का अर्थ जंगल में जाना नहीं होता; गुफाओं में जाकर एकान्त में रहना भी नहीं होता। संसार-त्याग का तात्पर्य है उसके विकारों को छोड़ देना—राग-द्वेष, मद-मोह, माया-मत्सर को छोड़ देना।

संसार में सारे अनर्थों की जड़ क्या है? धन। धन के पीछे सभी पागल हैं। सारे कार्य-कलाप का संचालन आजकल धन के हाथ में चला गया है। इसीलिए लोग चाहे जिस प्रकार भी हो, धन एकत्र करते हैं। धन कमाना और उसे जमा करना—यही लक्ष्य हो गया है जीवन का। धन को लोगों ने साध्य मान लिया है, साधन नहीं। यही गलत है। इसी गलत मान्यता के कारण नाना प्रकार की विकृतियाँ आ गयी हैं, व्यक्ति में भी और समाज में भी। सब कुछ धन पर आश्रित हो गया है। धन का सदुपयोग नहीं हो रहा है, अतः अनेक विसंगतियों से घिरा मानव, अशान्ति से दुःखी है। जिसके पास जितना ही अधिक धन है, वह उतना ही अधिक अशान्त है, बेचैन है। ठीक से सो भी नहीं पाता, ठीक से एक जून भोजन भी नहीं कर पाता। 'धन' को लोग 'अर्थ' कहते हैं। लेकिन जीवन का अर्थ ही व्यर्थ हो गया है। अतः आवश्यक है कि लोग अपना दृष्टिकोण बदलें। धन का संचय अनर्थों की जड़ है। धन का संचय नहीं, वितरण होना चाहिए—

साईं इतना दीजिए, जामे कुटुम्ब समाय।
मैं भी भूखा ना रहूँ, साधु न भूखा जाय॥

आवश्यकता से अधिक संचय करते हो तो अपने लिए अशान्ति को न्यौता देते हो। शान्ति चाहते हो तो धन का त्याग करो।

धन का, रूप का, विद्या का, देह का अभिमान ही दुःखों की जड़ है। तुम मात्र देह नहीं हो; शुद्ध चैतन्य स्वरूप हो। देह में उलझते हो तो तुम्हारा सहज स्वरूप ही तुमसे छूट जाता है। इन अभिमानों का त्याग करो। अभिमान छोड़ दो तो तुम्हारे चित्त में छल-प्रपंच की जगह प्रेम बस जायगा और तब तुम्हारा जीवन फूलों की तरह सुगन्ध से भर जायगा और चित्त आनन्द में गोता लगाने लगेगा। अभिमान के रहते सभी गुण व्यर्थ हैं। रावण महापंडित था, तपस्वी था, किन्तु शरीराभिमान के कारण निष्फल हो गया।

अपने को बड़ा रूपवान्, धनवान्, बलवान् मानते हो, कुलीन और सिद्ध समझते हो, अपने को असाधारण मानकर अन्य लोगों को हेय दृष्टि से देखते हो—यही तुम्हारे स्वरूप को ढँक देता है। दृष्टि को निर्मल रखने के लिए इन सारे अभिमानों और कारणों को छोड़ दो। अपने संतापों की चिकित्सा तुम्हें स्वयं करनी होगी।

कोई भी मनुष्य त्याग किये बिना न तो सुख पा सकता है, न परमात्मा को पा सकता है और न निर्भय होकर सो सकता है। अतः तुम सर्वस्व का त्याग कर दो—अपनी वृत्तियों का त्याग कर दो। यहाँ तक कि तुम अपना भी त्याग कर दो। अपने को प्रभु की शरण में डाल दो। जैसे ही तुम्हारा 'मैं' और 'मेरापन' छूटेगा, तुम परमात्मा के समीप पहुँच जाओगे। यही वास्तविक आनन्द का स्वरूप है।

तुम यदि अपने 'स्व' का कल्याण चाहते हो, अपने समाज और राष्ट्र का कल्याण चाहते हो तो छोड़ना सीखो, देना सीखो। अपना सर्वस्व छोड़ देने में ही वास्तविक सुख है। त्याग ही सबसे श्रेष्ठ माना गया है।

संसार में ज्ञान के समान कोई नेत्र नहीं है, सत्य के समान कोई तप नहीं है, राग के समान कोई दुःख नहीं है और त्याग के समान कोई सुख नहीं है। तृष्णा का त्याग ही सुखी होने का रहस्य है।

त्याग वह आग है जिसमें मनुष्य की सारी विकृतियाँ जल जाती हैं और वह शुद्ध कुन्दन बन जाता है।

'राम' और 'काम' साथ-साथ नहीं रहते। यदि शाश्वत आनन्द चाहते हो, 'राम' चाहते हो तो 'काम' का त्याग करना ही होगा। विषयों का कितना ही सेवन किया जाय उनसे तृप्ति नहीं होती। इन दुःखदायी विषयों से मन को बलपूर्वक हटाकर ही जीव शान्ति पाता है। विषय-त्याग से ही शान्ति मिलती है और विषयासक्ति से अशान्ति तथा रोगों की प्राप्ति होती है।

१६. मन को निर्मल करो

मन बड़ा शक्तिशाली है। इसे ऊर्जा का मूर्तरूप ही मानो। मन की मलिनता बुद्धि को मलिन कर देती है और फिर बुद्धि की निश्चयात्मकता समाप्त हो जाती है। तब तुम ठीक से विचार नहीं कर सकते, सही निर्णय पर नहीं पहुँच सकते। ठीक-ठीक विचारणा मन और बुद्धि के सहयोग से होती है। दोनों में तालमेल हो, दोनों समप्रवाही

हों तो सही दिशा-बोध मिले। बुद्धि को परिनिष्ठित करने के लिए, सद्बुद्धि के लिए यह आवश्यक है कि मन परिनिष्ठित हो, मन स्थिर हो। जब मन अचल होगा, उसमें क्षोभ नहीं होगा, द्वेष नहीं होगा, राग नहीं होगा तो उसके कारण बुद्धि भी राग-द्वेष से रहित प्रतिष्ठित रहेगी। बुद्धि को सुस्थित रखने के लिए मन का प्रसादत्व चाहिए, मन की प्रसन्नता चाहिए—

प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते॥

मन मलिन होगा तो किया गया कर्म भी मलिन होगा। दूषित मन से किया गया तप, स्वाध्याय, दान आदि सभी दोषपूर्ण होते हैं। दूषित मन दूषित विचारों का प्रेरक है और इससे मनुष्य पतनोन्मुख होता है। स्वस्थ तन, निर्मल मन ही स्वच्छ विचारों को उत्पन्न करता है। जैसा मन, वैसा ही विचार।

एक स्वच्छ और स्थिर सरोवर के निकट जाओ और उसमें अपना मुखड़ा निहारो, सरोवर का जल एक दर्पण की भाँति तुम्हारा प्रतिबिम्बं झलकायेगा। अब उसमें एक ढेला फेंको। लहरें उठेंगी और तुम्हारा चेहरा नहीं दिखेगा। सरोवर का जल गन्दा होगा तो तुम अपनी छवि नहीं देख सकते। अतः सरोवर दर्पण की भाँति काम करे, इसके लिए जरूरी है—जल का साफ और शान्त होना। इसी प्रकार यदि तुम्हारा मन दूषित है, गंदला है और लहरा रहा है अर्थात् उसमें मलिनता और चंचलता है तो कदापि उसमें अपने को नहीं देख सकते। मन को देखना पड़ता है, उसे काबू में लाना पड़ता है।

मन निर्मल कैसे होगा? सदा प्रसन्न रहने से। दुःख आवे, सुख आवे—धूप हो, शीत हो, वर्षा हो; किन्तु मन प्रसन्न होकर उन्हें झेले। दुःख से दुःखी और सुख से सुखी होने से मन कमजोर पड़ता जाता है। संकल्पों में निष्ठा नहीं रह जाती है। मन का दुःखी या सुखी होना, द्वेष और राग पर निर्भर है। जब मन चंचल होगा तो वह कुछ दुःख से कलपेगा तथा सुख के क्षणों में इतराएगा। जब दुःख-सुख दोनों में मन समभाव से प्रसन्न रहने लगे, विक्षुब्ध नहीं हो तो इसका अभिप्राय है कि मन पर नियंत्रण है। मन के नियंत्रित होते ही बुद्धि पर भी नियंत्रण हो जाता है और फिर बुद्धि आत्मा को मोहग्रस्त नहीं कर पाती और वह धीरे-धीरे आनन्द में मग्न हो जाता है। गीता में कहा गया है—

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ॥

(गीता ३।३४)

इन्द्रिय-इन्द्रिय के अर्थ (विषय) में राग-द्वेष व्यवस्थित रहते हैं। मनुष्य को इन दोनों को वश में करना चाहिए। ये कल्याण—मार्ग के शत्रु हैं। प्रत्येक इन्द्रिय के अपने विषय हैं। जैसे चक्षु से देखना, जीभ से रस लेना, नाक से साँस लेना, कान से सुनना आदि। इन्द्रियाँ अपने विषय में लिप्त रहती हैं और अनुकूलता-प्रतिकूलता के आधार पर सुख-दुःख का अनुभव करती हैं। अतः राग-द्वेष से मुक्त होकर यदि मन और इन्द्रियाँ अपने स्वभाव के अनुसार आचरण करें तो वह सदैव प्रसन्नता का अनुभव करता रहेगा।

गीता में भगवान् श्रीकृष्ण मन को प्रसन्न रखने के लिए कई उपाय बतला चुके हैं—

ध्यायतो विषयान् पुंसः संगस्तेषूपजायते।
संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते॥
क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥

(गीता २।६२-६३)

विषय-चिन्तन करने वाले व्यक्ति की उसमें आसक्ति हो जाती है, आसक्ति कामना उत्पन्न करती है और कामना-पूर्ति में बाधा पहुँचने से, इच्छापूर्ति नहीं होने से क्रोध से मन अन्धा हो जाता है। उसे कुछ नहीं सूझता। क्रोध होते ही उसमें सम्मोहता (मूढ़ता) पैदा होती है, जिससे स्मृति भ्रमित होती है। स्मृति-विभ्रम बुद्धि का नाश करती है और जिसकी बुद्धि नष्ट हो गयी, उसका सर्वथा नाश हो जाता है, क्योंकि वह अपनी स्थिति से च्युत हो जाता है।

अतः विषय-चिन्तन ही वह कारण है, जिससे मन की मलिनता और चंचलता बढ़ती है। इसी से बुद्धि भी अस्थिर हो जाती है और फिर पतन के सिवा कोई मार्ग नहीं बचता। मन को निर्मल बनाने के लिए विषय-चिन्तन से बचो—

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥

(गीता २।६४)

विषयों से राग-द्वेष को हटा लो तो मन को प्रसादत्व प्राप्त हो जायगा, मन प्रसन्न रहेगा क्योंकि तब विषय-चिन्तन हानिकारक नहीं होगा और सभी इन्द्रियाँ वश में हो जायंगी। बुद्धि या प्रज्ञा इसी से प्रतिष्ठित होगी—

वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।

(गीता २।६१)

मन जब प्रसन्न रहने लगता है तो फिर दुःख की छाया भी उसे नहीं छू पाती। आने वाली विपदा उसे प्रभावित नहीं करती। आँधी बह जाती है और वह शान्तचित्त मुस्कुराता रहता है, क्योंकि वह जानता है कि यह दुःख की आँधी भी परमात्मा की कृपा ही है और परमात्मा सदैव भलाई के लिए ही सब कुछ देता है।

विषय-चिन्तन नहीं, प्रभु-चिन्तन करो, भगवान् का स्मरण करो तो मन सदैव प्रसन्न रहेगा और शान्त रहेगा। मन की चंचलता को वश में करने का अमोघ उपाय है—भगवान् के चरणों की शरण में जाना। भगवान् के किसी भी रूप का, उनके गुण का, उनकी लीला का, उनके पवित्र धाम का चिन्तन करो—तुम्हारा मन तन्मय होगा और चिन्तन की निरन्तरता से तद्रूपता आयेगी और मन निर्मल हो जायगा।

एकान्त में बैठो और अपने मन को देखो, अपनी बुद्धि को परखो, विचार करो। आत्म-चिन्तन करो। अपनी बुद्धि के दर्पण में अपनी छवि निहारने की चेष्टा करो—धीरे-धीरे सारे अवगुण पकड़ में आ जायंगे और मन निर्मल होने लगेगा।

कामनाएँ अभाव की अनुभूति से उत्पन्न होती हैं। जो साधन दूसरों के पास देखते हो और अपने पास नहीं पाते हो उनको पाने की इच्छा जगती है। अपने में अभाव का, अपूर्णता का भाव मत आने दो। इसी को 'संतोष' कहते हैं। इच्छाओं का कोई अन्त नहीं। भोग की कभी तृप्ति नहीं होती। अतः सबसे बड़ा धन सन्तोष है। जब मन में सन्तोष आ जाता है तो अभाव नहीं खलता और इच्छाएँ नहीं उपजतीं। अपने मन को प्रभु की कृपा से भर लो। भगवान् को पाने से बड़ा कोई लाभ नहीं। इसीलिए भगवान् की गोद में अपने मन को डाल दो, अपनी बुद्धि को डाल दो।

देखोगे कि तुम्हारा मन ज्योतिर्मय हो गया है और तुम्हारी बुद्धि स्वयं बन गई है।

मन को निर्मल किये बिना कोई साधन नहीं बन पड़ता। नाम-कीर्तन बड़ा अच्छा साबुन है, जिससे मन की मैल धुल जाती है।

हृदय एक लकड़ी है और नाम-जप दूसरी लकड़ी है। दोनों को रगड़ने से जो अग्नि उत्पन्न होती है, वह मन के सारे दोषों को जला देती है।

शुद्ध अन्तःकरण में ही भगवान् अवतरित होते हैं। अपने मन और अपनी बुद्धि को शुद्ध करो, भगवान् का साक्षात्कार निःसन्देह होगा।

१७. नाम-जप का महत्त्व

भगवान् का यही तो वैशिष्ट्य है कि शब्दमात्र से उनकी ही अभिव्यक्ति होती है। भावना-मात्र से शब्द की स्थिति बदल जाती है। भक्त की भावना ही नाम को चिन्मय कर देती है। इसलिए जिस भी नाम से भक्त के हृदय में भावना भावित हो सके, उसी का जप करना चाहिए। इसलिए संतों के यहाँ नाम-जप का बड़ा महत्त्व है।

गोस्वामी तुलसीदास जी ने तो यहाँ तक कह दिया है—

नामु लेत भवसिंधु सुखाहीं,
करहु बिचार सुजन मन माहीं।
भाव कुभाव अलख आलसहूँ,
नाम जपे मंगल दिसि दसहूँ॥

नाम-जप करते-करते भगवदाकार वृत्ति हो जाती है, क्योंकि जप में नामी का ध्यान रहता है। एक सबसे बड़ी बात नाम-जप में यह है कि इसमें विधि का बंधन नहीं है और आचार-विचार का कोई नियम नहीं है। केवल भगवच्चिन्तन ही शर्त है और उसी से धीरे-धीरे भगवान् का साक्षात्कार हो जाता है।

संतों के यहाँ सुमिरन का बड़ा महत्त्व है, परन्तु उनका 'सुमिरन' साधारण साधकों के सुमिरन जैसा नहीं होता—

सुमिरन ऐसा कीजिए दूजा लखै न कोय।
ओठ न फरकत देखिए, प्रेम राखिये गोय॥
सहजो सुमिरन कीजिये, हिरदे माहिं दुराय।
होठ होठ सूँ ना हिले, सकै नहीं कोई पाय॥
सत गुरु माला मन दिया, पवन सुरति सो पोई।
बिन हाथों निस दिन जपै, परम जाप यूँ होई॥

जप, स्मरण, माला, तिलक और कण्ठी आदि तो आचार की बातें हैं, वास्तविक जप में आचार तो पीछे छूट जाता है, प्रकृति के रोम-रोम से जप ही सुनाई देने लगता है; परन्तु यह स्थिति सिद्ध की होती है। साधनावस्था में तो गुरुनिर्दिष्ट आचार का पालन करना ही चाहिए।

१८. सच्चिदानन्द

सत्, चित् और आनन्द में कोई तात्त्विक भेद नहीं है। एक ही अनाम, अरूप और अव्यय तत्त्व के तीन नाम हैं जो केवल साधना भेद से हैं—साध्य भेद से नहीं। विशुद्ध सत्त्व कर्म से विद्ध नहीं है—**'शुद्धमपापविद्धम्'** उससे पूर्व की स्थिति को अव्यक्त कहा है—**'तदव्यक्तमाह हि'** चेतन स्वरूप में वह ज्योतियों की ज्योति है—**'तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिः।'** आनन्द भी उसी का स्वरूप है जो इष्ट पदार्थ के प्राप्त होने पर उद्भूत होता है—

पुण्यस्यानुभवे विभाति कृतनामानन्दरूपः स्वयम्।
भूत्वा नन्दति यत्र साधु तनुभृन्मात्रः प्रयत्नं विना॥

श्वेताश्वतर उपनिषद् में आता है—**'नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानां किं बहूनां यो विदधाति कामान्।'** अर्थात् नित्य सत् स्वरूप, यावत्प्राणियों का चैतन्य और उनका कामप्रद आनन्द—वही तो परमतत्त्व है।

चित् स्वरूप में वह सब प्राणियों के हृदय में अवस्थित है—**'ईश्वरः सर्वभूतानां हृदयेष्ववतिष्ठति।'** वह चित् ही मनोमय है, अमृतमय है और हिरण्यमय है—**'स य एषोऽन्तर्हृदय आकाशः, तस्मिन्नयं पुरुषो मनोमयः, अमृतो हिरण्मयः।'**

सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में भी वह चेतन रूप से विराजता है और उससे भी परे है। श्रुति कहती है—**'सहस्र शीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्। स भूमिं विश्वतो वृत्वा अन्यतिष्ठद् दशांगुलम्॥'**

वृत्तियों से वह अलग-अलग भासता है। देखो, योग वार्तिक में कहा है—

प्रमाता चेतनः शुद्धः प्रमाणं वृत्तिरेव च।
प्रमार्थाकारवृत्तीनां चेतने प्रतिबिम्बनम्॥

सम्प्रदायों का प्रयोजन अविच्छिन्न तैल धारा के समान मनुष्य की वृत्तियों को परमतत्त्व में लगाना है। सभी सम्प्रदायों का चित् निरूपण सही है। भक्ति की दृष्टि से भगवान् की तीन शक्तियाँ हैं—स्वरूप शक्ति, माया शक्ति और जीव शक्ति। स्वरूप शक्ति ही चित् शक्ति या अन्तरंग शक्ति कहलाती है, जिसके आश्रय से परमतत्त्व लीला-विलास करता है। यह शक्ति देह, इन्द्रिय, मन, प्राण, बुद्धि आदि से विलक्षण है। वह नित्य, अचिन्त्य, अव्यक्त, निर्विकार है और इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का आश्रय है। पुंसत्व दृष्टि से उसे चित् कहते हैं और स्त्रीत्व दृष्टि से चिति कहते हैं। यह सम्पूर्ण लीला इसी शक्ति का विलास है। इसी को संधिनी, सवित और ह्लादिनी नामों से अभिहित किया जाता है। आनन्द ह्लादिनी शक्ति का विलास है। देहाध्यास के कारण यह जीव-संज्ञा धारण कर लेती है।

योगवासिष्ठ में चित् का अधिष्ठान आकाश को माना है और उपाधि से उसे तीन नाम दे दिये हैं—चित्ताकाश, चिदाकाश और महाकाश। चित्ताकाश में योगी की स्थिति रहती है, चिदाकाश में ज्ञानी की और महाकाश में सारे प्रपंच की। मूल में आकाश एक ही तत्त्व है। वैशेषिककार ने तो आत्मा को आकाशवत् ही बताया है—**'विभवान् महानाकाशस्तथा चात्मा।'**

गीता में भी कहा है—

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते॥
(१३।३२)

आकाश अनन्त है, ज्योति-स्वरूप है और व्यापक है—**'आसमन्तात् काशते इत्याकाशः।'** प्रपंच में व्याप्त आकाश को भूताकाश भी कहते हैं, जब उससे भूतावरण हट जाता है तो वही चित्ताकाश कहलाता है और जब चित्ताकाश से गुणावरण हट जाता है तो वही चिदाकाश हो जाता है। उपासना अथवा योग-साधना से

भूताकाश का अतिक्रमण करना पड़ता है। चित्ताकाश में स्थित हुआ योगी अनेक विभूतियों का साक्षात्कार करता है और भक्त भगवल्लीलाओं का। परन्तु इस स्थिति में भी संस्कार बने रहते हैं जो गुणों का ही संघात है। भूताकाश का विशुद्ध भेद-भाव तो समाप्त हो जाता है, परन्तु संस्कारवश भेदाभेदभाव की स्थिति बनी रहती है। गुणों का आवरण हट जाने से ज्ञाननिष्ठा या ब्रह्मनिष्ठा होती है—वहीं चिदाकाश है जहाँ एकान्ततः अभेद भाव है। चित्-प्राप्ति के लिए भूताकाश का आवरण भंग करना होगा। उसके लिए अनेक उपाय बताये गये हैं। प्रमुख उपाय दो ही हैं—भक्ति और योग। भक्ति में भाव की प्रवणता अपेक्षित है और योग में इन्द्रिय निग्रह द्वारा चित्त-शुद्धि की।

भूताकाश में इन्द्रियों का ही साम्राज्य है, उसे पार करना होगा। दिव्यचक्षु की प्राप्ति चित्ताकाश में होती है जो योग का दर्शन है। उससे आगे शब्द-ब्रह्म की प्रतिष्ठा है जहाँ चिन्मय दर्शन होता है और जिसके लिए 'विज्ञान-चक्षु' अपेक्षित हैं। वहाँ कोई आवरण नहीं है। कर्म संस्कारों का आवरण भी समाप्त हो जाता है।

ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मात् कुरुतेऽर्जुन।

१९. कृपानुभूति

यह मानना अनुचित न होगा कि यह सृष्टि-रचना भगवान् की कृपा का ही फल है। जगत् में हम जो कुछ भी देखते, सुनते या समझते हैं उसके नियन्ता भगवान् ही हैं। भगवान् से यह सारा जगत् ओत-प्रोत है—

ईशावास्यमिदं सर्वंयत्किंचित जगत्यांजगत्।
तेन त्यक्तेन भुंजीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम्॥

अखिल ब्रह्माण्ड में जो कुछ भी जड़-चेतन स्वरूप जगत् है, यह समस्त ईश्वर से व्याप्त है, उस ईश्वर को साथ रखते हुए, स्मरण करते हुए सांसारिक पदार्थों का त्यागपूर्वक उपभोग करो, उनमें आसक्त न होओ, क्योंकि भोज्य पदार्थ किसके हैं अर्थात् किसी के भी नहीं।

इस मंत्र में दो भाव हैं। एक तो ईश्वर की व्यापकता के विषय में और दूसरा हम मनुष्यों के लिए सांसारिक वस्तुओं के उपभोग के सम्बन्ध में। परमात्मा सर्वाधार और सर्वव्यापक है। भगवान् की व्यापकता से यह संकेत किया गया है कि हम सांसारिक वस्तुओं का उपभोग करते समय यह सदा स्मरण रखें कि उन वस्तुओं में भगवान् विद्यमान हैं और उन वस्तुओं का भोग न कर, हमें बिना आसक्ति के उनका सदुपयोग करना चाहिए। यदि केवल इतना ही हमारा ध्यान रहे तो संसार में सारा काम-काज करते हुए भी भगवान् को प्राप्त करने में हमें विलम्ब नहीं होगा।

गोस्वामी तुलसीदास रामचरित मानस में कहते हैं—

जड़ चेतन गुन दोषमय विश्व कीन्ह करतार।
संत हंस गुन गहहिं पय परिहरि वारि बिकार॥

विधाता ने इस जड़-चेतन विश्व को गुणदोषमय रचा है, पर विवेकी पुरुष हंस के समान दोषरूपी जल को छोड़कर गुणरूपी दूध को ग्रहण करते हैं। अभिप्राय यही है कि वे भोगों में आसक्त होकर संसार में फँसते नहीं।

सांसारिक वस्तुओं के उपयोग के समय हमें क्या-क्या करना चाहिए, जिससे भगवान् का स्मरण भी होता रहे और भोगों में आसक्ति भी न हो अर्थात् त्याग का भाव भी बना रहे, इसके लिए शास्त्रों में तरह-तरह के विधान बतलाये गये हैं। उदाहरणार्थ—प्रातःकाल जब हम सोकर उठने के बाद पृथ्वी पर पैर रखते हैं तो हमारे लिए पृथ्वी को यह कहते हुए प्रणाम करने का संकेत है—

विष्णुपत्नि नमस्तुभ्यं पादस्पर्शं क्षमस्व मे।

(नारदपुराण १।६६।२)

स्नान करते एवं जल ग्रहण करते समय भगवान् 'वरुण' की स्तुति करने का तथा गंगा, गोदावरी, नर्मदा आदि मुख्य-मुख्य पवित्र नदियों के नाम स्मरण का विधान है। ठीक इसी प्रकार स्नान के पश्चात् वस्त्र धारण करने के भी विशिष्ट स्तोत्र हैं। सारांश यह है कि दैनिक जीवन में होने वाले प्रत्येक कर्म में कुछ-न-कुछ ऐसे ही विधान हैं कि यदि विशेष न हो सके तो कम-से-कम भगवान् का इसी निमित्त इतना स्मरण तो नित्य हो ही जाय। हमारे धर्मशास्त्रों में आसन्न मृत्यु के लिए भी जो शास्त्रीय विधान है, अन्यत्र प्राप्त होना असम्भव है। यह भगवत्कृपा ही है। इसी प्रकार पग-पग पर अपने द्वारा होने वाले समस्त कर्मों को समर्पित भाव से, उन्हें स्मरण रखते हुए ही जो लोग करते हैं, उनका जीवन उत्तरोत्तर भगवन्मय हो जाता है, वे इसी जीवन में मुक्त हो जाते हैं।

तात्पर्य यह है कि सांसारिक भोगों में त्यागबुद्धि होने से भगवद्भक्ति का उदय होता है। भगवद्भक्ति सम्पन्न व्यक्ति में आसक्ति का स्वयमेव ह्रास हो जाता है।

लाभु कि किछु हरि भगति समाना। जेहि गावतहिं श्रुति संत पुराना॥
हानि कि जग एहि समय किछु भाई। भजिअ न रामहिं नर तनु पाई॥

(मानस ७।१११।४-५)

भगवान् की भक्ति के समान कोई लाभ नहीं तथा दुर्लभ मानव-देह पाकर भी भोगों में फँसे रहना, भगवद्भजन न करना—इससे बढ़कर कोई हानि नहीं। यही समस्त शास्त्रों का सार है।

सारांश यह है कि भोगासक्ति का त्याग और सर्वव्यापी भगवान् का सतत् स्मरण ही उनकी कृपा की अनुभूति कराने में सहायक होते हैं।

अपने आप पर विश्वास तथा भगवान् की कृपा पर विश्वास रखो किंतु आत्मविश्वास आवश्यक है। जिसका अपने पर विश्वास नहीं होता, उसका ईश्वर पर भी विश्वास नहीं होता। विश्वास का अभाव ही अज्ञान है।

ईश्वर के निकट होने का नाम ही उपासना है। जितना ही हम संसार के बन्धनों से हटकर ध्यान-पूजा, नाम-जप, कीर्तन आदि में तथा परोपकार, जीव-सेवा आदि सत्कर्मों में अपने को व्यस्त रखेंगे, उतना ही भगवान् के सन्निकट होंगे और उतनी ही अधिक कृपानुभूति होगी।

२०. मन काँचै नाचै वृथा

ईश्वर की आराधना में किसी विशिष्ट वेश-भूषा की आवश्यकता नहीं है। भगवान् भाव देखते हैं। भाव के फूल ही भगवान् की पूजा के लिए सर्वोत्तम होते हैं। सहज भाव से ईश्वरीय सत्ता को स्वीकार कर यथालाभ संतोष ही साधक के लिए परमसुख है—

आधी और सूखी भली, सारी तो सन्ताप।
जो चाहेगा चुपरी, बहुत करेगा पाप॥

जो प्राप्त हो गया, खा लिया, जहाँ जैसी जगह मिल गयी सो लिया—जैसे ही अवसर आया दूसरों की सेवा कर दी। जो भरपेट

भोजन के जुगाड़ में ही समय गँवाने लगा वह भजन-भाव क्या करेगा? भरोसा चाहिए प्रभु पर। अपने भक्त की आवश्यकता की पूर्ति प्रभु कर देते हैं। बड़े दयालु हैं वे। किन्तु उनकी दया और करुणा पाने के लिए उदार हो हृदय खोलना होगा, सभी पर प्रेम लुटाना होगा—वैसे ही, जैसे मेघ पानी बरसाता है, सूरज धूप फैलाते हैं और चाँदनी सबको शीतलता प्रदान करती है। तुम्हारे मन में सबके प्रति दया-भाव हो, तुम सबकी सेवा के लिए सदैव तत्पर हो तो फिर राम तुम्हारे घर में ही मुकाम किये तुम पर कृपा करते रहेंगे। इसके लिए हृदय को स्वच्छ करना है, चित्त की निर्मलता बढ़ानी है। चिकनी-चुपड़ी खाने के लिए कई सांसारिक खेल करने होंगे और उन खेलों के कारण तुम्हारे चित्त पर धूल की पर्त मैल की तरह जम जायगी और उसकी दुर्गन्ध से भगवान् परे हट जाएंगे। शुद्ध निर्मल अन्तःकरण ही भगवान् का आवास क्यों होता है।

संत निर्भय होता है, क्योंकि भय तो उसे सताता है जो गलत करता है, पाप करता है। जो धर्म, सत्य और अहिंसा के मार्ग पर है, उसे किसी से भय नहीं होता। जब सभी से प्रेम ही है तो फिर वैर कहाँ से आयेगा? संत तो सर्वशक्तिमान् प्रभु की शरण में रहता है तो फिर वह अन्य किस शक्ति से भयभीत होगा? इसलिए संत कभी भी ईश्वर के अतिरिक्त अन्य किसी भी बड़ी-से-बड़ी सत्ता को सिर नहीं झुकाता। बादशाह अकबर एक संत के यज्ञ में उसकी समाप्ति के बाद पहुँचे और अपने को बादशाह कहकर परिचय दिया। संत ने उसकी उपेक्षा कर दी और दो टूक जवाब दे दिया—

घंटा थमै अकब्बर जाय, बासी बचै न कुत्ता खाय।

उस संत ने बादशाह अकबर को कुत्ता कहकर टाल दिया। जिसे सर्वशक्तिमान् विश्वम्भर का प्रेम-सान्निध्य प्राप्त है उसे अकबर जैसे बादशाह से क्या प्रयोजन। संत निडर होता है, वह सत्य के आचरण में तत्पर रहता है। वह अपने भाव में मगन रहता है। नाना प्रकार के वेश धरकर क्या होगा।

दाढ़ी, माला, तिलक, जटा-जूट धारण करने वालों को यदि इनसे मन की शान्ति नहीं मिलती, तो व्यर्थ ही इनका भार ढोने से क्या लाभ? मूर्तिपूजा, योग, आरती आदि सब व्यर्थ हैं, यदि परमात्मा की प्राप्ति नहीं हुई, आत्मदर्शन का सच्चा मार्ग नहीं मिला। मन को पकाना असल चीज है—मन तपकर निर्मल हो जाय तो सब ठीक अन्यथा सारा तामझाम व्यर्थ है—

जप माला छापा तिलक, सरै न एको काम।
मन काँचै नाचै वृथा, साँचै राचै राम॥

केवल मनोरंजन के निमित्त यह वेश उपादेय हो सकता है। ईश्वर से प्रेम हो जाने पर बाबा बनने या वेश धारण करने की जरूरत नहीं। ये सब उपकरण तो इसी निमित्त हैं कि मन का भटकाव शान्त हो, मन प्रभु में अटक जाय। जहाँ ईश्वर का वास हो, वहीं सुख-आनन्द है। जहाँ से ईश्वर को हटा दिया जाता है, वहाँ पाप का निवास हो जाता है। पाप को छिपाने के लिए पाखण्ड पनपता है। एक पाप दूसरे पाप की प्रवृत्ति बढ़ाता है। इसलिए छोटे-से-छोटे पाप से भी बचो।

त्याग की भावना जाग्रत होने पर धीरे-धीरे सांसारिक माया-जाल से मोह छूटेगा तथा आत्म-सुख की अनुभूति होने लगेगी।

वैराग्य की जितनी प्रबलता होगी, मानसिक रोगों का दमन भी उतना अधिक होगा।

मन की स्थिरता की वृद्धि के साथ आत्मानुभूति का सुख बढ़ता जायगा।

जीवन को सुधारना है, ईश्वर का सान्निध्य प्राप्त करना है तो सांसारिकता से विमुख होना ही पड़ेगा। काम को त्यागो और राम को पकड़ो।

२१. ज्ञान और साधना

जैसे काठ के दो टुकड़ों के संघर्ष से अग्नि पैदा होती है, वैसे ही हृदय के साथ श्रीराम-नाम का संसर्ग जब बार-बार होता है तो उससे उत्पन्न शक्ति के द्वारा ब्रह्म का साक्षात्कार होता है।

मात्र विद्याध्ययन से ज्ञान नहीं होता, उसके लिए साधना चाहिए। मैं देह हूँ, यही अविद्या है। यह देह अनित्य है, मैं देह नहीं चैतन्य आत्मा हूँ, यही विद्या है। इस प्रकार का बोध ही ज्ञान तथा सच्ची विद्या-प्राप्ति है। केवल पोथी पढ़ने से ज्ञान की पिपासा नहीं मिटती।

एक बार लोगों ने शिकायत की कि अधिकारी वर्ग पर मेरी विशेष कृपा रहती है। मैंने कहा—तमस् की बहुलता इनमें है, अनाचार भी इनमें है तो सोचो, कृपा किस पर रहे। ऐसे लोगों का उद्धार हो जाय तो कल्याण अधिक होगा, क्योंकि समाज में इनका मान है। ये लोग पढ़े-लिखे जरूर होते हैं, पर इन्हें ज्ञान नहीं होता। पढ़ने-लिखने से ज्ञान नहीं होता। बार-बार शास्त्रों को रट जाने से भी ज्ञान नहीं होता। ज्ञान साधना से होता है। यह भी आवश्यक है कि निर्दिष्ट मार्ग पर पहले स्वयं आचरण करे, जो कहे वह वक्ता की अपनायी हुई, स्वयं अनुभव की हुई बात हो। तभी शिक्षा का प्रभाव होता है।

उपदेश ग्रहण करने के लिए भी योग्यता आवश्यक है। सभी को उपदेश नहीं दिया जाता और देना भी नहीं चाहिए। अर्जुन ने अपने संशयों को साफ-साफ श्रीकृष्ण के समक्ष रखा और साथ ही निवेदन किया—'**शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्।**' शिष्य हूँ मैं, शरण में हूँ तुम्हारी, मुझे रास्ता बताओ, अनुशासन करो। भगवान् श्रीकृष्ण ने सखा और रिश्ते के बन्धु अर्जुन को शिष्य का उपदेश नहीं दिया, उपदेश दिया शरणागत हुए शिष्य अर्जुन को। जल ऊपर से नीचे की ओर बहता है। गंगा हिमालय से धरती पर उतरती हैं। ज्ञान-गंगा भी ऐसे ही प्रवाहित होती हैं। गुरु उच्चासन पर हो, शिष्य नीचे बैठकर उपदेश ग्रहण करे। यह केवल दिखावे के लिए नहीं हो। सचमुच, श्रद्धा हो गुरु के लिए। शिष्य के समस्त अहंभाव का निवारण हो जाय, तभी ज्ञान की गंगा अवतरित होंगी, अन्यथा वे शिव की जटा में ही उलझी रह जायंगी। शिष्य की जिज्ञासा भी वास्तविक हो और सद्गुरु भी करुणाशील हो, तभी उपदेश सार्थक होता है।

सद्गुरु के उपदेश का श्रवण कौन करे? भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है—

श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः।
सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम्॥

(गीता १८।७१)

जो मनुष्य श्रद्धायुक्त होकर और दोषदृष्टि से रहित होकर इस उपदेशामृत गीता का श्रवण करेगा वह भी मुक्त हो जायगा और उत्तम कर्म के द्वारा प्राप्त होने वाले शुभ लोकों को प्राप्त करेगा। शिष्य श्रद्धावान् बनकर और दोष-दृष्टि से अलग होकर उपदेश ग्रहण करे तो मात्र इसी से वह मुक्त हो जायगा। यह बड़ा पुण्य कर्म होगा और इसी पुण्यकर्म के फलस्वरूप प्राप्त उत्तम लोकों का अधिकार उसे मिलेगा। उपदेश ग्रहण करने के लिए श्रद्धा और निर्दोष दृष्टि अवश्य चाहिए। उचित ढंग से दिया गया उपदेश मन को एकाग्र कर देता है और अज्ञान के मोह को नष्ट करता है।

'मैं मन से भिन्न हूँ, तन से भिन्न हूँ, इसलिए मन और तन के धर्म (खाना-पीना आदि) मेरे नहीं हैं। मैं आत्मा हूँ जो अजर-अमर है। बीमारी शरीर की है, मैं नीरोग हूँ। बाघ शरीर को खा सकता है, मुझे नहीं।' इस प्रकार के चिन्तन से शान्ति आएगी और तत्त्वज्ञान होगा। सारा संसार स्वप्नवत् कहा गया है। जो वेदों को तो पढ़ चुके हैं, फिर भी माया-मोह में फँसे हैं, वे चिन्तनीय हैं। वेदों से क्या ज्ञान लिया, यही असल प्रश्न है। साँप मणि की रोशनी से भी कीड़े ही पकड़ता है। वह आदमी जो वेदों के ज्ञान का प्रकाश पाकर भी वासनाओं में लिप्त है, अविवेकी ही कहा जायगा। गृहस्थी में निमग्न जीवन, राग-द्वेष का बोझ उठाते-उठाते ही खत्म हो जायगा।

राग-द्वेष का अन्धेरा बड़ा गहरा होता है, जिसे हटाये बिना ज्ञान का प्रकाश नहीं होता। जब प्रकाश होता है तो छुपाये नहीं छुपता। उसी तरह जब सच्चा ज्ञान हो जाता है तो आदमी का व्यक्तित्व बदल जाता है, मनोवृत्ति बदल जाती है और उसके प्रत्येक पल का आचरण ही इसका प्रमाण होता है। अनेक बातों को जानना और बात-बात में बोलना ज्ञानी होने का सूचक नहीं है। ज्ञानी का तो मौन भी बड़ा मुखर होता है, वह सारी जिज्ञासाओं को शान्त कर देता है। भगवान् जब कृपा करते हैं तब बुद्धियोग देते हैं और दिव्य-दृष्टि देते हैं तभी ज्ञान और ज्ञान के स्वरूप का मर्म समझ में आता है।

२२. केवल रामचरण लव लागी

भगवत्प्राप्ति के लिए सतयुग में ध्यानयोग का, त्रेता में यज्ञादि का तथा द्वापर में परिचर्या का जो महत्त्व था, वही कलिकाल में नाम-गुण कीर्तन का है। भगवान् के किसी नाम का भी जप करना पर्याप्त है। केशव, नारायण, वरुण, इन्द्र, कुबेर, रुद्र, शंकर—सभी परमात्मा के ही विभिन्न रूपों और क्रियाओं के द्योतक नाम हैं। एक ही विष्णु सर्वत्र हैं।

कहा गया है कि सभी तीर्थों के जल में स्नान कर लेना, सारे यज्ञादि करना, अथवा बलि आदि के समान दानी हो जाना भी उतना महत्त्वपूर्ण नहीं है, जितना कि ब्रह्म-विचार में लीन होना। विचार से भक्ति सुदृढ़ और पुष्ट होती है। भक्ति का अभिप्राय है, अपने सभी कर्मों को परमात्मा के चरणों में अर्पित कर देना और परम व्याकुल होकर उन्हें पुकारना।

गोस्वामी तुलसीदास ने रामचरितमानस में कहा है—

कलियुग जोग न जज्ञ नहि ज्ञाना। एक अधार राम गुन गाना॥
सब भरोस तजि जो भज रामहिं। प्रेम समेत गाव गुन ग्रामहिं॥
सो भव तर कछु संशय नाहीं। नाम प्रताप प्रगट कलि माहीं॥
मन तें सकल वासना भागी। केवल रामचरन लव लागी॥
रामहिं केवल प्रेम पियारा। जानि लेउ जो जाननिहारा॥
मोरे मन प्रभु अस बिसवासा। राम ते अधिक राम कर दासा॥

कलियुग में चाहे जितने दोष हों, किन्तु कीर्तन मात्र से भवसागर पार कर सकने की क्षमता जीव को प्रदान करने वाला यही है। ध्यान, यज्ञ, ज्ञान आदि के मार्ग कलियुगी मनुष्यों के लिए चाहे जितना दुःसाध्य हो, किन्तु भजनभाव तो अत्यन्त सुलभ हैं। भगवान् का कीर्तन करना और उनके नाम का जप करना, बड़ा सहज और सीधा मार्ग है। केवल मन में उस नाम का भरोसा होना चाहिए। दृढ़ विश्वास और अविचल निष्ठा से किया गया जप कभी निष्फल नहीं होता। हृदय में सबके लिए प्रेम हो, जीवमात्र के लिए दया हो तो जप का फल शीघ्र ही प्राप्त हो जाता है। राम को केवल प्रेम चाहिए और कुछ नहीं। पूजा में चाहे लाखों लुटा दिए जाएँ, किन्तु पूरी श्रद्धा के साथ लिया गया प्रभु का नाम ही अधिक महिमावान् सिद्ध होगा।

इसी प्रेम और विश्वास के कारण, भक्त में एक-एक कर भगवान् के सभी गुण आ जाते हैं और वह राम से अधिक हो जाता है। भक्त भगवान् से बढ़कर होता है।

संसार में रहकर भी आत्मस्वरूप का दर्शन किया जा सकता है। इसके लिए भगवान् का निरन्तर जप, स्मरण और ध्यान आवश्यक है।

भक्ति का मार्ग उत्तम है, इसे अपनाना चाहिए। यह सहज पंथ है। श्रद्धा चाहिए, विश्वास चाहिए। अपने को प्रेम से भर लो और मुक्त हृदय प्रेम लुटाओ। प्राणिमात्र भगवान् का स्वरूप है। अतः सबसे प्रेम करो, सबकी सेवा करो, सबकी पूजा करो। यही भक्ति है।

भक्त जहाँ रहते हैं और जहाँ अपने पैर धोते हैं—वह स्थान महान् तीर्थ बन जाता है; परमपवित्र बन जाता है—

मद्भक्ताः यत्र तिष्ठन्ति पादाः प्रक्षालयन्ति च।
तत्स्थानं च महातीर्थं सुपवित्रं भवेद् ध्रुवम्॥
(दे०भा० ९।७।२६)

अतः ऐसे भक्तों की संगति में बिताये कुछेक क्षण भी बड़े आनन्ददायक होते हैं। इस आनन्द का लाभ लो।

२३. करिष्ये वचनं तव

भगवान् ने स्वयं आश्वासन दिया है, जीव को कि वे जिस पर प्रसन्न होते हैं उसे बुद्धियोग देते हैं अर्थात् उसे सद्बुद्धि प्रदान करते हैं और यही सद्बुद्धि उसके क्रिया-कलापों को नियंत्रित करती है। जीवन-यात्रा जब भगवत्कृपारूपी बुद्धि की देखरेख में होती है तो वह निस्सन्देह मंजिल तक पहुँचती है। अर्जुन रथी है, जीव शरीररूपी रथ का सवार है और भगवान् स्वयं सारथी हैं रथ को हाँकने वाले, उसे दिशा देने वाले। परमेश्वर सारथी हैं और जीव रथी; नर रथ पर बैठकर जूझने के लिए प्रस्तुत है और स्वयं नारायण उस रथ को सफलता की मंजिल तक पहुँचाने के लिए सतत् प्रयत्नशील हैं।

नर और नारायण ये भिन्न नहीं हैं, दोनों को एक ही समझो। आत्मा और परमात्मा एक ही है। गंगा जल एक बोतल में रख दो तो क्या गंगाजल नहीं होगा? तत्त्वतः दोनों एक ही हैं, किन्तु बोतल को गंगा कहोगे क्या? बोतल की दीवार हटा दो तो वह जल पुनः गंगा की लहरों के साथ मिलकर गंगा का ही नाम धारण करेगा। उपाधि से कुछ नहीं होता। भेद-भाव अज्ञान के कारण हैं। ज्ञान होते ही भेद मिट जाता है। उस परम पुरुष के अतिरिक्त और कुछ नहीं है—सर्वत्र विष्णु ही विष्णु हैं।

एक पेड़ की सघन डालियों पर दो सुपर्ण पंछी बैठे हैं—दोनों सखा हैं। एक तो पेड़ के फलों का रस ले रहा है और दूसरा धैर्यपूर्वक उसे निहार रहा है—स्नेह से देख रहा है कि अब वह फलों से अपना ध्यान हटावे और दोनों अनन्त आकाश में उड़ चलें। उस सखा पंछी के धैर्य की बात सोचो। परमात्मा में अपार धैर्य है और वह तुम्हें अपनाने के लिए आतुर हैं। तुम 'फल' से अपना ध्यान तो हटाओ निरन्तर निहार रहे अपने सखा की ओर तो देखो। बार-बार तुम्हारा परमप्रिय सखा कह रहा है—'मा फलेषु कदाचन।' पेड़ की डालियों पर फुदको, किन्तु फलों में मत उलझो। कर्म करो किन्तु कर्म के फलों की आसक्ति को त्याग दो।

यह शरीर एक रथ है, इन्द्रियाँ घोड़े की तरह हैं। अब यह तुम पर निर्भर है कि अर्जुन की भाँति तुम अपने रथ के घोड़ों की

बागडोर श्रीकृष्ण के हाथों में सौंप दो और निश्चिन्त होकर जीवन संघर्ष में लग जाओ अथवा स्वयं ही लगाम थामे रहो। तुम डोर थामोगे तो तुम्हारा रथ कामनाओं से संचालित होगा। 'काम' होगा सारथी। 'राम' को सारथी बनाओ। जब नारायण तुम्हारे रथ को सँभाल लेंगे तो फिर तुम्हारे मन में कोई संशय नहीं रहेगा, कोई द्वन्द्व नहीं होगा, कोई चिन्ता नहीं होगी। आवश्यकता होगी तो जीवन संघर्ष के संकटाकीर्ण क्षणों में नारायण स्वयं उपदेश देंगे और प्रेम से वे सारे रहस्यों की पर्त-दर-पर्त खोलते चले जायंगे—

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्॥

(गीता १८।६४)

नर ही नारायण का इष्ट हो गया। कितनी कृपा है प्रभु में। जो भी हित की बात होगी, आप-से-आप भगवान् तुमसे बोलेंगे। कुछ भी छुपायेंगे नहीं। सब कुछ समझाकर वे प्रेम से कहेंगे—'भाई, तुम्हें सब कुछ बता दिया, अब जैसा अच्छा लगे वैसा कर।'

शरणागति की यही महिमा है। **'सर्वधर्मान्परित्यज्य'** प्रभु की शरण में चले जाने पर प्रभु की कृपा प्राप्त होती है और सारा संशय मिट जाता है, मोह नष्ट हो जाता है और जीव अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है—

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव॥

(गीता १८।७३)

जब सारे द्वन्द्व मिट जाते हैं, संशय क्षीण हो जाते हैं और मोह नष्ट हो जाते हैं तो एकमात्र प्रभु की स्मृति प्राप्त हो जाती है जिससे मन स्थिर हो जाता है। इस स्थिति में जीव के पास एक ही भावना रहती है—**'करिष्ये वचनं तव'** तुम्हारा कहा ही करूँगा, तुम्हारे आदेश का ही पालन करूँगा।

इसके लिए आवश्यक है कि अपने मन को, अपनी बुद्धि को प्रभु के चरणों में अर्पित कर दो। दोनों के अर्पण से ही समर्पण होता है—इसमें से किसी एक को भी अपने पास रख लोगे तो वह शूल बन जायगा और नानाबिध व्यवधान डालता रहेगा। सारे मोह और संशय मन और बुद्धि के कारण ही हैं। जब मनुष्य इन पर भरोसा करता है तो धोखा खा जाता है। सारे भटकाव जो मार्ग में आते हैं, इन्हीं के कारण होते हैं। अतः दोनों को ही भगवान् को सौंप दो और निश्चिन्त होकर कर्त्तव्यपालन करते रहो।

शरणागति के बाद जो भी कर्म करो, पूजा के भाव से करो, पवित्रता से करो, सेवा-भाव से करो। शरीर, मन, बुद्धि—तीनों के द्वारा किये गये कर्म नारायण की पूजा के रूप में अंगीकार करो। अपने रथ की, अपने मन की, अपनी बुद्धि की बागडोर नारायण के हाथों में सौंप दो। अपने कर्त्तव्य को भगवान् की पूजा मानकर करो तो सिद्धि प्राप्त होगी और कल्याण अवश्यमेव होगा।

२४. सर्वभाव से भजन

यहाँ दो तरह के मनुष्य हैं—एक मूढ़ और दूसरा असंमूढ़। जो मोहग्रस्त है, मैं और मेरा में उलझा है—मेरी माँ, मेरा पिता, मेरा पुत्र, मेरी पत्नी, मेरी धरती, मेरा धन, मेरा पद—यह 'मैं—मेरा' के चक्कर में कोल्हू के बैल की भाँति घूमता जीव मूढ़ है। उसमें अज्ञान है। दूसरा व्यक्ति जानता है कि सारे नाते झूठे हैं, स्वार्थ के हैं, संसार का मोह व्यर्थ है, क्योंकि क्षणिक एवं नश्वर से नेह करना मूढ़ता है। अतएव यह दूसरा मोह-ग्रस्त नहीं है, ममत्व नहीं है उसमें। यह श्रेष्ठ है और इसको ही अधिकार है भक्ति का। ऐसा ही व्यक्ति भक्त हो सकता है, क्योंकि उसमें मूढ़ता नहीं है।

जो मूढ़ है, मूर्ख है—वही पाप करता है, क्योंकि उसकी दृष्टि सीमित है। असंमूढ़ होते ही वह सभी पापों से मुक्त हो जाता है, क्योंकि वह विवेकी हो जाता है, अपने विवेक से काम लेता है। वह निष्पाप है, निर्मल है। जो हृदय से निष्कलुष हो गया, वही प्रभु की सेवा कर सकता है; उनकी लीला में तल्लीन हो सकता है; उनके भजन में तन्मय हो सकता है। मूढ़ता छल-कपट कराती है, राग-द्वेष को जन्म देती है और राग-द्वेष को छोड़े बिना भजन नहीं हो सकता। गीता में भगवान् का कथन है—

यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत॥

(श्रीमद्भागवत गीता १५।१९)

असंमूढ़ व्यक्ति जान जाता है पुरुषोत्तम भगवान् को। भगवान् को जान लेने पर फिर कुछ जानना शेष नहीं रहता, कुछ और समझना शेष नहीं बचता। परमात्मा सर्वज्ञ है। अतः उसे जानने वाला भी सर्वविद है। सर्वज्ञ है। वह सर्वभावेन भजन करता है—सभी भावों से केवल भजन करता है प्रभु का। उसके हृदय में कोई भाव ऐसा नहीं होता जो भजन के लिए नहीं हो, जो भजन नहीं हो।

भगवान् की सेवा करो दास्यभाव से। उन पर विश्वास रखो मित्रभाव से, सख्यभाव से। उनकी लीला को अपनी ही लीला मानो। प्रभु की शरण जाओ, उनकी गोद में बैठो वात्सल्यभाव से, पुत्र की भाँति। उनसे प्रेम करो गोपियों की भाँति—प्रेमिका जैसे एकनिष्ठ भाव से करती है। यह सर्वभाव से भजन है। जप, पूजा, ध्यान आदि भगवत्सेवा के सभी भावों से भजन करो। भक्त के हृदय में काम, क्रोध, लोभ, राग जो भाव आते हैं, सबको वह भगवान् से ही जोड़ता है।

भक्ति से ही ज्ञान होता है, बिना भक्ति के ज्ञान नहीं होता। ज्ञान भक्ति का फल है। भक्त के मन के सभी संकल्प ब्रह्म ही हैं, उसके मुख से निकले सभी शब्द ब्रह्म ही हैं। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश आदि और इनके समस्त विकार भी ब्रह्म ही हैं। यही सर्वज्ञता है। जो कुछ है, सभी वासुदेवमय है। जब देहाभिमान नष्ट हो जाता है तब परमात्म तत्त्व का ज्ञान हो जाता है; तब जहाँ-जहाँ मन जाता है, सर्वत्र समाधि ही है—

देहाभिमाने गलिते विज्ञाते परमात्मनि।
यत्र-यत्र मनो याति तत्र-तत्र समाधयः॥

भक्त का सोना, बैठना, बोलना, घूमना-फिरना सब कुछ भजनभाव से ही होता है—

जहँ-जहँ चलऊँ सोई परिकरमा जो करऊँ सो सेवा।
जब सोवों तब करऊँ दण्डवत जानौ और न देवा॥
सोवत बैठत पड़े उताने।
कहं कबीर हम वहै ठिकाने॥

जड़-चेतन समस्त जगत् में जो कुछ अनुभव हो रहा है, सबके भीतर-बाहर व्याप्त होकर नारायण ही स्थित है। भक्ति प्रेम है—जितनी ही प्रगाढ़ता बढ़ती जायगी वह नित्य नूतन होती जाती है—'तिल तिल नूतन होय।'

अतः भजन करो। नाम जप करो। भगवान् के चरणों में प्रेम ही सर्वश्रेष्ठ है। भक्ति में आस्था और भगवान् के चरणों में अनुराग ही, सच्चा जीवन है।

भगवान् भाव देखते हैं, मन की तन्मयता देखते हैं, तुम्हारी निष्ठा और एकाग्रता देखते हैं। अनन्य भाव से उनकी शरण में जो एक बार पहुँच गया, उनकी अहैतुकी कृपा उसे प्राप्त हो जाती है। फिर उसे कोई चिन्ता नहीं रहती। प्रभु के साथ तो अनेक नाते हैं, चाहे जिस नाते से चाहो उनका भजन-कीर्तन करो—'मेरे तेरे नाते अनेक मानिये जो भावे।'

२५. आनन्द का द्वार

कामनाएँ बड़ी प्रबल होती हैं। इन्द्रियाँ उनकी ओर सहज ही आकृष्ट होती हैं और उनसे आबद्ध हो जाती हैं। यदि इन इन्द्रियों को निरंकुश छोड़ दिया जाय तो वे सहज आकर्षण से विषयासक्ति को ही सुख मानकर उसी में डूबी रहें। उन्हें दृष्टि नहीं होती। अंधी होती हैं वे। अन्धे को जैसे मार्ग नहीं सूझता, वैसे ही गन्ध मिलते ही नासिका चंचल हो जाती है। रूप दिखते ही आँखें उधर उठ जाती हैं। ध्वनि सुनते ही कान खड़े हो जाते हैं और स्पर्श-सुख के आभास मात्र से त्वचा सिहर जाती है। इन्द्रियों में विचार करने की शक्ति नहीं होती और मन इन इन्द्रियों का दास होता है, क्योंकि वह सुख की मरीचिका के पीछे इस संसार रूपी मरुभूमि में मृगा की भाँति इतस्ततः भागता फिरता है। फिर मन से जुड़ी बुद्धि उसका अनुसरण करती है। जहाँ भी ऐसा होता है दुःख वहाँ उपस्थित हो जाता है, क्योंकि अन्धे के नेतृत्व में अन्धा बनकर, कहीं भी कुएँ में गिर पड़ने की सम्भावना बनी रहती है। अन्धा भला क्या मार्ग दिखायेगा किसी को? इन्द्रियाँ मन और बुद्धि का नेतृत्व नहीं कर सकती हैं।

धरती पर जो भी धन-सम्पदाएँ हैं, वे सभी मिलकर भी किसी कामना-जर्जर व्यक्ति के मन को सन्तुष्ट नहीं कर सकतीं, क्योंकि इच्छाएँ अनन्त होती हैं, एक पूरी हुई कि दूसरी सामने आ खड़ी होती है। वासनाएँ नाना रूपों में सामने आती जाती हैं और मन उनके पीछे पागल बनकर दौड़ता चलता है। यह अविद्या के कारण होता है। अज्ञान ही यह नाच नचाता है।

आग में घी की आहुति डालो तो वह और तेज हो जाती है। इसी प्रकार विषयों को भोगने से भोग-वासना की आग कदापि नहीं बुझती, वह और जोर पकड़ लेती है। भोगैषणा ऐसी प्यास है कि जितना भी जल पीयो तृप्ति नहीं होती। वासनाएँ भोग से प्रबल होती जाती हैं। इसके चक्कर में फँसा मन बेहाल हो जाता है, व्याकुल हो जाता है। भोग के फेरे से मन की ऊर्जा कुण्ठित हो जाती है, वह निर्बल होकर तेजहीन हो जाता है।

विषयों की तृष्णा ही दुःखों का उद्‌गम है। वासनाओं का ही दूसरा नाम दुःख है। शरीर बूढ़ा हो जाता है, किन्तु वासनाएँ नित्य नवीन होती रहती हैं। एक समय ऐसा भी आता है जब शरीर साथ नहीं देता, इन्द्रियाँ थक-थककर बेकार हो जाती हैं, किन्तु मन अतृप्ति की आग में झुलसता रहता है। इसी अतृप्ति के साथ शरीर छूटता है और फिर जन्म-मरण का बन्धन जकड़ा-का-जकड़ा रह जाता है। शरीर मिला था जिस बन्धन को काटने के लिए वह बन्धन और सुदृढ़ हो जाता है। भोग का मार्ग बन्धन का कारण है, मोक्ष का नहीं।

विषयों का सेवन करते-करते ययाति की भाँति हजारों वर्ष व्यतीत कर दो, फिर भी वासनाओं का रूप नया होता रहेगा और उनसे दुःख ही दुःख मिलता रहेगा; क्षण-प्रति-क्षण भोगों की लालसा बढ़ती ही जायगी।

यह लक्ष्य से भटकने का नतीजा है। इन्द्रियाँ और विषयासक्ति बड़ी बलवान होती हैं। बड़े-बड़े विद्वान् और पंडित भी इनसे विचलित हो जाते हैं, क्योंकि वे बड़ी लुभावनी प्रतीत होती हैं। यही माया है, यही अविद्या है, यही अज्ञान है। यह जीवन का मार्ग नहीं है; यह अमृत का पथ नहीं है। इन्द्रियों का नेतृत्व स्वीकार करके जीवनयापन करना आत्मनाश के अलावा और कुछ नहीं है। यह आत्महत्या है, अतः पाप है। भोग-वासना और तृष्णा का मार्ग कल्याण का मार्ग नहीं है, क्योंकि इनसे अन्ततोगत्वा दुःख ही मिलता है—आनन्द नहीं।

विषयों का तो चिन्तन ही विष है। इन्द्रियाँ वश में नहीं हैं, उच्छृंखल मनरूपी घोड़ा बेलगाम है और सारथिरूपी बुद्धि, कामरूपी शत्रु के बहकावे में उसके प्रलोभन में आ गयी है। इस स्थिति में जीवन-युद्ध में सफलता कैसे मिल सकती है? इससे तो नाश का सिलसिला चल जाता है, एक बार जो पतन शुरू हो गया तो फिर रुकने का नाम ही नहीं लेता। गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है—

ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते।
संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते॥
क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥

(गीता, २।६२-६३)

जैसा चिन्तन करोगे, विचार करोगे, संकल्प करोगे—वैसा ही बनोगे। जिसका ध्यान करोगे उसके पास पहुँच जाओगे या वह तुम्हारे पास पहुँच जायगा। विषय-भोगों का ध्यान और धारणा करते ही उनकी संगति उपलब्ध होगी, भोग मिलेगा। विषयों का संग हुआ तो मन उसमें सुख खोजेगा और सुख मानकर उसे पकड़ कर रखना चाहेगा। उससे राग हो जायगा और उसे अपना बनाये रखने की लालसा होगी; उसे अपने ही पास रखकर सुख पाते रहने की कामना होगी। कामनापूर्ति नहीं होने पर क्रोध आयेगा और जिसके पास वह भोग-सामग्री होगी, उससे ईर्ष्या होने लगेगी; क्रोध और ईर्ष्या की आग दग्ध करने लगेगी। भोगवस्तु को पा लेने के लिए, उसे छीन कर केवल अपने लिए ही रख लेने के लिए मन उद्विग्न होता रहेगा। असत् को ही सत् मान लेने, नकल को ही असल मान लेने को 'सम्मोह' कह लो। ऐसा मनुष्य भ्रमों का शिकार हो जाता है और सुखरूपी कुर्सी से चिपक जाना चाहता है। वह अपने कर्त्तव्य की, अपने वास्तविक लक्ष्य की याद ही भूल जाता है। वास्तविक आनन्द प्राप्त करने का लक्ष्य ही विस्मृत हो जाता है। इस विस्मृति के परिणामस्वरूप बुद्धि दिग्भ्रमित हो जाती है। बुद्धि भ्रष्ट हुई नहीं कि सोच-विचार की शक्ति मृत हो जाती है। बुद्धि का नाश अर्थात् जीवन का नाश।

सोचने-समझने और चिन्तन करने की शक्ति मानव में ही है, अन्य प्राणियों में इतना विकास नहीं हुआ है। बुद्धि मनुष्य की विशिष्टता है। इसके नष्ट होते ही वस्तुतः मनुष्य अपनी पहचान ही खो देता है—

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि॥

(गीता २।६७)

मनुष्य की प्रज्ञा (बुद्धि) मन में चली जाती है, मन इन्द्रियों में रमता है और इन्द्रियाँ पतन के गड्ढे में गिरा देती हैं।

बुद्धि ही ज्ञान को पहचानती है, क्योंकि वही विचार कर सकती है और एक निश्चय पर पहुँच सकती है। निश्चय पर पहुँचते ही मन में संकल्प होगा और यह संकल्परूपी कोड़ा इन्द्रियरूपी घोड़ों को वश में कर लेता है। फिर इन्द्रियाँ विषयों की ओर नहीं भागतीं और भोग के दुःखमय स्वरूप की पहचान हो जाने से वैराग्य दृढ़तर होने लगता है तथा तृष्णा क्षीण होने लगती है। तृष्णा और वासना का कम होना अर्थात् दुःख का कम होना। दुःख घटेगा तो सुख बढ़ेगा। यह अग्रसर होने की बात हुई। पहले बुद्धि से हुई, मन ने उसका अनुसरण किया। फिर इन्द्रियाँ मन के अनुसार चलने लगीं और इन्द्रियों का रुख विषय की ओर से हट गया। जीवन की यह यात्रा बुद्धि के, विवेक के, 'धी' के नेतृत्व में हुई। अतः इसे सफलता मिलती है। यह साधन का मार्ग है। यही कल्याण का मार्ग है।

मन हमारे वश में रहे, मन हमारा आज्ञाकारी हो न कि हम मन के वश में रहें और उसकी आज्ञा मानें। बुद्धि में सत् का पक्ष प्रबल है, क्योंकि उसमें ज्ञान का निवास है। मन लालची होता है, क्योंकि वह आसक्ति का दास है। बुद्धि आनन्दस्वरूप आत्मा के अधिक निकट है, अतः स्थिरबुद्धि, निश्चयात्मिका बुद्धि का नेतृत्व ही कल्याणकारक है, क्योंकि वह विचार का, विवेक का वरण करती है।

जब विवेक प्रबल होता है तब वैराग्य होता है और भोगों की वासना-तृष्णा का परित्याग कर अन्तःकरण परमात्मा के प्रति समर्पित हो जाता है। यह समर्पण ही आनन्द का द्वार खोल देता है।

जब मनुष्य किसी भी प्राणी और वस्तु के साथ राग-द्वेष का भाव नहीं रखता, तब वह समदर्शी हो जाता है तथा सभी दिशाओं में उसके लिये अनिर्वचनीय मंगल और आनन्द होता है। भोग-वासना का चिन्तन ही अमंगल है और विषय-विमुखता मंगलमय आनन्द के राजमार्ग का प्रारम्भ। इसीलिए सन्त विषयसुख छोड़कर भगवच्चिन्तन की डोर पकड़ने का उपदेश देते हैं। नाम-चिन्तन सारे अमंगलों को दूर करता है—मंगल भवन अमंगल हारी।

२६. सादा भोजन : सादा जीवन

सात्त्विक भोजन-पान से और सादे कपड़े धारण करने से बुद्धि शुद्ध रहती है। अल्प आय वाला व्यक्ति यदि मांस-मछली खायेगा और इसी प्रकार तामसिक भोजन करेगा, भड़कीले कपड़े पहनेगा, धूम्रपान करेगा तो उसे अपने तथा अपने परिवार के निर्वाह के लिए अधिक धन प्राप्ति के साधन खोजने पड़ेंगे। फलतः उसके लिए बुद्धि को सात्त्विक रखना दुष्कर हो सकता है। सम्भव है, वह बेईमानी करने के लिए भी बाध्य हो। अधिक वेतन पाने वाला व्यक्ति भी यदि तामसिक आहार-विहार रखे तो व्यसनों की अधिकता से उसे भी कुपथ का सहारा लेना पड़ेगा।

सात्त्विक जीवन से शान्ति मिलती है; तामसिक से बेचैनी रहती है, उद्वेग रहता है तथा जलन और ईर्ष्या होती है। बीड़ी-सिगरेट आदि मादक वस्तुओं का प्रयोग, इसी कारण ठीक नहीं है। इनसे वृत्तियाँ तामसिक होती हैं। इनके सेवन से बुरी आदतें पड़ जाती हैं। गुजारा न हो सकने पर मनुष्य गलत रास्ते अपनाने को बाध्य होता है। यह भी है कि तम्बाकू चबाने या खाने-पीने से तेज नष्ट होता है। कहा गया है कि युद्ध में कामधेनु के कान के कटने से जहाँ रक्त गिरा था, वहीं तम्बाकू उगा और पनपा।

भोजन शुद्ध मन से, शुद्ध स्थान पर और शुद्ध तरीके से तैयार किया जाना चाहिए। इसीलिये दक्षिण भारत में पर्दा लगाकर भोजन बनाने की प्रथा है।

भोजन या दूध-दही जब सेवन करे तब दायाँ स्वर चल रहा हो। जल ग्रहण करने के समय बायाँ स्वर चलना चाहिए। इसके विपरीत आचरण से काया रोगी होती है—

दाहिने स्वर भोजन करै, बायें पीवै नीर।
ऐसा संयम जब करै, सुखी रहै शरीर॥
बायें स्वर भोजन करै, दहिने पीवै नीर।
दस दिन भूला यों करै, पावै रोग शरीर॥

भोजन केवल स्वयं के लिए बनाकर अकेले खाना उचित नहीं माना गया है। भगवान् को भोग लगाया हुआ भोजन प्रसाद के रूप में ग्रहण करना ही उत्तम है।

मांस भक्षण मात्र इसी कारण उचित नहीं कि इससे तामसिक वृत्तियों को पोषण मिलता है, बल्कि साथ ही यह बात भी है कि हिंसा बहुत बड़ा अधर्म है। इस प्रसंग में मनु ने आठ प्रकार के दोषी बताये हैं, जिनमें हत्याकारी, भक्षक, व्यापारी, पाचक आदि सम्मिलित हैं। वैशाख, जेठ और आषाढ़ में कुछ क्षेत्रों में आदमी की हत्या करके उसका रक्त खेतों में डाल देते थे, क्योंकि विश्वास था कि इससे खेती अच्छी होती है। देवी की प्रसन्नता के लिए कई बार चोरी से भी आदमी की बलि चढ़ा देते हैं। यह बहुत ही घृणित कार्य है। लोग यह नहीं समझते कि देवी इस प्रकार अशक्त एवं निर्दय कैसे होंगी कि उनके लिए चोरी करनी पड़े और जानवरों तथा मनुष्यों की बलि देनी पड़े। चोरी-डकैती करना महापाप है, ऐसा करने वाला दण्ड का भागी होता है।

स्वास्थ्य लाभ एवं सिद्धि प्राप्ति के लिए भी हिंसा विहित नहीं है। बुरा काम करने का फल कितना ही अच्छा दृष्टिगोचर क्यों न हो, उसे कदापि नहीं करना चाहिए। रावण विद्वान् था, देवी की पूजा करता था और वेदों का अध्ययन करता था। फिर भी वह राक्षस था, क्योंकि उसमें तीन दोष थे—वह मांसाहारी तथा मदपायी था, उसने पर-स्त्री हरण किया और शरीराभिमानी था। शरीर का अभिमान भी महान् दोष है। जो सच्चा ज्ञानी है वह जानता है कि मैं यह शरीर नहीं हूँ, फिर इस पर अभिमान कैसा? रावण को कुम्भकरण जैसे भाई और मेघनाद—जैसे पुत्र का भी अभिमान था।

भक्तजन को अपना जीवन सात्त्विक रखना चाहिए। राम-नाम लेने वाला यदि यह सोचकर दुष्कर्म करता है कि उसके अपराध राम के जपने से धुल जायंगे, तो यह भारी भूल है। कहा गया है कि ऐसे मनुष्यों के पाप वज्र-समान हो जाते हैं और स्वयं यमराज भी उसका परिमार्जन नहीं कर सकते। पाप उसी के क्षय होते हैं, जो भगवान् को अपना मन-प्राण अर्पित कर उनकी शरण ग्रहण करता है।

इच्छाओं का तो कोई अन्त नहीं। अतः अपनी हरेक इच्छा की पूर्ति के लिए बुरे साधनों को भी अपना लेना पापकर्म है। इच्छाओं को पाला ही क्यों जाय? वासना ही तो दुःख देती है। इसी जड़ को काट दो, किन्तु यह ज्ञान की कुल्हाड़ी से ही कटता है। मन में अच्छे विकल्प भी होते हैं और बुरे भी। जब भोजन स्वच्छ, पवित्र और सादा नहीं होता तो मन भी दूषित हो जाता है और उसमें बुरे विचार उत्पन्न होने लगते हैं।

स्वस्थ विचार स्वस्थ मन से उत्पन्न होता है, स्वस्थ मन स्वस्थ शरीर में रहता है और उसी का शरीर स्वस्थ रहता है जिसकी इन्द्रियाँ वश में हैं।

सादा भोजन और सादा जीवन सत्त्वगुण की वृद्धि करता है। इससे मन निर्मल होता है तथा शुभ-चिन्तन में लगता है और स्वतः शुभ-कर्मों में लग जाता है। इस प्रकार मन-वचन-कर्म की एकता की नींव सादा भोजन पर टिकी है।

जो पुरुष एक बार धर्ममार्ग पर पैर रखकर फिर लोभवश काम-क्रोध के चक्कर में पड़कर अधर्म करने लगता है—उसका सब कुछ नष्ट हो जाता है। मानव राग के अधीन रहकर विषयों का सेवन ही करता है। विषयों के कारण सत्त्वादि गुणों के संसर्ग से ही हर्ष, क्रोध और विषाद की उत्पत्ति होती है। पंचभूतों के विकार भी हैं देह में। जैसे वन में रहने वाले संन्यासी एवं योगी शरीर बचाने के लिए स्वादहीन, रूखा-सूखा भोजन खा लेते हैं, उसी प्रकार संसारी मनुष्य को भी परिश्रम में संलग्न होकर रोगी के औषधि-सेवन के समान, केवल शरीर के लिए परिमित एवं सात्त्विक भोजन करना चाहिए।

२७. स्वस्थ तन : स्वस्थ मन

अधिकांश रोग मन की उपज होते हैं। मन बीमार हो तो तन भी बीमार हो जाता है। रुग्ण मन से रुग्ण और दूषित विचार उत्पन्न होते हैं जो षड्रिपुओं को आमंत्रण देकर हृदयस्थल को उनका क्रीड़ा-स्थल बना देते हैं। अतः मन को बीमार मत होने दो; बुद्धि को भ्रष्ट होने का मौका मत दो। मन तो सभी इन्द्रियों में श्रेष्ठ है, भगवान् का ही रूप है, अपार विभूतियों वाला और शक्ति-सम्पन्न है। केवल उसे अवसाद से बचाओ और सदा प्रसन्न रहो। मन को अनवसादता से बचाओ और सदा प्रसन्न रहो। मन की अनवसादता और प्रसन्नता से ही बुद्धि निश्चल होती है, शुद्ध होती है।

मन को प्रसन्न एवं स्वस्थ रखने का पहला उपाय है—शरीर को स्वस्थ रखना। शरीर तो वह रथ है जिस पर बैठकर जीवन की यात्रा करनी होती है। शरीर एक चलता-फिरता देव-मन्दिर है जिसमें स्वयं भगवान् अपनी विभूतियों के साथ विराजते हैं। अतः मन की निर्मलता और बुद्धि की शुद्धता का साधन शरीर से प्रारम्भ होता है। शरीर तो एक साधन मात्र है, जिसकी सहायता से परम साध्य को प्राप्त करने के लिए योग, तप, जप आदि किया जाता है। इस साधनरूपी शरीर को स्वस्थ और पवित्र रखने से ही योग की शुरुआत होती है।

यह धारणा करने से कि रोग नहीं होगा, हम स्वस्थ हैं और रहेंगे—रोग दूर होते हैं। यदि रोग आ भी जाय तो मित्रों को मत बताओ, उनकी सहानुभूति रोग को ठहरने का निमंत्रण देती है।

बीमारी की जड़ है भ्रम और शंका। बहुधा वह निमंत्रण देने से आती है। वर्षा में बाहर जाते समय यह डर हो कि कहीं सर्दी न पकड़ ले, तो सर्दी जरूर धरेगी।

बिना बुलाये दुःख आता है, इसी प्रकार सुख भी आता है। रोग खाली-मेघ की तरह चला भी जाता है, यदि उसका स्वागत सहानुभूति से, दवाओं से न किया जाय। यह सोचने से कि मैं बीमार हूँ, बीमारी बढ़ती है। धरती, जल, धूप—ये सभी औषधि हैं। धैर्य रखो, बीमारी अवश्य भागेगी।

धैर्य से भी स्वास्थ्य ठीक रहता है। मनु ने कहा है—'धीरता, क्षमा, बाहरी वृत्तियों का निग्रह, ये धर्म हैं। दूसरों का धन नहीं लेना, पवित्रता रखना, इन्द्रियों का दमन, विवेकपूर्ण आचरण, विद्यानुराग, सत्य बोलना और क्रोध नहीं करना—ये भी धर्म हैं। जो इन धर्मों का पालन करता है, जो इनको धारण करता है, वह रोगी नहीं होता।

मिट्टी और पानी से शरीर साफ करना और नेत्रों को वश में रखना ही ठीक है। धर्म का पालन करने वाले से रोग दूर रहते हैं।

मांसाहार, शराब, धूम्रपान आदि रोगों की जड़ हैं। सात्त्विक भोजन से रक्त शुद्ध रहता है। तामसी भोजन से शरीर आलसी और रोगी रहता है। सात्त्विक भोजन से गरीबी भी दूर होती है और सन्तोष तथा प्रसन्नता रहती है। अमीर आदमी यदि व्यसनों में फँसा रहे, तामसिक वृत्ति रखे तो दरिद्रता आयेगी। अपनी वृत्तियों की सन्तुष्टि के लिए वह पाप करेगा, धोखा देगा और फलस्वरूप दुःख का भागी होगा। दुःख नाना प्रकार के रोगों के रूप में भी कष्ट देता है।

बच्चे बड़ों का अनुसरण करते हैं—'**महाजनो येन गंतः सः पन्था।**' यदि बड़े लोग बुरे स्वभाव के होंगे, तामसिक वृत्ति के होंगे तो बच्चों को भी उसी प्रकार का जीवन व्यतीत करने की प्रेरणा मिलेगी और उनके अपराधों के बड़े लोग भी भागी होंगे। बच्चों को शुरू से ही सद्मार्ग दिखायें तो वे सुन्दर आचरण वाले होंगे। मनुष्य का आचरण ही उसके मन का, उसकी पवित्रता का और '**बुधा भाव समन्विताः**' होने का प्रमाण उपस्थित करता है। हमारी इच्छाशक्ति और क्रियाशक्ति जब ज्ञानशक्ति से निर्देशित होती है तो सदाचार बढ़ता है और जब ज्ञानक्रिया का संचालन केवल इच्छाओं से होने लगता है तो सर्वत्र भ्रष्टाचार बढ़ता है। जो सच्चिदानन्द स्वरूप वृत्ति है वह '**ज्ञानदीपेन भास्वता**' होती है।

बड़प्पन पद और कुर्सी से नहीं होता। मन की शुद्धि और तन का आरोग्य किसी कुर्सी पर बैठने से नहीं होता। अफसर लोग, बड़ी तनख्वाह पाने वाले वस्तुतः दरिद्र होते हैं; क्योंकि इनका जीवन सादा और सात्त्विक नहीं होता, और प्रायः खर्च आय से अधिक होता है। जिनको साधारणतः बड़ा अमीर कहते हो, वे वस्तुतः अत्यन्त गरीब हैं, क्योंकि वे तृष्णा से भरे हुए हैं। धनी तो वे हैं जिनके पास आध्यात्मिक ज्ञान है।

सूर्य की किरणों में औषधि के प्रचुर गुण हैं। पहले जमाने में कुएँ चौड़े होते थे, जिससे सूर्य तथा चन्द्रमा की किरणें पानी तक पहुँच सकें। जिस पानी या भोजन पर सूर्य या चन्द्रमा की किरणें पड़ी हों, वह अपेक्षाकृत अधिक स्वादिष्ट तथा मीठा होगा।

वर्षा में नहाने से रक्त साफ होता है। वर्षा दो प्रकार की होती है। खारे जल वाली, जिसमें समुद्र का जल होता है और मीठे जल वाली, जिसमें नदी आदि का जल होता है। मीठे जल वाली वर्षा ही स्नान के लिए उत्तम है।

प्रकृति के निकट रहो। शुद्ध मिट्टी में भी औषधि के गुण हैं। बच्चों का शुद्ध मिट्टी पर खेलना बुरा नहीं है। नेत्र की ज्योति की रक्षा के लिए सवेरे नंगे पाँव घास पर टहलो। दर्द के स्थान पर किसी के दाहिने पैर का अँगूठा लगवाओ तो आराम पहुँचेगा। दाहिने पाँव के अंगूठे से विद्युत्-तरंगें विशेष रूप से प्रवाहित होती हैं, इसलिए महान् पुरुषों का चरणामृत लिया जाता है। आसनों की सिद्धि से शरीर नीरोग रहता है। बद्ध पद्मासन स्वास्थ्य के लिए लाभप्रद है।

चाह को मिटाने से सुख-शान्ति मिलती है। जिसने अभिलाषाओं को त्याग दिया, वही बड़ा है। युक्त आहार और विहार, स्वस्थ शरीर

और स्वस्थ मन के लिए जरूरी है। शरीर को स्वस्थ रखो, सादा जीवन बिताओ, सब शुभ होगा। भगवान् के श्रीचरणों का आश्रय, संसार-समुद्र को पार करने के लिए नौका का काम करेगा।

२८. जानहि जेहि सोइ देहु जनाई

योगी, मुनि, तपस्वी, साधक सभी गीता, रामायण और वेद-वेदान्त का मन्थन-मनन करते-करते जब थक जाते हैं और उनकी समझ में कुछ आता नहीं और न तो कुछ ध्यान में ही दिखाई पड़ता है, तो अन्त में कह बैठते हैं—'परमात्मा तू क्या है, यह तू ही जानता है।' और, जब ऐसी अवस्था आती है तभी परमात्मा की असीम कृपा होती है, जिससे वे साधक, योगी और मुनिगण परमात्मतत्त्व का दर्शन कर, इस दुर्लभ मानव-जीवन को सफल बना पाते हैं।

गंगा तट पर एक सन्त रहते थे और वहीं पर भगवान् का एक मंदिर था। जिसमें वे नित्य भगवान् की पूजा-अर्चना करते थे और जब तक पूजा-अर्चना नहीं कर लें, तब तक एक बूँद जल भी ग्रहण नहीं करते थे।

एक दिन नित्य की तरह सुबह से ही स्नान कर भगवान् का शृंगार करने लगे, लेकिन जब-जब शृंगार पूरा होने पर आता था, पूरा-का-पूरा बिखर जाता था। उन्हें ऐसा प्रतीत होता था कि भगवान् को सम्भवतः वह शृंगार पसन्द नहीं है और इसी कारण शृंगार बिखर गया है। महात्मा फिर दूसरे प्रकार से भगवान् का शृंगार करना प्रारम्भ करते और इस प्रकार सुबह से शाम तक भगवान् का अनेक प्रकार से शृंगार रचते रहे, किन्तु ज्योंही शृंगार पूरा होने को आता, वह पुनः बिखर जाता। उनकी भुजाएँ शृंगार करते-करते थक गयीं और उनकी बुद्धि भी जवाब दे गयी तो अंत में वे भगवान् से रूठ गये और यह कहते हुए चल पड़े कि 'न जाने भगवान्, तुम्हें आज कौन-सा शृंगार पसन्द है, मेरी समझ में अब नहीं आता। अपना शृंगार तू अपने कर, मैं तो चला।'

महात्मा कुछ ही दूर तक पहुँचे थे कि उनका शिष्य दौड़ा हुआ आया और उनके चरण पकड़कर प्रेमाश्रु बहाते हुए कहने लगा—'पुजारी बाबा, आप लौट चलें और देखें कि आपके रूठते ही स्वयं और स्वतः भगवान् ने किस प्रकार का अद्भुत शृंगार कर रखा है। आज उस शृंगार में उनकी कितनी अलौकिक शोभा हो रही है। लगता है, भगवान् आज अद्भुत शृंगार कर साक्षात् मन्दिर में विराजमान हैं।'

यह सुनते ही महात्मा लौट आये। मन्दिर में प्रवेश करते ही उन्होंने देखा कि भगवान् अपना दिव्य शृंगार कर विराजमान हैं। भगवान् के परम प्रकाशमय दिव्य स्वरूप का दर्शन पाकर वे भगवान् के चरणों में नतमस्तक हो गये, उनके नेत्रों से प्रेमाश्रु बहने लगे और इस प्रकार उस दिन उनकी साधना पूरी हो गयी। भगवान् का दिव्य दर्शन प्राप्त हो गया और उन्होंने सब कुछ पा लिया।

ठीक इसी प्रकार जब संत-साधक, योगी-मुनि उस परमात्मतत्त्व का मनन करते-करते एवं वेद-शास्त्र, गीता, रामायण आदि का अध्ययन करते-करते थक जाते हैं और उनकी बुद्धि कुछ सोच नहीं पाती तो ऐसी अवस्था आने पर परमात्मा उन्हें ऐसी योग-बुद्धि तथा दिव्य-चक्षु प्रदान करते हैं, जिसके द्वारा परमात्मतत्त्व का दर्शन करके सत्साधक, योगी, मुनि धन्य हो जाते हैं और इस प्रकार उनकी कठिन साधना पूरी हो जाती है।

जिस प्रकार दिन में सूर्य के प्रकाश की चकाचौंध में आकाश के तारे दिखाई नहीं पड़ते, उसी प्रकार अविद्या माया की चकाचौंध के कारण ईश्वर सबसे निकट होने पर भी नहीं दिखाई पड़ते। इच्छा और द्वेष से उत्पन्न हुए सुख-दुःखादि द्वन्द्वरूप मोह से सम्पूर्ण प्राणी अज्ञानता को प्राप्त हो रहे हैं—

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत।
सर्वभूतानि सम्मोहं सर्गे यान्ति परन्तप॥

(गीता ७। २७)

परन्तु जो निरन्तर उनके ध्यान में प्रेमपूर्वक लगे हुए भक्त हैं, उन्हें वे परम प्रकाशमय परमात्मा परम अनुग्रह करके स्वयं उनके अन्तःकरण में अज्ञान से उत्पन्न हुए अन्धकार को प्रकाशमय तत्त्व के ज्ञान रूपी दीपक द्वारा नष्ट कर देते हैं, जिससे वे भक्त परमात्मतत्त्व का दर्शन कर परमात्ममय हो जाते हैं—

तेषा सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥
तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥

(गीता १०। १०-११)

इसलिए भक्ति ही एक मूल मार्ग है, जिसके द्वारा उस परमपिता परमेश्वर को, जो अज्ञेय हैं, उनके अनुग्रह से ही उन्हें जाना जा सकता है। केवल वेद, पुराण अथवा अन्यान्य धार्मिक ग्रन्थों के ज्ञान अथवा उनके मन्थन द्वारा परमात्मतत्त्व को जानना कठिन ही नहीं असम्भव है।

भगवान् की माया बड़ी दुस्तर है। बड़े-बड़े विद्वानों, त्यागियों, तपस्वियों, ऋषियों और सन्तों को भी यह चक्कर में डाल देती है—'मम माया दुरत्यया।' किन्तु जो प्रभु के भक्त हैं, प्रेम से उनका भजन करते हैं, श्रद्धापूर्वक उनकी शरण गहते हैं—वे इस माया को पार कर जाते हैं। भगवान् अपनी ही योगमाया से आवृत्त हैं। जीव और अपने बीच उन्होंने ही पर्दा डाला है और उस पर्दा को या तो जीव हटाकर दर्शन करे या स्वयं वे हटाकर दर्शन दें। पर्दा हटाने के लिए जीव साधन करता है, तप करता है, जप करता है, किन्तु माया बार-बार उसको ठगती है, किन्तु भक्ति से व्याकुल साधक टेर लगाता है—'पर्दा हटाओ और दर्शन दो।' भगवान् कृपा के सागर हैं। वे भक्त की व्याकुलता सहन नहीं करते। स्वयं पर्दा हटाकर दर्शन देते हैं।

यह मन और बुद्धि भगवान् की ही विभूति हैं। इसे अपना मत समझो और इसे अर्पित कर दो उनके चरणों में—'लो, यह मेरा मन तेरा है, यह बुद्धि तेरी है।' सारा चक्र तो मन का ही है न। न वह तुम्हारा रहेगा, न तुम्हें नाच नचायेगा। भगवान् की शरण में वह स्थिर हो जायगा और फिर प्रभु तुम्हें दर्शन देंगे। 'भावसमन्वित' होकर प्रीतिपूर्वक भगवान् की कृपा प्राप्त करने का प्रयत्न करते रहो। उनकी कृपा होगी अवश्य और जब कृपा होगी तभी वे तुम्हारी समझ में भी आयेंगे।

निराश मत हो, भगवान् का मनोयोग से भजन करो। उनकी ओर बढ़ने की इच्छा रखने वाले को वे पास बुला लेते हैं। जगत् के किसी हेर-फेर से चकित होने की आवश्यकता नहीं। सांसारिक सुख-दुःख में पड़कर हम ही भगवान् से विमुख हो जाते हैं, वे हमसे कभी विमुख नहीं होते। जो कुछ होता है भगवान् का रचा होता है, तुम्हारे नहीं चाहने पर भी वह होकर ही रहेगा। उसे टालने में कोई समर्थ नहीं। इसलिए

संसार से अपनी दृष्टि सर्वथा मोड़ लेनी चाहिए और अधिक से अधिक भगवान् का चिन्तन करना चाहिए। जगत् में मोह रखोगे तो कभी हँसना और कभी रोना पड़ेगा ही। प्रपंच में कम पड़ो इसी में बुद्धिमानी है।

२९. सच्चा आनन्द

सच्चा आनन्द न तो विषयों में है, न इन्द्रियों में है, बल्कि चेतना में है। इस चेतना को पहचानना ही अपने को पहचानना है। यदि इतना भी हो जाय तो आनन्द की एक झलक मिल जायगी। आगे चलकर इस व्यष्टि चेतना को समष्टि चेतना से मिलाना होगा। इसी का नाम 'योग' है, इसी का नाम 'कर्म' है और इसी का नाम 'उपासना' है। इसके लिए कुछ अभ्यास चाहिए और कुछ विश्वास। मैं नहीं कहता कि राम या कृष्ण को मानो, मैं तो कहता हूँ अपने को मानो। किसी व्यवस्था को मानो, किसी प्रतीक को मानो—कहीं तो मन स्थिर करो, आस्था जमाओ। केवल एक बात का ध्यान रखो कि स्थायी आनन्द के लिए किसी चेतना, सत्ता में विश्वास करना ही होगा, जो शरीर के अवयवों से भिन्न तत्त्व है और जड़ पदार्थों की हलचल का कारण भी।

आज का बुद्धिवादी और जड़वादी जड़ पदार्थों के संघात में ही चेतना मानता है, उसे अलग तत्त्व नहीं मानता। यह उसकी भ्रान्ति है। यदि मन, बुद्धि, अहंकार और चित्त को एक प्रकार की चेतना भी मानो, फिर भी इनका एक प्रवर्त्तक और नियामक तत्त्व तो मानना ही होगा, जिसे गीता में कहा है—'यो बुद्धेः परतस्तु सः।' इसका सबसे बड़ा प्रमाण है—'मैं हूँ' इस प्रकार की अनुभूति ही है। 'मैं' की खोज में ही सच्चा आनन्द है।

अपने को पहचानना ही ईश्वर को पहचानना है, इस संसार को पहचानना है। मनुष्य के भीतर जो प्रकाश है वह अजर-अमर है, अन्तरात्मा है, सर्वात्मा है, प्रेममय है, विश्वासमय है और श्रद्धामय है। सच्चा आनन्द मनुष्य के भीतर है। उस स्रोत के खुलते ही आनन्द का निर्झर बहने लगता है, दृष्टि बदल जाती है और संसार आनन्दमय हो जाता है। आनन्द या विषाद विषय में नहीं है, दृष्टि में है।

संसार की सम्पूर्ण चिन्ताओं के मूल में वासनाएँ हैं। उन्हें रोकने का एकमात्र उपाय उनके यथार्थ स्वरूप का चिन्तन है। वासनाजन्य चिन्ताएँ ही अशान्ति के कारण हैं। इसकी एकमात्र औषधि है—आत्म-चिन्तन। आत्म-चिन्तन ही संकल्पशक्ति का मूल है, जो आनन्द का उद्‌गम-स्रोत है तथा संयम का एकमात्र साधन है। संयम के बिना मानव, मानव कहलाने का अधिकारी नहीं है। मानव-शरीर बड़ी साधना और तपस्या से मिलता है। इसके विषय में लिखा है—

नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं। प्लवं सुकल्पं गुरूकर्णधारम्॥
मयानुकूलेन नभस्वतेरितं पुमान्। भवाब्धिं न तरेत् स आत्महा॥

(श्रीमद्भागवत् ११।२०।१७)

'यह मनुष्य शरीर समस्त शुभ फलों की प्राप्ति का मूल है और अत्यन्त दुर्लभ होने पर भी अनायास सुलभ हो गया है। इस संसार-सागर से पार जाने के लिए यह एक सुदृढ़ नौका है। शरण-ग्रहण-भाव से ही गुरुदेव इसके केवट बनकर पतवार का संचालन करने लगते हैं और स्मरण-मात्र से ही वे अनुकूल वायु के रूप में इसे लक्ष्य की ओर बढ़ाने लगते हैं। इतनी सुविधा होने पर भी जो इस शरीर के द्वारा संसार-सागर के पार नहीं जाता, वह तो अपने हाथों अपनी आत्मा का हनन ही कर रहा है।

इस भवसागर को पार करने के लिए यह शरीर एक दृढ़ नौका के सदृश है। इसकी कर्णधार गुरु-कृपा ही है। स्मरणमात्र से प्राप्य अनुकूल वायु स्वयं भगवान् हैं। जो इन साधनों का उपयोग करके भव-सागर के पार नहीं जाता वह सचमुच आत्मघाती है।

आज धन-सम्पत्ति को ही अधिक महत्त्व दिया जाता है। परन्तु अर्थ की प्राप्ति से अर्थाभावजन्य कष्टों का निवारण नहीं हो सकता, क्योंकि अर्थ प्राप्ति आवश्यकताओं को जन्म देती है और भौतिक आकांक्षाएँ सापेक्ष होने के कारण सीमित नहीं हो सकतीं। एक आवश्यकता की पूर्ति दूसरी आवश्यकता की जननी है। इस कारण अर्थ-संताप से बचने के लिए सबसे पहला उपाय अपनी आवश्यकताओं का नियन्त्रण है। सच्चा धन, संयम तथा संतोष है, विषयों में पूर्ण अनासक्ति है।

आत्म-चिन्तन और आत्म-संयम में उदारता, सहिष्णुता, क्षमा, दया, परदुःख कातरता आदि गुणों का उदय हो जाता है और धीरे-धीरे निज-पर का भेद समाप्त हो जाता है। मानव से भी आगे प्राणिमात्र पर दया का भाव जगता है और धीरे-धीरे सारा विश्व ही प्रेममय हो जाता है। जब अपना पराया है ही नहीं तो राग-द्वेष किससे किया जाय? फिर तो 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का सिद्धान्त है।

सबका सुख हमारा सुख है, सबका दुःख हमारा दुःख है।

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥

(गीता २।६४)

इन्द्रियाँ वश में हों तथा विषयों में न राग हो न द्वेष, इससे मन प्रसन्न रहता है और आनन्द प्राप्त होता है।

इस बात पर सदा ध्यान रखो कि संसार के पदार्थ सुख नहीं दे सकते, क्योंकि वे नश्वर हैं। उनसे राग और द्वेष होगा और दुःख ही दुःख प्राप्त होगा। जीवन के व्यवहार से राग-द्वेष को मिटा दो तो आनन्द ही आनन्द है। भगवान् आनन्दमय हैं, प्रेममय हैं, अतः सच्चा आनन्द उन्हीं के सामीप्य में मिलता है।

आत्म-चिन्तन ही स्वर्ग का द्वार है, सच्चा आनन्द है तथा शरीर-चिन्तन ही नरक का द्वार है, अशान्ति का कारण है।

३०. आत्मस्वरूप की प्राप्ति

परब्रह्म परमात्मा इन्द्रियगम्य नहीं है। उसे हम अपनी इन्द्रियों के द्वारा पूरा-पूरा नहीं समझ सकते। वह अनादि है, अनन्त है। वह सबसे परे है। ब्रह्मज्ञान ही वास्तविक ज्ञान है। आत्म-तत्त्व के स्वरूप को भली-भाँति हृदयंगम कर लेना ही, ज्ञान प्राप्त कर लेना है। जब ज्ञान का प्रकाश चिदाकाश में फैल जाता है तो आत्मस्वरूप की विस्मृतिरूपी अन्धकार नष्ट हो जाता है। आत्मा और परमात्मा में मूलतः कोई भेद नहीं होता है—दोनों में एक ही समान विभूतियों का विस्तार होता है। आत्मज्ञान ही ब्रह्मज्ञान है। यह ब्रह्मज्ञान सभी प्रकार के तापों की, समस्त दुःखों की परमौषधि है।

जब प्रकृति पुरुष से अधिष्ठित होकर विविध पदार्थों को रचती है तो उससे कारण सहित जगत् उत्पन्न होता है।

पहले अव्यक्त प्रकृति से बुद्धि बनती है, बुद्धि से अहंकार, अहंकार से आकाश, आकाश से वायु, वायु से तेज, तेज से जल और

जल से पृथ्वी उत्पन्न होती है। ये आठ मूल प्रकृतियाँ हैं। सारा जगत् इन्हीं में स्थित है। इन्हीं से पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच विषय और एक मन—ये सोलह विकार होते हैं। इन्हीं विकारों से जगत् की रचना हुई है।

श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा और प्राण—ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। पाद, पायु, उपस्थ, हस्त और वाक्—ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—ये पाँच विषय हैं तथा इन सबसे व्यापक है जो सर्वगत चित्त है, वह मन है। मन सर्वरूप है। यह नाना रूपों की धारणा करके इन्द्रियों के साथ व्यवहार करता है। इनके द्वारा किये गये कर्म मन की संलग्नता से ही होते हैं।

यदि मन अन्यत्र हो तो जीभ भोजन के रस का सुख ग्रहण नहीं कर सकती; सामने रखी हुई वस्तु के रूप और आकार का बोध नेत्र नहीं दे सकते, पास में खड़ा व्यक्ति क्या कह रहा है इसे कान ठीक-ठीक मस्तिष्क तक नहीं पहुँचा सकते। जब मन सहयोग करता है, तब ये इन्द्रियाँ अपने विषयगत कर्म का सम्पादन करती हैं। इसीलिए मन जब उनके साथ संलग्न होता है, तब अन्तर्मन को बोध होता है। इसीलिए विभिन्न इन्द्रियों के रूप में मन ही व्यवहार करता है। मन ही विषयों का चिन्तन करता है, उनके भोग की इच्छा करता है, इच्छापूर्ति के लिए प्रयत्न करता है और उनसे सुखी-दुःखी होता है। मन यदि नियंत्रण में आ जाय तो वासनाएँ नियंत्रित हो जायं और सुख-दुःख तथा राग-द्वेष पर भी अधिकार हो जाय।

कर्म के द्वारा ही इस देह का बोध होता है और कर्मों के संग्रह के कारण ही अन्य देह भी प्राप्त होता है। अज्ञानजनित कर्म ही जगत् की उत्पत्ति के हेतु हैं। अतः अपने कर्म-सम्पादन से आसक्ति को हटाना, मन से कर्त्तापन का भाव हटाना ही, साधना का हेतु है। अज्ञान के कारण ही जीव कर्मों का संग्रह करता है और अपने लिए बन्धन स्वयं प्रस्तुत करता है। कर्मों से वासना और वासना से कर्म तथा फिर कर्म से संस्कारों की गाँठ पड़ती है। अज्ञान और अविद्या ही इस संसार-चक्र का चालन करती है। जीव अहंकार में लिप्त होकर तृष्णा के कारण कर्म करता है। कर्मों के साथ आसक्तिग्रस्त होने का जो उसे अभ्यास हो गया है, उसे पुराने अभ्यास को बदल देना, कर्मों से अनासक्त होने, राग-द्वेष-रहित होने का नया अभ्यास लगाना ही साधन का प्रयोजन है। भोगासक्ति के गहरे अभ्यास के कारण जीव अपने शुद्ध स्वरूप को भूल गया है। उसे पता ही नहीं कि वह देह नहीं, वरन् शुद्ध चैतन्यस्वरूप है, स्वयं प्रकाशमय है। वह '**चेतन अमल सहज सुखरासी**' है—इसका स्मरण ही उसे नहीं है।

यह जीव अनादि-काल से अपने स्वरूप को भूला है। इसको भगवान् के सम्मुख कर देना—यही महान् उपकार है।

प्रसन्नता, हर्ष से भरी प्रीति, धैर्य और स्मृति—ये सत्त्वगुण के कार्य हैं और काम, क्रोध, प्रमाद, लोभ, मोह, भय, क्लान्ति, विषाद, शोक, अवसाद, मान, दर्प आदि रजोगुण तथा तमोगुण के कार्य हैं।

अपने मन पर दृष्टि रखो, अपने विचारों पर दृष्टि रखो और अपने कर्मों पर दृष्टि रखो। अपने मन एवं कर्म के विश्लेषण से, उन कर्मों से होने वाले अनुभवों के चिन्तन से सहज ही पता चल जायगा कि तुम में सत्त्व की वृद्धि हो रही है या अभी रजोगुण और तमोगुण में विचरण कर रहे हो। धीरे-धीरे सावधानीपूर्वक इन दोषों से छुटकारा पाने का प्रयत्न करना ही, विस्मृति के गर्त से निकलने का उपाय है। यही साधन है। जीवन में अपने मनोभावों को सत्त्व-प्रधान बनाना, साधना का प्रथम चरण है। इससे मलशोधन होता है, मन की प्रसन्नता बढ़ती है और भगवान् के भजन में मन लगता है।

स्वयं दोषों की खान हो। दोष ही दोष हैं। फिर दूसरों के दोष ढूँढ़ने में क्यों समय गँवाते हो? अपने को देखो, अपने मन को देखो, अपने कर्म को देखो, अपने ही दोषों का अन्वेषण करो और एक-एक कर उनसे पिण्ड छुड़ाओ। यही आत्मपरीक्षण है। जैसे-जैसे दोष मिटते जायंगे मन उज्ज्वल होता जायगा; बुद्धि परिमार्जित होती जायगी और प्रज्ञा रूप होकर आत्मा के नित्य-ज्योतिर्मय स्वरूप को पहचान लेगी।

सत्य, शौच, सरलता, विनम्रता, त्याग, तेज, उत्साह, क्षमा, धैर्य, दया, बुद्धि, मन और तप के प्रभाव से सभी विषय-भावों पर दृष्टि रखते हुए शाश्वत शान्ति एवं आनन्द पाने के लिए इन्द्रियों को वश में करने का अभ्यास जारी रखो। इसी अभ्यास की परिणति समाधि या आत्मदर्शन में होती है। बाहर-भीतर सर्वत्र जब प्रेम की लहर आने लगे और मन-प्रेम में निमग्न रहने लगे तो समझो भगवान् कृपा करके दर्शन देने वाले हैं, क्योंकि प्रेम ही उनका मूलस्वरूप है; आनन्द ही उनके दर्शन की अनुभूति है।

३१. आत्म-चिन्तन

आत्म-चिन्तन ही स्वर्ग का द्वार है, सच्चा आनन्द है। शरीर-चिन्तन ही नरक का द्वार है, घोर अशान्ति का कारण है। देह-बुद्धि दुःख को जन्म देती है और शुद्ध चैतन्य स्वरूप आत्म-बुद्धि से आनन्द का उद्रेक होता है।

गीता के छठे अध्याय में इस स्थिति को प्राप्त करने का सरल उपाय बताया गया है—

संकल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः॥
शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत्॥
यतो यतो निश्चरति मनश्चंचलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्॥

(गीता ६। २४-२६)

पहले संकल्प से उत्पन्न हुई कामनाओं और वासनाओं को त्यागना चाहिए। किसी वासना में संकल्प ही मत करो। अभ्यास से धीरे-धीरे इन्द्रियों पर नियंत्रण हो जायगा और सारा व्यापार वृत्तियों से चलने लगेगा। इसके अनन्तर मन को बड़ी सावधानी से अन्तर्मुख करना होगा। मन बड़ा चंचल होता है, इसलिए बाह्य विषयों की ओर दौड़ लगाता है। उसे किसी केन्द्र पर स्थिर करना होगा और फिर धीरे-धीरे उसे आत्म-चिन्तन में लगाना होगा। इस अभ्यास से सात्त्विक वृत्तियाँ जग जायंगी और सारा प्रपंच एक-एक सत्ता में दिखने लगेगा। विज्ञान आज इसी प्रयत्न में लगा है, परन्तु वह मूल से—चेतना-तत्त्व से विच्छिन्न है।

मनुष्य के मानसिक रोगों की अचूक दवा यह आत्म-चिन्तन और प्रेम-भावना ही है। प्रेम-भावना जगने से आत्म-चिन्तन स्वयं ही होने लगता है और आत्म-चिन्तन से प्रेम-भावना जग जाती है। प्रेम-भावना

बहुत ही व्यावहारिक और सरल उपाय है जो देश, काल, धर्म, सम्प्रदाय और जाति-वर्ग से परे है। किसी भी देश अथवा जाति-वर्ग का मनुष्य, आत्म-शान्ति के लिए इस उपाय का आश्रय ले सकता है। फिर, उसके लिए सर्वत्र आनन्द ही आनन्द है। यही अपने को पहचानना है, आत्म-साक्षात्कार है और परब्रह्म का साक्षात्कार है—

सम्पूर्णं जगदेवनन्दनवनं सर्वेऽपि कल्पद्रुमाः।
गांगंवारि समस्तवारिनिवहाः पुण्याः समस्ता क्रियाः॥
वाचः प्राकृत संस्कृताः श्रुतिशिरोवाराणसी मेदिनी।
सर्वावस्थितिरस्य वस्तुविषया दृष्टा परब्रह्मणि॥

जिसे आनन्दमय प्रेम की अनुभूति हो गयी, उसके लिए सारा संसार ही नन्दनवन है, सारे वृक्ष कल्पवृक्ष हैं, सम्पूर्ण जल गंगाजल है, सारी क्रियाएँ ही पवित्र हैं, सारी भाषाएँ वेदवाणी हैं, सारा भूमण्डल काशी है और सारी चेष्टाएँ परमार्थमयी हैं।

विषयों की ओर मन के बार-बार भागने का कारण तो अज्ञान है ही, जिस अविद्या के कारण संमोहवश मन आनन्द और शान्ति के अनन्त सागर सच्चिदानन्द परमात्मा को छोड़कर अनित्य, क्षण-भंगुर और दुःख-स्वरूप विषयों की ओर दौड़ लगाता रहता है। साधन की दृष्टि से बड़ा ही महत्त्वपूर्ण कारण है—विषय-चिन्तन का चिरकालीन अभ्यास। न मालूम कितने समय से, न मालूम कितने जन्मों से मन विषयासक्ति में पड़कर विषय-सुख में रमता रहा है; अतः उधर जाने का उसे अभ्यास हो गया है। इसलिए सावधानीपूर्वक उसे बार-बार विषयों से हटाकर भगवान् की ओर लगाना पड़ता है। इसके लिए भी सतत् अभ्यास करना पड़ेगा। जब यह नयी आदत उसे लग जायगी तो पुरानी आदत धीरे-धीरे स्वतः छूट जायगी। मन नाना प्रकार के बहाने बनाकर विषय-चिन्तन करना चाहेगा, किन्तु उसकी एक न सुनकर, बिना कोई ढील दिये बार-बार परमात्मा में लगाना चाहिए। यह अभ्यास और सावधानी ही साधना है। इसी से मन प्रशान्त हो जायगा और वह निर्मल, निष्पाप तथा रजोगुण रहित होकर अनिर्वचनीय आनन्द प्राप्त करेगा—

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम्॥
(गीता ६।२७)

पहले अपनी आत्मा को पहचानो, उसके स्वरूप को समझो फिर तो सहज ही यह बात समझ में आ जायगी कि आत्मा ही सर्वत्र व्याप्त है—'आत्मवत् सर्वभूतेषु' देखने का अभ्यास हो जायगा। एक ही भगवान् तो सर्वत्र हैं, सबमें हैं—सभी पदार्थ उसी परमात्मा में ही तो स्थित हैं—फिर भेद कहाँ से आयेगा? यह समदर्शन है, आत्मदर्शन है। जो समस्त द्वन्द्वों से रहित समदर्शी है, वही अक्षय आनन्द और आत्यन्तिक सुख प्राप्त करता है।

३२. भगवत्तत्त्व क्या है?

भगवत्तत्त्व या परमात्मतत्त्व दोनों एक ही हैं। तत्त्व का भाव है, यथार्थ या सार वस्तु। उसे देखना, समझना तथा विचार करना 'तत्त्वदर्शन' कहलाता है और जो इसे ठीक-ठीक देखता और समझता है, वह है—तत्त्वदर्शी। भगवत्तत्त्वदर्शन का सीधा अर्थ है—भगवान् के भाव को समझना और उसे देखना या उस पर विचार करना। यह सारी सृष्टि भगवान् की ही बनाई हुई है। संसार में हम जो कुछ भी देखते हैं वह समस्त रचना भगवान् की है और भगवान् उन पदार्थों को बनाकर उन सभी वस्तुओं में अन्दर-ही-अन्दर प्रविष्ट हैं। ईशोपनिषद् का प्रथम मन्त्र कहता है—अखिल ब्रह्माण्ड में जो कुछ भी हम देखते हैं, वे सभी वस्तुएँ भगवान् से व्याप्त हैं—

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्।

गीता में भगवान् श्रीकृष्ण भी कहते हैं—यह सारा जगत् मुझ अव्यक्त परमात्मा से परिपूर्ण है और सब प्राणी मुझमें स्थित हैं मैं उनमें स्थित नहीं हूँ—

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्वस्थितः॥ (९।४)

आत्मा और हमारे शरीर का जैसा सम्बन्ध है, वैसा ही जगत् और परमात्मा का सम्बन्ध है। अव्यक्त परमेश्वर से जगत् के समस्त जीवों का विस्तार हुआ है। यहाँ जो कुछ भी वस्तुएँ दिखती या अनुभूत होती हैं, उन सभी में भगवान् व्याप्त हैं। जिस प्रकार जल में रस, आकाश में ध्वनि, वेदों में ओंकार, पुरुष में पौरुष, सूर्य-चन्द्रमा में प्रभा आदि रूपों में उस अव्यक्त परमात्मा की स्थिति है, उसी प्रकार वह विश्व के अवयवों में, अंग-प्रत्यंग में, रोम-रोम में व्याप्त है। जैसी स्थिति ब्रह्माण्ड में है, वैसी ही पिंड में भी है। उसकी यह स्थिति एक समान ही सर्वत्र है। इसी एकता को ठीक से समझने-जानने और देखने वाला तत्त्वज्ञाता कहा जाता है। यह बड़े आश्चर्य की बात है कि परमेश्वर में तो सब कुछ है, लेकिन परमेश्वर किसी में नहीं है; अर्थात् वह आकाश की भाँति सूक्ष्म भाव से सर्वत्र व्याप्त है। जहाँ-जहाँ मनुष्य श्रद्धा, विश्वास और प्रेम से ढूँढ़ता है, वहीं-वहीं उसे सर्वत्र रहने वाला परमात्मा मिलता है। उसके तत्त्वमय गुणों के विषय में कहा गया है—

अचिन्त्यमव्यक्तमनन्तरूपं शिवं प्रशान्तंह्यमृतपयोभिः।
अनादिमध्यान्तविलीनमेकं विभुं चिदानन्दमयं भजेऽहम्॥
कूटस्थमव्यक्तमचिन्त्यरूपं नारायणं कारणमादिदेवम्।
युगान्तशेषं पुरुषं तं देवदेवं शरण प्रपद्ये॥

वह भगवान् अचिन्त्य है; हमारी समझ की परिधि से बाहर हैं। हमारी समझ वहाँ तक नहीं पहुँचती। अनन्त रूप का अर्थ है, जिसके अनेक रूप हों। वह शिव है यानी कल्याणकारी हैं, दयालु हैं, सबकी भलाई चाहता है; दया करना उसका सहज स्वभाव है। उसकी कृपा सतत बरसती रहती है। वह प्रशांत है। प्रशांत का भाव है—विशेष रूप से शान्त। ब्रह्म आनन्दमय है। उपनिषद् का वाक्य है—'आनन्दो ब्रह्मणो विद्वान् न विभेति कतश्च न।' (तैत्तिरीय उपनिषद्) उसके आनन्द रूप को जान लेने पर किसी भी भक्त को कोई दुःखरूपी ताप डरा नहीं सकता; वह अमृतमय है। वह कालों का काल महाकाल है, मृत्यु की पहुँच उसके पास नहीं है, उसकी संगति अमृत प्रदान करती है। जो उससे संसर्ग करने वाले हैं वे ही जानते और समझते हैं। उस परमेश्वर का न कहीं आदि, मध्य है और न अन्त ही है; वह एक है, वह विभु है, सर्वत्र, सर्वदा, सर्वव्यापक है। वह घट-घटवासी है। वह सत्, चित् और आनन्द है। उसके दिव्य और अद्भुत रूपों को अर्जुन जैसा भक्त ही देख सकता है। भगवान् में छः शक्तियों या ऐश्वर्यों का निवास है। ऐश्वर्य, धर्म, वैराग्य एवं मोक्ष—ये भगवान् के चरणों में ही निवास करते हैं। इनमें से किसी की भी प्राप्ति की इच्छा हो तो भगवान् की शरण में जाकर उनकी आराधना करनी चाहिए।

जो व्यक्ति भगवान् की ओर जितना ही बढ़ता है, भगवान् भी उसकी ओर उतने ही बढ़ते हैं। साधारण प्राणी अपनी उपासना को अपनी वासनावृत्ति की पूर्ति के लिए ही साधन बनाते हैं, किन्तु जो विचारशील पुरुष हैं, वे अपनी उपासना को अपनाकर पूरे जीवन को उपासनामय बनाने का प्रयत्न करते हैं। यह साधारण बात है कि जिसका जैसा कर्म होगा, वैसा ही उसको फल मिलेगा। लेकिन इस अद्भुत, अमृतमय पूर्ण की महिमा वे ही जानते हैं, जो किसी भी क्षण परमेश्वर को नहीं छोड़ते। उपासना में जब कोई कामना न हो और यह निष्काम हो, तो भगवान् शीघ्र ही प्राप्त हो जाते हैं—

मन ते सकल कामना भागी। केवल राम चरन लय लागी॥

ऐसी स्थिति होने में ही कृतार्थता है।

३३. ज्ञान और भक्ति

कर्म, योग और उपासना में केवल प्रक्रिया का भेद है, लक्ष्य का भेद नहीं है। ज्ञाननिष्ठा में ईश्वर के शुद्ध निर्विशेष स्वरूप की उपासना की जाती है और भक्तिनिष्ठा में साकार, सविशेष की। भक्त भी ज्ञानी हो सकता है और ज्ञानी भी भक्त होता है। ज्ञानी भक्त भक्ति द्वारा तत्त्व का निर्णय करता है। हाँ, वह उस आनन्द से वंचित हो सकता है, जो भक्त को प्राप्त होता है। जैसे चन्द्रिका चन्द्र से अलग नहीं, उसी प्रकार भक्ति ज्ञान से अलग नहीं। जिस प्रकार समुद्र की तरंगें समुद्र का ही अभिन्न अंग हैं, उसी प्रकार भक्ति ज्ञान का।

भक्त अपने को समर्पित करके निश्चिन्त हो जाता है, उसे संचित-प्रारब्ध-क्रियमाण अथवा नित्य-नैमित्तिक तथा निषिद्ध कर्मों की कोई चिन्ता नहीं रहती, वह तो भगवान् की गोद में बैठा रहता है, अबोध बालक की तरह। ज्ञानी को इन सबकी चिन्ता होती है और वह तत्त्वज्ञान से उनका निराकरण करता है इसलिए जो भगवत्प्रेम में उन्मत्त है, वह तत्त्वज्ञान की चिन्ता ही नहीं करता। उसका तत्त्वज्ञान तो भगवदाकारवृत्ति ही है। उसके लिए विद्या-अविद्या में कोई भेद नहीं। ज्ञानी को अविद्या अथवा माया से मुक्त होना पड़ता है।

आचार्य जिस भक्ति को ज्ञान के साधन रूप में स्वीकार करते हैं, वह भक्ति वास्तव में बँधी अथवा साधनरूपा भक्ति है, क्योंकि प्रेमाभक्ति में तो ज्ञान की इच्छा ही नहीं होती। इसका अर्थ यह नहीं है कि भक्त अज्ञानी ही रहता है। भक्त के ज्ञान की परिधि इस सारे प्रपंच में व्याप्त है, क्योंकि वह उसमें ही भगवद्दर्शन करता है। ज्ञानी की दृष्टि में परमार्थ तत्त्व के साथ माया का कोई सम्बन्ध ही नहीं है। भक्त भेद में अभेद देखता है, जबकि ज्ञानी भेद को देखना ही नहीं चाहता। ज्ञानी को विवेकख्याति के द्वारा विषयों से वैराग्य होता है। भक्त की विषयों में दोष-दृष्टि ही नहीं होती, फिर वैराग्य का प्रश्न ही क्या? दीर्घ साधना के पश्चात् ही ज्ञानी को समाधि प्राप्त होती है, जबकि भक्त हर समय भावसमाधि में रहता है और निरन्तर प्रपंच में भगवान् की लीला का साक्षात्कार करता रहता है। वह स्वभाव से ही विदेह है। ज्ञानी का देहाध्यास अभ्यास से छूटता है। भक्त को अपने प्रेम में अनन्यता लानी होती है। उसी से विषयों से असक्ति छूट जाती है। उसकी आसक्ति भी भगवन्मय है, क्योंकि सारे विषय ही भगवन्मय हैं। भक्त का यह अनन्य भाव ही प्रेम कहलाता है।

ज्ञानी को सारे प्रपंच का अत्यन्ताभाव करना पड़ता है, तब उसकी ब्राह्मी स्थिति होती है और परमात्मा की प्राप्ति होती है। भक्त का जीवभाव भी बना रहता है, कर्ता-भोक्तापन भी बना रहता है और उसे परमानन्द की प्राप्ति भी होती है। ब्रह्मानन्द और प्रेमानन्द में यही अन्तर है, जो समुद्र की निस्तरंग और सतरंग अवस्था में है तथा चन्द्रमा की चन्द्रिका-सहित और चन्द्रिका-रहित स्थिति में है। ज्ञानी व्यवहार में सब कुछ करता है, परन्तु केवल साक्षी भाव से। यह स्थिति बड़ी कठिन है। भवसागर को पार करने के लिए उसे अपने ही प्रयत्नों का अवलम्ब लेना पड़ता है, जबकि भक्त भगवान् की गोद में बैठकर भवसागर को पार करता है।

गीता में भगवत्तत्त्व को प्राप्त करने वालों की कोटियाँ गिनायी गयी हैं—

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥
तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च ममप्रियः॥
उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्॥
बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥

(गीता ७। १६-१९)

'वासुदेवः सर्वम् इति' का सिद्धान्त भक्त का ही है। असल बात तो यह है कि कर्म, ज्ञान और उपासना में भेद मानना अज्ञान का ही फल है। ज्ञान अथवा भक्ति का अहंकार भी अज्ञान ही समझना चाहिए। तत्त्वज्ञान की प्राप्ति के लिए ज्ञानी भक्ति को साधन बताता है, जबकि भक्त के लिए भक्ति ही साध्य है। मैं तो यह समझता हूँ कि ज्ञानी जिस अवस्था को ज्ञानावस्था कहता है, भक्त की वह प्रेमावस्था है और योगी की निर्विकल्पक समाधि है। भक्ति भावस्वरूपा है और ज्ञान बोधस्वरूप है। भक्त पहले अपने शरीर को चिन्मय बनाता है और उस चिन्मय शरीर के माध्यम से ही चिन्मय भगवान् के दर्शन करता है। वही उसका सच्चा आनन्द है। उसका आनन्द तो अज्ञानी रहने में ही है। विचार, विवेक और बोध से ज्ञानी का आनन्द कुण्ठित हो जाता है—क्योंकि विवेक में भाव के लिए और भाव में विवेक के लिए कोई स्थान नहीं है। प्रेमी अपने प्रेमास्पद में अवगुणों अथवा दोषों की कल्पना कर ही नहीं सकता, क्योंकि उसके लिए प्रेमास्पद से भिन्न कोई पदार्थ है ही नहीं। उसके नाम, स्वरूप, लीला, धाम आदि में लीन होना ही उसका चरम लक्ष्य है।

भागवतकार ने ज्ञान और भक्ति का सामंजस्य बड़े सुन्दर ढंग से किया है। भगवान् के स्वरूप का विवेचन करते हुए भागवताकार लिखते हैं—

वदन्ति तत्तत्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥

(भागवत १२। ११)

ब्रह्म, परमात्मा और भगवान्—ये तीनों एक ही परमतत्त्व की दृष्टि-भेद से त्रिविध अनुभूति मात्र हैं। ज्ञान रश्मि के उदय काल में भगवान् का जो आलोक साधक के शुद्ध, सात्त्विक हृदय-पटल पर प्रतिफलित होता है—उसे ही ब्रह्म कहते हैं। यही आलोकपुंज जब विश्वरूप से साधक के हृदयाकाश में प्रतीत होता है, तब उसे परमात्मा कहते हैं।

योगीजन हृदय-प्रदेश में इस प्रकाश का दीपमालिका के समान दर्शन करते हैं; और उसे जगत् का अन्तर्यामी मानते हैं। ये ब्रह्मानुभव और परमात्मदर्शन दोनों ही भगवत्तत्त्व के खंड या अंश का बोधमात्र है। जब उस ब्रह्म का दर्शन उसके अधिष्ठानभूत विराट में होने लगता है, तब उसे भगवान् कहते हैं। प्रेमाभक्ति के द्वारा ही सर्वदा सर्वत्र सर्वरूप में भगवान् का दर्शन सम्भव है।

वास्तव में ज्ञान और भक्ति में कोई तात्त्विक भेद नहीं है। भक्ति की पराकाष्ठा ज्ञान है और ज्ञान की पराकाष्ठा भक्ति। पराभक्ति और पराज्ञान दोनों एक ही वस्तु हैं। भागवत के माहात्म्य में भक्ति ने ज्ञान और वैराग्य को अपना पुत्र बताया है। नारद ने भक्ति की प्रतिष्ठा पर बड़ा सुन्दर प्रवचन किया है तथा भक्ति को ही कलियुग में एकमात्र अवलम्ब बताया है। क्योंकि भक्ति के द्वारा शरीर, जाति, ज्ञान आदि का अभिमान समाप्त होता है। असल बात यह है कि भक्ति से ज्ञान और योग दोनों की ही सिद्धि स्वतः हो जाती है। साकार दृष्टि से जो भगवान् है, निराकार दृष्टि से वही परमात्मा है और ज्ञान की दृष्टि से वही ब्रह्म है। भक्त को स्वभाव से ही ज्ञान और वैराग्य हो जाता है, क्योंकि उसका चित्त निरन्तर एक ओर ही रहता है। इसलिए उसे दुःख भी सहन नहीं करना पड़ता, क्योंकि उसे दुःख-निवारक की सदा ही सन्निधि प्राप्त है।

३४. त्रितापों से त्राण

उन कल्याणमय प्रभु की ओर सबने मुँह फेर लिया है, इसीलिए आध्यात्मिक, आधिदैविक एवं आधिभौतिक—इन तीनों प्रकार के तापों से परितप्त हो रहे हो। इनसे त्राण पाने हेतु तुम्हें उन करुणामय प्रभु की शरण में जाना होगा। वह ईश्वर आनन्द का भण्डार है। जिस प्रकार दीपक के बिना भवन अन्धकारमय हो जाता है और गृहपति के अभाव में सारी गृहस्थी चौपट हो जाती है, उसी प्रकार ईश्वर के आधार के बिना मनुष्य की उन्नति असम्भव है। जैसे जल के बिना प्यास नहीं बुझती, यह निश्चित है, उसी प्रकार भगवत् प्राप्ति के बिना जीव दुःख के अन्त को नहीं प्राप्त होता। जैसे अग्नि की सन्निधि से नवनीत विलीन हो जाता है, उसी प्रकार ईश्वर की सन्निधि पाकर शोक, मोह, भय, चिन्ता आदि दोष विलीन हो जाते हैं। उन अतुल रसानन्द ईश्वर का ध्यान करते हुए परमामृत समुद्र में सर्वदा ही मग्न रहो, इसी में कल्याण है।

भगवान् को जानने के लिए चरित्र की शुद्धि अत्यन्त आवश्यक है। विशुद्ध चरित्र हुए बिना कोई भी उनको नहीं पहचान सकता, देखना या साक्षात्कार करना तो अलग प्रसंग है। विषय-व्याकुल, चंचल-चित्त से आत्म-दर्शन नहीं होता। स्थिर-चित्त होने पर ही आत्म-दर्शन होता है। इसके लिए सर्वदा प्रत्येक श्वास के साथ नाम का जप करना पड़ेगा। जिसको गुरु ने नाम-मंत्र दिया है, उसे वही मंत्र उत्कट श्रद्धा के साथ स्मरण करना चाहिए। जीव के लिए भगवान् का नाम ही शरण है, नाम ही त्रिलोकी का गुरु एवं मूल है। नाम से बढ़कर इस संसार में पावन बनाने वाली वस्तु नहीं है। नाम ही जीव का जीवन अर्थात् अवलम्बन है।

३५. ज्ञान, कर्म और उपासना

ज्ञान, कर्म और उपासना—ये तीनों साधना के तीन अन्तर्विभाग हैं, इनमें कोई तात्त्विक भेद नहीं है। भक्ति की दृढ़ता में भी ज्ञान और कर्म अनिवार्य अंग हैं तथा ज्ञान की उपलब्धि में भी निषेध वृत्ति से प्रत्यय की एकतानता अनिवार्य है, जो उपासना का ही साधन है। कर्म की अनिवार्यता तो सर्वत्र सिद्ध है ही, परन्तु वहाँ भी समर्पण और अनासक्ति अपेक्षित है। केवल दृष्टि का भेद है—अन्तर्मुखी दृष्टि से जो सर्वातीत है, बहिर्मुखी दृष्टि से वही सर्वस्वरूप। इसलिए आनन्द की प्राप्ति तो योगी को भी होती है और ज्ञानी को भी। हाँ, अधिक से अधिक यह कह सकते हो कि भक्त का चरम साध्य परमानन्द की उपलब्धि है तथा ज्ञानी और योगी का चरम लक्ष्य स्वरूपावस्थिति।

आनन्द की भी अनेक कोटियाँ हैं। चौदह प्रकार की प्राणियों की सृष्टि है—उन सबके आनन्द की विभिन्न कोटियाँ हैं। सांख्यकारिका में आठ प्रकार की दैवी सृष्टि बतायी गयी है, पाँच प्रकार की तिर्यक् योनि सृष्टि और एक प्रकार की मानव-सृष्टि। इन सृष्टियों में गुणों के अनुपात से आनन्द की अनुभूति होती है। ब्राह्म, प्राजापत्य, ऐन्द्र, दैव, गान्धर्व, पित्र्य, विदेह और फिर मानव सृष्टि है जो रजःप्रधान है। इसके अनन्तर पशु, पक्षी, सरीसृप, कीट और स्थावर—यह पाँच प्रकार की तिर्यक् सृष्टि है, जो तमःप्रधान है—

अष्टविकल्पो दैवस्तैर्यग्योनिश्च पंचधाभवति,
मानुष्यश्चैकविधः समासतो भौतिकः सर्गः।
ऊर्ध्व-सत्त्वविशालस्तमोविशालश्च मूलतः सर्गः,
मध्ये रजोविशालो ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तः॥

(सा०का० ५३-५४)

इस सम्पूर्ण सृष्टि भेद के मूल में आनन्द के तारतम्य और उसकी अनुभूति का ही भेद है। वृहदारण्यक (४।३।२) में, तैत्तिरीय उपनिषद्, शिक्षावल्ली, अनुवाक ८ में तथा शतपथ ब्राह्मण के (१४।७।१।३१) में सृष्टि के आधार पर आनन्द की कोटियाँ गिनाई गई हैं। कर्म और संस्कारों के भेद से मनुष्य योनि में भी आनन्द की अनेक कोटियाँ हैं। योगी के आनन्द का स्वरूप आनन्द समाधि के अन्तर्गत बताया गया है। आनन्द के सम्बन्ध से होने वाली समाधि का नाम आनन्दानुगत समाधि होता है, परन्तु वह संप्रज्ञात समाधि का ही भेद है—

वितर्कविचारानन्दास्मितानुगमात् सम्प्रज्ञातः।

(योगदर्शन)

बितर्क और विचार के पश्चात् ही आनन्द की स्थिति आती है। वितर्क संकल्प-विकल्प की स्थिति है—वितर्कानुगत समाधि के द्वारा योगी स्थूल विषयों के यथार्थ रूप को जान जाता है और विचारानुगत समाधि से सूक्ष्म भूतों और तन्मात्राओं तक योगी की दृष्टि पहुँचती है। इसके निरन्तर अभ्यास से चित्त की एकाग्रता इतनी अधिक बढ़ जाती है कि सत्त्व गुण की अधिकता से अहंकार का साक्षात् होने लगता है। जब अहंकार में सत्त्वगुण की प्रधानता से रजोगुण, तमोगुण की मात्रा कम हो जाती है तब अहंकार ही आनन्दस्वरूप हो जाता है और योगी का चित्त आनन्दपूर्ण हो जाता है। उस समय कोई भी विचार अथवा ग्राह्य विषय उसमें नहीं रहता—केवल आनन्द ही आनन्द रहता है—यहाँ तक कि देहाध्यास भी छूट जाता है।

परन्तु यह स्थिति योगी का चरम लक्ष्य नहीं है। योगी इस स्थिति को भी पार करके अस्मितानुगत समाधि में पहुँचता है। अस्मिता का स्वरूप अहंकार से सूक्ष्म है, क्योंकि उस स्थिति में अहं का भान नहीं होता केवल 'अस्मि अस्मि' का ही भान होता है। यह स्थिति बड़ी सूक्ष्म होती है, क्योंकि इसमें अहंकार से आत्माध्यास छूट जाता है और भेदवृत्ति समाप्त हो जाती है। यह वृत्ति तदाकार वृत्ति है, तद्रू प्रकृति नहीं है। आनन्दानुगत

समाधि में तो योगी की स्थिति विदेह की होती है, परन्तु अस्मितानुगत में उसकी स्थिति प्रकृत्ति-लय की होती है। भक्त न तो प्रकृतिलय की स्थिति को साध्य मानता है और न ही स्वरूपावस्थिति को, वह तो आनन्दस्थिति को ही सर्वस्व मानता है।

३६. आत्म-दर्शन

मनुष्य को जो विषय प्रिय होता है, उसको उसी में सुख मिलता है और जो विषय अप्रिय होता है, उसको वह विषय दुःखरूप अनुभव होता है। विषय न तो सुखरूप है न दुःखरूप। उनके साथ मन का जो लगाव है, मन की दिशा-दशा के साथ जो उनकी अनुकूलता या प्रतिकूलता है, वही सुख या दुःख के अनुभव के रूप में प्रतीत होती है। साधारण मनुष्य भी कुछ पाने के लिए, अपनी इच्छा की पूर्ति के लिए अर्थात् अपने इष्ट की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करता है। जो वह नहीं चाहता उसकी प्राप्ति को रोकने के लिए भी वह प्रयास करता है। इष्ट की प्राप्ति और अनिष्ट के निवारण दोनों के लिए उसे प्रयत्न करना पड़ता है। यही प्रयत्न कर्म का आरम्भ है। कर्म प्रायः लोग सकाम भाव से करते हैं। ऐसे कर्म शुभाशुभ होते हैं और उनके फल भी शुभाशुभ होते हैं। शुभ कर्मों का फल अच्छा होगा और अशुभ कर्मों का फल बुरा होगा। अच्छा फल सुख देगा और बुरा फल दुःख देगा। ऐसे कर्मों के फल भोगने के लिए शरीर की जरूरत है, क्योंकि यही योग का माध्यम है। अतएव सकाम कर्म चाहे शुभ हों या अशुभ उनके फल को भोगने के लिए शरीर धारण करना पड़ता है; जन्म-मरण के चक्र के लिए सकाम कर्म ही कारण है। फल की इच्छा रखकर चाहे जो भी कर्म किये जायंगे, वे बन्धन ही उत्पन्न करेंगे। अतः श्रेय मार्ग यही है कि कामनाओं से पिण्ड छुड़ा लिया जाय और निष्काम भाव से कर्मों का सम्पादन हो। नित्य कर्मों के अनुष्ठान से मन के रागादि दोष दूर हो जाते हैं और अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है। शुद्ध अन्तःकरण में ज्ञान का प्रकाश छा जाता है। यह प्रकाश ही परमात्मा का मार्ग प्रशस्ततः आलोकित करता है।

मन और कर्म इन दोनों से संसार की सृष्टि हुई है। ये दोनों बन्धन के कारण हैं और मोक्ष के भी साधन हैं। शास्त्र-विहित कर्म से अक्षय फल (मोक्ष) भी मिलता है और नश्वर लौकिक फल की प्राप्ति भी होती है। अतः अपने मन को साक्ष्य में पहले निर्धारित करना पड़ता है। स्वर्ग-सुख और संसार-सुख चाहिए तो सकाम कर्मों को शुभ पथ पर लगाना होगा और अक्षय सुख चाहिए तो शुभाशुभ दोनों प्रकार के फलों की कामना त्यागनी पड़ेगी। जब रात का अन्धकार घना होता है, तब मार्ग में पड़े रोड़े नजर नहीं आते और न काँटे-कुश से ही रक्षा सम्भव होती है, किन्तु सवेरा होते ही रात का आवरण हट जाता है, भोर की किरण जगमगा उठती है। नेत्रों का तेज वापस आ जाता है और मार्ग भी साफ-साफ दिखने लगता है जिस पर काँटे-कुश से बचकर आगे डग बढ़ाना सम्भव हो जाता है। इसी प्रकार जब बुद्धि पर से मोहरूपी अन्धकार का पर्दा हट जाता है, तब वह विवेकरूपी तेजस् से युक्त हो जाती है और शुभाशुभ का निर्णय करती है किन्तु अभ्यासपूर्वक साधन करने से इस विवेक के द्वारा वैराग्य का भी सहयोग प्राप्त हो जाता है, तब मन फलेच्छा त्यागकर शुभाशुभ से परे हो जाता है और वह बहिर्मुखी नहीं होकर अन्तर्मुखी बन जाता है। यहीं से भगवद्प्राप्ति का वास्तविक साधन प्रारम्भ होता है। जब तक मन बाहर-बाहर रमता है, तब तक संसार उस पर छाया रहता है किन्तु जैसे ही वह भीतर की ओर यात्रा प्रारम्भ करता है उस पर से संसार की छाया हटती जाती है और भीतर ज्योति बढ़ती जाती है।

काठ की दो अरणियों को रगड़ने से आग पैदा होती है, किन्तु टाँकी से चीरने पर क्या लकड़ी में आग को ढूँढ़ा जा सकता है? नहीं; इसके लिए तो उन्हें युक्तिपूर्वक रगड़ना ही पड़ेगा। उसी प्रकार शरीर को चीर-फाड़कर देखने से आत्मा का दर्शन नहीं हो सकता, क्योंकि आत्मा शरीर है। वह देह से भिन्न है। दोनों को अभिन्न मानने पर आत्म-दर्शन नहीं हो सकता। योगरूपी विशेष युक्ति के द्वारा काम लेने पर ही आत्म-साक्षात्कार हो सकता है।

इन्द्रियों के पाँच विषय हैं—शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श। पंच महाभूतों का निवास इन्द्रियों में होता है। इन्द्रियाँ मन की अनुगामिनी हैं, मन बुद्धि के आश्रित हैं और बुद्धि आत्मा का आश्रय। अतः आत्म-दर्शन के लिए हमें पहले विषयासक्ति छोड़कर इन्द्रिय-संयम करना होगा और तब मनोनिग्रह होगा जिससे बुद्धि निर्मल और स्थिर होगी। स्थिर बुद्धि आत्म-दर्शन करती है। ज्ञानस्वरूप आत्मा को ज्ञान द्वारा ही ग्रहण किया जा सकता है। अविद्या और अज्ञान से उसे बिल्कुल नहीं समझा जा सकता। विषयों के संसर्ग से, सर्वदा उन्हीं की दासता करने से, मन के द्वारा विपरीत साधना करने से परब्रह्म नहीं मिलता। जैसे स्वच्छ दर्पण में मुखड़ा साफ दिखता है, वैसे ही मनुष्य शुद्ध हृदय में परमात्मा का दर्शन करने लगता है। मनुष्य की इन्द्रियाँ विषयों की ओर जितनी ही अधिक फैलती हैं, वह उतना ही अधिक दुःखी होता है और उन्हीं के संकोचन से, इन्द्रियों को बाहर से अधिकाधिक समेट लेने से, वह सुखी हो सकता है।

इन्द्रियों से मन श्रेष्ठ है, मन से बुद्धि, बुद्धि से ज्ञान (आत्मा) और ज्ञान से परमात्मा श्रेष्ठ है। अव्यक्त परमात्मा से ज्ञान, ज्ञान से बुद्धि और बुद्धि से मन प्रकट होता है। मन इन्द्रियों से युक्त होकर विषयों को देखता है। अतएव आत्म-साक्षात्कार के लिए साधन-क्रम में विषयों का लय मन में होता है, मन का बुद्धि में, बुद्धि का ज्ञान में और ज्ञान का परमात्मा में लय होता है।

दुःख का चिन्तन करना ही उसकी वृद्धि करना है। विषयों के उपार्जन में दुःख है, उनकी रक्षा करने में भी चिन्ता और दुःख है और उनके नष्ट होने से भी दुःख ही होता है। अतः विषयों से राग-द्वेष को पूरी तरह हटा लेना ही दुःख से निवृत्ति है। इन्द्रियों के सब द्वारों को रोक कर, मन को एकाग्र करके आत्म-चिन्तन के निरन्तर अभ्यास से मन ब्रह्मस्वरूप हो जाता है। ध्यान द्वारा सूक्ष्म हुए मन से ब्रह्मानुभूति होती है। परमात्मा ही परमानन्दस्वरूप हैं, सच्चिदानन्द हैं अतः साधन द्वारा उन्हें प्राप्त करना ही जीवन का परम ध्येय है।

दुःख का मिलना तो शरीर धारण से होता ही है, किन्तु उसकी वृद्धि देहाभिमान से होती है। अभिमान का त्याग कर देने से दुःख का अन्त हो जायगा और जिसका दुःख दूर हो गया, वही मुक्त है।

३७. भजन और उसकी उपयोगिता

जब तक भक्त भजन की उपयोगिता नहीं समझेगा, तब तक उसका मन भजन में नहीं लग सकता। संसार के विषयों में उसकी बड़ी तन्मयता रहती है और बिना किसी उपदेश और पथ-प्रदर्शन के मनुष्य विषयों की प्राप्ति के लिए उपाय करता रहता है। इसलिए सबसे पहली बात तो यह है कि व्यक्ति भजन की उपयोगिता और सार्थकता को समझ ले।

जब तक नित्यानित्य—वस्तु-विवेक नहीं होता, तब तक भजन की उपयोगिता समझ में नहीं आ सकती। आज की भौतिकवादी परिस्थितियों से मानव ऊबता जा रहा है और वह शान्ति के लिए किसी आश्रय की खोज में है। यह आश्रय भगवद्भजन के अतिरिक्त कोई दूसरा नहीं हो सकता।

भजन को परम्परागत रूढ़ अर्थ में नहीं ग्रहण करना चाहिए। इस सम्बन्ध में योगनिर्दिष्ट भजन का उपाय ही सर्वोत्तम है। योग में भजन चित्त की वृत्तियों को अन्तर्मुख करने का नाम है। कुछ साम्प्रदायिक परम्पराओं के कारण भी आज के बुद्धिवादी लोग भजन से ऊब जाते हैं। यदि यह समझ लिया जाय कि वह भजनीय तत्त्व भगवान् है जिसका व्यक्त स्वरूप यह विश्व है, तो भजन में आस्था हो सकती है। विश्व की सम्पूर्ण चेतना भगवान् की ही चेतना है। भजन के द्वारा हमें अभेद बुद्धि से एकत्व सम्पादन करना पड़ता है।

शरीर को स्वस्थ और जीवन को सुखी बनाने के लिए कुछ नियमों का पालन करना पड़ता है। इसलिए भजन के निमित्त भी आचार आवश्यक है। आचारों द्वारा शरीर-शुद्धि होती है और मन एकाग्र होता है। यथासम्भव, साधना की प्रारम्भिक अवस्था में, भजन करने का समय और स्थान अवश्य ही निश्चित होना चाहिए।

भगवत्-चिन्तन भजन का स्वरूप है। भगवत्-चिन्तन में यदि मन न लगे और मनोराज्य चलता रहे तो चिन्ता नहीं करनी चाहिए। एक उपाय तो यह है कि मन से जिस वस्तु का बार-बार चिन्तन हो उसी को ध्येय बना लिया जाय तथा राम-नाम अथवा गुरुमंत्र से उसी का ध्यान किया जाय। कुछ दिनों के अभ्यास से वृत्ति तद्विषयाकार हो जायगी। उस समय या तो वह विषय ही भगवत्स्वरूप हो जायगा अथवा उस विषय से मन छूट जायगा।

दूसरा उपाय यह है कि जब मनोराज्य होने लगे तो मंत्र-जप अथवा कीर्तन उच्च स्वर से आरम्भ कर देना चाहिए। वाणी का स्वरूप सबसे सूक्ष्म है और जब उच्च स्वर से मंत्र-जप तथा कीर्तन होता है तो वाणी प्राण को अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है। धीरे-धीरे मनोराज्य समाप्त हो जाती है।

सारे स्वरूप भगवान् के ही स्वरूप हैं। जिस भी स्वरूप में भागवती वृत्ति हो सके, उसी को ध्येय बना लेना चाहिए। धीरे-धीरे उसी ध्येय से प्रकाश आने लगेगा। ध्येय कोई भगवत् स्वरूप भी हो सकता है, गुरु भी हो सकते हैं, कोई प्रिय विषय भी हो सकता है और साधक स्वयं भी हो सकता है।

नाम का चिन्तन करते-करते रूप का चिन्तन स्वतः हो जाता है। भगवच्चिन्तन के लिए सत्संग और गुरु कृपा दोनों ही आवश्यक हैं। इन दोनों की प्राप्ति, बिना पुण्य के सम्भव नहीं होती है। भगवच्चिन्तन करते समय यदि अनेक रूप उपस्थित होने लगें तो उनमें गुरु या इष्ट की भावना रखनी चाहिए। निरन्तर भगवत्-चिन्तन ही भजन का सर्वश्रेष्ठ स्वरूप है। शर्त इस बात की है कि निष्ठा एक के ही प्रति होनी चाहिए, अन्य सभी रूपों को उसी का प्रतिरूप समझना चाहिए।

भगवच्चिन्तन में भाव और भावना ही सब कुछ है। भाव भावना का ही पूर्व रूप है। एक बार जब भगवच्चिन्तन में आनन्द आने लगेगा तो सत्त्वगुण की वृद्धि होने लगेगी। सत्त्वगुण से ही अनन्यता आती है, और अनन्यता ही प्रेम है सत्त्वगुण की वृद्धि से हमारे सारे सांसारिक कर्त्तव्य, मंगलमय प्रतीत होने लगते हैं और कठिन कर्त्तव्य करने में भी आनन्द आने लगता है। सत्त्वगुण का उदय ही भगवान् का दर्शन है।

जब ध्येय में आसक्ति की दृढ़ता हो जाती है, तो नियम नहीं रहता। भाव-समाधि भी ध्येयाकार वृत्ति से ही होती है, क्योंकि उस वृत्ति में मन, वाणी, श्वास और शरीर सब स्थिर हो जाते हैं। ज्ञान, कर्म, भक्ति, धर्म और उपासना सब भजन से सिद्ध हो जाते हैं। इसलिए भगवच्चिन्तन ही सबसे बड़ा भजन है और यही सबसे बड़ी साधना है।

स्वाध्याय भी भगवद्भजन का ही अंग है, क्योंकि स्वाध्याय से ध्येय के स्वरूप का ज्ञान होता है और उसके गुणों में आसक्ति होती है। मनोरंजन के उपन्यास अथवा कहानियाँ स्वाध्याय के अंतर्गत नहीं हैं। स्वाध्याय धार्मिक तथा सैद्धान्तिक ग्रन्थों का ही अध्ययन है। मनुष्य के जीवन की सार्थकता स्वाध्याय और भजन से ही है। गीता, रामचरित मानस, श्रीमद्भागवत तथा उपनिषद् आदि स्वाध्याय के लिए अच्छे हैं।

बिना भजन अथवा विवेक के चित्त-शुद्धि हो ही नहीं सकती और बिना चित्त-शुद्धि के जीवन सुखमय नहीं हो सकता। जब तक चित्त में राग-द्वेष बने रहेंगे, संसार दुःखमय बना रहेगा। राग-द्वेष के हटते ही संसार प्रेममय और आनन्दमय हो जायगा। जीव की चौरासी लाख योनियों में यह मनुष्य योनि ही ऐसी है, जिसमें भजन अथवा विवेक सम्भव है।

जो जीव चित्त पर विजय प्राप्त कर लेता है, वह अनायास ही भगवान् को प्राप्त कर लेता है। चित्त पर विजय प्राप्त करने का सबसे बड़ा साधन भजन है। यह मनुष्य-शरीर बड़ी कठोर तपस्या से प्राप्त होता है। तत्त्वज्ञान और उसमें निष्ठारूपी विज्ञान की प्राप्ति इस शरीर से ही सम्भव है। इसलिए बुद्धिमान को गुणों से आसक्ति हटाकर भगवान् का भजन करना चाहिए।

भजन को जो दूसरे शब्दों में इस शरीर के लिए एक प्रकार का योग माना गया है, सिद्धि के लिए आहार-विहार, अपने शरीर द्वारा विविध कर्म—इन सबको उचित मात्रा में करने वाले को ही योग शास्त्र में 'युक्त' कहा गया है। भजन करने वाले योगियों के विषय में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः॥

(गीता १२।२)

'जो योगी भक्त मुझ परमेश्वर में अपने मन को एकाग्र करके तथा मुझसे नित्य युक्त होकर अतिशय श्रद्धा के साथ मेरा भजन स्मरण करते हैं, वे मेरे भक्त योगियों में श्रेष्ठ हैं—मेरी ऐसी मान्यता है।'

जैसे भोजन के बिना हम जी नहीं सकते, वैसे ही भजन के बिना हमारा जीना न जीने के बराबर है। भोजन से हमारे शरीर की स्थिति बनी रहती है तो भजन हमारा सम्पर्क ईश्वर से बढ़ाता है। इस यथार्थता को सबको नित्य-प्रति याद रखना चाहिए।

भजन का बल महान् होता है। यदि जीवन में भजन को प्रधानता दी जाय तो भगवत्कृपा से जीवन की अनेक समस्याएँ स्वतः हल हो जायंगी। भाव-समन्वित होकर श्रद्धा एवं प्रीतिपूर्वक भगवान् का, उनकी लीला का, उनके गुणों का तन्मय होकर स्मरण-चिन्तन करना और उन्हें अभिव्यक्त करना ही भजन करना है। संसार से पूर्णतः अपने को विमुख कर भगवान् के सम्मुख लाना और प्रेम प्रकट करना ही भजन है। भजन भगवत्कृपा प्राप्त करने का अमोघ साधन है।

३८. उपासना

सभी उपासक श्रेष्ठ हैं और भगवान् के भक्त हैं। सच्चे उपासकों और भक्तों में न तो कोई भेद होता है और न वाद-विवाद ही। जो सच्चे उपासक नहीं हैं, उनमें ही वाद-विवाद और भेद-भाव होता है। आर्यसमाजी तो बड़े ही सहृदय भक्त होते हैं। वे जिस निराकारोपासना की बात कहते हैं, वह तो दूसरी ही बात है, वह तो ज्ञाननिष्ठा की बात है। साकारोपासना में यह भेद मायिक होता है। इसलिए यह उपासना बहुत ही कठिन है।

किसी भी प्रकार की उपासना हो, उसमें भाव की ही प्रधानता होती है। सच्चा निर्गुणोपासक पूर्ण योगी ही हो सकता है, क्योंकि स्वरूपावस्था ही निर्गुणोपासना का चरमसाध्य है। वेदान्ती और अद्वैतवादी में किसी रूप में अहंकार रहता ही है, परन्तु योगी के अहं का स्वरूप ही नष्ट हो जाता है। जब तक किसी भी प्रकार का अहंकार बना रहेगा, पूर्णानन्द की उपलब्धि नहीं हो सकती।

सन्त, महात्मा, ब्रह्मचारी, संन्यासी, गृहस्थ सब में देहाभिमान है, जिसके कारण उनकी ये अलग-अलग संज्ञाएँ हैं। अपने को भगवान् का सेवक समझने में भी जीवत्वाभिमान बना रहता है। भक्त का समर्पण-भाव इस जीवत्वाभिमान को आनन्द में बदल देता है, अन्यथा आनन्दानुगत समाधि की भाँति अहं का बीज तो रहता ही है। भाव की दृढ़ता ही भक्ति का सर्वस्व है तथा पर-वैराग्य योग सिद्धि का मूल मंत्र है।

भाव की दृढ़ता के लिए अनेक आचारों का विधान भक्ति के आचार्यों ने किया है, इसीलिए सम्प्रदायों में आचरण पक्ष को इतना महत्त्व दिया गया है। सगुण भगवद्‌विग्रह भक्त की निजी निधि है, इसलिए सम्प्रदायों की निधियों पर अनेक प्रतिबन्ध लगे होते हैं। निराकार भगवान् की उपासना में किसी प्रकार के प्रतिबन्ध का प्रश्न ही नहीं उठता। असल बात यह है कि निर्विशेष ब्रह्म की निराकार और साकार दो विभूतियाँ हैं—उन्हीं की उपासना हो सकती है, क्योंकि निर्विशेष तो बुद्धि से परे की बात है। इसलिए उपासकों के लिए निर्विशेष ब्रह्म के ही निराकार और साकार रूप हैं। साकारोपासक भगवद्विग्रह को तथा मंत्र को चिन्मय ही मानता है। मूर्ति उसके लिए साक्षात् भगवान् ही है।

३९. दया का अजस्त्र प्रवाह

दया आज के युग की माँग है। सर्वत्र दुःखाग्नि से तप्त जीवों को दया की अमृत-वृष्टि की बहुत आवश्यकता है। दया अहिंसा का ही व्यावहारिक रूप है। अहिंसा में प्रतिष्ठित योगी ही दया करने में समर्थ है। योगी की अहिंसात्मक वृत्ति का पहला रूप दया ही है। योगी की दया का फल दया के पात्र की सामर्थ्य के अनुसार ही होता है। जैसे सूर्य की किरणों के प्रकाश को विभिन्न विषय अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार ग्रहण करते हैं—इसी प्रकार योगी की दया का फल भी सबके लिए समान नहीं होता। अहिंसा में तो हिंसा के भाव का निराकरण है, परन्तु दया में किसी के दुःख के निवारण का भाव भी है। अहिंसा निषेधात्मक है तथा दया प्रवृत्यात्मक। जहाँ दया-भाव नहीं है, वहाँ अहिंसा हो ही नहीं सकती। इसलिए अहिंसा में दया का स्वतः ही समावेश हो जाता है।

साधारण मनुष्यों की दया में कुछ कृपा-भाव होता है, प्रयत्न भी होता है और दया के पात्र का कष्ट निवारण करने के लिए कुछ उपचार भी होता है; परन्तु योगी की दया का प्रवाह गंगा के समान अजस्त्र और अबाध है तथा स्वतःप्रवाही है। उसमें कोई भेद-भाव नहीं है। जिस प्रकार गंगा में दुष्ट, पापी और पुण्यात्मा सभी स्नान करते हैं, उसी प्रकार सन्त की दया के सभी पात्र हैं—फल श्रद्धा और विश्वास पर निर्भर करता है। सन्तों की दया में भगवत्कृपा का भाव है जो जीवमात्र के लिए समान है। अहिंसा-भाव में जीव-दया स्वाभाविक ही है; और असल बात तो यह है कि आत्मा में प्रतिष्ठित योगी की जीवदया अपने ही ऊपर दया है।

दया में जब आर्द्रता आ जाती है तब उसे करुणा कहने लगते हैं। करुणा के भाव में योगी का हृदय दयार्द्र हो जाता है। करुणा में दुःखनिवारण की भावना और तीव्र हो जाती है। योगी कभी-कभी अपने ऊपर भी दया करते हैं; वह उनकी आत्म-दया कहलाती है। किसी प्राणी के दुःख को देखकर जब योगी करुणार्द्र होता है तो संयम में कुछ शिथिलता आ जाती है। उस समय योगी अपने ऊपर दया करता है और अपने को सँभाल कर अपने अव्यय पद में स्थिर होता है—

निर्मानमोहा जितसंगदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैर्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत्॥

योगी की आत्म-दया आध्यात्मिक दया होती है और उसकी पर-दया लौकिक होती है। लौकिक दया में योगी की सांभववृत्ति नहीं होती, क्योंकि वह तो वीतराग है। वह दया करके जीव के दुःख के कारण का निवारण करना चाहता है। साधनावस्था में तो दया आदि का भाव चित्त की शुद्धि का उपाय है। समाधिपाद में कहा गया है—

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुख-दुःखपुण्यापुण्यविषयाणां
भावनातश्चित्तप्रसादनम्। २३॥

राग, ईर्ष्या, दूसरे के अपकार की इच्छा, असूया, द्वेष और अमर्ष—ये छः चित्त के मल या विक्षेप कहे जाते हैं। इनका निराकरण करने से चित्त शुद्ध होता है। इस सूत्र में यही बताया गया है कि सुखी पुरुषों से मित्रता तथा प्रेम, दुःखी व्यक्तियों के प्रति करुणा तथा दया, पुण्यात्माओं को देखकर हर्ष और पापियों की उपेक्षा से चित्त की शुद्धि होती है। सुखी मनुष्य से मित्रता करने से ईर्ष्या की निवृत्ति हो जाती है, दुःखी मनुष्यों पर दया करने से दूसरे का बुरा करने की इच्छा समाप्त हो जाती है तथा पुण्यात्मा को देखकर प्रसन्नता होने से असूया की निवृत्ति हो जाती है। पापियों की उपेक्षा करने से अमर्ष, घृणा आदि के भाव समाप्त हो जाते हैं। साधकों के लिए ये आचार हैं, परन्तु योगी के लिए तो सब कुछ दया ही है—

प्राणा यथात्तनोऽभीष्टा भूतानामपि ते तथा।
आत्मौपम्येन सर्वत्र दयां कुर्वन्ति साधवः॥

इस प्रकार योगी की दया का भाव बड़ा व्यापक है।

गीता में भगवान् ने जितनी दैवी सम्पदाओं का उपदेश किया है उनमें 'दया भूतेषु' सभी-प्राणियों पर दया करने का आदेश भी है। दूसरे को दुःखी देखकर उसका दुःख दूर करने की भावना को 'दया' कहते हैं। भगवान् की दया तो अखिल ब्रह्माण्ड में सभी जीवों पर निरन्तर कृपामृतरूप में बरस रही है। प्रभु अनादिकाल से भटकते जीवों पर दया करके उसे मनुष्य शरीर देते हैं और उसके मोक्ष के लिए स्वयं साधन जुटाते हैं। प्राणिमात्र को निष्पाप करने के लिए जब भगवान्

प्रतिकूल परिस्थितियों को उत्पन्न करते हैं तो यह उनकी 'दया' है। सन्तों का तो स्वभाव ही है—दया करना। सन्त-महात्मा स्वयं तो सुख-दुःख से परे होते हैं और दोनों को भगवान् की कृपा और दया मानकर समभाव से सहते हैं, किन्तु सन्त दूसरों के दुःख को सह नहीं पाते और उसे दूर करने का हर सम्भव उपाय करते हैं। सिद्ध पुरुष सदैव सभी पर दया करते हैं और उनके कल्याण की कामना करते हैं। साधकावस्था में भी दूसरों के दुःख को दूर करने की भावना साधक रखते हैं और उसके अनुसार सचेष्ट होते हैं। इसके लिए उनमें अभिमान नहीं होता। वे अपने दुःख के समान दूसरों को भी दुःखी मानते हैं अतः उसे दूर करना अपना कर्त्तव्य मानते हैं—**आत्मवत् सर्वभूतेषु।**

सामान्य जन दूसरों के हितसाधन की चेष्टा द्वारा अपने को उदार, दयालु और परोपकारी सिद्ध करके समाज में आदर-भाव और विशिष्टता पाना चाहते हैं—इस 'दया भाव' में मैल है।

सन्त तो मुक्तहस्त दया लुटाते हैं। वे प्राणिमात्र को सुखी, आनन्दित और भगवत्कृपा पाने का अधिकारी बनाकर स्वयं परमानन्द में मगन रहते हैं। अनादिकाल से भटके जीव को भगवान् के सम्मुख कर देना सबसे बड़ा परोपकार है।

४०. अगुन-सगुन दुइ ब्रह्मसरूपा

साकार निराकार के झमेले में न पड़ना ही अच्छा है। इस विषय पर बहुत विचार हो चुका है—शास्त्रार्थ और वाद-विवाद भी। भगवान् न तो शास्त्रार्थ का विषय है और न वाद-विवाद का। वृत्तियों को जिस साधन से रोक सको, उन्हें उदात्त बना सको, वही करो। समस्त साधनाओं का एक ही लक्ष्य है—

रुचीनां वैचित्र्याद् ऋजुकुटिलनानापथजुषाम्,
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव॥

(शिवमहिम्न स्तोत्र)

असल बात तो यह है कि वह निर्गुण भी है, सगुण भी है और दोनों से परे भी है। हमारे वेदों, उपनिषदों और शास्त्रों में उसका सभी रूपों में वर्णन हुआ है। सच बात यह है कि वह अनिवर्चनीय है। उपनिषदों में यही कहा भी गया है।

नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा।
अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथं तदुपलभ्यते॥

(कठ० २।३।१२)

'परब्रह्म परमेश्वर न तो वाणी से, न मन से और न नेत्रों से ही प्राप्त किया जा सकता है; अतः वह आवश्यक है, इस दृढ़ विश्वास वाले साधक के अतिरिक्त किसी अन्य को उसकी उपलब्धि कैसे हो सकती है? अर्थात् अनिवर्चनीय, अगम्य और अदृश्य (निराकार) परमात्मा को दृढ़ विश्वास के द्वारा ही अनुभूत किया जा सकता है।' परमात्मा सहज विश्वासी के समक्ष स्वतः प्रकट हो जाते हैं। यह विश्वास की बात हुई। दृढ़ विश्वास ने ही निराकार को साकार कर दिया।

इसी प्रकार मुण्डकोपनिषद् में भी आता है—

न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा-,
नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा।
ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु,
तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः॥

(मुंड० ३।१।८)

फिर उसे वेद में सगुण भी कहा गया है। उसे सहस्र शीर्ष वाला, सहस्र आँखें वाला, सहस्र चरणों वाला और सारे ब्रह्माण्ड को व्याप्त करने पर दश अंगुल ऊपर रहने वाला बताया है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में लिखा है—

सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति॥

(श्वेत० ३।१६)

वह परमपुरुष परमात्मा, सर्वत्र हाथ-पाँव वाला, सब जगह आँख, सिर और मुख वाला है, सर्वत्र कानों वाला है, ब्रह्माण्ड में सबको सब ओर से आवृत करके स्थित है।

परमात्मा सर्वत्र है, सर्वत्र व्याप्त है, अतः जहाँ भक्त की रक्षा की आवश्यकता हुई उनके हाथ बढ़ जाते हैं। जहाँ भक्त का प्रणाम निवेदित हुआ भगवान् के चरण वहीं विद्यमान हैं। जहाँ प्रार्थना निवेदित होती है प्रभु के कान वहीं मौजूद रहते हैं। जीवों-भक्तों के हर कर्म को उनकी आँखें देखती हैं और भक्तों पर करुणाभरी स्नेहिल दृष्टि बनाये रखने के लिए सर्वत्र तत्पर रहती हैं। भक्त द्वारा समर्पित वस्तु का भोग लगाने के लिए सर्वत्र परमात्मा का मुख वर्तमान है। भगवान् सबको आवृत करके सर्वत्र स्थित हैं। अतः कहीं भी उनकी सेवा में लग जाना श्रेयस्कर है।

इसी उपनिषद् में आगे लिखा है—

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च॥

(श्वेता० ६।११)

वही एक देव सभी प्राणियों में छिपा हुआ, सर्वव्यापी और समस्त प्राणियों का अन्तर्यामी है। वही सबके कर्मों का अधिष्ठाता, सबका साक्षी, सम्पूर्ण भूतों का आश्रय, चेतन स्वरूप और सबको चैतन्य प्रदान करने वाला नित्य-शुद्ध और निर्गुण है।

इसलिए ब्रह्म के निर्गुण और सगुण रूप में कोई तात्त्विक भेद नहीं है। सगुणवादी भक्त परब्रह्म के निर्गुणत्व में तो विश्वास करते ही हैं, इस प्रकार निर्गुणवादी सगुण रूप को सोपाधिक कहकर अपने मत का प्रतिपादन करते हैं। सगुणोपासना में आचार की प्रधानता है, दूसरे भगवद्विग्रह में तद्रूप भावना बहुत ही सरल पड़ती है। कबीर आदि संत तो इस विषय की चर्चा ही नहीं चलाना चाहते—

भारी कहौं त बहु डरौं, हलका कहूँ त झूठ,
का मैं जाणूँ राम कूँ, नैनूँ कबहूँ न दीठ।
दीठा है तो कस कहूँ, काह्यां न को पितआई,
हरि जैसा है तैसा रहौ, तू हरषि हरषिगुन गाई॥

ज्ञानं, भक्ति तथा निर्गुण-सगुण का वाद-विवाद बहुत पुराना नहीं है। हजार-बारह सौ वर्षों के भीतर ही यह विवाद खड़ा हुआ है। दर्शन और भक्ति दोनों ही क्षेत्रों में इस प्रश्न को लेकर शास्त्रार्थ हुए हैं। ब्रह्म को निर्गुण निर्विशेष और निर्लक्षण भी कहा गया है और सगुण सविशेष और सलक्षण भी। इसीलिए शंकराचार्य से लेकर आज तक आचार्य इन्हीं शब्दों की व्याख्या करते आ रहे हैं। भक्ति के भी अनेक भेद किये

गये और अनेक प्रकार से उन भेदों की व्याख्या की गयी है। वैदिक, तांत्रिक, श्रौत और मिश्र आदि भक्ति के अनेक विभाग किये गये हैं। बोपदेव ने 'मुक्ताफल' में भक्ति के अनेक भेद विस्तार से बताए हैं। इसी प्रकार सभी सम्प्रदायों के आचार्यों ने अपने-अपने सम्प्रदाय की आचार-प्रतिष्ठा के लिए भक्ति साधना की बड़ी विस्तृत, भव्य और मनोवैज्ञानिक व्याख्याएँ प्रस्तुत की हैं।

उपास्य की व्याख्या और व्युत्पत्ति भी आचार्यों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से की है। स्वामी रामानन्द जी को निर्गुण और सगुण दोनों ही परम्पराओं का आचार्य स्वीकार किया जाता है। विष्णुसहस्र नाम पर एक शांकर भाष्य भी है, जिसमें राम की निर्गुण और सगुण दोनों ही रूपों में व्युत्पत्ति की गयी है—

नित्यानन्देऽस्मिन् रमन्ते, इतिरामः।
स्वेच्छया वपुर्वहन् वा दाशरथी रामः॥

जो नित्य नित्यानन्द में रमण करता है; वही राम हैं और जिन्होंने अपनी इच्छा से शरीर धारण किया है, वह दाशरथी राम हैं।

इसी प्रकार पद्मपुराण में आता है—

रमन्ते योगिनोयस्मिन्नित्यानन्देचिदात्मनि।
इति रामपदेनैतत् परब्रह्माभिधीयते॥

जिस नित्यानन्द-चिदात्म स्वरूप परमात्मा में योगीगण रमण करते हैं, वही राम परब्रह्म माने जाते हैं।

४१. गोस्वामी तुलसीदास का निरूपण

परन्तु धीरे-धीरे सगुण और निर्गुण की दो भिन्न धाराएँ ही हो गयीं। गोस्वामी तुलसीदास जी ने ब्रह्म के निर्गुण और सगुण दोनों ही रूपों का विवेचन किया है, परन्तु भक्तों के लिए ब्रह्म के सगुण रूप को ही सहज गम्य माना है। अगस्त्य ऋषि, इन्द्र आदि सगुण रूप को श्रेयस्कर मानते हैं—

यद्यपि ब्रह्म अखण्ड अनंता, अनुभवगम्य भजहिं जेहि संता।
अस तव रूप बखानउँ जानउँ, फिरि फिरि सगुन ब्रह्म रति मानउँ॥
कोउ ब्रह्म निर्गुन ध्यावे, अव्यक्त जेहिं श्रुति गावे।
मोहि भाव कोसल रूप, श्रीराम सगुन सरूप॥

इस प्रकार गोस्वामी तुलसीदासजी ने रामचरित मानस में अनेक स्थलों पर ब्रह्म के सगुणरूप को ही अधिक महत्त्व दिया है और कहीं-कहीं दोनों रूपों में अभेद भी स्थापित किया है—

सगुनहिं अगुनहिं नहिं कछु भेदा, गावहिं मुनि पुरान बुध वेदा॥
अगुन सगुन दुइ ब्रह्म सरूपा। अकथ अगाध अनादि अनूपा॥

तुलसी के राम निर्गुण भी हैं और सगुण भी। उनका सगुण रूप निर्गुण रूप का ही ऐश्वर्य है। प्रयोजन विशेष से निर्गुण भगवान् साकार रूप धारण करते हैं—

जब जब होइ धरम कै हानी, बाढ़हिं असुर अधम अभिमानी॥
करहिं अनीति जाय नहिं बरनी, सीदहिं बिप्र धेनु सुर धरनी॥
तब तब प्रभु धरि विविध सरीरा, हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा॥

'वैराग्य-संदीपनी' में गोस्वामी जी ने इसी तत्त्व की ओर संकेत किया है—

अज अद्वैत अनाम, अलख रूप गुन रहित जो।
मायापति सोई राम, दास हेतु नर तन धरेउ॥

रामचरित मानस के उत्तर काण्ड में गोस्वामी जी ने इस तत्त्व को भली-भाँति समझा दिया है—

निर्गुन रूप सुलभ अति सगुन जान नहिं कोइ।
सुगम अगम नाना चरित सुनि मुनि मन भ्रम होइ॥

भगवान् का पारमार्थिक रूप तो निर्गुण ही है। सगुण तो भक्त के प्रेम का फल है—

अगुन अरूप अलख अज जोई, भगत प्रेम बस सगुन सो होई।
जो गुन रहित सोई सगुन कैसे, जल हिम उपल बिलग नहिं जैसे॥

गुप्त और प्रत्यक्ष अग्नि की उपमा से गोस्वामी जी ने इस तत्त्व को समझाया है—

एक दारुगत देखिय एकू। पावक सम जुग ब्रह्मविवेकू॥

गोस्वामी तुलसीदास जी ने निर्गुण और सगुण को जोड़ने वाली नाम-शृंखला को बड़ा महत्त्व दिया है और एक ओर नाम की कड़ी को निर्गुण से अधिक महत्त्वपूर्ण बताया है और दूसरी ओर उसे सगुण रूप से बढ़कर बताया है। वास्तव में गोस्वामी जी के राम सगुण, निर्गुण, हिरण्यगर्भ, ईश्वर, ब्रह्म, परमात्मा, भगवान्—सभी कुछ हैं। रामचरित मानस में इन सभी रूपों की सटीक व्याख्या है। इसीलिए रामचरित मानस एक सिद्ध ग्रन्थ है, जिसके विषय में यह उक्ति पूर्ण रूप से चरितार्थ होती है—

'यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्।'

४२. पेट का धंधा और भगवान् का भजन

अपना-अपना व्यवसाय सभी को करना है जिससे जीविका चले। इसी को पेट का धन्धा कहते हैं, जिसे सभी को करना है। लेकिन केवल इसी धंधे का भाव बना रहे और इसी प्रकार जीवन-यापन हो, तो जीवन में कोई ज्ञान नहीं हुआ। ज्ञान का मतलब है प्रकाश, अन्धकार का नाश।

जीवन में अन्धकार का नाश कैसे होगा, प्रकाश कैसे फैलेगा, यह सोचने की बात है। 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' का भाव भरना होता है। बड़े अभ्यास की आवश्यकता होती है। प्रभु का भाव अन्त समय में भी बना रहे तो फिर क्या पूछना। बेड़ा ही पार हो जाय। लेकिन बनता नहीं। भगवद्गीता में कहा गया है—

यं यं वाऽपि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥ (८।६)

जो जिस भाव में लगा हुआ है, अन्त समय उसी भाव का स्मरण करता हुआ देह त्यागता है और उसका अगला जन्म भी उसी के अनुसार होता है। जो भाव जीवनभर बना रहा, मन-प्राण को मथता रहा, अन्त में भी वह प्राणों को क्षुब्ध करता है और अगला बन्धन तैयार कर देता है। लोग जो पेशा या व्यवसाय करते हैं, उसी की उन्हें बराबर चिन्ता लगी रहती है। अतः अन्तकाल में भी उन्हें उन्हीं का ध्यान हो जाता है, क्योंकि उस समय इन्द्रियाँ शिथिल हो जाती हैं तथा बुद्धि काम नहीं करती। जीवन में परमेश्वर का स्मरण नहीं होने पर परमेश्वर भी हाथ नहीं आता। परमेश्वर को पाने के लिए उसका चिन्तन सदा होना चाहिए, ताकि अन्त में भी उसका स्मरण हो सके। अन्तकाल में परमेश्वर का स्मरण हो, यह केवल अभ्यास से ही सम्भव है। इस तरह का अभ्यास भी पहले से ही होना चाहिए।

सांसारिक भोगों से ध्यान हट जाय, यह जरूरी है। विषयासक्ति में बड़ा तीव्र आकर्षण होता है। इन्द्रियाँ उधर सहज ही खींचती हैं। अतः

पहले से ऐसा अभ्यास कैसे हो, जिससे अन्त समय में नाशवान् सांसारिक भोगों से ध्यान हट जाय, इसके सम्बन्ध में गीता में ही भगवान् का कथन है—

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥ (८।७)

इसलिए अपने-अपने व्यवसाय में सदा परमेश्वर का स्मरण करो जिससे अभ्यास उत्तम हो। भगवान् का स्मरण करने से तुम्हारे कर्म शुभ होने लगेंगे, बुद्धि शुद्ध हो जायगी, हृदय में परमेश्वर का वास हो जायगा, जीवन में प्रकाश फैल जायगा और अन्धकार का नाश होगा।

यही दशा सभी व्यवसायियों की है, चाहे वे कोई व्यवसाय क्यों न करते हों। अन्त समय भगवान् का स्मरण साधारण बात नहीं है, यह तो केवल सतत् अभ्यास से ही सम्भव है। अभ्यास से ही संस्कार बनता है। यदि इस लोक को और साथ-साथ परलोक को भी बनाना हो तो ऐसा अभ्यास अभी से करना चाहिए, जिससे अपने जीविकोपार्जन की साधना के साथ ही भाव चिन्तन भी होता रहे। अन्यथा भविष्य में भी हमें वही भोगना पड़ेगा जो अभी तक भोगते आये हैं।

हम अपनी जीवनवृत्ति चलायें, अपना व्यवसाय करें, अपने पेट का धंधा करें किन्तु उसमें आसक्त न हों, यही बड़ी बात है। जो कुछ करें, अनासक्त भाव से करें तो उन कामों के प्रति राग नहीं होगा। अपने व्यवसाय में आसक्त न होकर भगवान् का भी स्मरण करते रहें, तभी हमारे लोक और परलोक दोनों का सुधार होगा। भगवान् का स्मरण सदा होता रहे तो हमारा आचरण पवित्र हो जायगा, जीविका का साधन शुचितर होता जायगा और धीरे-धीरे हम अपने बाहर-भीतर एक पवित्रता का बोध करेंगे, एक आत्मबल का अनुभव करेंगे जो हमें सृष्टिमात्र के कल्याण के लिए प्रेरित करेगा। भगवान् का स्मरण करते रहने से अपने व्यवसाय के क्षण में भी प्रभु की स्मृति बनी रहने से हमारी दृष्टि शुभ होती जाती है, चित्त की निर्मलता बढ़ती है और फिर जो चित्त शुद्ध है, निर्मल है, भगवान् उसी में वास करते हैं। अपना धंधा करो, किन्तु भगवान् का भी स्मरण सदैव करते रहो—लोक-परलोक दोनों सुधर जायंगे।

४३. सर्वः सर्वत्र नन्दतु

आचार और व्यवहार में कोई बड़ा भारी भेद नहीं है। सबसे बड़ा धर्म, सबसे बड़ा आचार और सबसे बड़ा व्यवहार यही है कि विचार, भाषण तथा क्रिया में सामंजस्य होना चाहिए। आज सबसे बड़ी समस्या यही है कि हम सोचते कुछ और हैं, कहते कुछ और हैं और करते कुछ और हैं। इस प्रकार का व्यवहार ही मानवता और समाज का कट्टर शत्रु है। यदि व्यवहार में समता आ जाय तो—

न वै राज्यं न राजासीन्न दण्डो न च दाण्डिकः।
धर्मेणैव प्रजाः सर्वा रक्षन्तिस्म परस्परम्॥

अर्थात् न राज्य की आवश्यकता है, न राजा की, न दण्ड की। शासन-व्यवस्था विचारों को नहीं बदल सकती। विचार तो समभाव से ही बदले जा सकते हैं। जिस प्रकार काम का शमन भोग से नहीं हो सकता, उसी प्रकार दण्ड से विचारों में उत्तेजना हो जाती है, परिवर्तन नहीं होता है—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥
(मनु० २।९४)

भारतीय संस्कृति में एक साधारण व्यवहार की बात बतायी गयी है—

मातृवत्परदारेषु परद्रव्येषु लोष्ट्रवत्।
आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पश्यति॥

दूसरी स्त्री को माता के समान, दूसरे के धन को काष्ठ और मिट्टी के समान तथा सब प्राणियों को अपने समान देखो। व्यक्ति और समाज के गतिरोध को दूर करने का एकमात्र उपाय सर्वात्मदर्शन ही है।

प्राणिमात्र का कल्याण भारतीय संस्कृति का सारतत्त्व है—

सर्वस्तरतु दुर्गाणि सर्वो भद्राणि पश्यतु।
सर्वः सद्बुद्धिमाप्नोतु सर्वः सर्वत्र नन्दतु॥
दुर्जनः सज्जनो भूयात् सज्जनः शान्तिमाप्नुयात्,
शान्तो मुच्येत् बन्धेभ्यो मुक्तश्चान्यान् विमोचयेत्।
सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः,
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत्॥

सभी शुभ देखें, सबको सद्बुद्धि प्राप्त हो और सभी आनन्दित हों। सभी शुभ सोचें, शुभ करें, शुभ देखें, शुभ कहें तो सर्वत्र शुभ ही शुभ दृष्टिगोचर होगा—कहीं अशुभ नहीं होगा। शुभ का चिन्तन एवं शुभ का दर्शन सत्समन्वित बुद्धि—सद्बुद्धि से ही हो सकता है और सद्बुद्धि ही आनन्द दे सकती है। 'सर्वः सर्वत्र नन्दतु' सभी (प्राणी) सभी जगहों पर आनन्दित हों यही हमारी प्रार्थना रही है। व्यक्ति का नहीं, समष्टि का, सबका आनन्द ही भारतीय संस्कृति का लक्ष्य है।

दुर्जन भी सज्जन हो जायं—सत् को आचरण में लाने वाले सद्पुरुष बन जायं और सज्जन तथा संत शान्ति प्राप्त करें, शान्त पुरुष बन्धनों से मुक्त हों और अन्यों को भी बन्धन मुक्त करें। भारतीय मनीषा केवल अपने कल्याण तक सीमित नहीं रही—'अन्यों' को भी मुक्त करने और आनन्दित करने के लिए कृतसंकल्प रही है।

सन्तों की यही कहनी है। यही प्रार्थना रहती है कि सभी सुखी हों, सभी निरोग हों, सभी शुभ देखें और किसी को दुःख न हो। मानवमात्र के लिए ही नहीं, प्राणिमात्र के लिए यह आदर्श है।

भारतीय धर्म, संस्कृति, आचार और व्यवहार का यही प्रतिफलन है—

कृष्णाय वासुदेवाय हरये परमात्मने।
प्रणतः क्लेशनाशाय गोविन्दाय नमो नमः॥

४४. मन का संयम

जो यह मनुष्य-शरीर मिला है बड़ा दुर्लभ है और भगवान् की अनन्त कृपा का फल है। लेकिन यह शरीर क्या है, किसलिए है—इस पर भी विचार करना चाहिए। इस मानव-शरीर में दो भाग हैं—एक बाहरी भाग जो पाँच कर्मेन्द्रियों एवं पाँच ज्ञानेन्द्रियों का समूह है। यह सबके समक्ष है। इसे हम देखते हैं। किन्तु इस शरीर का एक अन्तर्भाग भी है जिसे हम देखते नहीं, केवल अनुभव करते हैं। इस आभ्यंतरिक भाग में कुछ दिव्य शक्तियाँ हैं, जिनको हम आत्मा, बुद्धि और मन कहते हैं। ये दृष्टिगोचर नहीं हैं। इसीलिए प्रायः इन शक्तियों की चर्चा नहीं होती और न हम इनका विवेचन ही करते हैं।

उपनिषद् का एक मंत्र है—जिसका भावार्थ है कि शरीर में जो इन्द्रियाँ हैं, उनके ऊपर मन है, मन के ऊपर बुद्धि है, बुद्धि के ऊपर आत्मा है और आत्मा के ऊपर परमपिता परमात्मा हैं। परमात्मा

सर्वशक्तिमान्, सर्वान्तर्यामी, निर्विकार और अखिल ब्रह्माण्ड के नियन्ता हैं। उन्होंने दया करके जीवात्मा को, जो उनसे बिछुड़कर संसार के बीहड़ वन में सुख तथा शान्ति की खोज में भटक-भटक कर परेशान हो रहा है, मानव-शरीर रूपी सर्व-साधन-सम्पन्न रथ प्रदान किया है और इस रथ को खींचने के लिए इन्द्रियरूपी बलवान् घोड़े दिये हैं। इतना ही नहीं, घोड़ों के नथुनों में मनरूपी लगाम लगाकर उन्हें हाँकने के लिए बुद्धिरूपी सारथि को भी रथ पर बिठा दिया है। जीवात्मा को इस शरीर-रथ पर बैठाकर यह निर्देश दिया है कि वह बुद्धि की सहायता से इन्द्रियों को वश में रखते हुए उन्हें नाम-रूप-लीला-धाम भगवान् की ओर से जाने वाले मार्ग में चलायें और क्रमशः भगवान् के पास तक पहुँच जायं। अनादिकाल से बिछुड़े हुए, भटके हुए जीवन को अपने मूल स्वरूप में स्थिति प्राप्त कर लेने के लिए ही यह शरीर-रथ प्राप्त हुआ है।

किन्तु जीवात्मा परमात्मा के आदेश का पालन नहीं करता और न दुर्लभ शरीर रूपी रथ के महत्त्व को समझता है। जीव सांसारिक माया-मोह के प्रलोभनों में फँसकर अपना उद्देश्य ही भूल गया है और उसने अपने परमलक्ष्य परमात्मा को विस्मृत कर दिया है। यही विस्मरण और विमुखता उसे भटका रही है। बुद्धिरूपी सारथि उचित प्रेरणा एवं लक्ष्य-निर्देश के अभाव में मनरूपी लगाम को इन्द्रियरूपी घोड़ों की इच्छा पर ही छोड़कर निश्चिन्त है। इन्द्रियों के घोड़े अब रथ को जिधर ले जायं, जिस मार्ग पर ले जायँ—यह उनकी इच्छा पर निर्भर है। जीव इस प्रकार इन्द्रियों के वशीभूत होकर संसार-चक्र में डालने वाले विषयों में भटकने लगा है। जब सारथि ही किंकर्त्तव्यविमूढ हो, लगाम बेकाबू हो और घोड़े अड़ियल हों तथा उनके आस-पास भोग-विलास रूपी हरी घास के अनेक ढेर लगे हों तो क्या रथ लक्ष्य की ओर बढ़ सकेगा?

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरंरथमेव तु।
बुद्धि तु सारथि विद्धि मनः प्रग्रहमेव च।

(कठो० १।३।३)

रथ जब सही मार्ग पर चलेगा तभी तो गन्तव्य तक पहुँच पायगा। इसके लिए क्या किया जाय? बुद्धिरूपी सारथि मनरूपी लगाम के द्वारा इन्द्रियों पर किस प्रकार शासन करे, जिससे वे विषयासक्ति में नहीं भटककर भगवान् की ओर उन्मुख हों, इसके लिए उपनिषद् में ही पुनः उल्लेख किया गया है—

यस्तु विज्ञानवान् भवति मनसा सदा।
तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः॥

(कठो० १।३।६)

अर्थात् जिस मनुष्य की बुद्धि अपने लक्ष्य की ओर ध्यान रखती हुई अपने नियंत्रण में रखी हुई मनरूपी लगाम से इन्द्रियों को सन्मार्ग पर चलने में सदा तत्पर रहती है, उसकी इन्द्रियाँ निश्चयात्मिका बुद्धि के अधीन होकर वैसी ही चलती हैं, जैसे सावधान सारथि के घोड़े उसके वश में रहकर उसके द्वारा निर्दिष्ट मार्ग पर चलते हैं।

इस दृष्टान्त से यह स्पष्ट हो जाता है कि इन्द्रियों का सीधा सम्बन्ध हमारे मन से है। मन यदि इन्द्रियों पर पूर्णतः शासन रखे और उन्हें इतस्ततः भटकने नहीं दे तो हम इस शरीर से बड़ा-से-बड़ा काम कर सकते हैं।

अब यदि हम चाहें कि हमारे मन के संकल्प शुद्ध हों और इसके सम्बन्ध भगवान् के नाम-रूप-लीला-धाम से बनें तो इसके लिए आवश्यकता है सत्संगति की। सत्संगति का अर्थ होता है—सत् की संगति, सत्य की संगति और ऐसी संगति जिसमें सत्त्व का विकास होता है। सन्त-महात्माओं से सम्पर्क होना, उनके सान्निध्य में रहना सत्संगति है। सन्त-महात्मा बतलाते हैं कि भगवन्नाम वाणी का और श्रवण का विषय है। अपनी वाणी और श्रवणेन्द्रिय को हमें भगवान् के नाम-गुण-कीर्तन में और उनकी महिमा सुनने में लगा देना चाहिए। अपने नेत्रों से भगवान् के रूप तथा लीलाओं का दर्शन करना चाहिए और पैरों द्वारा भगवान् के शास्त्रोक्त धामों की यात्रा करनी चाहिए, जिससे कि अपने अन्यान्य जीवनोपयोगी कर्मों को करते हुए जो शेष क्षण हमें सुविधापूर्वक उपलब्ध हों, वे भगवान् की पुण्य-स्मृति में ही बीतते रहें।

सारांश यह है कि अपनी इन्द्रियों द्वारा जो काम हमें करने हैं, उनको तो हम अवश्य करें; किन्तु उन सारे कर्मों को मन द्वारा नियंत्रित रखें। इन्द्रियाँ मन के अधीन हों, न कि मन इन्द्रियों के अधीन हो। इन्द्रियाँ जिधर चाहें मन को नहीं ले जायं, वरन् मन जिधर चाहे इन्द्रियाँ उधर जायं।

किन्तु यह मन भी तो बड़ा चंचल है और उसकी चंचलता के कारण इन्द्रियाँ इधर-उधर चलायमान होती रहती हैं। इस सम्बन्ध में जो थोड़ी-सी बातें अर्जुन और भगवान् श्रीकृष्ण के बीच हुई हैं, वे मनन करने योग्य हैं। अर्जुन ने मन की चंचलता को इंगित करते हुए कहा—

चंचलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥

(गीता ६।३४)

अर्थात् हे कृष्ण! यह मन बड़ा चंचल है और बहुत बलवान् है, इसलिए इसको वश में करना वायु के वेग को रोकने की भाँति दुष्कर है, कठिन है। ऐसी दशा में जबकि स्वयं मन ही अत्यन्त चंचल स्वभाव का है। यह प्रमत्त भी है—शरीर और इन्द्रियों को मथ डालने वाला है तथा बलवान् और दृढ़ है तो उसके द्वारा इन्द्रियों का संयम कैसे हो सकता है? जो स्वयं चंचल है वह दूसरे को स्थिर कैसे कर सकता है, जो स्वयं अनुशासन की उपेक्षा करने वाला है वह अन्य को कैसे अनुशासित कर सकता है? मन जिस विषय में रमता है, दृढ़ता से उससे चिपकता है और बार-बार हटाने पर भी फिर उसी ओर भागता है। ऐसे दुर्धर्ष मन का निग्रह महा कठिन है।

इस जिज्ञासा के उत्तर में भगवान् श्रीकृष्ण का जो कथन है वह और भी मननीय है—

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते॥

(गीता ६।३५)

'हे अर्जुन! यह ठीक है कि मन बड़ा चंचल है और बड़ी कठिनता से वश में आने वाला है, किन्तु अभ्यास करने से और सांसारिक विषयों से वैराग्य करने से अर्थात् अनासक्ति के द्वारा वह वश में लाया जा सकता है।'

तो चंचल मन को वश में करने के लिए भगवान् श्रीकृष्ण ने दो साधन बतलाये—एक अभ्यास और दूसरा वैराग्य या अनासक्ति। पातंजल योगदर्शन में भी यही उपाय वर्णित है—'अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः।' (१।१२) अर्थात् चित्तवृत्तियों का निरोध अभ्यास और वैराग्य से होता है।

भगवान् के नाम और गुणों का श्रवण-मनन-कीर्तन-जप तथा भगवद् विषयक ग्रन्थों का पठन-पाठन इत्यादि बार-बार करने का नाम ही 'अभ्यास' है। मन को किसी लक्ष्य में स्थिर करने के लिए उसे अन्य

विषयों से बार-बार खींचकर लक्ष्य में लगाने के लिए किये जाने वाले सारे प्रयत्नों को अभ्यास कहते हैं—'**तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः।**'

(योगदर्शन १।१३)

इस प्रकार का अभ्यास करने से और विषयों के प्रति अनासक्ति और वैराग्य से शनैः-शनैः मन और उसके द्वारा नियंत्रित इन्द्रिय-समूह, सब-के-सब शुभ में प्रवृत्त हो जायंगे—इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है।

मन से चाहे हम सांसारिक विषयों में फँसे रहें या मोक्ष प्राप्त कर लें, इसमें हमारी पूर्ण स्वतंत्रता है। इस विषय में हमें सदा स्मरण रखना चाहिए कि—'**मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।**' इस मन के द्वारा यदि सतत अभ्यास हो—भगवन्नाम का श्रवण, मनन और जप हो तो निश्चय ही हम मुक्त हो सकते हैं, अन्यथा इस प्रपंच-जाल में फँसे रहना हमारे लिए अनिवार्य विवशता है।

हमारा मन भी दो प्रकार का होता है—एक शुद्ध और दूसरा अशुद्ध—'**मनो हि द्विविधं प्रोक्तं शुद्धं चाशुद्धमेव च।**' अशुद्ध मन वह है, जो सांसारिक कामनाओं से युक्त हो, जो सदा सांसारिक विषयों में गला-पचा रहे; और शुद्ध मन वह है, जिसके द्वारा भगवन्नाम का जप, मनन, श्रवण आदि हुआ करे। अस्तु, हमें संसार में रहना है और सांसारिक कार्यों को भी करना है, अतः जहाँ तक सम्भव हो, संसार के कार्य करते हुए ही मन को भगवान् के श्रीचरणों में लीन कर देने का प्रयत्न निरन्तर करना चाहिए। ऐसा अभ्यास बराबर करने से ही मन के संकल्प शुभ और वासनारहित होंगे तथा संसार में रहते हुए भी हम जीवन्मुक्त माने जायंगे।

इसीलिए संसार में रहो, किन्तु संसार को अपने भीतर मत बसाओ। नाव पानी में रहे, पानी को नाव में मत आने दो।

४५. तप

तप तो जीवन का पर्याय ही है। बिना तपस्या के कुछ भी करना सम्भव नहीं है। सृष्टि तप से होती है, इसका पालन तप से होता है और इसका संहार भी तप के द्वारा ही होता है। मनुष्य जो कर्म करता है, कर्म के लिए प्रयास करता है, उसमें भी उसे तप करना पड़ता है, कष्ट सहने की जरूरत पड़ती है। तप के बिना, मन और तन को तपाये बिना किसी भी प्रकार की सिद्धि नहीं मिलती—**सन्त वही जो काया साधे।** काया को साधना ही तप है। काया में तन और मन दोनों को समझो।

भृगुवल्ली में भी योगानुष्ठान से ही परमानन्द की प्राप्ति कही गयी है। वरुण के पुत्र भृगु ने अपने पिता के समीप जाकर ब्रह्मोपदेश की जब जिज्ञासा की तो वरुण ने उपदेश किया—'**तपसा ब्रह्मविजिज्ञासस्व। तपो ब्रह्मेति।**' (तप करो और उससे ब्रह्म को जानो, तप ही ब्रह्म है।) भृगु ने तप किया और तप करके अन्त में आनन्द ही ब्रह्म है, यह ज्ञान प्राप्त किया—'**स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात।**' इस प्रकार उपनिषदों ने तप को ब्रह्म-ज्ञान प्राप्त करने का एक महत्त्वपूर्ण मार्ग स्वीकार किया है।

'**चंचलता से शून्य मन अमर कहलाता है, वही तप है और उसी को मोक्ष कहते हैं—यह शास्त्रों का सिद्धान्त है।**'

(योगशिखोपनिषद्)

शरीर को शीत-ताप-वर्षा सहने की क्षमता होनी चाहिए। हर व्यक्ति को इसके लिए थोड़ी-बहुत चेष्टा करनी चाहिए। इसी तरह मन को हर परिस्थिति में समभाव से बिना उद्वेलित हुए निस्तरंग सागर की भाँति प्रशान्त रहना चाहिए। तपस्या तन और मन दोनों स्तर पर होनी चाहिए।

शरीर को अनावश्यक कष्ट देने को ही तप नहीं कहते। आज की परिवर्तित परिस्थिति में तपस्या भी युक्त होनी चाहिए—'**युक्ताहार विहारश्च।**' तपस्या करने के लक्ष्य पर भी ध्यान देना जरूरी है। जिस वृत्ति की प्रेरणा से तुम अनेक उद्यम में लगकर, अभ्यासजन्य कष्ट उठा रहे हो, इस पर तपस्या का प्रकार निर्भर करता है। तप बुरी वृत्तियों के तोष के लिए भी तो किया जा सकता है, किन्तु प्रायः दैवी सम्पदाओं की श्रीवृद्धि के लिए कष्टों को सहने को ही, तप करना कहा जाता है।

४६. तामस तप

मूढ़ ग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम्॥

जो तप मूढ़तापूर्वक हठ से, कर्म, वाणी और शरीर को पीड़ा सहित अथवा दूसरे का अनिष्ट करने के लिए किया जाता है, वह 'तामसिक तप' है।

तप तो है ही सुख-दुःख के वैषम्य को तन-मन से सहने की क्षमता को विकसित करने का साधन; समत्व एवं सामंजस्य उत्पन्न करने का साधन और मानापमान में भी एकरस रहने का अभ्यास। यह सब उच्चादर्श हैं जिसे दृष्टि में रखकर तप करना उत्तम है। तप योग में सहायक होता है, भगवद्प्राप्ति में, परम चैतन्य एवं परमसत्ता को प्रत्यक्ष करने में सहायक होता है। किन्तु जब व्रतों-उपवासों एवं तप का लक्ष्य संसार से प्रभावित होता है, किसी को वैरी मानकर उसके अनिष्ट के लिए उत्प्रेरित होता है, प्राप्त सिद्धि से दुश्मन से वैर साधने, बदला लेने की प्रेरणा और संकल्प की पृष्ठभूमि में किया जाता है तो यह बुरी बात है। ऐसा तप 'तामसिक' है और इससे तमोगुण ही बढ़ता है। ऐसे तपस्वी में मूढ़ता बढ़ती है, प्रमाद और घमंड बढ़ता है। वह ईर्ष्या-द्वेष, ममता-आसक्ति को नहीं छोड़ पाता। ऐसा तप योगसिद्धि के लिए किसी काम का नहीं होता। कर्मों का नाश इससे नहीं हो सकता। ऐसा तपस्वी तो सामान्य मनुष्य से भी गया-गुजरा है, क्योंकि उसने अपनी शक्ति को केन्द्रित किया है—अकल्याण के लिए, अमंगल के लिए। ऐसी तपस्या किस काम की, जो तमस् की मात्रा ही बढ़ावे।

४७. राजस तप

सत्कार मान पूजार्थं तपोदम्भेन चैव यत्।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम्॥

'सत्कार, मान और पूजा के लिए और अन्य किसी स्वार्थ की पूर्ति के लिए भी स्वभाव से या पाखण्डों से जो तप किया जाता है, वह अनिश्चित एवं क्षणिक फल वाला 'राजस तप' कहा जाता है। मन की किसी कामना की पूर्ति के लिए जब व्रत, उपवास आदि किया जाता है तो इस अनुष्ठान की अवधि में शरीर से या मन से जो तप बनता है वह रजोगुण की वृद्धि करता है। लौकिक वैभवों की प्राप्ति के लिए प्रायः लोग ऐसा तप करते हैं, नाना प्रकार के कष्ट झेलते हैं और चाहते हैं कि तपस्या पूरी होने पर उन्हें इष्ट से आकांक्षा पूर्ण करने के लिए वरदान मिले। पुत्र के लिए, धन के लिए, सत्ता के लिए, आरोग्य के लिए और अपने भविष्य की उज्ज्वलता के लिए लोग संकल्प करते हैं और उसकी सिद्धि के लिए तन-मन को तपाते हैं।

बहुत लोग स्वयं के लिए तपस्वी के रूप में मान अर्जित करना चाहते हैं। समाज में सत्कार पाना एवं पूजा करवाने की कामना रखते

हैं। किसी सामाजिक आवश्यकता को भी ध्यान में रखकर, अपनी माँगों के लिए लोग अनशन आदि करते रहे हैं। यह सब अपनी छवि को त्यागपूर्ण और तपमयी दिखाने के लिए किया जाता है, ताकि लोग आकृष्ट होकर आवें और मान-सम्मान दें, चढ़ावा दें। यह 'राजस तप' है, रजोगुण-वृद्धि के लिए है।

४८. मानसिक तप

मनः प्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भाव संशुद्धिरित्येतत् तपो मानसमुच्यते॥

मन की प्रसन्नता, सौम्यता (शान्तभाव), भगवच्चिन्तन करने का स्वभाव, मंन का निग्रह और अन्तःकरण के भावों की सर्वथा परिशुद्धि—ये सब 'मानस तप' कहलाते हैं। विभिन्न विषम परिस्थितियों में भी अवसाद और दुःख को मन पर हावी नहीं होने देकर, सदा प्रसन्न रहना बड़ी तपस्या है। मन तो अपनी प्रकृति के अनुकूल और प्रतिकूल बातों के उपस्थित होते ही तद्नुसार हर्ष-शोक में डूब जाता है। उसके अनुकूल कुछ हो गया, कुछ प्राप्त हो गया तो प्रसन्न हो जाता है और चेहरा खिल उठता है। जैसे ही इच्छा के अनुसार काम नहीं हुआ, फल प्राप्त नहीं हुआ तो बेचारे पर पहाड़ टूट पड़ता है—चेहरे पर अन्धेरा छा जाता है। अतः विषयासक्त मन 'क्षणे रुष्टा, क्षणे तुष्टा' बना रहता है। इस मल को दूर करने के लिए सदा प्रसन्न रहने का अभ्यास करना पड़ता है। तन का कष्ट मन को कष्ट न पहुँचाये, संसार की ममता कम हो और भगवान् में गहरी आस्था हो तो प्रफुल्लता बनाये रखने का अभ्यास हो जाता है। यह मन का तप है, मानसिक तप है।

मन से तप करने की पाँच सिद्धियाँ या फल हैं—१. सदा प्रसन्न रहना, २. प्रशान्त होना, ३. स्वभाववश भगवान् के नाम-गुण-लीला-धाम का चिन्तन करना, ४. मन का निग्रह करना और ५. चित्त की शुद्धि करना। एक-एक उद्देश्य के लिए नाना प्रकार से तप करना पड़ता है। कोई सदा सत्य ही बोले, असत्य न बोले तो भी उसे कष्ट उठाना पड़ सकता है, क्योंकि उसके सत्य बोलने से जिन लोगों का अहित होता है, वे उसे झूठ बोलने पर विवश करना चाहते हैं और नाना प्रकार की यातना देते हैं। उस यातना को सहकर भी वह 'सत्य' बोलता है तो इससे उसे संतोष होता है—कर्त्तव्यपालन का संतोष। इसी प्रकार जीवन की हर घड़ी वस्तुतः तपस्या ही है। जो साधक प्रत्येक पल सावधान नहीं रहता, सदैव अपने विवेक को जाग्रत नहीं रखता, वह तपस्या नहीं कर सकता। उसका कष्ट सहना व्यर्थ है, क्योंकि आसक्तियों एवं विषयों का मोहक रूप कब उसे डस लेगा, यह कहना कठिन है।

सत्त्व की वृद्धि के लिए, मन को शुद्ध करने के लिए और प्रभुभक्ति प्राप्त करने के लिए जो तप किया जाता है, वह 'सात्त्विक तप' है। दैवी सम्पदाओं को प्राप्त करने के क्रम में जो प्रयत्न किया जाता है, वही सात्त्विक है। कीर्तन वाणी का तप है, भगवान् और भक्तों का चरित्र सुनना, श्रवण का तप है। सर्वत्र सर्वव्यापक प्रभु को देखने का अभ्यास, नेत्रों एवं मन का तप है। भगवान् की ओर बढ़ाया गया हर चरण तपस्या है।

मन सदैव सुखी हो तो प्राणी प्रसन्न रहेगा। सुख का मूल संतोष है। जिसके मन में संतोष है, वहाँ तृष्णा नहीं रह सकती और तृष्णा का नहीं रहना ही, सुखी जीवन का रहस्य है।

४९. गुरु-तत्त्व

साधना में गुरु का निर्देश अच्छा होता है। गुरु में भगवद्बुद्धि होनी आवश्यक है। यह सम्पूर्ण समर्पण भाव से ही सम्भव है। गुरु-तत्त्व की कृपा से लोक और परलोक दोनों ही प्राप्त हो सकते हैं। योगी की सहजावस्था भी गुरु-कृपा साध्य है—

दुर्लभो विषयत्यागो दुर्लभं तत्त्वदर्शनम्।
दुर्लभो सहजावस्था सद्गुरोः करुणा विना॥

(हठयोग प्रदीपिका ४।९)

शास्त्रों में गुरु-तत्त्व को ईश्वर-तत्त्व से भी बढ़कर बताया गया है, परन्तु शिष्य के साधन और अधिकार के अनुसार ही गुरु-कृपा की उपलब्धि होती है। गुरु-तत्त्व और भगवत्-तत्त्व एक ही तत्त्व के दो रूप हैं। भगवत्-तत्व ऐश्वर्यमय है तथा गुरु-तत्त्व साधनमय है। गुरु-तत्त्व असीम दया और करुणा का सागर है। गुरु-कृपा अहैतुकी है, इसलिए उसकी शक्ति अचिन्त्य है। यह भगवान् की ही गुरुभावमयी प्रेम-लीला है कि उनके नियति-क्रम का भी बोध हो जाता है। शास्त्रों के रूप में भी भागवती गुरु-शक्ति का ही प्राकट्य है।

सद्गुरु की प्राप्ति प्रयत्न साध्य नहीं है। जन्म-जन्म के संस्कारों से ही गुरु की प्राप्ति होती है।

गुरु-तत्त्व आकाश की भाँति सर्वत्र विद्यमान है, क्योंकि परमतत्त्व और गुरु-तत्त्व में कोई भेद नहीं है। गुरु भगवत्स्वरूप है। उनके दर्शन, स्पर्श अथवा शब्द मात्र से ही तत्त्वज्ञान हो सकता है।

गुरु-तत्त्व की सम्पूर्ण शक्ति गुरु-मंत्र में निहित है। गुरु-प्रदत्त बीज-मंत्र शिष्य के हृदय में अनन्त प्रकाश का प्रज्ज्वलन कर देता है, परन्तु यह शिष्य की योग्यता पर ही निर्भर है। यों तो सभी मंत्र प्रणव के स्वरूप हैं, परन्तु गुरु-मंत्र एक अलौकिक शक्ति से परिपूर्ण होता है, जिससे विशुद्ध प्रणवरूपा ध्वनि निर्गत होती है और अधिकारी को चैतन्य-स्वरूप में प्रतिष्ठित कर देती है।

वास्तव में यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड शब्द का ही विलास है। गुरुमंत्र शब्दों का स्वरूप शुद्ध और सात्त्विक होता है, जो चिन्मय है। उससे मलिन शब्दविकार स्वतः ही नष्ट हो जाते हैं।

चिन्मय मंत्र चित्-शक्ति का ही केन्द्र होता है जिससे विशुद्ध चैतन्य प्रवाहित होता है। गुरु-मंत्र का उद्देश्य मानव-मन को अन्तर्मुक्त कर देना तथा उसे चित्तशुद्धि की उपलब्धि कराना है। यों तो ब्रह्म-तत्त्व सर्वत्र व्याप्त है, परन्तु साक्षात्कार के लिए गुरु-मंत्र अपेक्षित है। जिस प्रकार काष्ठ में निहित अग्नि का साक्षात्कार संघर्षण से होता है, उसी प्रकार मन्त्र द्वारा हृदय से ब्रह्माग्नि का साक्षात्कार होता है।

५०. कर्त्तव्यनिष्ठा साधना है

जो व्यक्ति जिस कार्य में लगा हुआ है, उस कार्य को समुचित ढंग से सम्पादन करना ही उसका 'कर्त्तव्य' है और जो अपने कर्त्तव्य का तत्परता और उत्सुकता के साथ शुद्ध मन से पालन करता है, उसको 'कर्त्तव्यनिष्ठ' कहते हैं। कर्त्तव्यनिष्ठ होना, महत्त्वपूर्ण गुण है। इससे आत्मा में बल मिलता है और मनुष्य निर्भय होकर बड़ा-से-बड़ा काम सुगमता से सम्पन्न कर लेता है। इस प्रकार कर्त्तव्यनिष्ठा और निर्भयता भी उन्हीं को मिलती है जो चरित्रवान् हैं। अतएव कर्त्तव्यनिष्ठ और निर्भय बनने के लिए प्रथम सोपान सच्चरित्रता है।

सच्चरित्र व्यक्ति ही उन्नतिशील होता है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में सच्चरित्रता की अत्यन्त आवश्यकता है। सच्चरित्र व्यक्ति ही जीवन के लब्ध पदार्थों का उचित उपयोग और उपभोग कर सकता है। जो सच्चरित्र नहीं है, एक-एक कर उसके जीवन के समस्त लब्ध पदार्थ हाथ से निकल जाते हैं और जब उसकी आँखें खुलती हैं, तब पछताने के अतिरिक्त कुछ हाथ नहीं लगता। इसलिए समय रहते ही चेत जाना चाहिए। सत्संगति के द्वारा, धार्मिक ग्रन्थों के अवलोकन के द्वारा एवं महापुरुष तथा सन्तों के चरित्रों के पठन-पाठन-मनन द्वारा चरित्र-निर्माण करना चाहिए। सत्संग और सदाचार चरित्र-निर्माण के लिए आवश्यक है। आजकल लोग सच्चारित्र होने के स्थान पर धनवान बनने में अधिक रुचि रखते हैं। धनवान् होना कोई बुरी बात नहीं है, किन्तु धन भी चरित्रवान व्यक्ति के हाथों में ही शोभा पाता है अन्यथा यह दोनों का विनाश करता है। धनवान् बनने से कहीं अधिक श्रेयस्कर चरित्रवान् बनना है।

कर्त्तव्यनिष्ठ और निर्भय बनने का दूसरा सोपान है—परमात्मा में सुदृढ़ एवं सम्पूर्ण विश्वास। भगवान् की कृपा एवं इच्छा के बिना एक तिनका भी नहीं डोलता और वे सदैव जीव पर अपनी करुणा बरसाते रहते हैं। इस जीवन का परम लक्ष्य प्रभु की प्राप्ति है और यह शरीर इसी उपलब्धि के निमित्त प्रभु ने कृपापूर्वक प्रदान किया है। प्रत्येक काज रामकाज ही है। अतः पूरी निष्ठा, लगन, उत्साह एवं शक्ति से उस कार्य को पूरा करना प्रभु की सेवा ही है। ऐसी धारणा के कारण मनुष्य भगवान् के सान्निध्य का अनुभव करता है और सदैव प्रभु-स्मरण से कार्य में उत्साह बना रहता है। जब सारे कर्मों का उत्तरदायित्व उन महान् प्रभु पर आ जाता है तो फिर मनुष्य को भय किसका?

भगवान् ने स्वयं गीता में अर्जुन को उपदेश देते हुए कहा है—

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशी र्निममो भूत्वा युध्यस्व विगत ज्वरः॥

अर्थात् हे अर्जुन! अपने सम्पूर्ण कर्मों को मुझमें समर्पण कर दो और आशारहित, ममतारहित और संतापरहित होकर युद्ध करो, कर्म करो। कर्मशील बनने की यह दृढ़ नींव है कि काम करते समय भगवान् में दृढ़ विश्वास रहे।

महाबली हनुमान जी सम्भवतः लंका नहीं जा सकते थे, यदि वे अपने हृदय में भगवान् का ध्यान नहीं करते—

प्रविसि नगर कीजे सब काजा। हृदय राखि कोसलपुर राजा॥

भगवान् के श्रीचरणों में दृढ़ विश्वास एवं श्रद्धा, कर्त्तव्यनिष्ठ व्यक्ति को निर्भय बनाती है तथा वह अडिग भाव से भगवत्पूजा के रूप में अपना कर्म करता है। कर्मसम्पादन इसी भाव से करो।

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

(गीता १८।४६)

जिस परमेश्वर से सम्पूर्ण प्राणियों की उत्पत्ति हुई है और जिससे यह समस्त जगत् व्याप्त है, उस परमेश्वर की अपने स्वाभाविक कर्मों द्वारा पूजा करके मनुष्य परमसिद्धि को प्राप्त हो जाता है।

कर्त्तव्यनिष्ठा का तीसरा सोपान है—मानापमान या स्तुतिनिन्दा की उपेक्षा करना। कर्त्तव्य-कर्म करने में बहुत-से लोग मान-सम्मान करते हैं, प्रशंसा करते हैं तो बहुत-से लोग निन्दा और तिरस्कार भी करते हैं। मानापमान और निन्दा-स्तुति ये सभी कर्त्तव्य-कर्म से डिगाने वाले होते हैं। अतएव कर्त्तव्यनिष्ठ व्यक्ति को एकनिष्ठ भाव से अपना काम करते रहना चाहिए और स्तुति-निन्दा की ओर से आँखें मूँद लेनी चाहिए।

प्रतिष्ठां शूकरी विष्ठा गौरवं क्षुद्ररौरवम्।
अतिमानं सुरापानं तस्मादेतत् त्रयं त्यजेत्॥

सम्मान सूअर की विष्ठा के समान, गौरव को रौरव नरक के सदृश और अतिमान को सुरापान के तुल्य मानकर कर्त्तव्यनिष्ठ व्यक्ति तीनों का त्याग कर देता है। ये विषतुल्य हैं और कर्त्तव्यपालन में बाधा उत्पन्न करते हैं।

कर्त्तव्यनिष्ठा के लिए अन्तिम सोपान है—प्रसन्नता। कर्त्तव्यपालन में अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थितियाँ उत्पन्न होती ही हैं। अनुकूल परिस्थिति से कर्त्तव्यशील व्यक्ति न तो हर्षित होता है और न प्रतिकूल परिस्थिति के कारण हताश और चिन्तित ही होता है। परिस्थितियाँ तो समयानुसार परिवर्तित होती रहती हैं, किन्तु प्रत्येक परिस्थिति में कर्त्तव्य-कर्म की धारा सदा एक समान चलती रहनी चाहिए। प्रतिकूल परिस्थितियों से विवश होकर कर्त्तव्य-कर्म का त्याग करना कदापि उचित नहीं है। कर्त्तव्यनिष्ठ व्यक्ति तो प्रतिकूल परिस्थितियों को भी कर्त्तव्य-साधन में अनुकूल बना लेते हैं। यह केवल मन की प्रसन्नता से ही सम्भव है। सदा प्रसन्न रहना, हर परिस्थिति को हँसते-मुस्कुराते सहना कर्त्तव्यनिष्ठा की कसौटी है। संसार में जो भी महापुरुष हुए हैं, वे सभी जहाँ चरित्रवान् और निष्ठावान् रहे हैं, वहीं प्रसन्नचित्त और हँसमुख भी। **'सब रोगों की एक दवाई, हँसना सीखो मेरे भाई।'**

अतएव प्रत्येक व्यक्ति चाहे वह किसी भी पद पर क्यों न हो, अपने पद के अनुकूल कर्म करते हुए उसे चरित्रवान् बनना चाहिए। अपने कर्म में निन्दा-स्तुति की चिन्ता किये बिना प्रसन्नचित्त होकर प्रभु-स्मरण के साथ निर्भयता-पूर्वक दत्त-चित्त हो, कर्म में लगे रहना चाहिए। यही कर्म की या कर्त्तव्यनिष्ठा की मर्यादा है।

अपने कर्त्तव्य-कर्म का तत्परतापूर्वक प्रसन्नता के साथ पालन करना उच्चकोटि की साधना है। अपनी पूरी क्षमता, मेधा एवं योग्यता के साथ सिद्धि-असिद्धि की चिन्ता बिना किये कर्त्तव्यपालन में संलग्न रहना ही धर्म है—

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।

और—

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्॥

(गीता १८।५६)

कर्त्तव्यनिष्ठ व्यक्ति भगवान् के आश्रित होकर रहे तो ऐसे व्यक्ति के लिए कुछ भी अलभ्य नहीं है, क्योंकि उस पर भगवान् की असीम कृपा सदैव बनी रहती है। अतएव मानव के लिए जो **'नियत कर्म'** हैं, **'स्वभावजं कर्म'** हैं उन सारे शास्त्र-विहित कर्मों को सम्पादित करते रहो। भगवान् को जो मन अर्पित नहीं है, वह कर्तृत्वभाव के अहंकार से ग्रस्त होकर संकटों से घिर जाता है। आदेश है भगवान् का—**'चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः, बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सतत भव।'** (गीता १८।५७); क्योंकि जो अपना चित्त प्रभु चिन्तन में संलग्न रखता है वह भगवत्कृपा पाकर सारे संकटों को पार कर जाते हैं, अहंकारवश अगर भगवान् से विमुख रहा जाय तो विनाश निश्चित् है।

५१. अयोध्या और काशी भीतर हैं

कोई अयोध्या में या काशी में रहकर भी मांस-मदिरा खाता-पीता हो, तो फिर वहाँ का रहना कोई रहना नहीं हुआ। मछुए गंगा की धारा में नाव पर घूमते हैं, किन्तु वह गंगा-सेवन करना नहीं कहाता; क्योंकि उनका उद्देश्य होता है मछली मारना। वैराग्य और आध्यात्मिक चिन्तन के भाव से ही तीर्थों में रहने का महत्त्व है। अयोध्या और काशी तो तुम्हारे शरीर में ही हैं। जहाँ राम हैं, वहीं अयोध्या है, वहीं काशी है। हृदय में प्रभु का निवास है। सभी जीवों में प्रभु ही हैं। सर्वत्र परमेश्वर ही व्याप्त हैं। अतः तुम्हारे भीतर ही अयोध्या है, तुम्हारे भीतर ही काशी है। सभी धाम, सभी तीर्थ इस शरीररूपी देव-मन्दिर में ही हैं। अपने को बाहर से, संसार से समेटो और अपने अन्तर्जगत में दृष्टि गड़ाओ तो इन सारे तीर्थों के दर्शन वहीं हो जायं।

परमात्मा न तो अयोध्या या काशी में रहने से मिलते हैं, न गंगा-सेवन से, न वन में या भूमि के भीतर रहने से और न फलाहार से। यदि भूमि खोदकर रहने से परमात्मा मिलते तो चूहे, साँप आदि अनेक जीव-जन्तुओं का उद्धार हो जाता। इसी प्रकार केवल फल खाकर जीने वाले अनेक पक्षी भी भगवान् का साक्षात्कार कर लेते। परमात्मा घर-गृहस्थी त्यागने से भी नहीं मिलते। बहुत-से ऐसे सन्त हुए हैं जिन्होंने गृहस्थाश्रम में रहकर ही भगवत्प्राप्ति की है। सच पूछो तो गृहस्थ और विरक्त में यही अन्तर है कि गृहस्थ स्त्रीयुक्त होता है और विरक्त स्त्रीयुक्त नहीं होता। स्त्री को त्याग देने मात्र से कोई कल्याण सिद्ध नहीं होता। परमात्मा तो केवल प्रेम से मिलते हैं। यदि उनके लिए उत्कट अनुराग नहीं हुआ तो विरक्ति मिथ्या है। परमात्मा से यदि मिलना चाहो तो अपने-आपको प्रेम की लहरों में प्लावित कर लो। भगवान् भाव के भूखे हैं, प्रेम के वश में हैं—**'प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना।'**

५२. क्लेशों का अन्त कैसे हो ?

भगवान् सर्वत्र हैं और वे किसी एक व्यक्ति, एक धर्म या एक सम्प्रदाय के नहीं हैं। सभी का उन पर अधिकार है। भगवान् बिना भेद-भाव के अपनी कृपा-वर्षा निरन्तर करते हैं, किन्तु वर्षा के समय भी यदि अपना लोटा औंधा कर रख दो तो क्या उसमें जल भरेगा? भगवत्कृपा पाने के लिए अपने पात्र को सीधा रखो। यह पात्रता, यह दिव्यता प्राप्त करने के लिए ही साधना की जाती है। पिता की सम्पदा पर तो सभी बेटों का हक होता है, उन्हें मिलता भी है, किन्तु क्या पागल बेटे के लिए ऐसा ही हक समाज मानता है? तो भगवान् को पाने के लिए अपना पागलपन छोड़ो—संसार और उसके पदार्थ नाशवान् हैं, रोज नष्ट होते हैं, फिर भी कोई उन्हें नित्य मानकर, शाश्वत मानकर कलेजे से लगाये फिरे तो क्या उसे पागल नहीं कहेंगे? सभी पागल हो, भ्रान्ति के शिकार हो और यही कारण है कि राग-द्वेष से आच्छादित मन प्रभु की सतत प्रवाहित कृपा-धारा में अवगाहन नहीं कर पाता।

भगवान् तो सम्पूर्ण जगत् के परमहितैषी सुहृद् आत्मा हैं। यह अपना है और यह पराया—इस प्रकार की कोई भ्रान्ति उनमें नहीं है, फिर भी जो सदा उन्हें स्मरण करते हैं उनके हृदय में वे आकर बैठ जाते हैं। उनकी विभूति और छवि वहाँ प्रकट हो जाती है। जैसे ही यह अनुभूति होती है, जीव की क्लेश-परम्परा सदा के लिए मिट जाती है, जीव मुक्त हो जाता है। भगवान् का स्मरण और उनका दर्शन ही समस्त क्लेशों का अन्त कर देता है।

कलियुग में भगवत्कृपा प्राप्त करने के लिए एकमात्र सहज साधन है—भजन-कीर्तन। भगवन्नाम लो, उनको समर्पित करके ही कर्म करो। भगवान् की शरण में चले जाने के बाद कोई क्लेश नहीं बचता। सर्वत्र आनन्द-ही-आनन्द है। जिन्होंने आदि जगत् की समस्त वस्तुओं का एवं शरीर का भी, मन से परित्याग कर दिया है, उन्हें तो भगवान् अपने-आपको ही दे डालते हैं।

'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तां तथैव भजाम्यहम्।' (गीता) यदि जीव अपने स्वरूप को भुलाकर प्रभु का स्मरण ही नहीं करता तो फिर प्रभु उसका स्मरण कैसे करें और जब तक प्रभु स्मरण नहीं करेंगे—क्लेश कैसे मिटेगा?

श्रीमद्भागवत में शुकदेव जी ने कहा है—'जैसे भक्त भगवान् की भक्ति करते हैं, वैसे भगवान् भी भक्तों की भक्ति करते हैं'।

५३. दुःखों से कैसे बचें ?

सच पूछो तो दुःख-सुख हैं ही नहीं। ये तो मन की ही सृष्टि हैं। जो अच्छा लगे काल-प्रवाह उसके अनुकूल हुआ, तो सुख का आभास होता है; इच्छाओं की पूर्ति नहीं होने पर दुःख होता है। इच्छाएँ तो अनन्त हैं। उनमें से अधिकांश की पूर्ति नहीं होती तो संसार में दुःख-ही-दुःख दिखने लगता है। यदि इच्छाएँ ही कम हों तो उनकी पूर्ति का प्रतिशत भी अधिक होगा अर्थात् सुखानुभूति अधिक होगी। दुःख अतृप्त वासनाओं के कारण जन्म लेता है, अतः वासनाओं से छुटकारा पाना ही वस्तुतः दुःख की निवृत्ति है। कामनाएँ न होंगी तो राग-द्वेष भी नहीं होगा। चित्त की प्रफुल्लता और शान्ति निरन्तर बनी रहेगी।

इसके लिए अपने स्वभाव और मन को ही तैयार करना अच्छा है कि वह वासना-संसार नहीं रचे। मनुष्य को चाहिए कि अपने से अधिक गुणवान को देखकर प्रसन्न हो, जो कम गुण वाला हो उस पर दया करे और जो अपने समान गुण वाला हो उससे मैत्री करे। इस प्रकार करने से दुःख का भाव ही नहीं होगा। ईर्ष्या-द्वेष की आग चित्त को कभी उद्विग्न नहीं करेगी और संयमित मन प्रारब्धवश आये भोगों को हँस-हँसकर काट लेगा। यह तो बाहर का व्यवहार हुआ। भीतर इस भावना को प्रबल बनावे। वह शुद्ध-बुद्ध प्रकाशस्वरूप आत्मा है जिसे सुख-दुःख नहीं व्यापते और अपने हृदय में भगवान् की मंगलमयी मूर्ति का निरंतर ध्यान करता रहे तथा भावावेश की स्थिति में तुरन्त प्रभु के चरणों में पहुँचकर कीर्तन की स्वर-लहरी में मन को लगा देने का अभ्यास करे तो कष्ट के दंश धीरे-धीरे कोमल होकर समाप्त हो जायंगे। सच्चा सुख-सच्चा आनन्द तो केवल भगवान् के चरणों में है। आनन्द की गंगा वहीं से निकलती है।

अपने कर्म एवं गुणों के कारण चित्त में नाना प्रकार की वासनाओं को लेकर जीवन-यात्रा करने वाले जीव के द्वारा कर्त्तव्य भाव के साथ किये गये सारे कर्म बन्धन होते हैं और उन कर्मों के अच्छे-बुरे फलों के भोग के रूप में जीव को सुख-दुःख भोगना पड़ता है। जब तक कर्मफल का पूरी तरह क्षय नहीं हो जाता, जीव का कल्याण नहीं है।

बंधन तो बंधन है—बिना खोले गाँठ तो खुलती नहीं। आधिदैविक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक—इन तीन प्रकार के दुःखों में से किसी भी एक से जीव का सर्वथा छुटकारा नहीं हो सकता। कर्मफल-भोग से छुटकारा पाने का उपाय कर्म नहीं हो सकता, क्योंकि दोनों अविद्याजनित हैं। जब तक अज्ञान-निद्रा नहीं टूटती और ज्ञान का प्रकाश नहीं फैलता,

जन्म-मरण रूपी संसार में मुक्ति नहीं मिलती। दुःखों से आत्यन्तिक निवृत्ति केवल आत्मज्ञान से होती है और आत्मज्ञान प्राप्त करने का सहज उपाय भक्ति है। गुरुस्वरूप श्रीहरि के चरणों में सुदृढ़ अनुराग होने पर ही, उनकी कृपा से दुःखों से पूर्ण निवृत्ति सम्भव है। कर्म वही है, जिससे भगवान् को प्रसन्नता मिले और विद्या (ज्ञान) भी वही है, जिससे श्रीहरि में चित्त लगे। अतः अपने समस्त कर्मों को भगवान् को अर्पित करके उनकी शरण में पहुँच जाना ही, दुःख निवृत्ति का एकमात्र उपाय है। कर्म-बन्धन से छुटकारा पाने के लिए सम्पूर्ण विश्व को भगवद्रूप देखते हुए सर्वतोभावेन श्रीहरि का स्मरण, चिन्तन और भजन करो। इसी से कल्याण होगा।

इस संसार में विषय-तृष्णा से जो व्याकुलता होती है, उसी का नाम दुःख है और दुःख का अभाव हो जाना ही सुख है। सुख से बार-बार दुःख ही उत्पन्न होता है। जन्म-मरण का यह चक्कर सुख-दुःख का ही रूप है। मन की वासना जब पूरी होती है तो वह सुख मानता है और जब पूरी नहीं होती तो दुःखी होता है। तृष्णारहित हो जाना ही दुःख-सुख से निवृत्त हो जाना है।

मनुष्य जब किसी पदार्थ में ममत्व कर लेता है तो वही उसके दुःख का कारण बन जाता है। वह विषयों में जिस-जिस में आसक्ति को त्यागता जाता है, उस-उससे सुख की वृद्धि होती जाती है। कामनाओं का त्याग ही सुख है।

जब सद्गुरु की कृपा से मनुष्य भगवत्कृपा पाकर द्वन्द्वातीत हो जाता है अर्थात् भय-अभय, सत्य-असत्य, हर्ष-शोक, प्रिय-अप्रिय आदि सभी द्वन्द्वों का परित्याग कर देता है तो शांतचित्त हो जाता है। उस समय उसकी समस्त वृत्तियाँ भगवदाकार हो जाती हैं।

५४. प्रतिशोध-भावना

बदले की भावना ठीक नहीं। इससे सर्वनाश होता है। **'हानि लाभ, जीवनु मरनु, यश-अपयश विधि हाथ।'** कोई हितैषी न तो तुम्हें सुख पहुँचा सकता है न कोई शत्रु दुःख। वस्तुतः आत्मा का न तो कोई मित्र होता है और न वैरी।

जितने संचय हैं उनका पर्यवसान तो ऐसे ही होता है। यहाँ कोई चीज किसी की नहीं है—जो शरीर मिला है, वह भी नहीं। जब शरीर तक, तुम्हारा नहीं तो फिर शोक क्यों? सुख-दुःख, लाभ-हानि, प्रीति-अप्रीति और जीवन-मरण विधि के हाथ में है—वह अपना हिसाब जाने-समझे। यह जीवन-सत्य अनुभव करने का है। भय, राग, मोह और अभिमान त्याग दो और धैर्य तथा बुद्धि को अपनाओ, इससे मन को शान्ति होगी और वह बदले की बात नहीं सोचेगा। भगवान् जो करते हैं, भले के लिए ही करते हैं—यह सोचकर निर्भय हो जाओ।

सभी धर्म मानसिक होते हैं अर्थात् मन से किये जाते हैं। मन से किया गया धर्म ही वास्तविक है। मन से सभी प्राणियों का कल्याण सोचते रहना ही उत्तम है। मूढ़ मनुष्य पाप करके भूल जाते हैं, किन्तु वह पाप उसके पीछे लगा रहता है। अगर लोगों ने तुम्हारा धन छीन लिया है तो मोहवश उनका अहित सोचकर, अपना ही अहित करोगे।

५५. देशसेवा

शरीर में सात धातु होते हैं, उसमें वीर्य सबसे महत्त्वपूर्ण है। तू उस वीर्य का ही वैरी है। जो वीर्य का वैरी है—वह मुर्दा है—**'मरण बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दु धारणात्।'** मुर्दा स्वयं ही अपनी सेवा नहीं कर सकता तो वह देश की सेवा क्या करेगा! देश की सेवा, समाज की सेवा और प्राणिमात्र की सेवा बड़ी उत्तम बात है। सेवा और प्रेम ऐसे सद्गुण हैं जो यदि निःस्वार्थ भाव से किये जायं तो भगवान् के निकट पहुँचा दें; किन्तु स्वार्थ के उद्देश्य से किये गये सेवाकार्य अन्य सामान्य गोरख-धन्धों की ही भाँति हैं। लोग जनता की सेवा की बात करते हैं और दृष्टि रहती है नेता बनकर सत्ता प्राप्त कर, शक्ति के द्वारा स्वार्थपूर्ति की। सेवा कोई कमाई करने का धंधा नहीं है। पहले स्वयं सप्राण बनो, जीवन धारण करो, अपने में सच्चरित्रता और सदाचार की सुगन्ध लाओ, संयम करना सीखो तो सेवा करो। सेवा बड़ी साधना का कार्य है। देश-सेवा तो कहीं भी की जा सकती है—जहाँ भी रहो, जिस किसी धन्धे से जीविका चलाओ, यदि निष्ठापूर्वक अपने कर्त्तव्य का पालन करो और प्रभु का स्मरण बनाये रखो तो इससे बड़ी देश-सेवा और क्या होगी?

जिस प्रकार जीवन के प्रत्येक कार्य में, चाहे वह लौकिक हो अथवा पारलौकिक, श्रद्धा और विश्वास की आवश्यकता है, उसी प्रकार जीवन की आनन्दमय अनुभूति, भक्ति में भी, श्रद्धा और विश्वास अनिवार्य है। प्रत्येक आचरण के लिए श्रद्धाभाव आवश्यक है, क्योंकि जब तक किसी कार्य में निष्ठा नहीं होगी, हम उसमें प्रवृत्त नहीं हो सकते। जीवन की थोड़ी-बहुत विफलताओं से विचलित होने वाले व्यक्ति, सफलता प्राप्त नहीं कर सकते। इसलिए किसी भी कार्य में प्रवृत्त होने के पश्चात् सफलता प्राप्ति के लिए विश्वास अनिवार्य है। यह श्रद्धा और विश्वास ही भक्ति के मूलतत्त्व हैं।

सेवा भक्ति का ही अंग है। जिसके प्रति मन में श्रद्धा नहीं होगी और जिसके प्रति विश्वास नहीं होगा—उसकी सेवा भी एकाग्र मन से नहीं कर सकते। यह सारी प्रकृति तो भगवान् का ही रूप है। देश की धरती भी उन्हीं का प्रतीक है। देश-भक्ति भी भगवद्भक्ति की ही भाँति एक पवित्र एवं निष्ठापेक्षी भाव है। यह भी पूजा है। जब तक मन निःस्वार्थ नहीं है, वासनारहित नहीं है, देश की सेवा का व्रत नहीं निभता। सेवाकार्य श्रद्धा, विश्वास, निष्ठा और आस्था से ही सम्पन्न होता है।

५६. संकल्पों की शुद्धि सत्संग द्वारा

यदि हम चाहें कि हमारे मन के संकल्प शुद्ध हों और हमारे मन का सम्बन्ध भगवान् के नाम-रूप-लीला-धाम से हो, तो इसके लिए सबसे सरल उपाय है सत्संग करना। सत्संगति का अर्थ होता है—सन्त-महात्माओं के सम्पर्क में रहना। सन्त-महात्मा बतलाते हैं कि भगवन्नाम वाणी और कान का विषय है। अपनी वाणी और श्रवणेन्द्रिय को भगवान् के नाम-गुण-कीर्तन में और उनकी महिमा के श्रवण में लगा देना चाहिए। अपने नेत्रों से भगवान् के रूप तथा लीलाओं का दर्शन करना चाहिए और पैरों द्वारा भगवान् के शास्त्रोक्त धामों की यात्रा करनी चाहिए। इस प्रकार अपनी सारी इन्द्रियों का सम्बन्ध भगवान् से जोड़, अपने अन्यान्य जीवनोपयोगी कर्मों को करते हुए जो शेष क्षण हमें सुविधापूर्वक उपलब्ध हों, वे भगवान् की पुण्यस्मृति में ही लगते रहें।

मन जितना ही नाम-जप-कीर्तन और लीला-श्रवण में रमा रहेगा, शनैः-शनैः उसके संकल्प शुद्ध होते जायंगे और उसकी गम्भीरता बढ़ती जायगी। गीता, रामायण एवं अन्य शास्त्रीय पुस्तकों के स्वाध्याय से भी मन शुभ में प्रवृत्त हो जाता है। भगवान् के नाम-गुण का श्रवण-मनन-कीर्तन-जप तथा भगवद्विषयक सद्ग्रन्थों का पठन-पाठन इत्यादि

बार-बार करने का ही नाम 'अभ्यास' है। ऐसा अभ्यास करना ही एकमात्र सरल उपाय है, जिससे मन के संकल्प सदा शुभ और वासना रहित होंगे और संसार में रहते हुए भी हम जीवन-मुक्त हो जायंगे।

यह जीव संकल्प रूप है और संकल्प से ही मूर्तिमान् होता है—**'च संकल्पपुरुषः संकल्पान्मूर्तिमास्ति'** (योगवासिष्ठ २।२६।५)।

मन के संकल्पों पर नियंत्रण का अभ्यास करना ही पड़ता है। मन जब शुभ संकल्प लेने लगे, तो उसके कार्य भी शुभ होंगे और उससे सबके हित का ही काम सम्पन्न होगा। यदि प्राणी स्नेह से, द्वेष से अथवा भय से भी जान-बूझकर एकाग्र रूप से अपना मन किसी में लगा दे तो उसे उसी वस्तु का स्वरूप प्राप्त हो जाता है—वह तद्रूप हो जाता है। मन को बार-बार भगवच्चिन्तन में नियोजित करने से धीरे-धीरे भगवत्सत्ता उसे अपने अनुरूप ढालने लगती है और मन के संकल्प स्वतः शुभ एवं शुद्ध होने लगते हैं। इसीलिए मैं बार-बार कहता हूँ कि दूसरों के लिए कभी भी अमंगल की कामना मत करो और स्वधर्म पालन से पवित्र हुए अपने हृदय में श्री पुरुषोत्तम भगवान् को बैठा लो। अन्य सबका चिन्तन छोड़कर उन्हीं का भजन करो। इसी में मंगल है, इसी में कल्याण है।

५७. मेरे-तेरे नाते अनेक

ईश्वर और जीव के सम्बन्ध पर हमारे शास्त्रों में जो कुछ लिखा गया है, उसके अध्ययन से मनुष्य का यही कर्त्तव्य समझ में आता है कि वे भगवान् से प्रतिपल जुड़े रहें, पलभर के लिए भी उनसे विलग या विमुख नहीं हों। भगवान् के साथ हमारा जितना ही निकट का सम्बन्ध होगा, उनकी करुणा-दया हमें उतनी ही मात्रा में प्राप्त होती जायगी। भगवान् के साथ हम जो सम्बन्ध चाहें बना सकते हैं—**'मेरे तेरे नाते अनेक मानिये जों भावे।'**

भगवान् के साथ सम्बन्ध बनाने की प्रक्रिया को उपासना कहते हैं—उपासना का अर्थ है—'उप' अर्थात् निकट और 'आसन' अर्थात् स्थित होना, बैठना। भगवान् के निकट होने का नाम ही है उपासना। उपासना कभी व्यर्थ नहीं जाती। हम जो कुछ भी करेंगे, उसका फल पायेंगे। भगवान् ने जो आश्वासन जीवों को दे रखा है, वह बड़ा ही विचारणीय है—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम॥

'जो एक बार मेरी शरण में आकर यह कह देता है कि भगवान्, मैं तुम्हारा हूँ और मुझसे रक्षा की प्रार्थना करता है, उसे मैं सभी प्राणियों से अभय कर देता हूँ—यह मेरा व्रत है।'

तो सर्वशक्तिमान् और सर्वव्यापक परमात्मा की शरण में जाना और उसके साथ अपनी आत्मीयता को प्रकट करना तथा उनसे अपनी रक्षा की प्रार्थना करना—ये तीन कर्त्तव्य हैं मनुष्य के। इसके बाद उसे अभय मिल जाता है और निर्भय हो गया वह, तब सब कुछ सिद्ध कर लेता है वह। हमारा कर्त्तव्य यही है कि दयापूर्ण और आनन्ददायी ईश्वरीय विधान के अन्तर्गत रहते हुए निश्छल अन्तःकरण से प्रभु को पुकारें, उनका सदैव स्मरण करते हुए शास्त्र-विहित कर्म करें।

अपना अहंकार ही माया है। यह भी प्रभु की लीला ही समझो। हम लोग शुद्ध अन्तःकरण से भगवान् के सम्मुख होते ही नहीं। हम सच्चे मन से उन्हें स्मरण भी नहीं करते। गाढ़ी विपदा में जब सारा संसार और अपने कहलाने वाले लोग धोखा दे जाते हैं, तब भले उनकी याद आवे—**'निर्बल के बल राम।'** और **'हारे को हरि राम।'** भगवान् कदापि यह नहीं चाहते कि जीव केवल उन्हें ही याद करता रहे और अपना कर्त्तव्य-कर्म नहीं करे। वे तो यही चाहते कि अपने सारे कर्त्तव्य-कर्मों को हम यथावत् सुन्दर ढंग से करते रहें, उनमें कोई त्रुटि नहीं हो, साथ ही उनका स्मरण भी करते रहें। गीता में यही उपदेश है भगवान् का—'युद्ध करो, अपना कर्त्तव्य-कर्म करो और मेरा स्मरण भी करो।'

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

(गीता ९।२७)

जो कुछ तुम करो, जो कुछ भी खाओ, जो भी हवन करो, जो कुछ दो या जो कुछ अपने धर्म के लिए कष्ट सहन करो अर्थात् तप करो, वह सब-का-सब मुझे (भगवान् को) अर्पित कर दो।

भगवान् के बताये इस विधि से चलने पर ईश्वरार्पण बुद्धि से सारे कार्य होते ही रहेंगे, वे सफल भी होंगे और भगवान् के साथ हमारा सान्निध्य भी बना रहेगा। भगवान् से निकटता प्राप्त करने की कितनी सरल साधना है। इसके लिए न कोई तप करना है, न जप करना है, न कोई अनुष्ठान करना है—बस, केवल इतना ही करना है कि हम जो कुछ करें, ईश्वरार्पण बुद्धि से करें। जो ऐसा करता है, वही साधु-महात्मा और सन्त है। भगवान् केवल साधु-संतों के नहीं हैं—उन्हें सामान्य-से-सामान्य व्यक्ति भी, यहाँ तक कि दुराचारी और पतित भी प्रेम से प्राप्त कर सकता है। केवल उसमें कर्त्तव्य-कर्म करने के समय ईश्वरार्पण-बुद्धि होनी चाहिए। चलना-घूमना, उठना-बैठना, सोना-जागना—सब कुछ प्रभु की पूजा के भाव से ही करो। इसी से कल्याण होगा।

५८. सूर्यनारायण की वन्दना

सूर्य साक्षात् परमात्मस्वरूप हैं। शास्त्र एक कण्ठ से इनकी वन्दना, अर्चना (पूजा-पाठ) को मानव का परम कर्त्तव्य बतलाते हैं।

सूर्य से ही सभी ऋतुएँ होती हैं। सूर्य को ही कालचक्र का प्रणेता और प्रणवरूप माना गया है। सूर्य से ही सभी जीव उत्पन्न होते हैं। विभिन्न योनियों में जो प्राणी हैं, उनका आविर्भाव, प्रेरणा, पोषण आदि सब सूर्य से ही होते हैं और अन्त में सभी जीव उन्हीं में विलीन हो जाते हैं। उनकी उपासना करनी चाहिए। उनका नित्य जपनीय गायत्री मन्त्र है—

'ॐ आदित्याय विद्महे सहस्रकिरणाय धीमहि तन्नः सूर्यः प्रचोदयात्'

सूर्य का एक नाम आदित्य भी है। आदित्य से अग्नि, जल, वायु, आकाश तथा भूमि की उत्पत्ति हुई है। देवताओं की उत्पत्ति भी सूर्य से ही मानी गयी है। सूर्य आदि ब्रह्म हैं। सूर्य ही हमारे शरीर में मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार आदि के रूप में व्याप्त हैं। हमारी पाँचों ज्ञानेन्द्रियों और पाँचों कर्मेन्द्रियों को भी वे ही प्रभावित करने वाले हैं। इस प्रकार सूर्य को सभी दृष्टियों से बहुत महत्त्व प्राप्त है।

प्राणिमात्र के हेतु, सृष्टिकर्ता तथा प्रत्यक्ष देवता होने के कारण वे 'सूर्यब्रह्म' हैं और सबके लिए उपास्य हैं। जप करने के लिए सूर्य का एक विशेष अष्टाक्षर मन्त्र महत्त्वपूर्ण है—**'ॐ घृणिः सूर्य आदित्योम्।'**

प्रतिदिन इस मन्त्र के जप से महाव्याधि से पीड़ित व्यक्ति भी मुक्त हो जाता है और वह सभी दोषों से विरहित होकर अन्त में भगवान् से जा मिलता है।

५९. निष्काम कर्म या निष्काम भक्ति

निष्काम कर्म का साधारण अर्थ है—बिना किसी इच्छा या कामना के सत्कर्म करना। कर्म करते रहना तो वैसे हमारा स्वाभाविक धर्म है, लेकिन उसमें भी कर्म या भक्ति बिना किसी इच्छा के हो, कोई चाह विशेष न हो, तो अति सुन्दर। भक्त भगवान् से प्रार्थना करता है कि मेरी कोई इच्छा या चाहना नहीं है; मेरे सारे कर्म आप ही के इच्छा अधीन हैं और केवल आपकी ही इच्छा पर निर्भर हैं, मैं कुछ नहीं चाहता। इस प्रकार भगवान् के प्रति अपने कर्म का समर्पण हो तो इसमें जो सुख मिलता है, वह वर्णनातीत है। भक्त उसका मन-वाणी से वर्णन नहीं कर सकता, वह सुख ब्रह्म का आनन्द या ब्रह्मानन्द कहा गया है। इस आनन्द का वर्णन उपनिषद् में इस प्रकार है—

यतो वाचो निर्वतन्ते अप्राप्य मनसा सह।
आनन्दो ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्च न॥

इस मन्त्र का अभिप्राय यह है कि जिस ब्रह्मानन्द को मन सहित सम्पूर्ण इन्द्रियाँ न पाकर लौट आती हैं, मन और वाणी की शक्ति नहीं कि उसका वर्णन कर सके। इस वर्णनातीत ब्रह्मानन्द को वही प्राप्त कर सकता है, जो निष्काम कर्म या निष्काम भक्ति करता है। ऐसा महापुरुष परब्रह्म परमात्मा के उस आनन्द को जानता और समझता है और कभी भी किसी से भय नहीं खाता। निष्काम भक्ति या कर्म की यही महत्ता है।

यह तो उपनिषद् युग की बात हुई जो अति प्राचीन है, लेकिन इस आधुनिक युग में भी इसका वर्णन गोस्वामी तुलसीदास ने रामचरित मानस में इन शब्दों में किया है—

वचन कर्म मन मोरि गति भजन करहिं निःकाम।
तिन्हके हृदय कमल महुँ करउँ सदा विश्राम॥
(रामच०मा० ३।१६)

अपने संवाद के क्रम में श्रीराम अपने प्रिय अनुज लक्ष्मण के प्रति कहते हैं कि सकल कामना त्याग कर जो मन और कर्म से मेरी शरण में हैं, उनके हृदय में मेरा निवास होता है—

मम गुन गावत पुलक सरीरा। गदगद गिरा नयन बह नीरा॥
काम आदि मद दंभ न जाके। तात निरंतर बस मैं ताके॥

जो भक्तजन मेरा गुणानुवाद करते हुए पुलकायमान हो जाता है, जिसके मन में काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि का विचार नहीं है, उसी निष्काम भक्त के हृदय में मेरा निवास होता है।

मन ते सकल वासना भागी। केवल राम चरन लव लागी।
करम बचन मन राउर चेरा। राम करहु तेहि कें उर डेरा॥
जाहि न चाहिअ कबहुँ कछु तुम्ह सन सहज सनेहु।
बसहु निरंतर तासु मन सो राउर निज गेहु॥

इस प्रकार अनेक प्रसंगों में निष्कामता की बड़ी महिमा गायी गयी है। निष्काम बनने के लिए हमारे सभी कर्म भगवान् को समर्पित होने चाहिए और बदले में कोई चाहना या वासना नहीं होनी चाहिए।

अब प्रभु कृपा करहु एहि भाँती। सब तजि भजनु करौं दिन राती॥

काम-वासना ही मार्ग में एक बाधा उपस्थित करती है, जिसका सदा त्याग करना चाहिए, तभी हमारे कर्म एवं भक्ति निष्काम होंगे। निष्काम कर्म तथा भक्ति की महिमा अद्वितीय है।

६०. ईश्वरार्पण बुद्धि

ईश्वर को कहीं अन्यत्र खोजने की आवश्यकता नहीं, वह दयामय तेरे भीतर ही विराजमान है, परन्तु मन के शुद्ध हुए बिना वह दिखाई नहीं देता।

निर्मल मन जन सो मोहि पावा।

शुद्ध मन से ही उसका दर्शन-स्पर्शन होता है, जैसे दर्पण के शुद्ध हुए बिना मुख का प्रतिबिम्ब उसमें स्पष्ट नहीं दिखता, उसी प्रकार जब तक मनरूपी दर्पण शुद्ध नहीं होता, तब तक ईश्वर का दर्शन नहीं हो सकता। इस पर जन्म-जन्मान्तरों का मल बैठा है, जो सहज छूटने वाला नहीं है। गोस्वामीजी ने कहा है—

मोहजनित मल लाग विविध बिधि कोटिहु जतन न जाई।
जनम जनम अभ्यास निरत चित अधिक अधिक लपटाई॥

मन की वृत्ति सर्वदा बाह्य विषयों की ओर दौड़ती रहती है। यदि वृत्ति अपना स्वभाव छोड़कर अन्तर्मुखी हो जाय और चंचलता छोड़ दे तो उस आनन्द सिंधु ईश्वर के दर्शन में विलम्ब नहीं होगा। इसके वास्ते प्रपन्न होने की आवश्यकता है। प्रपन्न भगवान् के चरणों में आत्म-समर्पण कर देता है, उसके तन-मन-धन सब भगवान् के हो जाते हैं। उसका एक ही कर्त्तव्य रह जाता है—भगवत्कैंकर्य। भगवान् के कैंकर्य से वह एक क्षण भी अपने को अलग नहीं रख सकता। श्री यामुनाचार्य जी ने कहा है—

न देहं न प्राणान्न च सुखमशेषभिलषितम्।
न चात्मानं नान्यत्किमपि तव शेषत्वविभवावत्॥
बहिर्भूतं नाथ क्षणमपि सहे यातु शतधा।
विनाशं तत्सत्यं मधुमथन विज्ञापनमिदम्॥

'प्रपन्न का जीवन भगवान् को समर्पित होता है, अतः उसके सारे कर्म—कायिक, वाचिक, मानसिक—भगवत्कैंकर्य ही हो जाते हैं। जो कुछ वह करता है भगवान् की सेवा समझ कर ही करता है। भगवान् की आज्ञा से तथा कर्त्तव्य की प्रेरणा से वह कर्म करता है, स्वार्थ तथा वासना से नहीं। अपकर्म वह कर ही नहीं सकता तथा अशुद्ध एवं अपवित्र भोजन उसके लिए सर्वथा त्याज्य हो जाता है। वह जो कुछ करेगा और जो कुछ खायेगा, सब कुछ भगवान् को अर्पित होगा। भगवान् ने स्वयं कहा है—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥
(गीता ९।२७)

इस प्रकार कर्ममात्र को ईश्वर की सेवा समझ कर करने से चित्त-वृत्ति का निरोध हो जाता है। भगवदाकार वृत्ति हो जाती है, जिससे सर्वत्र परमात्मा का दर्शन होता है। अतः मन को एकाग्र तथा सावधान करके परमात्मा की सेवा की भावना से सभी कार्य करने चाहिए। ब्रह्म तो पास से भी पास है, वह तो अपनी आत्मा ही है, कहीं से ब्रह्म को लाना नहीं है, मन को ही ब्रह्ममय बनाना है।

६१. भक्ति के साधन

मोक्ष का श्रेष्ठ तथा सुलभ साधन भक्तियोग है। श्रीनारायण का आधार और भक्तियोग का आश्रय पाकर हृदय निष्काम हो जाता है और बुद्धि स्थिर हो जाती है। अन्य सभी साधनों की अपेक्षा भक्ति का मार्ग

सरल है, परन्तु भक्तियोग में ईश्वर का तैल धारावत् सतत् अनुसंधान, चिन्तन तथा ध्यान आवश्यक है—

तन से कर्म करै विधि नाना, मन राखै जहँ कृपानिधाना।
मन ते सकल वासना भागी, केवल राम चरन लव लागी॥

वैराग्य से ही ज्ञान और भक्ति दृढ़ होती हैं, संसार के विषयों में जब तक वैराग्य नहीं आ जाता, तब तक शुद्धाभक्ति का आरम्भ नहीं हो सकता।

तुलसी जौ लौं विषय की सुधा माधुरी मीठि।
तौ लौं सुधा सहस्त्र सह राम भगति सुठि सीठि॥

भक्ति मार्ग के बाधक शत्रु हैं—काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर। इनमें काम, क्रोध और लोभ अत्यन्त प्रबल होते हैं। ये बड़े-बड़े साधनसम्पन्न पुरुष को भी क्षणभर में ही साधन-पथ से विचलित कर दुःखी बना देते हैं। इनका नाश भगवान् पर पूर्ण विश्वास होने पर भगवत्कृपा से ही होता है। भगवन्नाम का जप जैसे बने करते रहो, भगवान् का आश्रय ग्रहण करने वाला इनका नाश कर ही लेता है। इनके निराकरण के उपाय हैं भगवद्विश्वास, जो एकमात्र भजन से प्राप्त होता है। अनिच्छापूर्वक ही सही, किन्तु नाम-स्मरण का अभ्यास अवश्य करते रहो। वह भी कल्याण का साधन होता है। तुलसीदास ने निर्देश किया है—

भाय कुभाय अनख आलसहूँ। नाम जपत मंगल विसिदसहूँ॥

जब विश्वास हो जायगा कि नाम-जप से लाभ होता है, तो अनिच्छा रहने पर भी जप नहीं छूटेगा। किसी ने कहा है—

आठ मास मुख से जपै, सोलह कंठ को जाप।
बतिस हृदय में जब जपै, तन में रहै न ताप॥
तन में रहै न ताप, भक्ति का उपजै पौधा।
मन रुक जाय जहाँ अपार बल कहिये योधा॥
बहुरि आवै नाभि में ताका कहूँ विचार—
पाँच वर्ष जप नाभि में, रग-रग बोले राम।
देह जीव निज मुक्त हो, पहुँचै हरि के धाम॥

वास्तविक सुख प्राप्त करना चाहते हो तो सारे कुतर्कों का त्याग कर नाम-स्मरण में जुट जाओ। नाम-जप का अभ्यास करते-करते स्वयं नाम से प्रेम हो जायगा और प्रेम की प्रगाढ़ता आ जाने पर भगवान् स्वयं तुम्हारे समक्ष प्रकट हो जायंगे। वे तो प्रेम के भूखे हैं—'प्रेम ते प्रभु प्रगटहिं जिमि आगी', फिर तो वे करुणासागर तुम्हारे समस्त दुःखों का नाश कर सच्चा सुख प्रदान करेंगे। जब तक हृदय मंदिर में चापवाणधारी श्री राम का वास नहीं होता, तब तक लोभ-मोहादि दुष्ट दोष मानव को सताते रहते हैं, सच्ची भक्ति प्राप्त नहीं होने देते—

तब लगि हृदय बसत खल नाना। लोभ मोह मच्छर मद माना॥
जब लगि उर न बसत रघुनाथा। धरे चाप सायक कटि भाथा॥

(मानस-४।४।१)

यह संसार भयंकर वन की तरह है। इसमें पग-पग पर दुःख और संकट के काँटे बिछे हुए हैं। इसमें पग-पग पर भटकने वाले मनुष्यों के लिए एकमात्र भगवान् विष्णु की भक्ति ही सुखद आश्रय है। मनुष्यों द्वारा किये हुए भारी पाप भी विष्णुभक्ति की अग्नि में भस्मसात् हो जाते हैं।

६२. मांस-भक्षण का परित्याग

शास्त्रों ने धर्म के कई अंग बतलाये हैं, परन्तु उन सबमें प्रधानता अहिंसा की है, कारण यह तो परम धर्म है।

जो मनुष्य अपने सुख के लिए दीन प्राणियों का वध करता है, वह न तो इस लोक में ही सुखी रहता है और न परलोक में। ईश्वर ने चौरासी लक्ष जीवों की रचना की है, वे सभी परमपिता परमात्मा की संतान हैं। उनको जो कष्ट पहुँचाते हैं, मारते हैं, वे ईश्वर का कोपभाजन हो नाना प्रकार की आधि-व्याधियों से ग्रसित होकर दुःख-शोक के भागी बनते हैं—

यत्किंचित्संसारे शरीरिणां दुःखशोकभयबीजम्।
दौर्भाग्यादि समस्तं तद्धिंसा सम्भवं ज्ञेयम्॥

(ज्ञानार्णव पृ० १२०)

अर्थात् संसार में प्राणियों के दुःख, शोक और भय के मूल में जो कुछ दुर्भाग्य आदि हैं उन सबको हिंसा से ही उत्पन्न हुआ समझना चाहिए।

मांस-भक्षण करने वाले अहिंसा-धर्म का हनन करते हैं। जीवहत्या घोर पाप है, उसका फल अत्यन्त कष्टकर होता है, इसी कारण वेद भी ऐसा ही आदेश देते हैं—

स्तोमासस्तवा विचारिणि प्रतिष्ठो भन्त्यक्तुभिः।
प्रया वाजं न हेषन्तं प्रेरुमस्यस्यर्जुनिः॥

अर्थात् जो मांस खाता है वह नारकी होता है, सर्वदा दुःख में पड़ा रहता है; उसका मुख देखना भी अधर्म है। बहुत अच्छा हो कि ऐसे मांसाहारी अपराधी सदैव नारकीय स्थानों में ही पड़े रहें।

अस्ति न तस्मादोजो यो यद् विहर्व्येन।

(अथर्ववेद ७।५।४)

भगवान् की सर्वश्रेष्ठ उपासना वह है जिसमें जीव-हिंसा नहीं हो।

जो मनुष्य प्राणिमात्र को अपने ही समान सुख की कामना और दुःख की अनिच्छा करने वाला जानकर सबको समान दृष्टि से देखता है, वह महापुरुष देव-दुर्लभ ऊँची गति को प्राप्त होता है। मनु महाराज ने कहा है—

वर्षे वर्षेऽश्वमेधेन भो यजेत शतं समाः।
मांसान्नं च न खादेद्यस्तयोः पुण्यफलंसमम्॥

अर्थात् जो सौ वर्षों तक प्रतिवर्ष अश्वमेध यज्ञ करता है और जो किसी प्रकार का मांस नहीं खाता, उन दोनों का पुण्य समान होता है।

अतः भगवान् की प्रसन्नता प्राप्त करने के लिए जीवमात्र को ईश्वर का अंश जान इन्द्रियसंयम कर मांसभक्षण का सर्वभावेन परित्याग कर देना चाहिए।

६३. सुर-दुर्लभ मानव शरीर

ईश्वर की असीम कृपा है कि तुम्हें सुर-दुर्लभ मानव शरीर प्राप्त हुआ है, और भारत भूमि जैसी पावन भूमि पर तुमने जन्म लिया है, जहाँ आने को बड़े-बड़े देवी-देवता भी लालायित रहते हैं। कहा गया है—

गायन्ति देवाः किलगीतकानि धन्यास्तु ते भारतभूमिभागे।
स्वर्गापवर्गास्पद मार्ग भूते भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात्॥

भगवत्कृपा के बिना शरीर पाना दुर्लभ है। जब जीव चौरासी लाख योनियों में भ्रमण करते-करते थक जाता है, तब परमात्मा करुणार्द्र हो उसे मानव शरीर धारण करने का सुअवसर प्रदान करते हैं। गोस्वामी तुलसीदास ने कहा है—

नर तन सम नहिं कवनेहुँ देही। जीव चराचर जाँतत तेही॥
कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईश बिनु हेतु सनेही॥
नरक सरग अपवर्ग निसेनी। ग्यान बिराग भगति सुख देनी॥

मनुष्य जन्म की सार्थकता भगवत्प्राप्ति में ही है। अखिल ब्रह्माण्ड नायक इस प्रपंच के कर्ता-भर्ता और संहर्ता—की शरणागति सभी सांसारिक बाधाओं का नाश करने वाली एवं सभी सुखों एवं मंगलों की विधायिका है।

सुखी मीन जे नीर अगाधा। जिमि हरि सरन न एकउ बाधा॥

भगवच्छरणागति जीव को निर्द्वन्द्व एवं निर्भय बनाने वाली है। शरणागत सब प्रकार से निश्चित एवं निर्भय विचरण करता है। क्योंकि उसके 'योग-क्षेम' की जिम्मेदारी भगवान् अपने ऊपर ले लेते हैं। स्वयं प्रभु ने कहा है—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम॥

अनादिकाल से यह जीव श्रीनारायण से विलग हो गया है। वह जब सतत निष्ठायुक्त साधना द्वारा पुनः श्रीनारायण को प्राप्त कर लेगा, तो फिर यह जगत् नहीं रहेगा, न जीवन नाम की संज्ञा ही रहेगी, सारे शोक-दुःख समाप्त हो जायंगे। परमात्मा से भिन्न सांसारिक वस्तुओं का स्मरण ही दुःख का कारण है। जहाँ जगत् है वहीं सुख और दुःख है। जहाँ जगत् नहीं है, वहाँ तो केवल परमानन्द है। संसार की ओर उन्मुख ममता के प्रवाह को भगवान् के श्रीचरणों से जोड़ दो, इसी में कल्याण है। गोस्वामी तुलसीदास ने कहा है—

तुलसी ममता राम सौं समता सब संसार।
राग न रोष न दोष दुःख, दास भए भव पार॥
सब कर ममता ताग बटोरी। मम पद मनहिं बांधि बरडोरी॥

मनुष्य का मन प्रायः हर समय सांसारिक पदार्थों का चिन्तन करके मूल्यवान समय व्यर्थ नष्ट करता है। सांसारिक सुख और भोग विचार कर देखो कि क्या हैं? ये सब बन्धन के, मोह के, भ्रम के, अविद्या के और अविवेक के कारण हैं। संसार में रहकर संसार को छोड़ना सीखो। अपनी जीवन नौका को भगवान् के बनाये संसार में तैरने दो, तो कभी दुःख की अनुभूति नहीं होगी, कष्ट तभी होता है, जब तुम स्वनिर्मित संसार को ही सत्य मानकर उसके जल को अपनी जीवन नौका में भरने लगते हो। चिन्तन की दिशा मोड़ने के लिए नेत्र मूँदकर, बिना जिह्वा हिलाये राम नाम जपो और यह ध्यान रखो कि संसार पीछे छूट गया है, तुम श्रीनारायण के समक्ष करबद्ध खड़े हो और प्रभु की प्रेममयी दृष्टि तुम पर पड़ रही है। इस प्रकार निरन्तर अभ्यास करने से मन संसार के विषयों से हट जाता है और परमात्मा के चरणों में, भगवत्स्वरूप में, टिक जाता है।

जीवमात्र परमात्मा की प्रिय संतान हैं। भगवान् कृष्ण ने गीता में कहा है—

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता॥

परमात्मा को अपने प्रिय पुत्रों से मिलने की तीव्र इच्छा रहती है, किन्तु अभागा जीव बड़ा ही कृतघ्न है। वह प्यारे प्रभु से मिलने की इच्छा ही नहीं करता, शूकर-कूकर की भाँति सांसारिक भोगों में ही लिप्त रहा करता है।

६४. शरीर एक देव मन्दिर

भगवान् इसी प्रकार अपनी अनन्त लीलाओं और गुणों के द्वारा अपने भक्तों के अन्दर प्रकट हुआ करते हैं, जो वर्णनातीत है। सबको यह स्मरण रखना चाहिए कि जिसने भगवान् को अपने अन्दर धारण कर लिया, उसको एक-एक करके भगवान् के सभी गुण प्राप्त हो जायंगे। हमारा शरीर भी एक विचित्र देवमन्दिर है, जिसकी वास्तविक जानकारी योगियों को ही सम्भव है—

मन को मार गगन चढ़ि आई, मान सरोवर पैठि नहाई।
त्रिकुटि महल में ठाकुर द्वारा, जिसके भीतर चकमक तारा।
उजियारा है, उजियारा है, घर भीतर पंखा न्यारा है॥

मनुष्य का मन न जाने कहाँ-कहाँ छलांग मारता है, उसको यह पता नहीं होता कि उसके अन्दर में ही भगवान् स्थित हैं। नाड़ियों द्वारा वायु का संचार हो रहा है, जो एक निराला पंखा है, और इन सबके बीच भगवान् का विश्रामस्थान है जिसका बोध योग के द्वारा ही सुलभ है। मानव शरीर में मुख्य नाड़ियाँ चौदह हैं जो स्थान पर रहकर अपना कार्य कर रही हैं। इनका शोधन योगी लोग ही कर सकते हैं, जो अपने मन-मन्दिर को शुद्ध और पवित्र कर उसमें भगवान् को आसीन रखते हैं। उन नाड़ियों के नाम हैं—सुषुम्णा, पिङ्गला, इड़ा, सरस्वती, पूषा, वरुणा, हस्ति-जिह्वा, यशस्विनी, अलम्बुदा, कुहू, विश्वोदरा, पयस्विनी, शंखिनी और गान्धारी।

इन चौदह नाड़ियों में सुषुम्णा, इड़ा और पिङ्गला—ये तीन नाड़ियाँ सबसे प्रधान हैं और इनमें भी सुषम्णा सर्वश्रेष्ठ है। पीठ ये मध्यभाग में जो मेरुदण्ड है, जहाँ हड्डियों का विशेष समूह है, वहाँ सुषुम्णा नाड़ी का स्थान है। सुषुम्णा के वाम भाग में इड़ा और दक्षिण भाग में पिङ्गला का स्थान है और नाभि के दो अंगुल नीचे कुण्डलिनी का स्थान है। हर नाड़ी के अलग-अलग देवता हैं, जो शरीर में इन नाड़ियों के साथ निवास करते हैं। मुख्य जो तीन नाड़ियाँ हैं—सुषुम्णा, इड़ा और पिङ्गला—उनमें सुषुम्णा के देवता हैं भगवान् विष्णु, शिव इड़ा के भगवान् हैं और पिङ्गला के भगवान् हैं ब्रह्मा। विष्णु और शिव मानव शरीर में सदा निवास कर रहे हैं। इड़ा नाड़ी में चन्द्रमा संचरण करते हैं और पिङ्गला नाड़ी में सूर्य; अर्थात् ब्रह्मा, विष्णु और महेश के साथ-साथ सूर्य और चन्द्रमा का भी समावेश शरीर में है। अतएव विशुद्ध मन से जो अपने शरीर में उस अन्तःप्रकाश स्वरूप शुद्ध परमात्मतत्त्व का साक्षात्कार करता है, वह क्या नहीं कर सकता? वह तो काल पर भी विजय प्राप्त कर लेता है।

६५. मोक्ष का हेतु

जैसे इस संघात की सारी चेष्टाएँ पंचभूत रूप ही हैं, वैसे ही सम्यक्, आत्मज्ञानी की समस्त चेष्टाएँ समाधिरूप ही हैं। जैसे वृक्ष का पका फल नीचे गिरने की इच्छा न करने पर भी अवधि प्राप्त होने पर गिर ही जाता है, वैसे ही आत्मज्ञान के प्राप्त होने पर इच्छा नहीं करने

पर भी मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है। इसके विपरीत कुएँ में पड़ा हुआ मनुष्य बहुत चेष्टा करने पर भी जैसे बाहर नहीं निकल सकता, वैसे ही अज्ञानी मनुष्य लाख इच्छा करने पर भी मोक्ष नहीं पाता। मोक्ष में आत्मज्ञान ही हेतु हैं, अतएव देहाभिमान को सम्यक् प्रकार से त्याग कर, आत्मज्ञानी हो जाने से मोक्ष की प्राप्ति होती है।

जैसे एक ही जल के तीन रूप हैं—शांत, बुलबुला और लहर, वैसे ही एक ही ईश्वर के तीन नाम हैं—ईश्वर, जीव और माया। इस प्रकार संसार के समस्त मूर्तामूर्त पदार्थों में ब्रह्म को समझना चाहिए। जैसे सोने के सभी आभूषण वास्तव में स्वर्ण ही हैं, उसी प्रकार स्थावर-जङ्गम समस्त सृष्टि ब्रह्म रूप ही है। इस प्रकार सम्यक् प्रकार से जान लेना ही आत्मज्ञान का स्वरूप है। इस आत्मज्ञान के होने पर बिना इच्छा के ही मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है।

अनन्त जन्मों के संचित बुरे कर्मों के फल से जीव के मन में वासनाएँ भरी रहती हैं। इस कारण उसे आत्म-बोध नहीं होता और देहात्म-बुद्धि दृढ़ रहती है। वासना के कारण ही जीव अपने को संसारी और दुःखी समझता है। मिथ्या संसार के भोगों के स्वप्न समान होने पर भी, उनको नित्य और सत्य समझकर मनुष्य उनकी आशा करता है और उन्हीं के पीछे दौड़ता है। वासना के अनुसार ही देह धारण कर मनुष्य, उन देहों में शुभाशुभ प्रारब्ध के अनुसार फल-भोग करता है और भोगों में उसकी वासना दृढ़ होकर उसे बार-बार कर्म की ओर प्रवृत्त करती है। संसार से निवृत्त होने की इच्छा उसे कभी नहीं होती। इसीलिए वह अनिष्ट पदार्थों में भी इष्ट मान लेता है और बार-बार एक दुःख से दूसरे दुःख में प्रवेश करता रहता है। परमार्थ-तत्त्व-रूप ब्रह्मानन्द में उसकी प्रवृत्ति नहीं होती। इसका एकमात्र कारण स्वरूप-ज्ञान का अभाव ही है। भक्ति, ज्ञान और वैराग्य न होने से अज्ञान नहीं मिटता और अन्तःकरण मलिन होने से भक्ति-ज्ञान-वैराग्य नहीं होते।

बहुत जन्मों का पुण्य संचित होता है तब सत्संग प्राप्त होता है। सत्संग के द्वारा क्या करना और क्या नहीं करना चाहिए, इस बात का ज्ञान प्राप्त होता है। इस ज्ञान से मनुष्य बुरे आचरणों को छोड़कर सदाचार में प्रवृत्त होता है। सदाचार के पालन से पापों का क्षय होता है और अन्तःकरण निर्मल होता है। तब निर्मल अन्तःकरण में सद्गुरु की कृपा प्राप्त करने की इच्छा होती है और सद्गुरु की कृपा ही सारे बन्धनों से छुड़ाने का साधन है। सद्गुरु की कृपा से कल्याण-मार्ग के सारे विघ्न नष्ट हो जाते हैं, सभी प्रकार की अनुकूलता प्राप्त होती है, हृदय की बुरी वासनाएँ और कामनाएँ नष्ट हो जाती हैं। वासनाओं के नष्ट हो जाने से हृदय में परमात्मा का आविर्भाव होता है और दृढ़ भक्ति पैदा हो जाती है, फिर वैराग्य और तत्त्वज्ञान के द्वारा मनुष्य जीवन्मुक्त हो जाता है। उसको सर्वत्र नारायण ही दिखाई पड़ते हैं, सारा जगत् उसके लिए नारायणमय हो जाता है। वह ईश्वर का साक्षात्कार करके कृतार्थ हो जाता है और मृत्यु होने पर भगवान् के पार्षद उसे भगवद्धाम को ले जाते हैं। यही भक्ति की पराकाष्ठा है।

६६. परमसुख की प्राप्ति

हमारा पंच भौतिक शरीर जड़ है। मृत्यु के अनन्तर यह स्थूल शरीर पंचभूतों में लय हो जाता है। किन्तु मृत्यु जीव का उपराम नहीं है। जड़वस्तु को सुख-दुःख का अनुभव नहीं हो सकता। आत्मिक सुख ही वास्तविक सुख है। संसार में सम्पत्तिशाली मनुष्यों की कमी नहीं है। परन्तु उनके जीवन का सम्यक् निरीक्षण करने से पता चलता है कि वैसे सम्पन्न मनुष्यों की दशा भी विपन्नतापूर्ण होती है। सांसारिक क्षणस्थायी वस्तुओं में प्रेम करने से आन्तरिक सुख कभी नहीं प्राप्त हो सकता, क्योंकि जिस वस्तु से तुम प्रेम करते हो वह अनित्य है, अनित्य का वियोग अवश्य होगा। जहाँ संयोग में सुख होता है, वहाँ उसके वियोग में दुःसह दुःख का होना अवश्यम्भावी है। जीव श्रीभगवान् के सदृश ही आनन्दजातीय है, यह ज्ञान-संसर्ग के अभाव के कारण माया से पराभूत हो जाता है। माया के कारण मोह को प्राप्त होने से जीव के स्वरूप-ज्ञान का लोप हो जाता है और माया-कल्पित उपाधि से उसका प्रगाढ़ आवेश हो जाता है। इसी कारण संसाररूपी दावानल से दग्ध होकर वह दिन-रात विषम यन्त्रणा भोगता रहता है।

परमात्म-तत्त्व का साक्षात् लक्षण यही है कि उसके ज्ञान का आविर्भाव ही परमानन्द की प्राप्ति है, वही परम पुरुषार्थ है। आत्मा के अज्ञान और दुःखातिशय की निवृत्ति का एकमात्र आधार वास्तविक ज्ञानलाभ है। अज्ञान की निवृत्ति होने से ही अपने स्वरूप का अनुभव होता है। उसी अज्ञान की निवृत्ति के साथ-साथ दुःखों की निवृत्ति तथा वास्तविक सुख की प्राप्ति होती है और तब जीव का मन सर्वदा श्रीभगवान् के नाम-रूप-गुण की लीला में लगा हुआ आनन्द-समुद्र में मग्न रहता है। वह आनन्द लौकिक आनन्द के समान क्षुद्र तथा सीमाबद्ध नहीं है, वह अलौकिक, अपरिमेय और असीम है।

जो भगवान् के प्रेमी-भक्त संत होते हैं, उनकी जिम्मेदारी भगवान् पर होती है। जिसने संत को हाथ पकड़ा दिया और जिसको संत ने स्वीकार कर लिया, उसके हाथ भगवान् ने पकड़ लिये। संत के रूप में भगवान् बोलते हैं। ऐसी अवस्था में वह जो कुछ बोलता है, उसे स्वयं भगवान् मानो अपनी डायरी में नोट कर लेते हैं और उसकी पूर्ति का सदा ध्यान रखते हैं।

संत अपने मुँह से नहीं कहता कि मैं संत हूँ, परन्तु संत का स्वभाव, उसकी क्रियाएँ, उसके आचार बराबर यह बात कहते रहते हैं। संत के पास रहने से भक्त में देवी गुण आने लगेंगे, भक्त संत को कुछ न कहे और संत भी उसे कुछ न कहे, तो भी संत का मौन व्याख्यान ही उसे तार देगा।

संत-महात्मा वस्तुतः भगवान् का स्वरूप होते हैं। यदि महात्मा और भगवान् के बीच प्राकृत जगत् का आवरण पड़ा हो तो वह महात्मा कैसे! वे तो घुल-मिलकर एकाकार हो जाते हैं।

तुम चाहे जहाँ रहो, परन्तु यदि सच्चे हृदय से भावना करो कि संत हमारे साथ हैं, हमें बुरे कामों से बचाने को सदा प्रस्तुत हैं, तो चाहे स्वयं संत को इस बात का पता न चले तथापि उनका आरक्षण परोक्ष रूप से (प्रत्यक्ष की भाँति ही) तुम्हारे पास पहुँचता है, तुम्हें सहायता पहुँचाता है, सलाह देता है तथा बुरे कर्मों और स्थितियों से बचा देता है।

सच्चे संत की शरण में जाने पर अश्रद्धा रहती ही नहीं। अतः जब तक अश्रद्धा बनी हुई है, तब तक यह समझो कि हम संत के पास तो जाते हैं पर अभी हमने उसके हाथ में लाठी पकड़वायी नहीं, अपने आपको पूर्णरूपेण उसे सौंपा नहीं। इस त्रुटि का सत्वर निराकरण ही योग्य है।

६७. शास्त्राध्ययन का बाँझपन

शास्त्रों के अध्ययन से केवल भगवान् को जानने की इच्छा जाग्रत् होती है, नहीं तो अनेक शास्त्रों का अध्ययन करने वाला कोई भी भगवान् को जान लेता है, पर ऐसी बात नहीं है शास्त्राध्ययन के साथ ही साधन-सम्पन्नता भी चाहिए।

कहा गया है कि जो केवल शब्दशास्त्र को जानता है, परन्तु साधना के द्वारा उसका रहस्य उपलब्ध करने की चेष्टा नहीं करता, उसका शास्त्र पढ़ना उसी प्रकार श्रम मात्र है जैसे बाँझ गौ, अपनी रक्षा करने वाले को केवल परिश्रम ही देती है।

इसलिए जब साधन के बिना भगवान् को जानने का कोई उपाय ही नहीं है तो फिर उन्हें जानने के लिए साधन करना ही चाहिए। साधन किये बिना अन्तःकरण का जन्म-जन्मान्तरों में संचित मल नष्ट नहीं हो सकता। मल का नाश होकर अन्तःकरण के शुद्ध हुए बिना भगवान् के सत्यस्वरूप का दर्शन नहीं होता। भगवत्स्वरूप के साक्षात्कार के बिना केवल दूसरे से सुनकर या मनमानी युक्तियों के सहारे, भगवत्स्वरूप का वास्तविक अस्तित्व समझ में नहीं आता। अतएव आत्मतत्त्व ज्ञान के लिए अथवा भगवत्स्वरूप दर्शन के लिए, सद्गुरु के उपदेशों के अधीन साधना की आवश्यकता है।

गुरु-कृपा हो तो अल्प साधना से ही अथवा मात्र उत्कट अभिलाषा से भी भगवत्-साक्षात्कार हो सकता है। अनुरागी भक्त पर सद्गुरु विशेष कृपा कर आत्म-साक्षात्कार करा देते हैं।

६८. अविद्या का आवरण

शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्श इन्हीं पाँचों को सारवस्तु मान बैठे हो। इन्द्रियों की तुष्टि ही तुम्हारा साध्य है। परन्तु उन वस्तुओं से शांति मिले तो कैसे, जिनकी प्रकृति ही अशांति की जनन की है। जिन वस्तुओं में वस्तुतः कोई आनन्द नहीं, भ्रमवश तुम उन्हीं को आनन्द का आधार मान बैठे हो।

ब्रह्म इन सभी तत्त्वों से परे होता है। योगी भी इनसे परे होता है, मैं न तो यह मंचासीन बाबा हूँ न जटाधारी महात्मा। यह जो मेरा रूप तुम देखते हो, मैं उससे भिन्न हूँ।

काँटे को फूल से नहीं निकाला जा सकता, उसके लिए समानधर्मा वस्तु की आवश्यकता होती है। जब तक तुम भ्रांत हो, मुझे तुम्हारी अविद्या हटाने के लिए तुम्हारे मस्तिष्क की कठोरता से खुदाई करनी पड़ती है। मुझे ज्ञानियों की कोई फिक्र नहीं, वे तो स्वयं मुझे ढूँढ़ लेंगे। मेरी दृष्टि में भ्रान्त वही है, जिसे आत्मस्वरूप का दर्शन नहीं हुआ और जो अपने को शरीर मात्र समझे।

तुम सभी मान-मदिरा के पीछे पागल बने फिरते हो। तुम्हें माला पहनाकर और उजले प्यालों में कुछ पिलाकर कतिपय अच्छे शब्द कह दिये जाते हैं। बस, इतने में ही तुम अपने को बहुत गौरवान्वित समझने लगते हो। ठीक सोचो तो मान मदिरा है और गौरव रौरव के समान है। इनके पीछे जो मरते हैं, उन्हें मैं पागल कहता हूँ। मन को शांत रखना कोई आसान काम नहीं। इसी मन को शांत करने के लिए ऋषि-मुनि जंगलों में जा फल-मूल खाकर तपस्या करते थे। तुम तो विषयासक्त होकर दिनभर जाने क्या-क्या खाते-पीते रहते हो, फिर तुम्हारा मन कैसे शांत रह सकता है? मन को सतत अभ्यास और वैराग्य से ही काबू में रखा जा सकता है। मन जब वश में आता है तो अपूर्व शांति मिलती है। जीव ब्रह्म नाड़ी द्वारा अष्टदल कमल के पास पहुँचता है। वहाँ एक मानसरोवर है जिसमें जीव अन्य आत्माओं के साथ अवगाहन करता है और आनन्द की सीमा नहीं रहती।

मन को मार गगन चढ़ि जायी। मान सरोवर पैठि नहायी॥

एक साथ बहुत उपदेश कर देने से लाभ नहीं होता। यदि किसी प्यासे को एक गिलास पानी दो तो उसे बड़ा प्रिय लगेगा, लेकिन यह सोचकर कि जल उसे बहुत अच्छा लगा, यदि गंगा की धारा में ही उसे डाल दो तो फल विपरीत होगा और उसके शरीर की हानि भी हो सकती है। अगर कोई जल-समाधि लेना जाने तभी उसे इस धारा में आनन्द आयेगा। ठीक यही स्थिति उपदेश के साथ भी है। ईरान के घोड़े बहुत तेज होते हैं। घोड़े को छोटी उम्र में ही एक चहारदीवारी के अन्दर रख दिया जाता है और उन्हें खूब अच्छा चारा खाने को दिया जाता है। जब वे कुछ सयाने हो जाते हैं तो उन्हें जंजीर में बाँध दिया जाता है और चहारदीवारी के बाहर तोप से आवाज की जाती है। जो घोड़े तेज होते हैं, वे एक छलाँग में तोप की ध्वनि सुनकर जंजीर तोड़कर भाग जाते हैं, किन्तु जो कुछ मंद गति के होते हैं, उन्हें समय लगता है। तोप की ध्वनि जारी रखी जाती है और वे अनेक प्रयासों के बाद अपनी जंजीरों को तोड़ पाते हैं। लेकिन जो घोड़ा बहुत ही मंद होता है, उस पर तोप के शब्दों का कोई असर ही नहीं होता।

ये पाँच तत्त्व—शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्श—ईरान की चहारदीवारी हैं, जिनके अन्दर तुम सभी हो; और महात्माओं के शब्द तोप की आवाज हैं। इन्हें सुनकर जिनका संस्कार अच्छा होता है, वे तो जंजीर को तोड़, बंधनों से परे हो जाते हैं, लेकिन कितने ऐसे भी होते हैं जो उपदेश सुनते-सुनते काल के मुख में चले जाते हैं, लेकिन उन पर असर नहीं होता।

६९. अहंकार और अविद्या का विलय

न त्याग हो न संग्रह तो उसमें शांति हैं। त्याग में भी अहंकार की लहरें होती हैं, जो मन को उद्वेलित करती हैं और इस प्रकार त्याग के आचरण में भी मन को शान्ति नहीं मिल पाती।

त्याग मन की एक वृत्ति है। शृंगाल को रुपया दो तो वह उसे नहीं लेगा, लेकिन गुड़ दो तो बड़ी रुचि से वह उसको खा लेगा। किन्तु रुपये के प्रति शृंगाल की अनासक्ति को त्याग नहीं कहते। इसी प्रकार यदि बाघ को सोने के सिंहासन पर भी बैठा दो तो आक्रोश ही प्रकट करेगा, प्रसन्नता नहीं। उसके लिए सोने-चाँदी का भला क्या मूल्य? यह तो तुम हो कि इन वस्तुओं के पीछे पड़े रहते हो और क्लेश पाते हो।

जो कुछ सत्य है वह ईश्वर भजन करना है। आज जिन देहधारियों को तुम देखते हो, उनमें कितने ऐसे हैं जो सौ वर्षों के उपरान्त भी दृष्टिगत होंगे? यह शरीर और इसके सम्बन्ध कुछ ही वर्षों के हैं, आयु समाप्त होगी और यह घट उपाधि जाती रहेगी। यदि ऐसा विचार रखो तो तुम्हें इस संसार में हानि-लाभ मालूम ही न पड़े। यह जानकर भी कि देह नाश को प्राप्त होगी, तुम्हें इतना मोह क्यों है? जो ज्ञानी होते हैं, उन्हें शरीर त्यागने का कोई दुःख नहीं होता। सच्चे ज्ञानी को जल में यदि

मगर पकड़ ले तो उस क्षण भी वह यही कहेगा कि मैं तो अजर-अमर अविनाशी हूँ, मेरा यह मानव शरीर एक दूसरे स्वरूप में मिल रहा है।

शून्य मरा अजपा मरा, सोंह हूँ मरि जाये।
सुरत निरत दोनो मरा, जीवौं कहाँ समाय॥

उपदेश करना भी एक बंधन है। यदि ऐसा सोचो कि हम और तुम एक हैं, तो फिर किसे उपदेश किया जाय। द्वैत भाव तो अविद्या के कारण है। उपदेश की उपयोगिता केवल इतनी है कि अविद्या मिट जाय और श्रोता को सच्चा तत्त्वज्ञान हो। जैसे काँटा गड़ जाय तो काँटे से उसे निकाला जा सकता है, फूल से नहीं, वैसे ही किसी की अज्ञानता दूर करने के लिए उसी प्रकृति की किसी वस्तु की आवश्यकता होती है। उपदेश की सार्थकता मात्र यही होती है। जो ज्ञानी है, वह इसे काँटा ही मानता है और समझता है, अन्ततः इसका त्याग ही विहित है।

७०. जीवन का परम लक्ष्य

भगवान् को पाना ही मनुष्य का परम उद्देश्य है। जिस प्रकार किसी मंत्री या राजा के आने के पूर्व उसके स्वागतार्थ सड़कों की सफाई की जाती है, उसी प्रकार भगवान् को यदि बुलाना हो तो यम-नियम के द्वारा हृदय की सफाई आवश्यक है।

जोतने-बोने से लेकर अन्न के संस्कार पर्यन्त समस्त क्रियाओं का मूल उद्देश्य भोजन ही है। यदि भोजन बना-बनाया आकाश से मिल जाय तो कोई जोतने-बोने आदि का परिश्रम नहीं करेगा। तीर्थ, व्रत, उपवास, सत्संग तथा यम-नियम का एकमात्र उद्देश्य भगवान् को पाना है। जिस प्रकार आकाश से बना-बनाया भोजन प्राप्त होना अकल्पनीय है, वैसे ही बिना साधना के भगवान् का मिलना भी सम्भव नहीं।

यदि किसी को मंत्री पद देकर तथोचित सुविधाओं के बीच बिठा दिया जाय, किन्तु भोजन नहीं दिया जाय तो उसे चैन नहीं मिलेगा। उसी तरह संसार के सारे भोगैश्वर्य मनुष्य के पास हों लेकिन यदि भगवान् की ओर प्रेमवृत्ति नहीं हो तो शान्ति नहीं मिल सकती है। जैसे रत्नादि से अन्न खरीदकर भोजन की उचित व्यवस्था की जा सकती है, उसी प्रकार संसार के भोग भी भगवान् को पाने की दिशा में ही विनियुक्त किये जा सकते हैं।

७१. चरित्र-निर्माण और उनके मूलतत्त्व

आये दिन धर्म के नाम पर शांति-व्यवस्था बिगड़ जाती है। इसका एकमात्र कारण होता है, लोगों के अन्दर सच्ची धर्मभावना का अभाव। उनके अन्दर अहिंसादि सच्चे धर्म का प्रभाव नहीं होता। राष्ट्रीय-सांस्कृतिक चेतना एवं वास्तविक धार्मिक भावना भी उनमें नहीं रहती। इससे राष्ट्र का चरित्र गिरता जा रहा है और देश की व्यवस्था में भारी गड़बड़ी आती जा रही है। यह स्थिति अत्यन्त चिन्तनीय है।

जहाँ मनुष्य को सभी कर्मों में धर्म को अपने आगे रखना चाहिए, वहाँ लोगों ने उसे पीछे कर दिया है। सामान्यतः धर्म का कोई भी विचार लोग नहीं रखते। शास्त्रों ने कहा है कि यदि सभी कार्य धर्म से सम्बद्ध हों तो वे ही सदाचार हो जाते हैं और यदि धर्म से विरुद्ध हों तो वे सभी दुराचार या कदाचार हो जाते हैं। यहाँ तक कहा गया है कि धर्म से हीन मनुष्य पशु के समान है—'**धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः**।' धर्म ही मानव का विशिष्ट गुण है।

धर्म का पालन न करने से महान् हानि होती है और धर्म का पालन करने से रक्षा होती है। अतएव धर्म को किसी प्रकार छोड़ना नहीं चाहिए। अन्यथा विनाश का भय है।

इस प्रकार सदाचार ही चरित्र-निर्माण है। '**आचार हीनं न पुनन्ति वेदाः**'—आचारहीन व्यक्ति को वेद भी शुद्ध नहीं कर सकते। अतएव सदाचार की विशेष महत्ता हमारे शास्त्रकारों ने बतलायी है।

धर्म का भव्य भवन धर्म की ही आधारशिला पर टिका हुआ है। मन, वाणी और कर्म में जो-जो दिव्य कर्म हैं या होते हैं, उन्हीं से धर्म का कार्य पूरा होता है। ईश्वरीय नियमों का पालन, सदाचार के नियमों का अनुष्ठान, सामाजिक शुभ व्यवहार—ये सब दिव्य कर्म हैं, जिनसे धर्म ऊपर उठता है। इसी कार्य को सरल और सुलभ करने के लिए शास्त्रकारों ने मार्ग बतलाये हैं, जिन्हें मनुष्य मात्र को आचरित करना चाहिए और अपने चरित्र में उन्हें उतारकर जीवन को सुखी-समृद्ध बनाना चाहिए।

चरित्र-निर्माण की इच्छा वाले व्यक्ति को कष्ट में धैर्य तथा व्यवहार में क्षमा चाहिए, मन को विषयों की तरफ जाने से रोकना चाहिए, अस्तेय अर्थात् अन्याय से किसी का धन हड़पना नहीं चाहिए, मिट्टी और जल से अपना शरीर शुद्ध रखना चाहिए, विषयों की तरफ जाने से नेत्रों को रोकना चाहिए तथा उसे शास्त्र का ज्ञाता, यथार्थवादी, सत्य बोलने वाला तथा अक्रोधी भी होना चाहिए। ये ही दस लक्षण धर्म के बतलाये गये हैं, जो परस्पर व्यवहार में सदाचार के मूल सोपान हैं। ऐसा जो आचरण करता है, वही विद्वान् है। उसकी जितनी भी प्रशंसा की जाय, वह थोड़ी है। सभी शास्त्र और पुराणों का यही विधान है। इसी से व्यष्टि एवं समष्टि की उन्नति संभव होगी।

जिसका आचरण श्रेष्ठ होता है, वही श्रेष्ठ पुरुष गिना जाता है। गीता में स्वयं भगवान् कृष्ण ने कहा है कि उसी के अनुसार लोक भी चलता है—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥ (३।२१)

अतःएव श्रेष्ठ बनो और अपने आचरण को दूसरों के लिए प्रमाण बना दो।

७२. शरीर क्षेत्र की महिमा

मानव-शरीर की भी महिमा विचित्र है। कितनी शक्तियाँ इसके भीतर निहित हैं, इसका लोगों को पूर्णतया बोध नहीं होता और न उन शक्तियों को प्रकट करने का उनका ध्यान ही होता है। लोग तो ऐश-आराम में अपना जीवन व्यतीत करना चाहते हैं। अपने अंदर की छुपी शक्तियों को विकसित करने का साधन करना नहीं चाहते। लोगों का कैसा और किसके साथ संसर्ग होता है, इसी पर उनकी शक्तियों का विकास निर्भर करता है। गुण और दोष एक दूसरे के संसर्ग से होते हैं—'**संसर्गजा दोषगुणा भवन्ति**।' यद्यपि इस धरती में विभिन्न प्रकार के बीज छिपे हुए रहते हैं, फिर भी प्रायः जमते वे ही हैं, जिन्हें लोग बोते हैं। ठीक यही दशा मानव-शरीर की भी है।

गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने शरीर को क्षेत्र कहा है। क्षेत्र को सामान्य भाषा में खेत कहते हैं। खेत का मतलब यह है कि जो बीज उसमें लोग बोयेंगे, वही जमेगा और फल पर्याप्त मात्रा में उत्पन्न हो, इसके लिए जैसा खेत बनाया जायगा, जैसी खाद दी जायगी, बीज भी

उसी अनुपात में पुष्ट और प्रचुर मात्रा में फल देगा। यदि खेत अच्छा नहीं बनाया जायगा और उसमें उचित खाद आदि न दी जायगी तो बीज की समुचित वृद्धि भी न होगी। ठीक वही दशा शरीर की भी है। इस शरीर के साथ जैसा संसर्ग बनाया जायगा, उसका प्रतिफल भी वैसा ही होगा। इसलिए इस बात को सदा स्मरण रखना चाहिए कि जिन-जिन लोगों से या जिस प्रकार की विचारधारा से हम प्रभावित होंगे, तदनुकूल ही हमारी अंतर्निहित शक्तियों का विकास होगा। जमीन में कोई व्यक्ति घास नहीं बोता। देख-रेख और खाद के अभाव में जैसे घास-काँटे आदि आप-से-आप उत्पन्न हो जाते हैं, वही दशा शरीर की भी समझनी चाहिए।

अच्छे बीज और अच्छे फल के लिए जिस प्रकार अच्छी जोताई और खाद की आवश्यकता है, उसी प्रकार इस शरीर द्वारा उचित गुणों के विकास और प्रसार के लिए इसके हेतु अच्छे संसर्ग एवं अच्छी साधना की व्यवस्था को जो अपनाते हैं, वे साधक कहलाते हैं। साधना क्या है? वह एक तरह के ताले की कुंजी है। मान लो कि किसी घर में ताला लगा है। जब तक ताला खोलकर हम अन्दर प्रवेश नहीं कर सकेंगे, तब तक उस घर में क्या चीज रखी है, नहीं जान सकते। घर में प्रवेश करने के लिए जैसे ताला खोलना आवश्यक है और ताला खोलने के लिए जैसे कुंजी की आवश्यकता है, वैसे ही इस शरीर के द्वारा क्या-क्या किया जा सकता है, उसको जानने के लिए अर्थात् शरीर-रूपी ताले को खोलने के लिए, साधना-रूपी कुंजी की आवश्यकता है। साधना द्वारा ही हम इस शरीर में अन्तर्निहित शक्तियों का प्रादुर्भाव कर सकते हैं और तब हम समझ सकते हैं कि परमात्मा ने अपनी कृपा द्वारा इस मानव-शरीर में हमें क्या-क्या प्रदान करके रख छोड़ा है और उन शक्तियों के द्वारा हम इस विश्वसृष्टि में क्या कर सकते हैं।

जैसे खेत के विषय में पूरी जानकारी वाले व्यक्ति को कृषक या खेतिहर कहते हैं, वैसे ही इस शरीर-रूपी क्षेत्र के पूरे जानकार को भगवान् कृष्ण ने क्षेत्रज्ञ की संज्ञा दी है। इस शरीर-रूपी क्षेत्र की महिमा की पूरी जानकारी को ही यथार्थ में ज्ञान कहते हैं—

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः॥
क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम॥

(गीता १३।१-२)

यह शरीर क्षेत्र है और इसकी विशेषताओं को समझने वाले को क्षेत्रज्ञ कहा जाता है। यह क्षेत्रज्ञ यानी जीवात्मा भी परमात्मा का ही अंश है। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का ज्ञान अर्थात् प्रकृति और पुरुष को जानना तथा समझना ही यथार्थ ज्ञान है—ऐसा भगवान् श्रीकृष्ण का निर्देश है। परन्तु प्रकृति और पुरुष के सम्बन्ध को भली-भाँति समझ लेना कोई आसान काम नहीं है। यही सबसे कठिन काम है। प्रथम यही विचार करना है कि यह जो शरीर है, वह नाशवान है, और इसके अन्दर नित्य निवास करने वाली आत्मा अजर और अमर है। इस आत्मा का न जन्म होता है और न मृत्यु अर्थात् उसका कभी नाश भी नहीं होता है। यह एक रहस्य है कि इस नित्य रहने वाली आत्मा को यह नाशवान् शरीर क्योंकर प्राप्त हुआ।

वस्तुतः यही वह अन्तर है, जिसके कारण हम मनुष्य हैं, वे परमात्मा। यदि ऐसा अन्तर न होता तो मनुष्य भी परमात्मा ही कहलाता। मनुष्य में जो जीवात्मा है, वह नित्य है और परमात्मा भी नित्य है, इसीलिए हममें और परमात्मा में अन्तर कैसा? इस गूढ़तत्त्व को समझने के लिए घड़े और आकाश की उपमा दी जाती है। बाहर का जो आकाश है, वह वृहदाकार आकाश है और घड़े के अन्दर जो आकाश का भाग है, वह वृहदाकार आकाश से सम्बन्धित है। यदि घड़ा तोड़ दिया जाय तो उसमें का आकाश जिस प्रकार वृहदाकार आकाश से जा मिलेगा, उसी प्रकार का सम्बन्ध इस शरीर का आत्मा और परमात्मा के साथ है। परमात्मा वृहदाकार आकाश के सदृश है और उसी का अंश यह जीवात्मा घटरूप शरीर में समाया हुआ है। शरीर न छूटता है और न परमात्मा से मिलन होता है। शरीर छूट जाय यानी जन्म-मरण से छुट्टी हो जाय तो मुक्ति ही हो जाय। हमारा यथार्थ सम्बन्ध उस परमात्मा से ही हो जाय किंतु, यह एक महान् कठिन काम है।

भगवान् ने अपनी लीला से इस जीवात्मा को ऐसा बाँध दिया है कि उससे निकलना इस जीवात्मा के लिए अत्यन्त दुष्कर हो गया है। इसी लीला को कोई माया, कोई प्रकृति के नाम से पुकारते हैं। परमात्मा ने हमारे चारों ओर माया का ऐसा आवरण डाल रखा है कि उससे निकलकर परमात्मा के निकट तक पहुँचना जीवात्मा के लिए असम्भव हो गया है।

७३. दुःख का निवारण

भगवान् दुःख नहीं देते। वे दुःख के निवारण का उपाय करते हैं, मनुष्य नासमझी के कारण उसे दुःख मानने लगता है। जैसे माता को अपने बालक पर सहज स्नेह होता है, उसी प्रकार भगवान् सब पर स्वभावतः स्नेह रखते हैं। बालक अपने अंगों में मल-कीचड़ लगा लेता है और धोना नहीं चाहता। दयामयी जननी, बालक के हित के लिए उसकी इच्छा के विपरीत जल से उसे नहलाती है। बालक रोता है, चिल्लाता है और समझता है कि माँ उसे दुःख दे रही है। परन्तु बात ऐसी नहीं होती। इसी प्रकार जीव भी भगवान् का बालक है, वह स्वरूप से शुद्ध है, फिर भी अज्ञानी शिशु की भाँति पाप-पंक में लिप्त हो जाता है। भगवान् माता की भाँति सहज स्नेह के कारण उसे इस पाप-ताप से मुक्त करने का यत्न करते हैं, जीव उस प्रयास का रहस्य न समझ कर भगवान् को निष्ठुर बताता है एवं दुःख देने वाला मानता है। जो घाव सारे शरीर में जहर फैलाता हो, उसे चीर डालने में ही शरीर का हित है, सहलाने में नहीं। इसी प्रकार पाप रूपी मैल को धोने के निमित्त या अघ रूपी घाव का घातक प्रभाव मिटाने के लिए जीव को दुःख रूपी उपचार स्वीकार करना चाहिए। इसमें भगवान् की परम दया मानकर प्रसन्न ही होना चाहिए।

७४. मूर्तिपूजा और सर्वव्यापकता

निराकार ईश्वर ने ही साकार जगत् का रूप धारण किया है। यह सारा जगत् ईश्वर-रूप है। अस्ति, भाति, प्रिय, नाम और रूप इन पाँच से जगत् बना है। इनमें अस्ति (सत्), भाति (चित्) और प्रिय (आनन्द)—ये तीन ब्रह्म ईश्वर हैं और नाम-रूप जगत् है। नाम और

रूप नाश होने वाले हैं, इसलिए जगत् नाशवान् कहलाता है, पर सत्-चित्-आनन्द भाव से ईश्वर सर्वत्र, सदैव विद्यमान है, सर्वव्यापक है।

सांसारिक व्यवहार में लगे हुए जीवों को ईश्वर की सर्वव्यापकता समझाने एवं उनके चित्त को एकाग्र करने के लिए ही मूर्ति पूजा है। वस्तुतः यह पत्थर या धातु की पूजा नहीं, बल्कि पत्थर में व्याप्त ईश्वर की पूजा है।

संसार के भिन्न मत-मतांतर वाले अपने-अपने खास ढंग से पूजा करते हैं। इसका मतलब यह हुआ कि वे परमात्मा की प्राप्ति का मार्ग उसे ही समझते हैं। मूर्तिपूजा से ईश्वर की सर्वव्यापकता ही सिद्ध होती है, क्योंकि यह तो हृदय शुद्ध करने का ही एक मार्ग है, हृदय पवित्र होने पर ही ज्ञान प्राप्त होता है।

ईश्वर सर्व-व्यापक है, पर उसको देखने के लिए दिव्य दृष्टि की आवश्यकता होती है। जिस प्रकार दूध में घी दिखलाई नहीं पड़ता, काठ में अग्नि दृष्टिगोचर नहीं होती, पर दधि के मंथन से घी मिलता है और काठ को रगड़ने से अग्नि उत्पन्न होती है। उसी प्रकार शुद्ध बुद्धि से सत्संग द्वारा तथा मूर्ति-पूजा, भक्ति, योग आदि साधनों से अन्तःकरण निर्मल होने पर ईश्वर-ज्ञान होता है। इसी से जीव का कल्याण होता है।

७५. यश-मान की लिप्सा

शास्त्रों ने यश और मान की लिप्सा की कठोर निन्दा की है—

प्रतिष्ठा शूकरी विष्ठा, गौरवं शुद्ध रौरवम्।
अभिमानं सुरापानं, तस्मादेतत् त्रय त्यजेत्॥

रामायण और गीता की शिक्षा के अनुसार जिसके शुद्ध आचार-विचार हों, उसी को महात्मा कहते हैं। शास्त्रों के अनुकूल जिसकी वृत्तियाँ हों अर्थात् जो धर्मशील हो उसी को गुरु मानना चाहिए। गुरु को सामान्य मनुष्य मानना, भगवान् की मूर्ति को पत्थर मानना, चरणामृत को पानी समझना, भगवान् को भोग लगे हुए अन्न को साधारण अन्न समझना और वैष्णव की जाति पूछना, सब नरक जाने के रास्ते हैं। भोग लगाये हुए अन्न को प्रसाद समझकर ही ग्रहण करना चाहिए।

माया सत्य और असत्य दोनों से परे है। माया में लिप्त होकर उसको समझने की कोशिश नहीं करे, बल्कि उससे दूर भागे। यदि कोई सर्प पेड़ से गिरे और तुम परीक्षा करने के लिए रुक जाओ कि शायद वह विषधर नहीं हो, तो इस प्रयोग में प्राण जाने का भय है। बुद्धिमानी इसी में है कि साँप के गिरने के साथ भाग खड़े होओ, इसी में सुरक्षा है।

किसी भी मनुष्य को यह दम्भ नहीं होना चाहिए कि वह हजारों-लाखों मानवों पर शासन करता है। कोई मनुष्य पर क्या शासन करेगा, जब वह अपने सहजीवी इस शरीर पर ही हुकूमत नहीं कर सकता। साधारण मनुष्य सोचता है कि यह शरीर मेरा है, इसे भोजन मैं देता हूँ, कपड़े मैं पहनाता हूँ; किन्तु यह विचार निराधार है। वे लाखों प्राणी जो इस छोटे से शरीर के घर में निवास कर रहे हैं, वे भी इसको उतना ही मानते हैं जितना कि तुम मानते हो। यदि इन प्राणियों को तुम अपने शरीर से बाहर निकल जाने का हुक्म दो तो वे बाहर नहीं जायंगे। इस प्रकार जब तुम्हारा देह तथा उनके अनगिनत प्राणधारी अधिवासी ही तुम्हारे आदेश के अधीन नहीं हैं तो कोई भी व्यक्ति किसी अन्य पर क्या हुकूमत करेगा?

मनुष्य निर्माण की आवश्यक सामग्री जुटाकर और मजदूर रखकर घर बनवाता है और उसमें रहने लगता है। उसके साथ-साथ न जाने कहाँ से कुछ दूसरे रहने वाले भी एकत्र हो जाते हैं। चूहे, छिपकली, मकड़े इत्यादि जीव-जन्तु भी घर में इस प्रकार रहने लगते हैं, जैसे तदर्थ उन्हें जन्मसिद्ध अधिकार प्राप्त हो। नक्शा तुमने तैयार कराया, ईंट-सीमेंट आदि तुमने जुटायी, किन्तु तब भी तुम यदि इनकी ताड़ना करो कि ऐसे रुचिपूर्वक बनवाये तुम्हारे भवन में क्यों आकर ये बस रहे हैं और हुक्म करो कि वे चले जायं, तो क्या वे तुम्हारा कहना मानेंगे? यदि नहीं तो मानवों पर भला कोई क्या हुकूमत करेगा?

७६. ब्रह्मर्षि उपदेश वीचि

ईश्वर सच्चिदानन्द घन है और जीव सच्चिदानन्द कण है। घन में कण को अन्तर्मुक्त करना ही मनुष्य के जीवन का उद्देश्य है, जिसकी सिद्धि संत-महात्माओं द्वारा प्रदर्शित जीवन-पद्धति के अपनाने से ही सम्भव हो सकती है।

१. स्पर्शास्पर्श और जाति-पाँति की कल्पना किसी समय जनहित में की गयी थी; किन्तु कालक्रम से उसमें कुछ ऐसी त्रुटियाँ आ गयीं, जिनके कारण जनहित अनेक अंशों में बाधित होने लगा। सन्त-महात्माओं और विद्वानों का कर्त्तव्य है कि आगत त्रुटियों का परिहार करें।

२. जिस प्रकार कागज के नोटों में देश की बड़ी-बड़ी धनराशियाँ समाहित रहती हैं, उसी प्रकार पाषाण आदि की प्रतिमाओं में, ईश्वर और देवता भी समाहित रहते हैं और जैसे निराकार बिजली पेड़ों पर गिरकर ज्वालामयी बन जाती है, उसी प्रकार निराकार ईश्वर मूर्तियों और अवतारों से सम्पृक्त होकर साकार बन जाता है।

३. जैसे भारतीय सिक्कों में लन्दन, अमेरिका आदि विदेशों में भेजा जाने वाला धन, वहाँ के प्रचलित सिक्कों में वहाँ के निवासियों को प्राप्त होता है, उसी प्रकार श्राद्ध में दिये जाने वाले पिण्डों तथा अन्यान्य वस्तुएँ विभिन्न लोकों और योनियों में विद्यमान पितरों को उनके उपयुक्त खाद्य-पेय आदि रूपों में प्राप्त होती हैं।

४. हरिजन भी ब्राह्मण आदि के समान ही भगवान् की प्रिय सन्तान हैं। भगवान् ने अपने निकट पहुँचने के लिए उनके लिए भी भजन-कीर्तन आदि का मार्ग बना रखा है।

५. द्वैत-अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत, द्वैताद्वैत आदि सभी सिद्धान्त परमेश्वर की फुलवारी के फूल हैं। इन सिद्धान्तों में बाहर से विरोध प्रतीत होने पर भी यथार्थतः कोई विरोध नहीं है, क्योंकि इन सभी मतों में वेद का प्रामाण्य, गायत्री का महत्त्व और ईश्वरप्राप्ति को जीवन का लक्ष्य माना गया है। मनुष्य को चाहिए कि वह किसी धर्म, सम्प्रदाय अथवा मतवाद की निन्दा न करे, अपितु सभी में जो समान बातें हैं, उन्हीं को प्रमुखता देकर ऐसी विचार-धारा को अपनावे, जिससे पूरी मानवजाति में पारिवारिक भावना का विकास हो और सब एक-दूसरे की भलाई को ध्यान में रखते हुए अपनी-अपनी उन्नति के लिए प्रयत्नशील हों। एक योगी के लिए सभी मनुष्य भगवान्-स्वरूप हैं।

६. दयामय प्रभु की अनन्त शक्ति, अनन्त लीला है, उनकी शक्ति और लीलाओं से यह समस्त संसार ओत-प्रोत है। संसार की सभी वस्तुओं में, सभी प्राणियों में परमात्मा विद्यमान हैं। इस प्रकार जो मनुष्य सभी प्राणियों को तथा सभी वस्तुओं को परमात्मा में देखता है तथा सभी प्राणियों में, सभी वस्तुओं में परमात्मा को स्थित देखता है, ऐसे मनुष्य की सदा सर्वत्र भगवद्दृष्टि हो जाती है। उसको सदा आनन्द-ही-आनन्द रहता है। उसको शोक-मोहादि की छाया भी स्पर्श नहीं कर सकती।

ऐसे ही लोग यथार्थ में परमात्मा की एकात्मता को जानते और समझते हैं। शुद्ध मन वह है, जिसमें कोई कामना नहीं, जो सर्वथा निष्काम हो। जो मन कामनायुक्त है, वह अशुद्ध है। जैसे अशुद्ध दर्पण में मनुष्य अपना रूप नहीं देख सकता, वैसे ही कामनायुक्त अशुद्ध मन से परमात्मा प्राप्त नहीं हो सकता। इस सकाम और निष्काम की कसौटी पर अपने मन की स्थिति की निरन्तर जाँच करनी चाहिए।

७. परमात्मा सर्वत्र हैं, इसलिए उनका जानना, देखना और समझना भी सब के लिए सुलभ है। ऐसा हमारे शास्त्र और इतिहास बतलाते हैं। परमात्मा के अनन्त नामों में एक नाम शालिग्राम है। शालिग्राम की लोग पूजा करते हैं, लेकिन उसका अर्थ नहीं जानते। शाल नाम का एक वृक्ष है–

शालेन वृक्षविशेषेण गम्यते ज्ञायते स शालिग्रामः।

अर्थात् जो शाल नामक वृक्ष के द्वारा जाना गया हो, उसका नाम शालिग्राम है। सकलायन मुनि ने इसी वृक्ष के द्वारा भगवान् की प्राप्ति की थी। सैकड़ों पाषाण की मूर्तियाँ हैं, जिनकी लोग स्थापना या पूजा करते हैं और अपने-अपने शुद्ध संकल्पों के द्वारा भगवान् की स्थिति का अनुभव करते हैं।

OO



तेजपुंज ब्रह्मर्षि श्री बाबा



कैवल्यस्वरूप—श्री बाबा



आशीष की उन्मुक्त वृष्टि करते श्री बाबा





अमितविभूति श्री बाबा की विभिन्न भाव-मुद्राएँ

सूक्ति-संचयन

१. जब तुम अपनी इन्द्रियों का ध्यान भगवान् की ओर मोड़ दोगे तभी तुम्हें उपवास का सच्चा फल प्राप्त होगा।

२. ईश्वर गुप्त है, अतः उसकी प्राप्ति के लिए जो भी साधन करो वह गुप्त रखो।

३. दयालु पुरुष संकट के समय ईश्वर की तथा अन्यान्य जीवों की दया का पात्र होता है।

४. चित्त को भगवान् में जोड़ने का नाम योग है। यहाँ जो कुछ है, परमात्मा से उत्पन्न हुआ है। परमात्मा सर्वत्र विद्यमानता, सर्वज्ञता, अनश्वरता, अनादित्व आदि गुणों वाले हैं। अन्तःकरण से उनकी भक्ति करनी है, वे सर्वस्व हैं, वे अवश्य तारेंगे—ऐसी भावना से चित्त को परमात्मा से जोड़ने का नाम योग है।

५. संसार के समस्त जीवों पर श्रीनारायण की मंगलमयी कृपा सदैव बरसती रहती है। उनकी मंगलमयता और कृपालुता पर विश्वास न होने के कारण ही मनुष्य दुःखी होकर अपने भाग्य को कोसता है और भगवान् पर दोषारोपण करता है। वे तो—'मंगल भवन अमंगल हारी' हैं।

६. सद्गुरु द्वारा बताये गये मार्ग का अनुसरण करते हुए श्रद्धापूर्वक साधना करते चलो, मन में कभी अविश्वास को स्थान मत दो, धैर्यपूर्वक लगे रहो। जो आकुलता भगवान् के मिलन की आवश्यकता पैदा करती है, वह सर्वश्रेष्ठ है, परन्तु जो अधीरता साधन में शिथिलता लाती है, उससे सदा बचने की कोशिश करो, वह विघ्न है।

७. त्रय-ताप से मुक्त होने के लिए दीनबन्धु पतितपावन भगवान् की शरण ग्रहण करो। उन्हीं को एकमात्र शरण्य, त्राणकर्ता और आश्रयदाता मानकर उनके पावन चरणों में अपने को डाल दो तथा दिन-रात अविराम भगवन्नाम जप का अभ्यास करते रहो, भगवदाश्रय और भगवन्नाम जप से पापों का समूल नाश हो जाता है। तुलसीदास ने कहा है—

बिगरी जनम अनेक की, सुधरै अबही आजु।
होई राम को नाम जपु, तुलसी तजि सुसमाजु॥

८. भगवान् के स्मरण-चिन्तन में इतना बल है कि वह अभय पद की प्राप्ति करा देता है। भगवान् का स्मरण-चिन्तन करने वाला ही सच्चा भक्त है। दुष्ट-से-दुष्ट मनुष्य भी भगवान् का स्मरण करके अपना उद्धार कर सकता है।

९. ब्रह्म-साक्षात्कार से मनुष्य के समस्त दुःख नष्ट हो जाते हैं, मुख की कान्ति दिव्य तेज से पूर्ण हो जाती है, प्राण मृत्यु के पश्चात् उत्क्रमण नहीं करते बल्कि ब्रह्म में ही लीन हो जाते हैं।

१०. चित्तरूपी नदी के दो प्रवाह हैं—एक कैवल्य के उच्च शिखर से निकलकर विवेकभूमि में बहता हुआ कल्याणसागर में जाकर मिलता है, दूसरा संसाररूपी पर्वत से निकल शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धादि विषयों की भूमि पर बहता हुआ पाप के सागर में गिरता है। जब चित्त की वृत्तियाँ विषयों में फँसती हैं तो परिणाम होता है पाप, जब वे विवेक से चलती हैं तब परिणाम होता है कल्याण।

११. जो सर्वदा भगवत्-चिन्तन में लगे रहते हैं वे ही विषय-मोह से मुक्ति पा सकते हैं, परन्तु गुरु-मुख से सुने बिना मनुष्य यह नहीं जान सकता कि ईश्वर-चिन्तन क्या है और कैसे करना चाहिए।

१२. जो मुमुक्षु साधक ईश्वरप्राप्ति हेतु सतत आराधना करता है—यह समझ कर कि वही एकमात्र प्राप्तव्य है, उसका वरण करता है—उसी साधक को ईश्वर-साक्षात्कार का लाभ मिलता है। उस मुमुक्षु साधक के निकट ईश्वर अपना रूप प्रकाशित करते हैं। भक्त के एकान्तिक शरणागति भाव और भगवत्-कृपा ही भगवत्-साक्षात्कार के उपाय हैं।

१३. भगवत्प्राप्ति के मार्ग अनेक हैं। साधक अपनी विवेक-बुद्धि के अनुसार मार्गों का अनुसरण करता है। नदी पार करने के लिए किनारे पर अनेक नौकाएँ लगी हैं। किसी भी नौका के सहारे पार उतरना है। लक्ष्य भगवत्प्राप्ति ही है। जो प्रीतिकर एवं सुलभ हो, वही मार्ग अपनाओ। संशय में पड़कर समय नष्ट मत करो।

१४. जिस प्रकार दीपक के बिना भवन अन्धकारमय हो जाता है, और गृहस्वामी के अभाव में गृहस्थी चौपट हो जाती है, उसी प्रकार ईश्वर की कृपा के बिना मनुष्य का अभ्युदय सम्भव नहीं।

१५. संसार में जीवों के लिए सबसे बड़ा दुःख जन्म-मरण का बन्धन है। जब तक आवागमन बना हुआ है, मनुष्य को जन्म, जरा, रोग, मृत्यु आदि नाना प्रकार के कष्टों से पीड़ित रहना होगा। इस बन्धन को दूर करने का एकमात्र उपाय है भक्ति द्वारा भगवान् की प्राप्ति।

१६. हृदय परमात्मा का मन्दिर है। सर्वनियामक प्रभु हृदय में प्रतिष्ठित हैं। हृदय महान् तीर्थ है, अगर उसमें कोई विकार न हो तो कुरुक्षेत्रादि तीर्थों की यात्रा करने की आवश्यकता नहीं।

१७. निराश मत होओ, भगवान् का मनोयोग से भजन करो, उनकी ओर बढ़ने की इच्छा रखने वाले को वे पास बुला लेते हैं। जगत् के किसी हेर-फेर से चकित होने की आवश्यकता नहीं। सांसारिक सुख-दुःख में पड़कर मनुष्य भगवान् से विमुख हो जाता है। वे स्वयं अभी भी विमुख नहीं होते। जो कुछ होता है, भगवान् का ही रचा होता है। नहीं चाहने पर भी वह होकर ही रहेगा। उसे टालने में कोई समर्थ नहीं। इसलिए संसार से अपनी दृष्टि सर्वथा मोड़ लेनी चाहिए और अधिक-से-अधिक भगवान् का चिन्तन करना चाहिए। माया-मोह में लिप्त रहने से कभी हँसना और कभी रोना पड़ेगा ही। प्रपंच में कम पड़ो, इसी में कल्याण है।

१८. भगवत्साक्षात्कार के लिए अन्तःकरण की शुद्धि आवश्यक है, जो लोककल्याण से ही सधेगी। मन, बुद्धि और अन्तःकरण सब पर नियंत्रण रखकर, शास्त्र मर्यादा के अनुसार जीवनयापन करते हुए दीन-दुखियों के कष्ट के निवारण के प्रयत्न से ही कालान्तर में भगवत्-साक्षात्कार हो जायगा।

१९. शास्त्र-पुराणों में और संत-महात्माओं की वाणी में जितने भी कल्याण के साधन बताए गये हैं उन सबका सार यही है कि

प्राणिमात्र को भगवत्स्वरूप समझो, सब में श्रीनारायण के दर्शन करो तथा सभी की निष्काम भाव से सेवा करो। यही सर्वधर्मसार है तथा सुख, शान्ति और भक्ति का खुला द्वार भी।

२०. भगवान् का दर्शन उसी को होता है, जिसके हृदय में भगवद्-दर्शन की उत्कट अभिलाषा रहती है और जो दर्शन के लिए व्याकुल होकर निरन्तर आर्त भाव से भगवान् को पुकारता रहता है।

२१. एकान्त या अव्याकृत भजन द्वारा मन की गति इस प्रकार बना लेनी चाहिये कि हर समय, जाने-अनजाने में भी प्रभु-स्मरण का तारतम्य वना रहे। अभ्यास करने पर जाग्रत अवस्था में ही नहीं, बल्कि निद्रावस्था में भी इसका विराम नहीं होता।

२२. मनुष्य-जन्म में ही मुक्ति का द्वार खुलता है। अतएव बड़ी सावधानी से चलना चाहिए। भोग आदि तो अन्य योनियों में भी मिलते हैं। देह की ममता ही अन्तिम और प्रधान बन्धन है।

२३. संसार में रहने से नहीं, मन को संसार में लगाने से पतन होता है। संसारासक्ति ही मानव को भव-बन्धन में जकड़ती है। संसार में रहो, पर अपने में संसार को मत रखो।

२४. उपदेश-श्रवण के समय मन सत्त्वगुण में रहता है, परन्तु बाद में चंचल हो जाता है। एकान्त में उपदेशों पर चिन्तन-मनन आवश्यक है, अन्यथा गजस्नानवत् कोई लाभ नहीं होगा।

२५. सच्चे ज्ञानी पुरुषों के लिए ब्रह्म की अपरोक्ष अनुभूति ही सिद्धि है। अन्य सिद्धियों को वे मिथ्या समझते हैं। चमत्कार दिखाना उनका उद्देश्य नहीं होता। ऐसा करके वे कठोर साधना द्वारा अर्जित शक्तियों का दुरुपयोग करना नहीं चाहते, उनके संसर्ग में चमत्कार तो स्वयं हो जाया करते हैं।

२६. अनादिकाल से माया और जीव का द्वन्द्व निरन्तर चला आ रहा है। माया अति दुस्तर है, इससे मुक्ति पाने का एकमात्र साधन सद्गुरु-शरणागति है।

२७. जिन्होंने भगवान् नारायण को आत्म-निवेदन कर दिया है, उन्हें कभी भी किसी प्रकार के क्लेश की चिन्ता नहीं रहती। श्रीहरि शरणापन्न को संसार सागर के भयंकर आवर्त से निवृत्त कर, अनिर्वचनीय आनन्द प्रदान करते हैं।

२८. परमार्थ-साधना में मन के वैराग्य की स्थिति, एक अनिवार्य कसौटी है। अविकारी मन से ही साधना की सिद्धि सम्भव है। निरन्तर सत्संग और भगवच्चिन्तन से राग का रंग घटकर मन पर वैराग्य का रंग चढ़ेगा।

२९. सच्चा वैष्णव प्रतिकूल परिस्थिति में भी श्रीनारायण की महती कृपा का अनुभव करता है और अपने मन को शांत तथा संतुष्ट रखता है।

३०. सात्त्विक आहार से सात्त्विक गुण की वृद्धि होती है और सत्त्वगुण के बढ़ने से बुद्धि स्थिर हो जाती है।

३१. मानव जब तक परदुःख कातर और विनम्र नहीं बनेगा, उसे परमात्म-दर्शन का लाभ नहीं होगा।

३२. जो अविनश्वर को बिना जाने इस संसार से प्रयाण करता है, वह दरिद्र है, और दया का पात्र है।

३३. अपने कर्त्तव्यों का पालन ही भगवान् की पूजा है। इसके चलते पाप का पहाड़ भी समाप्त हो जाता है।

३४. ईमानदारी और सच्चाई से किया गया प्रत्येक विहित कर्म आराधना है, साधना है, तपस्या है। इसी में मानव-कल्याण निहित है।

३५. अपने बल को मनुष्य जब भगवान् के बल से अलग मानता है, तो वह बल आसुरी हो जाता है।

३६. कराल भवव्याल-ग्रसित जीव को विषय मीठा और भजन कटु लगता है। तत्त्वदर्शी आत्मनिष्ठ महात्मा की जब उस पर असीम कृपा होती है तो उसे भगवन्नामामृत की मधुरता की अलौकिक सुखानुभूति होती है।

३७. बिना भगवत्साक्षात्कार के, मात्र शास्त्रोपदेश-जन्य वाक्य-ज्ञान से आत्म-परमात्म तत्त्व का बोध उसी तरह नहीं होता, जिस तरह दीपक की चर्चा मात्र से अन्धकार का नाश नहीं होता।

३८. गुरु तथा शास्त्र का काम केवल मार्ग-दर्शन करना है। अपरोक्ष ज्ञान की अनुभूति अथवा परोक्ष प्रातिभ-ज्ञान की प्राप्ति, साधना पर आश्रित होती है।

३९. सुख और दुःख सभी परमात्मा की इच्छा से होते हैं। यदि सुख और दुःख से मन में हर्ष या विषाद उत्पन्न हो तो समझो अभी साधना अपरिपक्व है।

४०. मानसिक पापों का भी परित्याग करो। मन में जमी हुई जीर्ण वासना भी दुष्कर्म कराती है।

४१. भूखों को रोटी देने में और दुःखियों के आँसू पोंछने में जितना पुण्यलाभ होता है, उतना वर्षों के जप-तप से भी नहीं होता।

४२. बिना किसी साधन-सम्पत्ति के सच्चे हृदय से श्रीनारायण के चरणाश्रित होने पर समस्त पुरुषार्थ, अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष अनायास ही प्राप्त हो जाते हैं।

४३. आत्मचिन्तन, दन्य-भाव और सद्गुरु-सेवा इन तीनों बातों को कभी मत भूलो।

४४. वास्तविक भक्ति का प्रारम्भ तब होता है, जब परमात्मा के वियोग में दुःख की अनुभूति होती है, नेत्रों में प्रेमाश्रु की बाढ़ आ जाती है और सारा संसार कंटक सदृश जान पड़ता है।

४५. अंतःकरण में राग-द्वेष न हो, वाणी में असत्य, कटुता आदि न हों और शरीर से हिंसा न हो—यही भगवान् की सच्ची आराधना है।

४६. वह कलियुग नहीं नाम-युग है। कलियुगी लोग अल्पायु, अल्पशक्ति, अल्पमति होते हैं। ज्ञान, ध्यान, योग और भक्ति के साधन उनके लिए कठिन हैं। प्रेमपूर्वक मनोयोग से भगवन्नामोच्चारण करो, इसी में अशेष कल्याण निहित है।

४७. साधक में तीन बातें आरम्भ में ही आ जानी चाहिए, तभी वह अपनी साधना में सफलता प्राप्त करता है—वे हैं श्रद्धा, तत्परता और संयतेन्द्रियता।

४८. ब्रह्मसत्ता की महत्ता को विश्व के कण-कण में व्याप्त देखने के लिए अपनी प्रकृति कोमल बनाओ।

४९. योग और हठयोग की सिद्धियों से समृद्ध हो जाने पर मानव के संकल्पों में अलौकिक, विपुल बल आ जाता है।

५०. जिस प्रकार चित्त की व्याकुल स्थिति संसार की किसी अत्यन्त प्रिय वस्तु के प्राप्त न होने पर होती है, वैसी स्थिति भगवान् के न प्राप्त होने पर हो जाय, तो भगवान् प्रकट हो जायंगे।

५१. तृप्ति भोग में नहीं त्याग में है। इन्द्रियों के आवेग का नियंत्रण ही चरम आनन्द का सोपान है।

५२. यत्र-तत्र-सर्वत्र ईश्वर को अपने ज्ञान-चक्षुओं से देखने से मानव निष्पाप बनता है।

५३. ज्ञानवान् पुरुष के लिए जगत् हरि का रूप है। वे जगत् के कण-कण में—प्रत्येक वस्तु, व्यक्ति, सम्पत्ति तथा सकल प्रकृति में श्रीनारायण के दर्शन करते हैं।

५४. जगत् के किसी भी पदार्थ से इतना स्नेह न करो कि वह प्रभु-भक्ति में बाधक बन जाय।

५५. स्नान करने से शरीर की शुद्धि, दान करने से धन की शुद्धि और ध्यान करने से मन की शुद्धि होती है।

५६. निष्ठावान् बनो, निष्ठा और श्रद्धा के बिना मोक्ष-सुख प्राप्त करना सर्वथा असम्भव है।

५७. संसार में दो ही वस्तु पतन के कारण हैं—कुसंग और अखाद्य-सेवन। कुसंग से सदा बचते रहो और भोजन सात्त्विक करो—यही कल्याण का मार्ग है।

५८. रात्रि में सोने से पूर्व संसार के व्यर्थ संकल्पों के प्रवाह का परित्याग कर प्रभुचिन्तन करते हुए अपने इष्ट के गोद में सो जाओ।

५९. महापुरुषों के सत्संग के अभाव में, उच्च श्रेणी के साधकों की अनुभव-गाथा एवं महापुरुष विरचित ग्रन्थों का अवलोकन भी सत्संग के ही समान है।

६०. ईश्वर निराहारी है, परन्तु जब भक्त का हृदय प्रेमार्द्र होता है तो भगवान् को भूख लगती है और वे भक्त द्वारा अर्पित वस्तु प्रसन्नतापूर्वक ग्रहण कर उसे मानसिक परितृप्ति प्रदान करते हैं।

६१. आज जो जगत् में चारों ओर अशान्ति का साम्राज्य है, इसका एकमात्र कारण जीव का ईश्वर को भूल जाना है।

६२. योगी कभी रोगी नहीं होता, अगर योगी रोगी है तो समझो उसने योग के रहस्य को नहीं जाना है, उसकी साधन-प्रक्रिया में भूल है।

६३. ध्यान के बिना ईश्वर की अनुभूति नहीं होती।

६४. मन में जब तक सांसारिकता बसी है, तब तक वहाँ भगवान् का शुभागमन नहीं होगा।

६५. मन शुद्ध नहीं हो तो ध्यानावस्था में भी ध्यान का आनन्द नहीं आता।

६६. जो साधक भगवन्नाम का आश्रय लेता है, उसे निश्चय ही भगवद्दर्शन का अनुपम सुख मिलता है।

६७. अपरिचित व्यक्ति अगर तुम्हें मस्तक नवा कर प्रणाम करे तो समझो वह साक्षात् भगवान् का स्वरूप है।

६८. सत्य ही धर्म, तपस्या और योग है। सत्य ही सनातन ब्रह्म है और सत्य ही सबसे श्रेष्ठ यज्ञ है। सत्य में ही सब कुछ प्रतिष्ठित है। अतः सत्य को अपना जीवन-धर्म मानो और असत्य का परित्याग करो।

६९. यद्यपि प्रभु करुणासिंधु हैं, तथापि अपने भक्तों की अवहेलना वे नहीं सह सकते। अतः कभी भी प्रभु-विभक्ति का अपराध न करो।

७०. भक्ति-रस सुधा की तरह है, जितना पीयोगे उसी अनुपात में और पीने की इच्छा होगी।

७१. मानव-जीवन का चरम लक्ष्य केवल दुःख-सुख का भोग करना नहीं, अपितु उनके बन्धन से मुक्त होना है।

७२. साधन काल में साधक जिस प्रकार के भाव और जैसी श्रद्धा से भावित होकर उपासना करता है, उसको उसी भाव के अनुसार परमात्मा की प्राप्ति होती है।

७३. भगवच्चरित में अनुराग होना, भगवद्भजन में मन लगना तथा संतों में श्रद्धा-बुद्धि होना, विशेष भगवत्कृपा के परिणाम हैं।

७४. मातृ-पितृ भक्त सुसंतान नहीं, देवता है। श्रीनारायण को प्राप्त करने के लिए उसे कोई अन्य साधना नहीं करनी पड़ती। भगवान् स्वयं आकर उसे दर्शन दे, कृतार्थ करते हैं।

७५. जिनके हृदय में मंगल के भण्डार श्रीहरि विराजमान हैं, उनके लिए लाभ और जय की प्राप्ति निश्चित है, उनकी पराजय किसी प्रकार नहीं हो सकती है।

७६. जब तक मन में अहंकार है, तब तक सच्ची भगवत्कृपा की अनुभूति नहीं हो सकती।

७७. परमात्मा का सौहार्द हमेशा साथ है, फिर कठिनाइयों से घबराना क्या? प्रभु की ही शरण गहे रहो, सभी बाधाएँ दूर हो जायंगी।

७८. संसार के करणीय कार्यों को अवश्य करो, छोड़ो मत, परन्तु उनको भगवान् का काम समझकर करो। ऐसा समझो कि भगवान् ने ही मुझे यह कार्य सौंपा है।

७९. जंगली पशु को बाँध दिया जाय तो वह नहीं रुकता, उसे धीरे-धीरे बंधन का अभ्यास कराया जाता है। एक घंटे बाँधा, फिर छोड़ा; पुनः दूसरे रोज दो घंटे बाँधा, फिर छोड़ा। इस प्रकार धीरे-धीरे वह वश में हो जाता है। उसी तरह चंचल मन को धीरे-धीरे ही वश में किया जा सकता है।

८०. पर-दोष दर्शन भगवत्प्राप्ति में महान् विघ्न है।

८१. शरीर के लिए ही आहार है, आहार के लिए शरीर नहीं।

८२. मन का शान्त रहना ही आरोग्यता का लक्षण है।

८३. सच्चे भक्त की भगवान्, भजन और गुरुवाक्य इन तीन को छोड़कर अन्य किसी में श्रद्धा नहीं होती।

८४. देवता, गुरु, मन्त्र, तीर्थ, औषधि और महात्मा श्रद्धा से फल देते हैं, तर्क से नहीं।

८५. कहनी के जैसी ही रहनी बनाओ। अगर ऐसा नहीं करते तो लोक तुम्हें ठग की संज्ञा देगा।

८६. तुम जिसे अपना मान लेते हो उसकी याद तुम्हें बराबर बनी रहती है। इसी तरह भगवान् को भी अपना मान लो तो भगवद्स्मृति सतत रहने लगेगी और यही वास्तविक सम्पत्ति है।

८७. भगवद्-स्मरण, भगवच्चिन्तन चाहे जिस भाव से किया जाय, अशेष कल्याण का हेतु होता है। लड्डू चाहे जैसे खाया जाय, वह मीठा और स्वादिष्ट ही लगेगा।

८८. हमारे अन्तःकरण में संसार की चाह है या भगवान् की, इसका विचार कर साधक को अपनी स्थिति का अनुमान लगाना चाहिए।

८९. प्रभु-चरणाश्रित भक्तों को विपत्ति आने पर धैर्य धारण करना चाहिए, क्योंकि भगवान् तो सबके रक्षक मित्र हैं—सुहृदः सर्वभूतानाम्'।
९०. मनुष्य को चाहिए कि किसी को दुःख न दे, क्योंकि दुःख देने वाले को स्वयं दुःखी होना पड़ता है, जो दिया जाता है वही वापस भी मिलता है।
९१. जो मनुष्य शरीर तथा मन का दास नहीं है, वह बड़ी आसानी से जगत् की दासता से छूट जाता है।
९२. संत के सम्मुख होने का आशय है उनके उपदेशों को हृदय में धारण करना और अपने जीवन में उतारना।
९३. साधक को लोकरञ्जन और आत्मख्याति आदि के प्रलोभनों से बचने का सदैव प्रयास करना चाहिए।
९४. वाणी को मधुर और विवेक-सम्मत बनाने के लिए क्रोध पर विजय प्राप्त करो।
९५. जो व्यक्ति वाणी का, मन का, तृष्णा का वेग सहन कर लेता है, वह महामुनि है।
९६. जो व्यक्ति कामना पूर्ति के लिए आसक्तिपूर्वक भोगों को भोगता है, वह स्वयं तो आत्मा की हिंसा करता ही है, साथ-साथ जिनके पास भोगसामग्री का अभाव है, उनकी भी हिंसा करता है।
९७. जिस प्रकार धन का लोभी, अहर्निश धन संग्रह में लगा रहता है, उसी प्रकार सावधान होकर दैवी गुणों की सम्पदा के अर्जन में दत्त-चित्त रहो।
९८. प्रतिक्षण अपने मन का निरीक्षण करो और जरा भी दोष दिखाई दे तो उसे निकालने का तत्काल प्रयास करो।
९९. जो मनुष्य सद्ग्रन्थों एवं संतों से प्राप्त उपदेशों का आदर नहीं करता, उसका पतन अवश्यम्भावी है।
१००. जिसे संसार से कुछ पाने की आशा नहीं, उसने संसार पर विजय प्राप्त कर लिया।
१०१. गायत्री माता के जप एवं ध्यान से घोर कुसंस्कार भी पवित्र हो जाते हैं, बुद्धि निर्मल हो जाती है, अतः यथासम्भव प्रतिदिन सुबह-शाम कम-से-कम एक माला (१०८ बार) अवश्य गायत्री जाप करो।
१०२. जिस घर में गरीबों का आदर होता है और न्याय द्वारा अर्जित सम्पत्ति है, वह घर वैकुण्ठ के सदृश है।
१०३. सर्वव्यापक प्रभु से कुछ छुपा सकना सम्भव नहीं। वह हमारे समस्त कर्मों के साक्षी हैं, वह तन और मन दोनों की बात जानते हैं।
१०४. संसार में कितना सुख-भोग तुम्हें प्राप्त होगा, यह ईश्वर ने पहले ही सुनिश्चित कर दिया है।
१०५. कलियुग में पाप नहीं करना ही महान् पुण्य है।
१०६. प्रत्येक कार्यारम्भ के पहले अपने अन्तःकरण में विराजमान परमात्मा की शुभ सम्मति ले लो।
१०७. विषयानन्द का परित्याग करो, तभी भजनानन्द की अनुभूति होगी।
१०८. उस मनुष्य का जीवन निरर्थक है जिसके जीवन में संयम-नियम नहीं और न प्रभु भक्ति की लगन है।
१०९. चंचल मन को स्थिर करने के लिए एकांत में सद्गुरु प्रदत्त मंत्र का जहाँ तक बन पड़े, अधिक-से-अधिक मानस जप करो।
११०. सांसारिक संबंध धोखा दे सकता है, परन्तु अगर परमात्मा पर आस्था है तो वह कभी भी विमुख न होगा।
१११. भोजन करते समय कभी जूठन मत छोड़ो, अन्न ब्रह्मरूप है। जूठन छोड़ना उसका अनादर है।
११२. केवल नाम-जप को ही भजन मत समझो। जिस किसी भी क्रिया से भगवान् की ओर आकर्षण बढ़े उनके प्रति प्रीति प्रगाढ़ हो, वह सब भजन ही है।
११३. जिसने सच्चे हृदय से ईश्वर की शरणागति गही है, उसको भूत, वर्तमान और भविष्य के सभी सन्तों की कृपा प्राप्त होती है।
११४. यौवन मनुष्य को अमर्यादित बनाता है, धर्म की मर्यादाओं का विचार नहीं रखने देता। अवस्था-दोष से मुक्त होने के लिए प्रभु की भक्ति में चित्त जोड़ो, इसी से कल्याण होगा।
११५. क्रोध ज्ञानमार्ग में विघ्न डालता है, काम कर्म-मार्ग में विघ्न डालता है, लोभ भक्ति-मार्ग में विघ्न डालता है। अतः इनका परित्याग करो।
११६. सन्तान को अगर विपुल सम्पत्ति का उत्तराधिकारी नहीं बना सके तो चिन्ता मत करो। उसे भारतीय संस्कृति-जन्य उत्तम संस्कारों का उत्तराधिकारी बनाओ।
११७. धार्मिक कृत्यों में पंचामृत और पंचगव्य की महिमा सभी इतिहास-पुराणों में वर्णित है। पंचगव्य की महिमा अनुपम है। उसके प्राशन से अस्थिगत पाप भी अग्नि में ईंधन की भाँति भस्मसात् हो जाते हैं।
११८. नित्यप्रति ब्राह्ममुहूर्त में जगकर पवित्र जल से स्नानादि क्रिया सम्पन्न कर संध्यावंदन, गायत्री-जप, भजन-पूजन और पाठादि कृत्य नियम से करो।
११९. परमात्मा के सान्निध्य का सतत अनुभव करो।
१२०. हर रोज भगवान् का ध्यान करो। ध्यान करने से ध्यानकर्ता में ईश्वर की शक्ति का समावेश होता है।
१२१. गोमाता और संतों की प्राणपण से संरक्षा और सेवा का व्रत लो।
१२२. एकादशी का व्रत अवश्य करो। यह सर्वसिद्धि एवं मुक्ति प्रदाता है तथा भगवान् विष्णु को प्रसन्न करने का एकमात्र साधन है। एक-एक करके सभी इन्द्रियाँ भगवान् को अर्पण करनी हैं, ऐसी भावना से एकादशी का व्रत रखो।
१२३. तुलसी, पीपल, बिल्व, आँवलादि पवित्र वृक्षों का दर्शन-पूजन करो।
१२४. परमात्मा के मंगलमय स्वरूप का दर्शन करते हुए प्रेम से कीर्तन करो। वाणी कीर्तन करे और आँख दर्शन करे तो मन शुद्ध और पवित्र होता है।
१२५. ध्यान, ध्याता और ध्येय में एकत्व होना आवश्यक है। ऐसा एकत्व होने पर ही परमानन्द की प्राप्ति होती है।
१२६. अपना सर्वस्व भगवान् को अर्पण करो, भगवान् भी अपना सर्वस्व तुम्हें दे देंगे।
१२७. परमात्मा की कथा बार-बार श्रवण करो, इससे प्रभु के प्रति प्रेमभाव जागेगा। कथा को प्रीतिपूर्वक श्रवण करने वाले वैष्णव यमपुरी नहीं जाते।

१२८. आज देश में आचार्यों की भरमार है। उनके मनःकल्पित मतान्तरों के चक्कर में न पड़कर सत्य सनातन धर्म का आश्रय लो।

१२९. मन को विकृत करने वाली वस्तुओं का त्याग करो। तम्बाकू, भाँग, बीड़ी, अंडा, मांस, मछली आदि मादक एवं अभक्ष्य हैं।

१३०. भगवद्वंदन प्रेम से करो। वंदना से प्रभु बंधन में आते हैं। वंदना के समय अपने समस्त अपकर्मों का स्मरण और उनके निवारणार्थ प्रार्थना करो।

१३१. लता वृक्षों की भी अपनी भाषा होती है। वे भी सोते-जागते हैं। आपस में बात करते हैं। सोयी हुई जड़ी-बूटी उतना लाभ नहीं करती, जितना जगी हुई करती है। जब उसके फूल-पत्ते पूरे खिले हुए तथा कड़े हों, तब समझो कि वनस्पति जगी हुई है।

१३२. संसार में त्यागने योग्य वस्तु क्या है? कंचन का लोभ-मोह और काम-वासना। शरीर में रखने योग्य वस्तु क्या है? वीर्य। जिस वीर्य को बाहर निकालने में इतना आनन्द है, सोचो उसको अन्दर रखने में कितना सुख होगा। वीर्य जीवन है और उसका विनाश मृत्यु।

१३३. जब प्रभु की नाव में बैठ गया तो निश्चित हो जा और अपने माथे की गठरी भी इसी नाव पर रख, मस्तक पर ही मत ढोता रह।

१३४. अनुपयोगी और वृद्धा गायों का रक्षण और पालन उसी प्रकार होना चाहिए, जिस प्रकार अशक्त और वृद्ध माता-पिता का।

१३५. यदि वाक् गायत्री है, प्राण गंगा है तो मन गौ है। मन की शुद्धि के बिना न तो कोई साधना हो सकती है और न भौतिक उपलब्धि का सुख प्राप्त हो सकता है। मनुष्य की सम्पूर्ण क्रियाओं का मूल मन है और गौ मन की शुद्धि का हेतु है।

१३६. भक्ति एक लहर है जो भगवान् के गुण, माहात्म्य एवं कृपा को स्मरण कराकर चित्त को द्रवित करती है तथा धाराप्रवाह रूप में मन की सारी वृत्तियों को भगवान् की ओर उन्मुख करती है।

१३७. लोभ से क्रोध की कुप्रवृत्ति होती है। लोभ ही से माया-मोह, अभिमान और पराश्रित जीवन में रुचि आदि दोष उपजते हैं। लोभी मनुष्य की विद्या, बुद्धि कुछ काम नहीं आती, लोभ उसे अन्धा कर देता है। क्षुधा और पिपासा लोभ की पत्नियाँ कही गयी हैं। मनुष्य मोह, लोभ और तृष्णा के वश में आशा-निराशा के कारण प्रतिदिन सुखी और दुःखी होता रहता है।

१३८. सुख का मूल संतोष है, जिसके मन में संतोष है वहाँ तृष्णा नहीं रह सकती और तृष्णा का नहीं रहना ही सुखी जीवन का मूल है।

१३९. तत्त्वज्ञान से रहित बहिर्मुख जीव काम, क्रोध, भय, द्वेष, मोह और मत्सर से युक्त हो, एक दूसरे को दूषित करते हैं। उन्हें किसी सद्गुरु का मार्ग-दर्शन होता नहीं है। इस त्रिगुणात्मक संसार में द्रव्यशुद्धि और मनःशुद्धि प्राणियों के लिए बड़ी दुर्लभ वस्तु है। साधक के हृदय में जिस समय गुरु की कृपा पर विश्वास हो जाता है उसका उसी क्षण उद्धार हो जाता है। ऐसे कम ही हैं जो गुरु का रहस्य पूरी तरह समझते हैं। गुरु, भक्त के वश में हो जाते हैं, यह निश्चित है। उनकी कृपा से सिद्धि एवं कामना सुलभ हो जाती है। भक्तों की अभिलाषा पूर्ण करना गुरु का स्वाभाविक गुण है।

१४०. बुद्धि, मन, अहंकार, पाँच कर्मेन्द्रियाँ और पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ—ये तेरह ग्रह हैं। अपनी बुद्धि आदि शुद्ध (आसक्ति शून्य) करके गुरु का ध्यान करते हुए शब्द, रूप, रस, गंध आदि महाग्रहों को शुद्ध रूप से ही ग्रहण करो। गुरु प्रसाद मानकर स्वीकार करो।

१४१. ज्ञानरूपी निर्मल जन्म तथा वैराग्यरूपी मृत्तिका से ही अविद्या एवं रागमय दुर्गन्धों का शोधन होता है।

१४२. भावशुद्धि सबसे बड़ी पवित्रता है। आलिंगन पत्नी का भी किया जाता है और पुत्री का भी, परन्तु दोनों में भाव का महान अंतर है। अतः अपने चित्त को ही शुद्ध करना चाहिए। भाव दृष्टि से जिसका अन्तःकरण अत्यन्त शुद्ध है, वही मनुष्य है।

१४३. इस भाव का बराबर स्मरण रखना चाहिए कि संसार हमसे प्रतिदिन छूटा जा रहा है।

१४४. भोजन से लेकर अन्यान्य कार्यों तक जो भी कर्म प्रतिदिन हम अपने शरीर द्वारा करते हैं, उसका सम्बन्ध भगवान् से बना रहे। गीता में श्री कृष्ण भगवान् ने कहा है—'जो कुछ कर्म तुम करो, जो खाओ, जो भी यज्ञ करो, जो कुछ दान करो और जो तप करो, वह सब मुझे अर्पण कर दो।'

१४५. भोजन की वस्तु को भी आजकल के प्रचलित कतिपय बुरे व्यवसायों से प्राप्त नहीं करना चाहिए।

१४६. कर्त्तव्यनिष्ठ व्यक्ति प्रतिकूल परिस्थिति को भी अपने अनुकूल बना लेते हैं, जो केवल मन की निर्मलता से ही सम्भव है।

१४७. अपने मन की व्यथा को मन में ही रखो। सहायता की आशा से उसे किसी से मत कहो। हर संसारी जीवन की अपनी व्यथा ही बहुत होती है, वह दूसरों के कष्ट सुनने का धैर्य नहीं रखता।

१४८. हर मनुष्य वस्तुओं को अपनी दृष्टि से देखता है और उसके लिए वस्तुओं का स्वरूप भिन्न होता है। वकील अपना मुकदमा अपने अनुकूल देखता है और उसका प्रतिपक्षी उसे दूसरी दृष्टि से देखता है। किन्तु सन्त वही है, जो हर वस्तु को समान भाव से और सार्वजनिक हित की दृष्टि से देखे, उसकी दृष्टि सीमित नहीं रहती।

१४९. बीमारी की जड़ है, भ्रम और शंका। बहुधा वह निमंत्रण देने से आती है। वर्षा में बाहर जाते समय यदि यह डर हो कि कहीं सर्दी न पकड़ ले तो सर्दी जरूर धरेगी।

१५०. इस असार संसार में भगवान् का नाम ही सार वस्तु है। सारी वासनाओं को छोड़ उन्हीं के पादारविन्द में चित्त को समर्पित भाव से नियुक्त करना चाहिए।

१५१. जो मन, बुद्धि और इन्द्रियों को नियंत्रित कर ले, वह ऐश्वर्यशाली है। धनवान् वही है, जिसे सब भाँति संतोष है। मन-बुद्धि को भगवान् में लगा दो, शान्ति और परिपूर्णता इसी से मिलेगी।

१५२. भगवान् हमारे जितने सन्निकट हैं, उस प्रकार कोई दूसरी चीज नहीं। आकाश मेघाछन्न हो तो सूर्य, चन्द्रमा और तारे उपस्थित होकर भी अगोचर रहते हैं। उसी प्रकार माया के कठिन आवरण के फलस्वरूप, भगवान् नहीं दिखायी पड़ते।

१५३. संसार असार है। इससे सबको जाना पड़ता है। सदैव इसी संसार को सम्मुख रखकर चलोगे तो दिग्भ्रष्ट होना अनिवार्य है।

१५४. सन्त परमात्मा के अरदली होते हैं। जब सन्त से भेंट हो गयी तो समझो परमात्मा से भी भेंट होगी ही।

१५५. जिन्हें तुम बहुमूल्य आभूषण कहते हो, वस्तुतः वह कंकड़-पत्थर मात्र हैं। इनके उपार्जन में दुःख है। इनको रखने में भी दुःख है और खो जाने में भी।

१५६. अपने को भगवत्प्रेम की लहरों में डाल दो। उसी क्षण परमात्मा का साक्षात्कार हो जायगा।

१५७. अपने प्रिय भक्तों के रक्षार्थ परमात्मा लीला से अवतार लेते हैं तथा प्रसंगवश नानारूप धारण करते हैं। उन्हें जो जानने की चेष्टा नहीं करता वह विवेकशून्य, किन्तु दयायोग्य है।

१५८. आस्तिक उसे नहीं कहते जो भगवान् को मानता है और उनकी पूजा करता है, बल्कि सच्चा आस्तिक वह है जो संसार के प्रत्येक कार्य करता हुआ, ऐसा अनुभव करता है कि सर्वव्यापक ईश्वर मुझे देख रहा है।

१५९. संसार के सभी भोग भी प्राप्त हों और साथ-साथ भगवान् भी मिलें, ऐसा नहीं होता।

१६०. सम्पत्ति पाकर भी जिनमें उदारतापूर्वक दान की या सेवा की भावना नहीं आती, वे भाग्यहीन हैं।

१६१. नारायण ही जिसके सर्वस्व हैं, वही सर्वोपरि धनी है। सांसारिक धन-संपत्ति को अपना मनाने वाले तो किसी न किसी अभाव से सदा विपन्न ही रहते हैं।

१६२. जो मनुष्य भक्ति, शक्ति तथा सिद्धि के लिए भगवान् की उपासना करते हैं उनसे परमात्मा अत्यन्त दूर हैं। सभी कामनाओं का परित्याग कर श्री नारायण के प्रति केवल सेवाभाव ‐ ब्रना ही निष्काम उत्कण्ठा है। इस निष्काम उत्कण्ठा तथा तज्जनित भगवत्कृपा से ही साधक परमात्मा को पाता है।

१६३. जो अपनी मधुर वाणी, सद्विचार, कुशल व्यवहार एवं सदाचार से सभी को प्रसन्न रखता है, उसको भगवान् अपना दूत बनाते हैं।

१६४. जब कभी भी मन में दुर्बलता या अवसाद के भाव आयें तो इस दोहे को बार-बार पढ़ो—

श्रवन सुजसु सुनि आयउँ, प्रभु भंजन भव भीर।
त्राहि त्राहि आरति हरन, सरन सुखद रघुबीर॥

१६५. सत्संग ईश्वर कृपा से मिलता है। सत्पुरुष या सत्परमात्मा के संग को सत्संग कहते हैं। सत्परमात्मा का संग करने हेतु उसके अवलम्ब की आवश्यकता है, जो परमात्मा के मार्ग में तत्पर है तथा जिसने आत्मसाक्षात्कार कर लिया है।

१६६. साधना द्वारा चित्त के शुद्ध हो जाने पर बुरे विचारों का आना बंद हो जाता है। चित्त में अशुद्धि रहने पर बुरे विचारों का समूल नाश नहीं होता, वे समय-समय पर प्रकट होते रहते हैं। इसलिए साधक को चाहिए कि अपने अंतःकरण को शुद्ध बनाये, अर्थात् मन, वचन, कर्म द्वारा किसी भी प्राणी का अहित-चिन्तन न करे। सबका भला हो, यही भाव रखे।

१६७. जो समस्त जगत् को सियाराममय देखता है, सबको भगवान् से उत्पन्न और उन्हीं की वस्तु समझकर, अपने कर्म द्वारा सबकी सेवा करता है, वह भक्त श्रेष्ठ है।

१६८. भगवान् के अनन्य प्रेमी भक्त का इस पंचभौतिक शरीर से कोई संबंध नहीं रहता, उसका संबंध एकमात्र अपने परम प्रियतम प्रभु से रहता है।

१६९. सद्गुरु मंत्र-दीक्षा द्वारा अपने शिष्य को परम गुह्यतत्त्व का दान करते हैं। उसे व्यावहारिक बुद्धि के मापदण्ड से सोचने या जाँचने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए। गुरुमंत्र का प्रभाव सहज ही समझ में नहीं आता। गुरु के उपदेश में विश्वास करके, बहुकाल तक साधन-भजन करने के बाद हृदयंगम होता है।

१७०. भक्ति चरमावस्था पर तब पहुँचती है, जब भक्त के लिए भगवान् व्याकुल होते हैं।

१७१. संसार को प्रसन्न करने के चक्कर में मत पड़ो, यह बड़ा ही दुष्कर कार्य है। भगवान् को प्रसन्न करना उतना कठिन नहीं है।

१७२. संत के पास जाकर परमार्थरूपी धन से अपनी झोली भर लो। यदि संसार की याचना करोगे तो समझ लो कि तुम्हारी जीवन-नौका डूबी ही है।

१७३. साधक को जीवन के अन्तिम श्वास तक सावधान रहना चाहिए। पग-पग पर विच्युति का भय है।

१७४. महर्षि पतंजलि ने कहा है—वीतराग पुरुष के स्वरूप में धारणा करने से वृत्तियाँ शान्त होती हैं। अतः ज्ञानस्वरूप सन्त के स्मरण से ही त्रितापदुःख की निवृत्ति और परमानन्द की प्राप्ति का रहस्य सुलभ हो जाता है।

१७५. सद्गुरु की दिव्य दृष्टि जब अन्तरंग भक्तों पर पड़ती है, तब एक विशेष प्रकार की आध्यात्मिक धारा शिष्य में प्रवाहित होती है और तब गुरुकृपा से सम्पूर्ण अभीष्ट सहज ही प्राप्य हो जाता है।

१७६. दर्शन में आनन्द तब आता है, जब साधना से अन्तर्चक्षु खुल जाते हैं।

१७७. देव-दर्शन या सन्त-दर्शन के लिए जाते समय खाली हाथ नहीं जाना चाहिए, कम-से-कम एक फल या फूल अवश्य भेंट करो।

१७८. सत्य ईश्वर का स्वरूप है और असत्य के बराबर कोई पाप नहीं है।

१७९. महापुरुषों के शरीर में विद्यमान गुण-धर्म से सम्पन्न सात्त्विक परमाणु जल में मिश्रित होकर उनके चरणोदक में आ जाते हैं और उसे पान करने वाले में प्रविष्ट होकर आध्यात्मिक लाभ पहुँचाते हैं।

१८०. अन्याय द्वारा अर्जित सम्पत्ति, न केवल अर्जन करने वाले को, अपितु अर्जक के उत्तराधिकारियों को भी दुःख देती है।

१८१. गुरुवाक्य में कभी भी अविश्वास या संशय मत करो, गुरुवाक्य को वेदवाक्य की तरह अन्तःकरण में धारण कर उस पर आचरण करो, सद्गुरु के समान लोक और परलोक दोनों में तुम्हारा हिताकांक्षी दूसरा कोई नहीं है। गुरु के प्रति अगर सच्ची निष्ठा और अकपट श्रद्धा विश्वास नहीं है तो आध्यात्मिक जगत् में अभिलषित उन्नति नहीं होगी।

१८२. लम्बे समय तक मंत्र-जप के पश्चात् भी मन की एकाग्रता और पवित्रता यदि प्राप्त नहीं होती तो यह मंत्र का दोष नहीं, तुम्हारा पूर्वार्जित कुसंस्कार बाधक बन रहा है।

१८३. गुरु द्वारा प्रदत्त मंत्र की साधना तथा उनके अमृतोपदेश को जीवन में उतारने का सत्संकल्प ही समस्त सिद्धियाँ प्राप्त करने के सुनिश्चित उपाय हैं।

१८४. खूब जोर-जोर से भगवन्नाम उच्चारण करो। ऊँचे स्वर में भजन करने से मन संकल्प-विकल्प से मुक्त हो जाता है।

१८५. जो भगवन्नाम का गान करता हुआ श्रीनारायण के विग्रह के सामने या उन्हें अपने समक्ष उपस्थित जान प्रेम मग्न हो नाचता है, उसने भगवान् को खरीद लिया है।

१८६. करुणामय भगवान् की भक्ति ही संसार का सबसे बड़ा लाभ है। साधु पुरुष के संग से भगवान् की नैष्ठिकी निर्मल भक्ति प्राप्त होती है।

१८७. गौएँ जहाँ भी रहती हैं उस स्थान को शास्त्रों ने तीर्थ-सा पवित्र कहा है। वहाँ प्राणों का त्याग करने से मनुष्य तत्काल मुक्त हो जाता है।

१८८. एकादशी व्रत के दिन अन्न का परित्याग करो, असत्य नहीं बोलो, भगवन्नाम संकीर्तन करो। यह महाव्रत, सभी कामनाओं को पूर्ण करने वाला है।

१८९. संसार में संयोग-वियोग सब प्रारब्धाधीन है। मनुष्य का अपना सोचा कुछ नहीं होता। अतः भगवान् के विधान पर विश्वास कर हमेशा प्रसन्न रहना चाहिए।

१९०. एकान्त में अपने इष्ट से श्रद्धापूर्वक प्रार्थना करो। प्रार्थना से चित्त के अहंकार, दम्भ, पाप, पाखण्ड आदि धुल जाते हैं और परमात्मा का शुभ प्रकाश अन्तस्तल में अनायास भर जाता है।

१९१. मनरूपी दूध का भक्ति रूपी मक्खन बना लो, फिर गृहस्थाश्रम रूपी पानी पर उतराते रहो, उस पानी में कदापि नहीं भीगोगे।

१९२. कर्म, धर्म, योग, भोग, त्याग आदि शास्त्रविहित नहीं होते तो घबड़ाओ मत। विश्वासयुक्त बुद्धि से भगवन्नाम का उच्चारण करते रहो, कल्याण होगा।

१९३. बिना प्रतिकूलता के अपनी आस्था एवं साधना का पता नहीं लगता, संसार की नवश्वरता का बोध नहीं होता, परिवार एवं इष्ट-मित्र सभी अनुकूल हों तो सत्संग की या तीर्थाटन की इच्छा नहीं जगती, अतः प्रतिकूलता को भगवान् का वरदान समझो।

१९४. लोग अपने सुख-समृद्धि के लिए ईश्वर को चाहते हैं। सम्भव है वह मिल जाय, परन्तु उन्हें ईश्वर नहीं मिलेगा।

१९५. जो ध्यान, जप या योगाभ्यास अधिक करते हैं उनका नूतन, सात्विक शरीर गठित हो जाता है। शरीर में सूक्ष्म स्नायुजाल और नाड़ी चक्रों की रचना हो जाती है, जो गहरे अतीन्द्रिय भावों को वहन करने में समर्थ होते हैं।

१९६. निर्बल होने पर मनुष्य के मन में पाप और विकार की उत्पत्ति होती है। उन्हें दूर करने हेतु हर घड़ी भगवान् का स्मरण करो।

१९७. कलियुग का कल्पवृक्ष श्री रामचरित मानस है, अतः कम-से-कम पाँच दोहों का पाठ, नित्य नियम से करना चाहिए।

१९८. मन का मैल बाहर के जल से नहीं धुलता। वह तो भगवान् के प्रेम में निःसृत प्रेमाश्रुओं से ही धुलता है।

१९९. परमार्थ पथ में बढ़ने वालों के अन्दर त्याग नहीं हुआ तो सच्चा प्रेम भी नहीं होगा। परमेश्वर के प्रति प्रेम होगा, तभी जगत् की माया से मन हटेगा।

२००. भौतिक या आसुरी शक्तियों को परास्त करने का सर्वोत्तम उपाय निष्काम सेवा युक्त जीवन है।

२०१. मन को वश में करने के दो साधन भगवान् ने गीता में बताये हैं—अभ्यास एवं वैराग्य। केवल अभ्यास से मन वश में नहीं होता, क्योंकि वैराग्य की प्रधानता है।

२०२. ब्राह्ममुहूर्त में जगकर सद्गुरु प्रदत्त मंत्र का जप करना चाहिए। सूर्योदय से पहले का समय अधिक उत्तम है, उस समय चित्त शान्त रहता है।

२०३. ध्यान करते समय जब तक नाम का ज्ञान रहे, तब तक नाम स्मरण करते रहना चाहिए।

२०४. धरती में तुम जैसा बीज बोओगे उसी के अनुरूप फल की प्राप्ति होगी, अगर तुमने बबूल का पेड़ लगाया तुम्हें आम के फल प्राप्त होंगे? कदापि नहीं। इसी प्रकार हमारा अंतःकरण भी धरती के समान है। इसमें अगर दुर्गुणों और दुराचारों का बीज बोओगे तो जीवन दुःख और अशान्ति से भर जायगा। तुम्हें सुख और शान्ति की प्राप्ति नहीं होगी, इसलिए अपने अन्तःकरण में सदाचार के बीज लगाओ, जिससे पावन हो जाओगे। फिर अंतःकरण में भगवत्प्रेम की ज्योति जागृत होगी, जिससे मानव-जीवन के धर्म के लक्ष्य को प्राप्त कर मुक्त हो जाओगे।

२०५. ऊँट काँटे खाना अधिक पसन्द करता है। वह जितना काँटा खाता है, उतने ही काँटे उसके मुँह में चुभकर कष्ट प्रदान करते हैं। परन्तु वह काँटे खाना छोड़ना नहीं चाहता। यही स्थिति सांसारिकताबद्ध जीवों की है। वे विषयों के माया-मोह में पड़कर नाना प्रकार की यातनाएँ भुगतते हैं, फिर भी उनसे उन्हें विरक्ति नहीं होती, बल्कि और ज्यादा लिपटते जाते हैं। तज्जनित उत्पन्न कष्ट का उन्हें भान ही नहीं रहता।

२०६. सत्-चिन्तन, स्वाध्याय, सत्संग और सत्कर्म द्वारा चित्त की शुद्धि होती है।

२०७. अपने घर को तुम राम की अयोध्या बनाओ। अगर भक्ति देवी की शरण तुमने पकड़ी है तो यह शरीर-घर राम की अयोध्या अवश्य बन जायगा—'जहाँ राम तहँ अवध निवासू।'

२०८. दुःखी जनों की सहायता करो। पीड़ा में उन्हें आश्वासन दो, उनके प्रति सदा प्रेम, सेवा, सहानुभूति तथा उदारता का बर्ताव रखोगे तो सम्पूर्ण विश्व आत्मीय बन जायगा।

२०९. जिसके अन्दर सत्य, आत्मनिर्माण करने की शक्ति, निष्कामता और उदासीनता नहीं है, वह बड़े-से-बड़ा विद्वान् भी मूर्ख है।

२१०. शास्त्र-मर्यादाओं को धारण किये रहोगे तो हर क्षण ऐसे ही कार्य होंगे जो परलोक को उज्ज्वल बना देंगे।

२११. मानव-जीवन की सार्थकता भगवत्प्राप्ति में है, यह देव दुर्लभ तन बार-बार मिलने का नहीं। आगे की यात्रा के पाथेय हेतु अभी से भगवद्भजन रूपी धन साथ ले लो।

२१२. साधना में कष्ट अवश्य है परन्तु ऐसा अनुभव करने पर कि उससे कष्ट का साक्षात्कार होता है, सारे कष्ट दूर हो जाते हैं।

२१३. परम योगी की स्वाभाविक रुचि और शास्त्रादेश में रंचमात्र भी अन्तर नहीं होता।

२१४. अंडे, प्याज, लहसुन, सलजम, तम्बाकू आदि अनिष्ट की जड़ हैं। इनसे परहेज रखो।

२१५. पतितपावनी गंगा, यमुना एवं सरयू मैया का परम पवित्र जल पान करो, यह अक्षय पुण्य का सूत्र है।

२१६. वेद, शास्त्र, पुराण, रामायण, गीता, महाभारत आदि का प्राणों से बढ़कर सम्मान करो और उनके आदेशानुसार ही जीवनयापन करो।

२१७. संसार के किसी भी प्राणी को दुःख मत दो, जहाँ तक हो सके, उनका उपकार करो—

पर हित सरिस धर्म नहिं भाई। पर पीड़ा सम नहिं अधमाई॥

२१८. परमात्मा से पृथक् कुछ भी नहीं है। वह सर्वव्यापक ईश्वर प्रकृति के कण-कण में व्याप्त है।

२१९. जो मनुष्य प्राणियों की स्वयं हिंसा करता है या हिंसा करने वाले का अनुमोदन करता है, उससे बढ़कर अपराधी जगत् में अन्य कोई नहीं है। अहिंसा परम धर्म है। यह विचार कर प्राणिमात्र पर दया भाव रखो।

२२०. जिसके पास जाने पर हृदय के श्रेष्ठ भाव प्रस्फुटित हो जाते हैं, भगवान् का नाम अपने आप ही मुख से उच्चारित होने लगता है, पापबुद्धि पल्ला छोड़ भाग खड़ी होती है, वह सच्चा संत है।

२२१. अतिथि-सत्कार श्रद्धापूर्वक करो, अतिथि का गुरु एवं देवता की तरह सम्मान करो।

२२२. प्रतिदिन यथासाध्य कुछ न कुछ दान अवश्य करो, इससे त्याग की प्रवृत्ति जागेगी।

२२३. जिस प्रकार सूर्य के सामने आने वाले को अपनी छाया नहीं दिखती, उसी प्रकार भगवान् के सम्मुख आने वाले से अज्ञान और पातक दूर हो जाते हैं।

२२४. संसार सराय की तरह है, हमारा अपना स्थायी आवास तो प्रभु का धाम है।

२२५. जैसे टूटे तारों वाली वीणा से आवाज स्पष्ट नहीं निकलती, वैसे ही अनीतिमान् गुरु का उद्बोधन भी भक्त को नहीं जगाता।

२२६. जिसके हृदय में प्रभु का वास होता है, वहाँ अहंभाव नहीं रहता और जहाँ अहंभाव है, वहाँ प्रभु का निवास नहीं होता।

२२७. जितना सत्संग करे, उससे दुगुना मनन करे। थोड़ा खाकर अधिक चबाने से स्वास्थ्य बनता है।

२२८. पुत्रैषणा, वित्तैषणा, लोकैषणा—यह तीन प्रकार की एषणा जब निवृत्त हो जाती है, तब मनुष्य इस शरीर में ही ब्रह्म का सान्निध्य प्राप्त कर 'मोक्ष' का अधिकारी हो जाता है।

२२९. भक्ति और ज्ञान ये दोनों अन्तःकरण के ही परिणाम हैं। जब परम प्रेमास्पद भगवान् का अत्यन्त उत्सुकतापूर्वक चिन्तन होता है, तब भक्ति देवी प्रकट होती हैं और भक्ति देवी के आगमन पर ज्ञान का उदय होता है।

२३०. सनातन धर्म के प्रधान अंश गो सेवा, अतिथि सेवा और विष्णु-सेवा हैं।

२३१. श्रद्धा धर्म का मूल है। शास्त्र और गुरुवाक्य में विश्वास का नाम श्रद्धा है। श्रद्धावान् पुरुष ही ज्ञान प्राप्त करता है।

२३२. अपने भीतर ही सच्चा आनन्द है, दिव्यामृत का महासागर है, उसे ढूँढ़ो और प्राप्त करो।

२३३. जहाँ-जहाँ मन जाय, वहाँ-वहाँ अपने इष्ट के स्वरूप का दर्शन करो, यह अभ्यास भी उत्तम फलदाता है।

२३४. आध्यात्मिक शक्ति संचय का सबसे बड़ा नियम, प्राणिमात्र का कल्याण-चिन्तन है। मनुष्य के विचार प्रेम भाव से बलवान् बनते हैं तथा ईर्ष्या, द्वेष और स्वार्थबुद्धि से निर्बल हो जाते हैं।

२३५. समुद्र में गोता लगाने पर भी यदि मोती हाथ नहीं आये तो निराश नहीं हो, बार-बार गोता लगाकर मोती ढूँढ़ो तो सफलता मिलेगी।

२३६. कामिनी और कंचन से सर्वदा सावधान रहो। इनका मोह इतना भयंकर होता है कि महायोगी और महाज्ञानी तक को नीचे गिरा देता है।

२३७. गुरु में मनुष्य बुद्धि करने से, इष्ट-मन्त्र को केवल सामान्य अक्षर समझने से और देव-देवी की प्रतिमा को मिट्टी या पत्थर-मात्र समझने से, मनुष्य विच्युत और वंचित होता है।

२३८. जब तक शुद्ध कर्मों के अनुष्ठान से अपने हृदय को पवित्र नहीं बना लेते, तब तक आत्मज्ञान की प्राप्ति नहीं होगी।

२३९. आधि-व्याधि को परम तप समझ कर भोगने से संचित पापों का नाश होता है और अन्तःकरण स्वर्ण सदृश विशुद्ध और निर्मल हो जाता है।

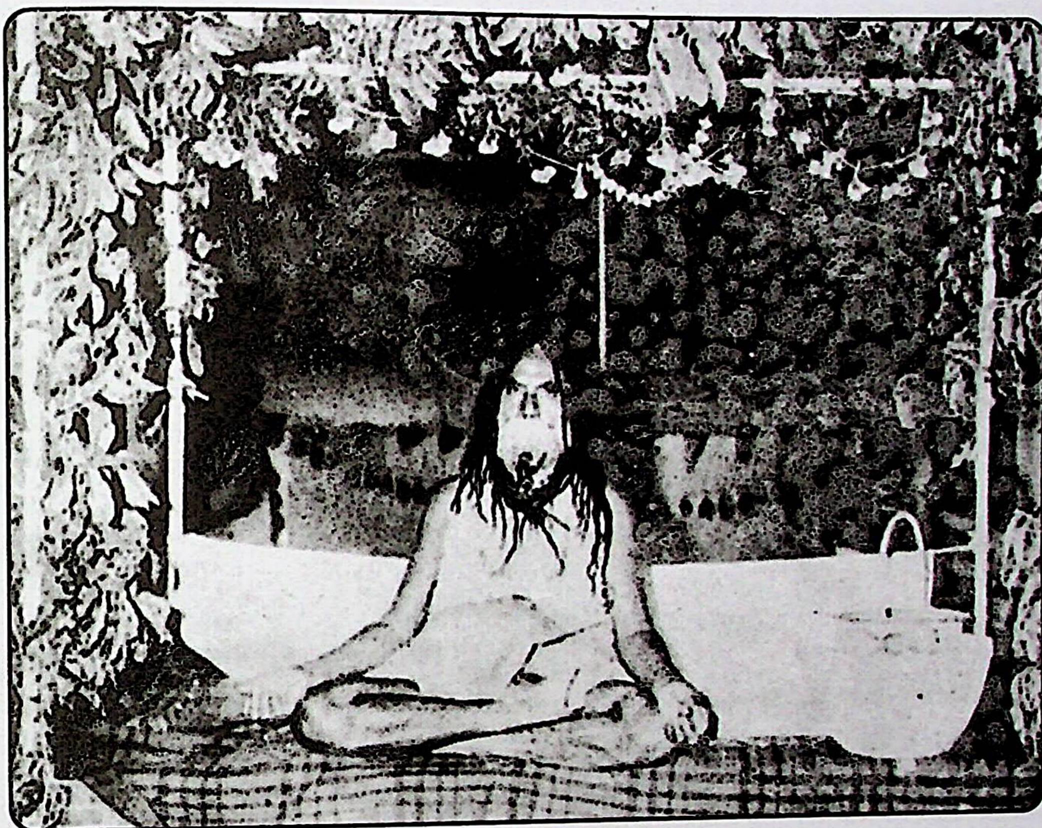
२४०. पापों के फलस्वरूप ही ईश्वर दंडरूप में दुःख, शोक, कष्ट, रोग आदि देते हैं। कभी-कभी दुःखार्त मनुष्य कातर होकर भगवान् से दुःख निवारणार्थ गजराज की भाँति प्रार्थना करने लगते हैं, जिससे वे दुःख से तो मुक्त होते ही हैं, साथ ही भगवान् की भक्ति भी पा जाते हैं। इस प्रकार ईश्वर के दंड-विधान में दया भी निहित है।

२४१. जिसकी लक्ष्मी दान हेतु है और जिसका ज्ञान सुकृत हेतु, चिन्तन परब्रह्म हेतु तथा वचन परोपकार हेतु है, वह मनुष्य त्रिलोक के माथे का तिलक है।

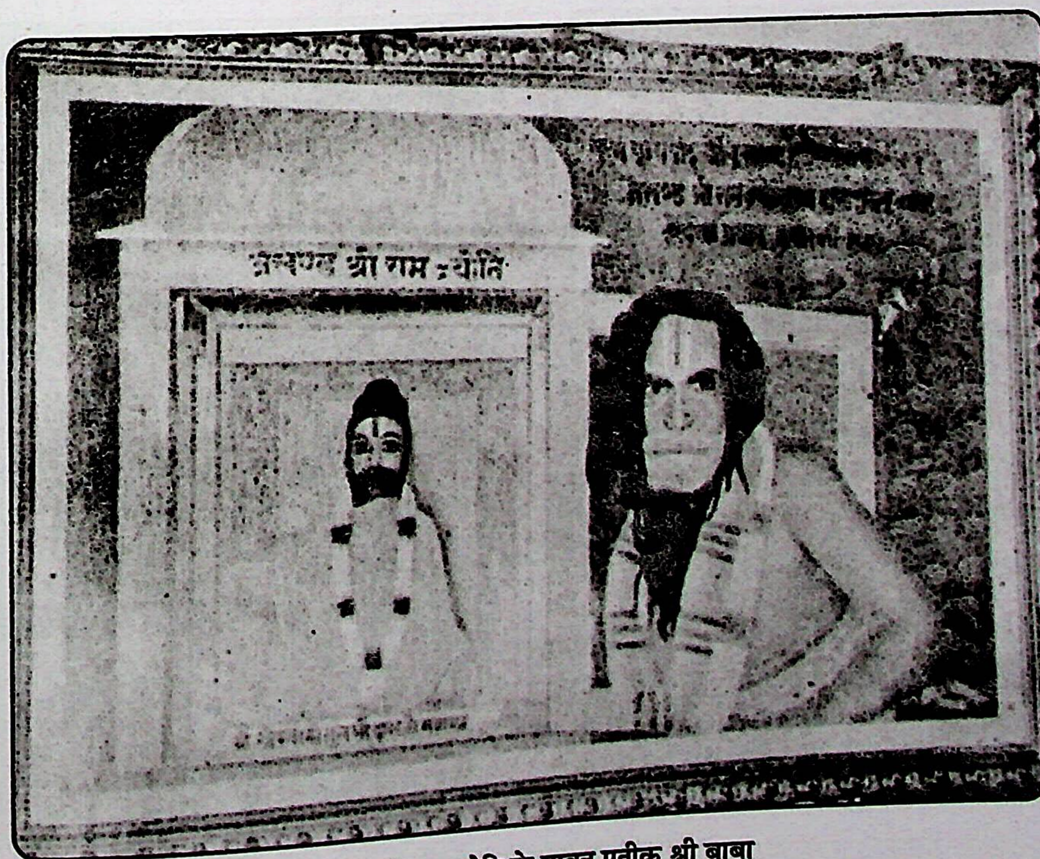
२४२. जब साधक मन तथा इन्द्रियों को वश में कर, सहज विश्वास के साथ गुरु प्रदत्त मंत्र का जप गुप्त भाव से सवा करोड़ की संख्या में सम्पन्न करता है, तब उसे अपने इष्ट का साक्षात्कार होता है।

२४३. मन को निर्विषय कर देना ध्यान है, मन के विकारों को त्यागना स्नान है।

OO



ध्यानावस्थित श्री बाबा

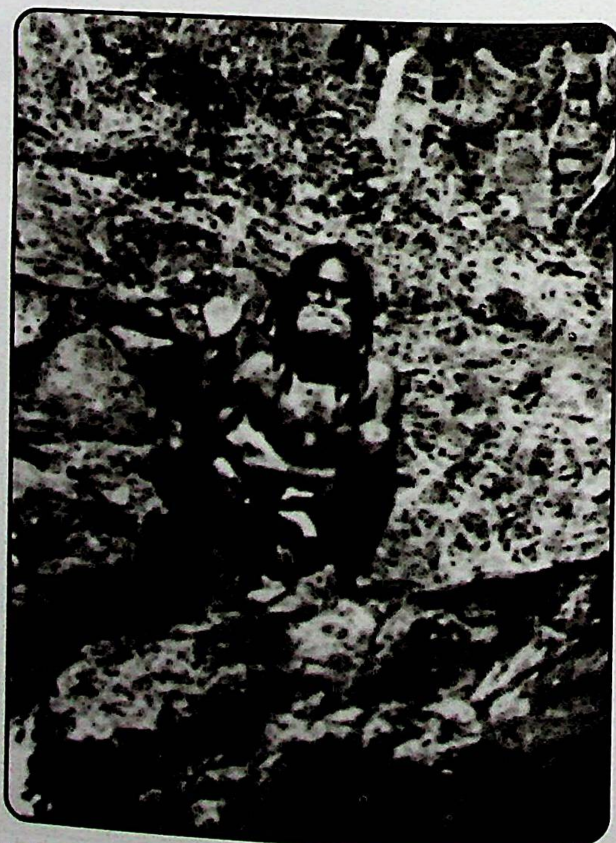


अखंड श्री रामज्योति के पावन प्रतीक श्री बाबा



'अष्टैश्वर्यमयी लक्ष्मीर्गोमये वसते सदा....' श्री बाबा





अमरकंटक वन-प्रान्तर में श्री बाबा

बोध कथाएँ

१. सन्त की सहनशीलता

बहुत दिन हुए भागीरथी के किनारे एक सन्त अपनी पर्णकुटी में रहते थे। उनसे थोड़ी ही दूर पर एक दुष्ट साधु की कुटिया भी थी। वह रोज प्रातः जब महात्मा प्रभु-चिन्तन में मग्न रहते तो उनके पास आकर अकारण गालियाँ बकने लगता। वे कोई प्रत्युत्तर न दे, अपने ध्यान में लगे रहते। उनके शिष्य से यह असह्य हो गया। वह महात्मा से बोले गुरुदेव, आप आदेश दें तो मैं उस दुष्ट को सीधा कर दूँ। महात्मा ने कहा—नहीं, वह स्वयं ही सुधर जायगा।

एक रोज किसी भक्त ने फलों से भरी एक बड़ी टोकरी महात्मा के पास भेजी। उन्होंने अपने हाथों अच्छे-अच्छे फल चुने और स्वच्छ कपड़े में बाँधकर अपने शिष्य द्वारा उस दुष्ट साधु के पास उपहार भेजा। महात्मा ने शिष्य से कहा—यह फल उस कृपालु साधु को दे आओ, जो प्रतिदिन आकर मुझ पर अमृतवाणी की वर्षा करता है। शिष्य ने कहा—महाराज जी, वह तो आपको गन्दी-गन्दी गालियाँ दिया करता है। महात्मा ने कहा—तुम समझते नहीं, वह उसी रूप में मुझ पर कृपा करता है।

शिष्य फल की पोटली लेकर साधु के पास पहुँचा और महात्मा द्वारा फल भेजने की बात बतायी। साधु बोला—राम-राम! अरे, प्रातःकाल तुमने किसका नाम सुनाया। न जाने आज भोजन भी मिलेगा या नहीं। फल उसने मुझे नहीं भेजा है, किसी दूसरे के लिए भेजा होगा, मैं तो रोज उसे गालियाँ ही दिया करता हूँ।

शिष्य ने लौटकर महात्मा से दुष्ट साधु की बात बतायी। महात्मा बोले—तू फिर उस सन्त के पास जा। कहना, आपके वास्ते ही उन्होंने ये फल भेजे हैं। आप रोज जो उन पर अमृतवर्षा करते हैं, उसमें पर्याप्त शक्ति लगती है। ये फल उन्होंने इसलिए भेजे हैं कि आप इनका सेवन कर अमृतवर्षा यथावत् करते रहें।

शिष्य ने साधु के पास जाकर गुरु की बात दुहराई। साधु सुनकर हक्का-बक्का रह गया। वह अपने कृत्य पर पश्चत्ताप करता हुआ, साश्रुनयन महात्मा के पास पहुँचा और उनके चरणों में गिरकर बोला—महाराज, मुझे क्षमा करें। मुझसे अपराध हुआ। आपने साधुता का सही मार्ग मुझे बोध कराया।

सन्त स्वभाव से ही परोपकारी होते हैं। जीवमात्र पर वे दया का भाव रखते हैं। वे तो—**'निज प्रभुमय देखहिं केहिसन करहिं विरोध'** की स्थिति को प्राप्त होते हैं।

किसी भी प्राणी के प्रति कभी भी, किसी प्रकार से मन में द्वेष-भाव नहीं रखना चाहिए। द्वेष-भाव रखने वालों का अमंगल ही होता है। जो मनुष्य प्रतिकूल बातें भी सहजता से सहन कर लेता है, उसमें भगवान् के प्रकट होने का लक्षण जानना चाहिए।

२. कुभावना का प्रतिफल

एक राजा की एक सेठ से अच्छी मित्रता थी। दोनों में परस्पर अच्छा व्यवहार चलता था। सेठ की चन्दन की दुकान थी। एक बार सेठ ने अपने मुनीम से बिक्री आदि का हाल पूछा। मुनीम ने बतलाया—बहुत दिनों से माल ज्यों-का-त्यों पड़ा है, कुछ और दिनों तक अगर माल नहीं बिका तो सब खराब हो जायगा। सेठ मुनीम की बातें सुनकर बहुत चिन्तित हुआ। बहुत सोचने के बाद, उसके मन में विचार हुआ कि अगर किसी बड़े आदमी का देहांत हो जाय तो शीघ्र ही सब माल बिक जायगा—और राजा से बड़ा आदमी दूसरा कौन हो सकता है? अगर राजा का देहांत हो जाय तो मेरे सारे माल की बिक्री हो जायगी। उसकी स्वार्थबुद्धि इतनी बढ़ी कि वह अपने परम मित्र का अहित सोचने लगा और इसी विकृत भाव में पड़ा, वह राजा से मिलने गया।

अपने निकट सम्पर्क में रहने वालों के प्रति जैसी धारणा बनेगी, उसकी प्रतिच्छाया दूसरे के अंतःकरण पर पड़े बिना नहीं रहेगी। इसी हेतु राजा ने सेठजी से कहा—न जाने आज किस कारण आप से बात करने को जी नहीं चाह रहा है। मेरी इच्छा हो रही है कि आप यहाँ से उठकर चले जायं।

राजा की बात का प्रभाव सेठ पर भी पड़ा। वह अपनी गलती स्वीकार करते हुए बोला—आपकी इस भावना का मूल कारण मैं ही हूँ। तत्पश्चात् उसने अपनी कुभावना की कहानी राजा को सुनाई और पश्चात्ताप करते हुए राजा से अपनी दुर्भावना के लिए क्षमा याचना की। इस प्रकार कपट भाव के निकलते ही दोनों का अंतःकरण पूर्ववत् निर्मल हो गया और पुनः दोनों प्रेमपूर्वक रहने लगे।

अपने हृदय के भाव उत्तम से उत्तम बनाओ। मन, कर्म, वचन से कभी भी किसी प्राणी का अहित-चिन्तन मत करो। प्राणि-मात्र भगवान् के कृपापात्र हैं, उनकी प्रिय सन्तान हैं—

'ईस्वर अंस जीव अबिनासी, चेतन अमल सहज सुख रासी।'

३. अमर फल

एक ब्राह्मण ने अपने बालक पुत्र को कुछ पैसे देकर बाजार भेजते हुए कहा—बेटा, कुछ फल खरीद कर ले आओ। बच्चा फल खरीदने बाजार में चला तो रास्ते में उसे गरीबों की एक टोली मिली। उसने देखा कि उनमें कुछ लोग ऐसे थे, जिनके तन पर चीथड़े भी नहीं थे और भूख के मारे उनका पेट-पीठ एक हो गया था। यह देख संस्कारी बच्चे को दया आ गयी और उसने अपने सभी पैसे उन गरीबों में बाँट दिये और खाली हाथ घर लौटा। पिता ने पूछा—बेटा, फल नहीं लाये? बालक ने उत्तर दिया—पिताजी, आपके लिए मैं अमर फल लाया हूँ। ब्राह्मण भक्त ने कहा—अमर फल कैसा होता है बेटा? पुत्र ने कहा—पिताजी, मैंने रास्ते में देखा कि कुछ गरीबों के पास तन ढँकने को वस्त्र नहीं थे तथा वे भूख से छटपटा रहे थे। सभी पैसे मैंने उन लोगों में बाँट दिये तथा खाली हाथ घर लौट आया। हम और आप फल खाते तो दो-चार क्षणों के लिए हमारे मुँह मीठे होते, परन्तु इस बाँटने का फल तो अमर है न पिताजी! बच्चे की इस बात से ब्राह्मण भक्त प्रसन्नता से गद्गद हो गये, उनकी आँखों से श्रद्धाश्रु के बिन्दु टपक पड़े।

यही बालक आगे चलकर सन्त रंगदास के नाम से विख्यात हुआ।

४. घड़ी भर की कैद

एक बादशाह ने एक संत को कैद कर लिया। संत ने ज्ञानयुक्त कुछ बातें बादशाह को सुनायी थीं जो उसे अप्रिय लगीं। कैदखाने में संत से मिलने एक भक्त आया। उसने कहा—महाराज जी, आपने क्यों ऐसे दुष्टात्मा को उपदेश किया कि आपको बन्दी होना पड़ा? संत ने कहा— मैंने अपना कर्त्तव्य किया, उसने अपना। अब इसकी फिक्र क्या? यह कैद भी तो घड़ी भर की है।

पहरेदार ने जाकर बादशाह से यह बात कह दी। बादशाह ने कहा—उस मूर्ख संत को बताओ की कैद घड़ी भर की नहीं जीवन भर की है। जब बादशाह की यह बात संत को सुनायी गयी तो उन्होंने हँसते हुए कहा—मुझे मालूम है कि यह उम्र-कैद है, मगर बादशाह से पूछना कि क्या यह जिन्दगी, घड़ी-भर से ज्यादा की है?

५. अहंकार का विलय

महर्षि व्यास ने जब अपने ज्ञान-गम्भीर पुत्र शुकदेव की कुछ ब्रह्म जिज्ञासाओं के सम्यक् समाधान में कठिनाई देखी तो उन्हें राजर्षि जनक के पास भेज दिया।

सुमेरु पर्वत से नीचे उतर कर कई नदी-नद एवं वन-वनान्तर पार कर कठिन यात्रा के पश्चात् शुकदेव जी जनकपुर पहुँचे। राज-द्वार पर उनके पहुँचते ही द्वारपाल ने राजा को खबर दी—देव, स्वयं व्यास-पुत्र श्री शुकदेवजी आपसे भेंट करने के लिए द्वार पर प्रतीक्षा कर रहे हैं।

जनक ने अपनी कार्य-व्यस्त दृष्टि एक क्षण के लिए ऊपर उठायी और आदेश दिया—अभी समय नहीं है। शुकदेव जी को अतिथिशाला में ठहरा दो। मैं एक सप्ताह बाद उनसे मिलूँगा।

सातवें दिन शुकदेव जी राजसभा में पहुँचे, तो उन्होंने देखा—महाराज इतने व्यस्त हैं कि उन्हें अपनी दृष्टि ऊपर उठाने का भी अवकाश नहीं है। अगले सात दिन भी राजर्षि इसी प्रकार कार्य-मग्न रहे। शुकदेव जी नित्य राजसभा में जाते और बिना मिले ही वापस लौट जाते।

पन्द्रहवें दिन महाराज जनक ने मंत्री को बुला कर कहा—ऐसा प्रबन्ध करो कि शुकदेव जी हमारे अन्तःपुर में ही ठहरें। वहीं समय निकाल कर उनसे बात हो सकेगी।

आज्ञा का तत्काल पालन किया गया। शुकदेवजी को भोग-विलास की देव-दुर्लभ सामग्री से सुसज्जित रंग-महल में ठहराया गया। किन्तु वहाँ भी राजा का साक्षात्कार प्राप्त किये बिना ही, एक पखवाड़ा और बीत गया। उनके अन्तःपुर अवस्थान के सोलहवें दिन राजा जनक उनके पास आये और प्रेमपूर्ण वाणी में बोले—

''ब्रह्मज्ञान के जिन जटिल रहस्यों के समाधान के लिए आप मेरे पास आये हैं, उनका समाधान तो स्वयं आपके आचरण में हो चुका है। अब शब्दों द्वारा उनके उद्घाटन की क्या आवश्यकता है? हमारा 'अहम्' ही सारे प्रपंचों का सूत्रधार है। जिसने इस 'अहम' को अन्तर्लीन कर लिया, वही जीवन-मुक्त हो गया, उसके लिये योग और भोग समान हैं—दोनों में उसे ब्रह्मानन्द का आस्वाद मिलता है। मैंने स्वयं परीक्षा करके देख लिया है। आप आकांक्षा और उपेक्षा के प्रति पूरी तरह विदेह हो चुके हैं। बस, यही क्रम सदैव बनाये रहिए।''

जनक के मर्मभरे वचन ने शुकदेवजी के मन की रही-सही उलझनों को भी सुलझा दिया। वे तपस्या हेतु सुमेरु पर्वत पर लौट गये और इस संकल्प में लीन होकर समाधि का अभ्यास करने लगे— देवाधिदेव, जिस प्रकार समुद्र के अगाध जल-समूह में जल का प्रत्येक कण विलीन हो जाता है, उसी प्रकार मेरा 'अहम' भी आप में विलीन हो जाय।

६. सद्गुरु की सैन

कबीरदास का एक अल्पज्ञ गृहस्थ-शिष्य था। वह उनके सन्देशों का प्रचार-प्रसार तो करता, किन्तु भेंट रूप में जो द्रव्यादि प्राप्त होते, उसका अधिकांश भाग वह स्वयं रखता। शेष कबीरदास को भेंट करता। वह मन में सोचता कि कबीरदास जी यदि अन्तर्यामी हैं तो मेरी इस करतूत को क्यों नहीं जान जाते।

अन्तर्यामी परमवैष्णव संत कबीर, शिष्य की मनोभावना को भली-भाँति जानते थे और सोचते थे कि उसकी बुद्धि का विकार स्वयं दूर हो जायगा। वह शिष्य जब एक दिन किसी भक्त के घर गया तो 'सत् कबीर-बन्धी छोड़' कहकर बैठा। कबीर-पंथ वाले जब परस्पर मिलते हैं तो ये शब्द कहा करते हैं। इसका अर्थ है कि कबीर जी सत्य हैं और बन्धन छुड़ाने वाले हैं।

दरवाजे पर एक तोता पिंजरे में पड़ा हुआ था, जब उसने यह बात सुनी तो बोल उठा—'महाराज, आप सब भक्तों का सन्देश संत कबीर तक पहुँचाते हैं, मेरी यह प्रार्थना भी उनसे कहिएगा कि जब कबीरदास बन्धन को छुड़ाने वाले हैं तो इस पिंजरे का मेरा बन्धन भी काट दें।'

शिष्य ने जाकर सद्गुरु कबीर से तोते की बात सुनाई। कबीर सुनकर समाधि लगाकर सुन्नावस्था में हो गये, किन्तु शिष्य ने समझा कि गुरुदेव का प्राणान्त हो गया। वह जोर-जोर से रोने लगा। उसे यह चिन्ता भी हो आयी कि अब मेरी जीविका कैसे चलेगी? तभी कबीरदास की समाधि भंग हुई तथा वे होश में आ गये। मूर्ख शिष्य की खुशी का ठिकाना न रहा। तब कबीर ने पूछा—यह खुशी कैसी? शिष्य बोला—महाराज, आप मर गये थे न, अब प्रभुकृपा से आप जी उठे हो। मेरे को भला खुशी न होगी?

कबीरदास जी मन ही मन हँसे और शिष्य को पुनः सत्संग हेतु बाहर भेज दिया।

जब वह शिष्य फिर तोते वाले के घर गया तो तोते ने अपने सन्देश का उत्तर पूछा। शिष्य क्रोध से बोला—चुप रह दुष्ट, तेरा सन्देश सुनकर तो गुरुदेव महाराज मर ही गये थे, मैंने बड़ी प्रार्थना भगवान् से की तो वे पुनः जीवित हुए।

यह सुनते ही तोते ने अपना प्राण दशम द्वार में चढ़ाया और निर्जीव की भाँति पिंजरे में गिर पड़ा। घर वालों ने देखा तो समझा कि यह मर गया और उसे बाहर फेंक दिया। इस प्रकार निर्बन्ध होकर तोता आकाश में उड़ गया। मूर्ख शिष्य सद्गुरु की कृपाशक्ति को न जानता हुआ चकित हो, आश्रम लौट आया। उसने कबीरदास से जिज्ञासा की— महाराज, यह कौन-सी अद्भुत लीला है? उस तोते का सन्देश जब आपने सुना तो आप मर गये और फिर जीवित हो उठे। जब तोते ने आपके मरने और जीने की बात सुनी तो वह भी मर गया और फिर जी कर उड़ गया। यह बात मेरी समझ में नहीं आ रही है।

तब कबीरदासजी ने कहा—

पास रहा तो क्या हुआ, नेक न समझी सैन।
सुआ समझ कर उड़ गया, सुन सतगुरु के बैन॥

अर्थात् तू मेरे समीप रहकर भी मेरी गुप्तवाणी और संकेत को नहीं समझ सका और तोता संकेत पाते ही निर्बन्ध होकर पिंजरे से उड़ गया।

सद्गुरु के बिना जीव-कल्याण नहीं है। सद्गुरु सद्शिष्य को पवित्र जन्म देते हैं, उसका जीवन-मरण सुधारते हैं। इसलिए उनसे कपट नहीं रखना चाहिए। उनके हृदय के साथ अपना हृदय एक करना ही, सद्गुरु की उत्तम सेवा है और तभी उनके गूढ़ार्थक उपदेशों को भली-भाँति समझ, मंगल-पथ पर अग्रसर हुआ जा सकता है।

७. ईश्वर का विधान

एक आदमी पैदल चला जा रहा था। उसने देखा, नदी तट पर रेत में तरबूज की खेती है, जिसकी पतली लताएँ चारों ओर फैली थीं और उनमें बड़े-बड़े फल लगे हुए थे। यह देख कर उसे ईश्वर पर क्रोध आया। मन-ही-मन वह बोला—ईश्वर कैसा अन्यायी है, इतनी छोटी-पतली लताओं में उसने इतने बड़े फल लगा दिये हैं। इसके विपरीत आम्रवृक्ष जैसे बड़े पेड़ों पर छोटे-छोटे फल दिये हैं।

संयोग से वही पथिक एक आम के पेड़ के नीचे थकावट के कारण विश्राम कर रहा था। तभी ऊपर से आम का एक फल उसकी नाक पर गिरा। चोट लगी। तब उसे नया बोध हुआ और नाक की पीड़ा से बेचैन होकर वह बोला—ओह! ईश्वर ने अच्छा ही किया कि बड़े-बड़े पेड़ों पर छोटे फल लगाये, नहीं तो अगर आज तरबूज जैसा फल मेरे मुँह पर गिरा होता तो कचूमर ही निकल जाता। ईश्वर जो करते हैं, निश्चय ही अच्छा करते हैं, उनका प्रत्येक विधान मंगलमय होता है।

भगवान् के प्रिय-भक्त, अनुकूल या प्रतिकूल दोनों स्थितियों में, उनकी अहैतुकी कृपा का दर्शन करते हैं।

८. काल पर विजय

महाभारत में कथा है। धर्मराज युधिष्ठिर के पास कोई ब्राह्मण एक बार कुछ याचना करने आया। राज्य-कार्य में उलझे रहने के कारण, युधिष्ठिर ने कहा—ब्राह्मण देवता, आप कल पधारें, आपकी अभीष्ट वस्तु मैं प्रदान करूँगा।

धर्मराज की बात सुनकर ब्राह्मण तो चला गया। परन्तु भीमसेन उठे और राजसभा के द्वार पर रखी हुई दुन्दुभि बजाने लगे। अनुचरों को मंगलवाद्य बजाने का आदेश भी उन्होंने दिया। अकारण-असमय मंगलवाद्य श्रवण कर धर्मराज ने सेवक से पूछा—आज इस समय मंगलवाद्य की ध्वनि क्यों सुनाई पड़ रही है?

सेवक ने पता लगाकर कहा—महाराज, भीमसेन के आदेश से ही मंगलवाद्य बज रहे हैं और वे स्वयं भी दुन्दुभि बजा रहे हैं।

धर्मराज ने भीमसेन को बुलाकर पूछा—असमय में ही यह मंगलवाद्य तुमने क्यों बजवा दिया भाई!

भीमसेन ने कहा—महाराज, आज आपने काल पर विजय प्राप्त कर ली, इससे शुभमुहूर्त और कौन-सा होगा?

युधिष्ठिर ने पूछा—भीमसेन, किस प्रकार मैंने काल को जीत लिया है, इसे भी स्पष्ट करो।

भीमसेन ने कहा—महाराज, सभी जानते हैं कि आपके मुख से हँसी में भी असत्य का उच्चारण नहीं होता, आपने याचक-ब्राह्मण को कल अभीष्ट वस्तु देने का वचन दिया है, अतः कम-से-कम कल तक तो आपने काल पर अधिकार कर ही लिया है।

युधिष्ठिर को अपनी भूल का तत्क्षण भान हुआ, उन्होंने सेवकों से ब्राह्मण को बुलवाकर अभीष्ट वस्तु उसे प्रदान की।

भगवत्प्राप्ति की साधना, भविष्य पर नहीं छोड़नी चाहिए। मनुष्य-शरीर बड़ा ही दुर्लभ है, जिस काम के लिए परमात्मा ने इसे दिया है, उसे जल्दी ही पूरा कर लेना चाहिए, क्योंकि यह क्षणभंगुर है। कबीरदास ने कहा है—

पानी केरा बुदबुदा, अस मानुस की जात।
देखत ही छिप जायगा, ज्यों तारा परभात॥

यह तो भगवत्प्रदत्त है, इससे मोह न करके अविलम्ब इसे भगवान् को समर्पण कर देना चाहिए। मृत्यु का कौन ठिकाना कब आ जाय, अतः सदा-सर्वदा भगवन्नाम जप करते हुए उत्तम कर्मों में मनुष्य को लग जाना चाहिए। मानव-जन्म की सफलता इसी में है कि वह अथक प्रयत्न करके भगवान् को प्राप्त कर ले। आज और कल का चक्कर छोड़कर, तुरन्त भगवत्प्राप्ति के पवित्र मार्ग पर आरूढ़ हो जाना चाहिए।

९. सर्वव्यापक परमात्मा

दक्षिण भारत में नामदेव एक महान् संत हुए। उनके मन में अभिमान हो आया कि भगवान् विठोबा मुझसे बातें करते हैं। मैं कितना भाग्यशाली हूँ। ऐसा सौभाग्य भला किसको प्राप्त होगा? एक बार संत-मण्डली उनके गाँव में एकत्रित हुई तथा खूब धूमधाम के साथ सबने हरिकीर्तन किया। पंगत के पश्चात् जब सभा बैठी तो मुक्ता बाई ने गोरा कुम्हार से कहा—देखो, तुम उपस्थित संतों की परीक्षा लो। इनमें पक्का कौन है, कच्चा कौन है—मस्तक पर ठोकरें मार-मार कर सबकी जाँच करो तथा निर्णय दो।

गोरा कुम्हार ने ठोकरें मार-मार कर परीक्षा लेनी शुरू की। इससे किसी संत को हिचक नहीं हुई पर नामदेव महाराज को यह बुरा लगा, उनको अभिमान हुआ कि नीच कुम्हार द्वारा घड़े की परीक्षा की रीति से मेरी परीक्षा होगी!

गोरा कुम्हार ने नामदेव से कहा—महाराज, सबका माथा पक्का है, एक आपका ही कच्चा है। आपको सच्चे गुरु की आवश्यकता है। आपको सर्वव्यापक ब्रह्म का पूर्ण ज्ञान अभी नहीं हुआ है।

नामदेव को आत्मग्लानि हुई। उन्होंने रात्रि में प्रभुसेवा के समय, अपने इष्ट विठोबा से फरियाद की। भगवान् विठोबा ने कहा—गोरा कुम्हार का कहना सच है नामदेव! तुम्हें अभी सर्वव्यापक ब्रह्म का पूर्ण ज्ञान वास्तव में नहीं है, तुम विसोबा खेचर नाम के मेरे प्रिय भक्त के पास जाओ, वही तुम्हें पूर्णज्ञान देगा।

अपने प्रभु की बात सुनकर नामदेव विसोबा खेचर के पास पहुँचे। उस समय विसोबा शिवमंदिर में शिवलिंग के ऊपर पैर रखकर सो रहे थे। विसोबा को भगवत्प्रेरणा से इस बात की जानकारी हो चुकी थी कि नामदेव आ रहे हैं। उन्होंने जानबूझकर उनके ज्ञानचक्षु के उन्मीलन के लिए ऐसा किया था।

नामदेव यह दृश्य देख, विसोबा पर मन ही मन कुपित हुए और उनकी भर्त्सना करते हुए कहा—आप कैसे उज्जड़ हैं महाराज! आपको तनिक भी समझ नहीं है। आप शिव के मस्तक पर पैर रखकर सो रहे हैं, भला यह कौन-सी भक्ति है?

विसोवा ने कहा—आप ही मेरा पैर शिवलिंग से हटाकर किसी ऐसे स्थान पर रख दें, जहाँ शिव न हों। नामदेव विसोबा का पैर जिधर हटाते, वहीं शिवलिंग दिखाई पड़ने लगा, इस प्रकार सारा का सारा मंदिर शिवलिंग से भर गया। नामदेव यह देख, विस्मय में पड़ गये। तब विसोबा ने कहा—गोरा कुम्हार ने ठीक ही कहा था, आपकी हाँडी कच्ची है, जब साधक पर भक्ति-देवी की कृपा होती है तभी उसे सर्वत्र परमात्मा का दर्शन होता है।

करुणामय परमात्मा जड़-चेतन सब में व्याप्त हैं, वे केवल मन्दिरों और तीर्थों में नहीं, चराचर में हैं। वस्तुतः यह संसार परमात्मा का ही स्वरूप है। भगवान् ने गीता में कहा है—

बहूनां जन्मनामान्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥ (७।१९)

अर्थात्, बहुत जन्मों के अन्त के जन्म में तत्त्वज्ञान को प्राप्त जो ज्ञानी पुरुष सब कुछ वासुदेव ही हैं, इस प्रकार मुझे भजता है, वह अत्यन्त दुर्लभ है।

१०. सबके दाता राम

एक बार शिवाजी के राज्य में एक किले का निर्माण हो रहा था। बहुत से मजदूर कार्य कर रहे थे। उन लोगों को देखकर शिवाजी के ही मन में अहंकार हो आया कि मेरे द्वारा इन सभी का भरण-पोषण हो रहा है।

शिवाजी के सद्गुरु समर्थ रामदास जी महाराज बहुत बड़े योगी थे। शिवाजी के अहंकार को वे जान गये और भ्रमण-क्रम में शिवाजी के पास पहुँचे। शिवाजी ने चरण-वन्दना की और नवनिर्मित किले को अपने गुरुदेव को दिखाने लगे। समर्थ गुरु रामदास ने कहा—

शिवा, तू सचमुच पुण्यात्मा है। अगर तू न होता तो इन सबका भरण-पोषण कैसे होता!

रामदास की बात से शिवाजी के अहंकार को पुष्टि मिली। उन्होंने कहा—सब आपकी कृपा है, गुरुदेव!

समर्थ रामदास ने एक शिला-खण्ड की ओर संकेत करते हुए शिवाजी से कहा—शिवा, तू जरा इसे तुड़वा तो दे। शिवाजी ने तुरन्त आदेश का पालन किया। पत्थर को तुड़वाया तो उसके बीच से एक मेढक निकला, जो अन्दर घोंघड़ में बैठा था और पानी से लथ-पथ था। उसे देखकर समर्थ रामदासजी ने कहा—शिवा, कल्याण हो, क्या तूने पत्थर के अन्दर रहने वाले मेढक के भरण-पोषण का भी इन्तजाम कर रखा है!

शिवाजी का अहंकार चूर हो गया। सद्गुरु के चरणों में गिरकर उन्होंने क्षमा याचना की।

सबका पालनकर्ता एकमात्र परमात्मा है। वह हमारे पल-पल का खयाल रखता है। हमें सभी चिन्ताओं का परित्याग कर, उसकी शरण ग्रहण करनी चाहिए। कबीरदास ने कहा है—

पौ फाटा पगुरा हुआ जागा जीवा जून।
सब काहू को देत है, चोंच समाना चून॥
मुरदा हूँ को देत हैं, कफ्फन लकड़ी आग।
जिन्दा नर चिन्ता करे, तिसका बड़ा अभाग॥

११. वासना की डोरी

मथुरा के एक चौबे जी अपने कुछ मित्रों के साथ मथुरा से गोकुल जाने को निकले। नौका से यमुना पार करनी थी। चौबेजी एवं उनके मित्रगण भंग के नशे में थे। नौका किनारे की खूँटी से बँधी रही और वे लोग डाँड चलाते रहे। आपस में वे बातें भी करते रहे कि हम सब शीघ्र गोकुल पहुँच जायंगे। रात भर उन लोगों ने इस प्रकार नाव चलाई। प्रातःकाल जब भंग का नशा टूटा तो चौबे जी सोचने लगे कि यह मथुरा जैसा कौन-सा स्थान आया! उन्होंने किनारे खड़े एक व्यक्ति से पूछा—भाई, यह कौन-सा स्थान है? उत्तर मिला—पागल हो गये हैं क्या चौबेजी! आपको अपना नगर भी पहचान में नहीं आता? तब चौबेजी को अपनी भूल का भान हुआ। नाव तो रस्सी के जरिये घाट से बँधी हुई थी और वे लोग सारी रात नाव चलाने के बाद भी जहाँ के तहाँ ही रह गये।

संसार-सुख के नशे में चूर हो रहे हो न। जब तक वासना की डोरी नहीं टूटती, तब तक प्रभु-दर्शन का लाभ नहीं प्राप्त होगा। भगवान् ने मानस में कहा है—

जननी जनक बंधु सुत दारा। तनु भवन सुहृद परिवारा॥
सब के ममता ताग बटोरी। मम पग मनहि बाँध बर डोरी॥

सांसारिक सुख का उपभोग करने की इच्छा ही महादुःख है। जिसे किसी भी सुख की इच्छा नहीं है, वह सच्चा सुखी है—

चाह गई चिन्ता गई, मनुआ बेपरवाह।
जिसको कछु नहिं चाहिए सोई शाहंशाह॥

१२. गायत्री माता का साक्षात्कार

स्वामी विद्यारण्य मुनि ने गायत्री देवी हेतु चौबीस करोड़ पुरश्चरण किये, पर उन्हें देवी का दर्शन नहीं हो सका। अंत में उन्होंने उदास होकर संन्यास ग्रहण कर लिया। तब उन्हें माता गायत्री के दर्शन हुए। गायत्री माता ने कहा—भक्त, मैं तुझ पर प्रसन्न हूँ। तू जो चाहे माँग ले।

विद्यारण्य मुनि ने कहा—माता जी, जब मैंने घोर साधना द्वारा आपका साक्षात्कार करना चाहा, तब तो आपने दर्शन ही नहीं दिया। अब आप ने स्वयं मुझ पर कृपा की है, इसका क्या कारण है?

गायत्री माता ने कहा—भक्त, तू पीछे मुड़कर तो देख कि क्या हो रहा है।

विद्यारण्य स्वामी ने पीछे की ओर देखा तो चौबीस पर्वत जलते दिखाई पड़े।

उन्होंने गायत्री माँ से पूछा—माँ, यह क्या हो रहा है?

माता ने कहा—ये सारे तेरे पूर्वजन्म के पाप हैं, जो तेरी तपश्चर्या के फलस्वरूप भस्मीभूत हो रहे हैं। जब चौबीस पर्वतों के समान तेरे घोर पाप जल गये तो बाधा हट गयी और मैं सम्मुख आ गयी। देख भक्त, जब तक पापों का क्षय नहीं होता, जीव पूर्णतः शुद्ध नहीं हो पाता और तब तक मेरे दर्शन भी दुर्लभ हैं।

विद्यारण्य स्वामी ने कहा—माँ! अब मैं शुद्ध हुआ, मुझे कुछ माँगना नहीं, केवल तुम्हारी भक्ति चाहिए। गायत्री माँ अमोघ आशीर्वाद देकर विदा हुईं।

साधना करने पर सिद्धि नहीं मिलती तो समझो कि अभी पूर्वजन्म के पाप शेष हैं। साधना के प्रति मन में उपेक्षाभाव मत आने दो। सच्ची निष्ठा से भगवद्स्मरण करते रहो, प्रेम से भगवन्नाम का जप करो। जप से पूर्वकृत पापों का नाश होता है। अनेक जन्मों से यह जीव पाप करता आया है। पाप करने का स्वभाव जप एवं भगवत्कृपा से दूर होता है।

जब भी ऐसी अनुभूति हो कि मन पाप करने जा रहा है, तो जोर-जोर से भगवान् के नाम का कीर्तन करना शुरू करो।

१३. दूषित अन्न का कुप्रभाव

महाभारत में कथा आती है कि जब भीष्म पितामह शरशय्या पर पड़े थे, तब भगवान् श्रीकृष्ण की प्रेरणा से द्रौपदी समेत पाँचों पाण्डव उनके समीप पहुँचे और कुछ कल्याणकारी उपदेश करने की प्रार्थना करने लगे। पितामह तदनुसार जब धर्मोपदेश करने लगे, तो उसे सुनकर द्रौपदी को हँसी आ गयी। शरशय्या पर पड़े-पड़े भीष्म ने द्रौपदी से पूछा—बेटी, तुम हँसी क्यों?

द्रौपदी ने विनम्र स्वर में कहा—अपराध क्षमा करें दादाजी। मुझे कौतूहल हो आया कि इस समय आप जो ज्ञान-चर्चा कर रहे हैं, यह ज्ञान जब मैं कौरवों की भरी सभा में नग्न की जा रही थी, तब कहाँ था?

कुछ क्षण मौन रहकर भीष्म ने कहा—बेटी, तेरा कथन सत्य है। वास्तव में उस समय दुर्वृत्त-दुराचारी दुर्योधन के अन्न से पालित मेरे शरीर में दूषित अन्न का रक्त संचारित था। जिससे मेरा विवेक सुप्त हो गया था। विरोध करने की प्रबल इच्छा होने पर भी, मुझे मौन रह जाना पड़ा। अब वह दूपित रक्त अर्जुन के तीक्ष्ण बाणों से स्रवित हो चुका है, इसी से अब मेरी बुद्धि निर्मल हो गयी है। मैं धर्म-चर्चा कर रहा हूँ। बेटी, शास्त्रकारों ने कहा है—जैसा खाये अन्न, वैसा बने मन।

अन्न-दोष से सर्वदा बचने का प्रयास करना चाहिए। शुद्ध कमाई से अर्जित अन्न को भगवान् को समर्पित कर, प्रसाद रूप में ग्रहण करो। **'त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये'** का भाव होना चाहिए। भोजन को भगवत्प्रसाद जानकर ग्रहण करने से बुद्धि सात्त्विक होती है और मन निर्मल बनता है।

१४. चमड़े का मार्ग

ज्येष्ठ की चिलचिलाती दोपहरी में एक राजकुमार राजमहल से बाहर खेलने निकला। कड़ाके की धूप के कारण धरती तवे के समान जल रही थी। वह व्याकुल होकर राजा के पास पहुँचा और बोला—पिताजी, सभी रास्तों पर चमड़ा बिछा दिया जाय, पाँव जलते हैं।

राजा ने मंत्री को बुलाकर आदेश दिया—सभी सड़कों पर चमड़ा बिछवा दो।

बूढ़े मंत्री ने कहा—महाराज, कहाँ तक चमड़ा बिछवाइयेगा आप? राजकुमार के पैरों में ही चमड़े का जूता क्यों न पहना दिया जाय, जिससे वे जहाँ जायंगे, वहीं उनके लिए चमड़े का मार्ग हो जायगा।

पहले अपने को सुधारो, वही आसान है। तुम सुधरोगे तो जगत् सुधरेगा, अपने को विकार-मुक्त करोगे तो सारा संसार तुम्हें अनुकूल जान पड़ेगा। चराचर में तुम्हें श्रीनारायण के दर्शन होंगे।

१५. उपदेश का प्रभाव

सन्त एकनाथ स्वामी के आश्रम पर एक किसान अपने छोटे पुत्र को लेकर पहुँचा और बोला—महाराज, यह बच्चा रोज चार पैसे का गुड़ खा जाता है। यदि किसी कारणवश पैसा नहीं मिलता तो मुझसे रुष्ट होकर लड़ने लगता है। आप कृपा करें तो इसकी बुद्धि सुधरे।

एकनाथ जी ने कहा—इसे तुम पन्द्रह दिनों के बाद मेरे पास लाना, तब मैं कुछ कहूँगा। किसान लौट गया और पन्द्रह दिनों के बाद पुनः पहुँचा। तब संत एकनाथ ने बच्चे से कहा—देख बच्चा, तू आज से गुड़ मत खाना और अपने पिता से झगड़ा भी नहीं करना। इस वाक्य ने जादू का काम किया। उस दिन से बच्चे ने गुड़ खाना बन्द कर दिया।

कुछ दिनों बाद किसान सन्त के पास फिर पहुँचा और बोला—महाराज, आपके आदेश से बच्चे ने गुड़ खाना तो बन्द कर दिया, किन्तु मैं समझ नहीं पाया कि बच्चे को प्रथम दिन ही आपने वह आदेश क्यों नहीं दे दिया। पन्द्रह दिनों की देर क्यों की?

एकनाथ स्वामी ने मुस्कुराकर कहा—देखो, मुझे स्वयं प्रतिदिन गुड़ खाने की आदत थी। जब तक स्वयं मैं संयम नहीं बरतता, तब तक दूसरों को उपदेश देने से उस पर असर भी नहीं पड़ता। पहले मैंने स्वयं गुड़ खाना छोड़ा, पन्द्रह दिन संयम-नियम रखा और अब मैं किसी को भी गुड़ न खाने का उपदेश करूँ तो उसका प्रभाव भी अवश्य पड़ेगा।

स्वयं आचारनिष्ठ बनो और तत्पश्चात् उपदेश करो, तभी तुम्हारी वाणी में शक्ति आयेगी और जनमानस पर उसका असर होगा, अन्यथा तुम्हारी कोई नहीं सुनेगा।

१६. महानिर्धन धनाढ्य

संत इब्राहीम को किसी ने एक हजार दीनार (सिक्के) भेंट किये। संत इब्राहीम ने कहा कि मैं गरीबों से कुछ नहीं लेता।

इस पर उस दाता ने कहा—सरकार, मैं तो काफी दौलतमंद और अमीर सेठ हूँ, गरीब नहीं।

संत इब्राहीम बोले—अच्छा, तुम यह बताओ कि जितनी दौलत तुम्हारे पास है, उससे ज्यादा पाने की ख्वाहिश तुम्हारी है या नहीं?

—जी, ख्वाहिश तो ज्यादा पाने की हमेशा ही रहती है! दानी बोला।

—तब तो तुम गरीब ही नहीं, बेहद गरीब हो। गरीब की भूख तो शान्त हो सकती है परन्तु उसका पेट नहीं भरता। अधिक धन पाने की हवस को मिटाना मुश्किल है। यह कहते हुए इब्राहीम आगे चल दिये।

१७. निष्काम भक्ति ही सर्वोत्तम

सूफी सन्त शिबली एक दिन अपने हाथ में दो जलती हुई लकड़ियाँ लेकर घूम रहे थे। लोगों ने इसका कारण जानना चाहा तो उन्होंने कहा—मैं इनसे स्वर्ग तथा नरक दोनों को भस्म कर दूँगा, जिससे लोग बिना किसी लोभ और भय के निष्काम भाव से ईश्वर की भक्ति कर सकें। उनका अभिप्राय था कि लोग स्वर्ग-प्राप्ति के लिए या नरक से बचने के लिए यदि भजन-पूजन करते हैं तो ये दोनों भाव ठीक नहीं हैं। फल की कामना रखने पर भक्ति में वास्तविक निखार नहीं आ पाता, मन-मन्दिर में भगवान् का वास नहीं होता। मानस में कहा गया है—

जाहि न चाहिअ कबहुँ कछु, तुम सन सहज सनेह।
बसहु निरन्तर तासु उर, सो राउर निज गेह॥

१८. संशय

एक जिज्ञासु किसी सन्त के पास पहुँचा और उनसे ज्ञान देने की प्रार्थना की। सन्त ने ज्ञान का उपदेश कर दिया। उपदेश सुन लेने के बाद जिज्ञासु को उस पर विश्वास नहीं हुआ। क्या ब्रह्मज्ञान का उपदेश इस प्रकार थोड़े समय में ही पूर्णतः दिया या लिया जा सकता है? उसके मन में शंका उठ गयी। सन्त उसका भाव ताड़ गये। उसके बाद उन्होंने जिज्ञासु से बारह वर्षों तक कठोर तप कराया, कष्टसाध्य सेवा करायी,

धीरे-धीरे वेद भी पढ़ाया। वह लगनपूर्वक गुरु-सेवा में लगा रहा तथा काफी मनोयोगपूर्वक वेदों का अध्ययन करता रहा। अन्त में जिज्ञासु को विदित हुआ कि वेदों के बारह वर्ष पर्यन्त दीर्घकालीन अध्ययन के पश्चात् भी, साररूप में उसे वही ज्ञान मिला, जो सन्त ने अल्प समय के उपदेश में ही उसे प्रदान कर दिया था। संशय के कारण बारह वर्ष निरर्थक हो गये।

सन्त का दो क्षण का उपदेश भी मूल्यवान् होता है। उसे आस्थापूर्वक ग्रहण किया जाय तो फिर जीवन कुन्दन की तरह चमक जाय। धर्मात्मा का नाम लेने से धर्म का उद्रेक होता है, प्रेम उमड़ता है। पापात्मा का खयाल करने से पापों को आधार मिलता है। मन खिन्न होता है, क्रोध आता है। भाव और शब्दों का प्रभाव बहुत होता है, लेकिन सभी प्रकार के रोगों की जड़ है—भ्रम और शंका। संशय सही मार्ग पर बढ़ने से रोकता है। संशय सत्य पर आवरण डालता रहता है।

१९. प्रलोभन के रास्ते

एक राजा था। उसने एक बार घोषणा कर दी कि जो लोग उसके महल में दस घड़ी के भीतर आ जायंगे, उनको वह अपना सारा कोष बाँट देगा और जो नहीं आ सकेंगे, उन्हें राज्य से निकाल देगा।

शहर से राजमहल तक के रास्ते पर भोग-विलास के साधनों का प्रबन्ध कर दिया गया। सभी खाने-पीने की दुर्लभ-सुस्वादु सामग्रियाँ उपलब्ध थीं, जगह-जगह नाच-गाने की मंडलियाँ और नाना प्रकार की मनोहर दृश्यावलियाँ थीं।

शहर के लोग राजमहल की ओर चले। अधिकांश लोग या तो खाने-पीने में लग गये, नाच-तमाशा देखने लगे या इसी प्रकार की अन्य लुभावनी आसक्तियों में पड़कर उलझे रहे और निश्चित समय पर महल के भीतर पहुँच नहीं सके। वे लोग सोचते रहे, जरा इन व्यवस्थाओं का भी तो मजा उठा लें। महल में पहुँचने के लिए काफी समय है। जरा तेज चलेंगे और समय रहते महल के भीतर पहुँच जायंगे। वे इस प्रकार लिप्त हुए कि समय रहते होश न आया। कुछ ज्ञानी मनुष्य भी थे। उन लोगों ने सोचा कि पहले राजा के पास पहुँच जायं, राजकोष पा लें, फिर देखा जायगा। राज्य की अपार निधि की तुलना में इन तुच्छ वस्तुओं की क्या बिसात? यही सोचकर वे सीधे महल की ओर बढ़ते गये। राजा का स्वत्व उन्हीं चन्द विवेकी और ज्ञानी जनों में बँट गया।

परमात्मा ही राजा है। संसार तथा संसार की वस्तुएँ आसक्ति हैं, जो भगवान् के निकट पहुँचने के मार्ग में बाधास्वरूप अवस्थित हैं। अज्ञानी इसमें फँस जाते हैं। ज्ञानी इससे बचकर सीधे भगवान् के निकट पहुँचने का प्रयास करते हैं। ऐश्वर्य को त्याग कर ईश्वर में लीन होना ही श्रेष्ठ है। संसार तो क्षणभंगुर है। इसमें मनुष्य आते-जाते रहते हैं। सम्पूर्ण कर्मों को भगवान् को अर्पित करना और भगवत्प्रेम की लहर में डूबे रहना ही भक्ति है।

२०. साँस का जहर

एक राजा के यहाँ एक ब्राह्मण भण्डारी थे। जब वे भोजन बनाते थे तो उन दिनों राजा के परिवार का कोई सदस्य बीमार नहीं होता था, परन्तु जब वे छुट्टी पर चले जाते थे तो उनका पुत्र भोजन बनाने लगता था। उस अवधि में राजा के बच्चे बीमार हो जाते थे। ऐसा कई बार हुआ।

राजा को इस बात से चिंता हुई। आखिर बच्चे क्यों रुग्ण हो जाते हैं? उन्होंने राजवैद्य को बुलाकर बच्चों के बार-बार रुग्ण होने का कारण पता लगाने को कहा। राजवैद्य पता लगाने में जुट गये। उन्हें आश्चर्य हुआ यह जानकर, राजा के बालक तभी बीमार पड़ते हैं, जब ब्राह्मण-भण्डारी का बेटा भोजन बनाता है।

राजवैद्य के हाथ एक सूत्र लगा। वे उस ब्राह्मण बालक के आचरण का पता लगाने लगे। उन्हें ज्ञात हुआ कि वह बालक विभिन्न प्रकार के नशे का आदी है। जाँचने पर राजवैद्य ने पाया कि उस बालक की साँस के संसर्ग में आते ही, भोजन पर विष का असर हो जाता है। इसी कारण राजा के बालक बीमार हो जाते हैं। कारण पता लगते ही उस ब्राह्मण बालक को, भण्डारी की अनुपस्थिति में भी, भोजन बनाने से वर्जित कर दिया गया।

मनुष्य की साँस में भी जहर रहता है, जो उसकी आदतों, आचरण एवं विचारों से बनता है।

२१. बनने की बात

एक शिष्य अपने गुरु के पास उपदेश के निमित्त गया। गुरु ने कहा—कभी कुछ बनना नहीं, कुछ बनने से बनती हुई बात भी बिगड़ जाती है।

कुछ दिनों बाद गुरु-शिष्य दोनों यात्रा पर निकले। चलते-चलते वे जब थक गये तो विश्राम की बात उठी। उसी समय सामने किसी राजा का राजप्रासाद दिखाई पड़ा। दोनों महल के बगीचे में चले गये और एक विशाल वृक्ष की शीतल छाया में आराम से सुस्ताने के लिए बैठ गये।

अचानक राजमहल के रक्षक सैनिकों की दृष्टि इन पर पड़ी। एक सिपाही ने शिष्य से पूछा—तुम कौन हो जी?

शिष्य ने जवाब दिया—मैं सन्त हूँ।

सिपाही ने व्यंग्य से कहा—तो सन्त महाराज, यहाँ क्या कर रहे हैं? किसकी आज्ञा से यहाँ डेरा डाल दिये हैं? उसने समझा कि राजमहल में अपने अनधिकार प्रवेश के अपराध को छिपाने के लिए ही यह व्यक्ति सन्त होने का स्वांग भर रहा है। सिपाही ने बात से ही शिष्य को अपमानित नहीं किया वरन् शारीरिक कष्ट देकर बगीचे से बाहर निकाल दिया।

फिर उसी सिपाही ने गुरु से पूछा—आप कौन हैं?

गुरु मौन और शांत रहे। उनके चेहरे पर कोई भाव नहीं आया। सिपाही के दुबारा पूछने पर भी गुरु ने कोई उत्तर नहीं दिया। वे राम-नाम में लवलीन रहे। सिपाही ने वेश-भूषा के आधार पर और उनके शान्त मुखमण्डल को देखकर विचार किया कि जरूर ये कोई सन्त हैं। वह बड़े आदर से उनके साथ पेश आया और आव-भगत के बाद उन्हें विदा किया।

शिष्य बगीचे के बाहर गुरु की बाट जोह रहा था। उसे आशा थी कि यह उजड्ड-गँवार सिपाही गुरुदेव की बातों पर भी कान नहीं देगा और उन्हें भी बुरा-भला कहकर बाहर निकाल देगा। उसे संत-असंत की क्या पहचान, किन्तु गुरु के साथ हुए व्यवहार को देखकर उसे बड़ा आश्चर्य हुआ, उसने पूछा—ऐसा क्यों गुरुजी?

गुरु ने बतलाया—तुमने बतलाया कि तुम सन्त हो। तुमने कुछ बनने की चेष्टा की। बात बनी नहीं, बिगड़ गयी। मैं नाम-जप में ही लीन रहा। कुछ बना नहीं। इसी से मुझे आदर मिला। बिगड़ी बात बन गयी। मैं भी तुम्हारी तरह कुछ बनता तो बनती बात भी बिगड़ जाती।

२२. गन्दी नाली का कीड़ा

संसार की जितनी वस्तुएँ हैं, सभी दुःख का मूल हैं। उनके वास्तविक रूप का विचार किया जाय तो संसार से विराग हो जाय और भगवान् के

चरणों में प्रेम उत्पन्न हो। सांसारिक वस्तुएँ केवल ऊपर से आकर्षक एवं सुखप्रद मालूम पड़ती हैं, वे वास्तव में दुःखद ही होती हैं।

एक राजा के महल में एक योगी पधारे। राजा ने उनका बहुत सत्कार किया। उनको राजमहल घुमा-फिराकर दिखाने के बाद राजा ने मुस्कुराकर पूछा—महाराज, यह राजभवन कैसा लगा?

—राजन्, हमको तो इसमें दुर्गन्ध ही मालूम पड़ती है। योगी ने कहा।

—महाराज, आप ऐसा क्यों कहते हैं? पूरा राजमहल साफ-सुथरा है। कहीं गन्दगी नहीं है। फिर दुर्गन्ध कहाँ से आएगी?

—दुर्गन्ध का पता तुम्हें नहीं चलता। इसे समझने के लिए तुम्हें मेरे साथ बाजार तक चलना होगा।

राजा तैयार हो गये। दोनों बाजार की तरफ जा निकले। योगी राजा को बाजार के उस कोने में ले गये, जहाँ कच्चा चमड़ा साफ किया जा रहा था।

—महाराज, जल्दी यहाँ से चलिए। दुर्गन्ध के मारे नाक फटी जा रही है। राजा ने योगी से कहा।

योगी ने कहा—राजन्, यहाँ इतने कर्मचारी काम कर रहे हैं। परस्पर हँस-बोल रहे हैं। इन्हें दुर्गन्ध का भान नहीं है। जरा इनसे भी पूछा जाय।

योगी ने एक कर्मचारी से पूछा—बच्चा, यहाँ इतनी बदबू में तुम लोग कैसे काम करते हो?

उस कर्मचारी ने आश्चर्य से एक बार योगी और राजा को नीचे से ऊपर तक देखा और फिर थोड़ी उपेक्षा से ही जवाब दिया—महाराज, यहाँ तो किसी प्रकार की बदबू नहीं है। आपको बदबू कैसे आती है?

योगी ने राजा से कहा—बच्चा, गन्दी जगह में रहते-रहते आदमी की नाक उसी वातावरण से अभ्यस्त हो जाती है, उसको बदबू मालूम नहीं पड़ती। उसी प्रकार तुम्हारा राजमहल यद्यपि तुमको साफ-सुथरा और सुगन्धयुक्त जान पड़ता है, पर जंगल-पहाड़ में रहने वाले योगी के लिए, वह दुर्गन्धपूर्ण ही है।

२३. निन्दक नियरे राखिए

सतयुग की बात है। एक थे महाराज धर्मव्रत। वे बड़े ही पुण्यात्मा थे। हर काम विवेक से और सोच-समझ कर धर्मसंगत जानकर ही करते थें। एक बार वे जंगल से होकर गुजर रहे थे। रास्ते में तप में लीन एक ऋषि से उन्होंने कुछ जिज्ञासा की। ऋषि ने कोई उत्तर नहीं दिया। ऋषि के उत्तर नहीं देने से धर्मव्रत को क्रोध हो आया और उन्होंने ऋषि के माथे पर घोड़े की लीद डाल दी।

राजधानी लौटकर आने के कुछ दिनों के बाद देवदूतों ने आकर उन्हें बताया—

—स्वर्ग में आपके लिए जो स्थान सुरक्षित था, वह लीद से भर गया है।

—लीद से तो बड़ी दुर्गन्ध निकलेगी। उसे कैसे हटाया जा सकेगा? धर्मव्रत ने विनम्र भाव से पूछा।

—राजन्, यदि लोग आपकी निन्दा करें तो लीद हटेगी, क्योंकि निन्दक निन्दित व्यक्ति के दोष का छठा भाग ले लेता है।

उपाय बताकर देवदूत चले गये। राजा ने धर्म के काम बन्द कर दिये, जिससे नाराज होकर लोग निन्दा करें। प्रजाजनों में राजा की लोकप्रियता घट गयी और लोग उनकी निन्दा करने लगे। स्वर्गस्थित उनके कक्ष में लीद साफ होने लगी। हर स्थान की गन्दगी धीरे-धीरे साफ हुई परन्तु एक कोने में लीद रह गयी, क्योंकि उनके राज्य में एक अति विचारवान् लुहार था, जिसने निन्दा नहीं करने का व्रत ले रखा था।

केवल स्वार्थ-बुद्धि से की गयी निन्दा में पाप है, सद्भाव से की हुई आलोचना में दोष नहीं। गोस्वामीजी ने इसीलिए कहा है—

'निन्दक नियरे राखिए, आँगन कुटी छवाय।'

शब्दों के पीछे नहीं पड़ना चाहिए, उनसे अपमान मानकर अपना चित्त चंचल नहीं करना चाहिए। शब्दों के अर्थ जैसा चाहो, निकाल लो। साधारणतः गाली माने जाने वाले शब्दों के भी व्याकरण-सम्मत सात्त्विक अर्थ निकालकर बतलाये जा सकते हैं।

२४. धन का सदुपयोग

अतीतकाल में एक बहुत ही परोपकारी राजा था। दूसरों का कल्याण कर उसे प्रसन्नता होती थी। वह अपनी सम्पत्ति धार्मिक कृत्यों में और दान में खर्च करके आनन्दित होता था। खुले हाथों खर्च होने से राजकोष पर भार था ही। एक दिन मंत्री ने सूचना दी कि राजकोष तेजी से खाली होता जा रहा है और शीघ्र ही रिक्त हो जा सकता है। अन्त में मंत्री के परामर्श से राजा ने परोपकार और धर्म का काम काफी घटा दिया।

तब एक दिन राजा ने स्वप्न में देखा कि देवदूत राजकोष का सारा धन उठाकर अन्यत्र ले जा रहे हैं। राजा को बड़ा आश्चर्य हुआ। चकित होकर उन्होंने पूछा—आप राजकोष यहाँ से अन्यत्र क्यों ले जा रहे हैं?

देवदूत हँसने लगे। हँसते हुए उन्होंने कहा—अब हम यह कोष ऐसी जगह ले जाएँगे, जहाँ उसका परोपकार के कार्यों में समुचित व्यय होता रहे।

राजा ने विचार किया तो स्पष्ट हो गया।

दया धर्म का मूल है, उसी के साथ दान भी आता है। सब जीवों को भगवान् का अंश समझकर उन पर दया करनी चाहिए।

इसीलिए जहाँ तक हो सके परमार्थ करो और धन को धर्म में खर्च करके सदा यही समझते रहो कि—

मेरा मुझको कुछ नहीं, जो कुछ है सो तोर।
तेरा तुझको सौंपते, क्या लागत है मोर॥

राजा इस बात के मर्म को समझ गया अतः उसने फिर राजकोष को परोपकार में, धार्मिक कृत्यों और दान में खुले हाथों खर्च करना प्रारम्भ कर दिया।

२५. असली दुःख : असली सुख

एक थे महाराज प्रियव्रत। उन्होंने संसार को देखा। बालक निर्बल थे, बिना सहायता के कुछ कर पाना कठिन था। जो जवान थे वे भी दुःखी थे—नून, तेल, लकड़ी में लगे थे, अपनी तृष्णाओं की पूर्ति नहीं होने से दुःखी थे। बूढ़े अशक्त थे फिर भी भोग की इच्छा शेष थी, वे मृत्यु से भयभीत थे और हर क्षण उनका कष्ट में ही बीतता था। सांसारिक जीवन के आदि, मध्य और अन्त तीनों ही दुःखपूर्ण लगे।

विरक्त होकर महाराज प्रियव्रत राज-पाट छोड़कर तपस्वी बन गये। शुकदेव जी को भी उनके पिता व्यास जी ने बहुत समझाया था; पर संसार छोड़कर वे वन में चले गये। गृहस्थ-जीवन तो एक ऐसा बन्धन है जिससे मनुष्य छूट नहीं पाता।

जिस प्रसन्नता को प्राप्त करने पर फिर कभी अप्रसन्नता न हो, जिस सुख को पा लेने पर पुनः कभी दुःख न हो, वही असली प्रसन्नता है, असली सुख है।

२६. नश्वरता

एक राजा ने एक सुन्दर महल बनवाया। कारीगरों ने अपना कमाल दिखाया। राजा ने खुले हाथों खर्च कर उसे सजाया-सँवारा और हर

तरह से सुख-सुविधापूर्ण बनाया। महल बनकर तैयार हो गया तो राजा ने उसे अपने मित्रों को दिखाया और पूछा—कोई दोष हो तो बतलाइए।

—इतना सुन्दर महल तो कहीं देखा ही नहीं। अद्भुत भवन बनवाया है आपने। मित्रों ने राजा के सौन्दर्य-प्रेम की सराहना की और उन्हें स्थापत्य कला का एक दर्शनीय नमूना निर्मित करने के लिए बारंबार बधाई दी। राजा मुदित हुए।

उसी समय एक सन्त भी घूमते-घामते आ गये। राजा ने उनकी आवभगत की और प्रेमपूर्वक भोजन कराया। भोजनोपरान्त राजा ने संत से अनुरोध किया कि वे कुछ ही दिनों पूर्व बनकर तैयार हुए मेरे राजमहल को देखें। सन्त ने बात मान ली। काफी देर तक राजा उन्हें घुमा-फिराकर महल दिखाते रहे। अन्त में उन्होंने पूछा—ऋषिवर, महल कैसा लगा?

—ठीक है। सन्त ने शांत स्वर में कहा। उनके चेहरे पर उदासी छा गयी।

सन्त की खिन्नता को देखकर राजा चौंके—महाराज, क्या महल में कोई दोप नजर आया?

सन्त पहले तो चुप रहे, किन्तु राजा के बार-बार आग्रह करने पर उन्होंने कहा—हाँ, राजन्! इसमें दो दोप हैं। एक तो यह कि यह महल अजर-अमर नहीं, एक दिन टूट जायगा। दूसरा यह कि इस महल को बनाने वाले भी एक दिन नहीं रहेंगे। आखिर इसका क्या प्रयोजन? क्यों न ऐसा कुछ किया जाय, जिससे शाश्वत आनन्द मिले और जिसे कर लेने के बाद और कुछ करने की आवश्यकता ही नहीं रह जाय।

राजा की आँखें खुल गयीं। वे परमात्मा की आराधना करने लगे। महल की निस्सारता उनकी समझ में आ गयी।

२७. मतिभ्रम

एक लालाजी थे। जर्जर-वृद्ध। जीवन में बहुत कमाया था उन्होंने। दाना दलने की चक्की थी उनकी। बुढ़ापे के बावजूद, दाना दलने में लगे थे। दलते जाते और कलपते जाते—अब मर जाता तो अच्छा, इस जीवन से क्या लाभ?

इसी समय एक सिद्ध योगी उधर से होकर निकले। लालाजी की बात सुनकर उनका मन पसीज गया—कितना दुःखी है बेचारा। इसकी सहायता करनी चाहिए। वे उसके निकट गये और कहा—लाला, तू बड़ा दुःखी है। मेरे पास ऐसी विद्या है कि तुझे स्वर्ग पहुँचा दूँ। चलोगे? चलो, इस दुःख और कष्ट से मुक्त हो जाओगे।

—बहुत कृपा है आपकी। मैं धन्य हो गया आपको पाकर। इतना सारा जो संचय किया है, उसे भोगने वाला कोई नहीं। बूढ़ा हो गया परन्तु कोई सन्तान नहीं हुई। एक सन्तान हो जाय तो अवश्य चलूँगा आपके साथ। लाला ने योगी महाराज की ओर देखकर कहा।

—बहुत अच्छा। फिर आऊँगा। कहकर योगी महाराज चले गये।

कुछ वर्षों बाद लाला के दो बेटे हुए। सिद्ध फिर उनके पास पहुँचे—अब तो बेटे हो गये। चाहो तो चलो लाला, तुम्हें स्वर्ग पहुँचा दूँ।

—हाँ महाराज, आपकी दया से सन्तान-सुख तो मिला, लेकिन ये बच्चे अभी नादान हैं। इन्हें छोड़कर चल चलूँ तो पता नहीं इनका क्या हो। जरा ये बड़े तो हो जायं। इन्हें अपने पाँव पर खड़ा देखकर तसल्ली रहेगी।

लड़के बड़े हो गये। साधु फिर आये, किन्तु दुकान पर लाला दिखाई नहीं पड़े। पता चला कि उनका देहान्त हो गया। योगबल से उन्होंने लाला को ढूँढ़ने की चेष्टा की। मरकर लाला गया कहाँ? पता चला कि बाहर जो बैल बँधा है, वही पिछले जन्म का लाला है। वे उसके पास जाकर बोले—अब तो स्वर्ग को चलो लालाजी!

बैल ने बात सुनी और गर्दन हिलाकर इनकार कर गया—कैसे चलूँ? बच्चे नासमझ हैं। इन्हें अक्ल बिल्कुल नहीं। मैं चल दूँ तो वे दूसरा बैल लावेंगे। वह मेरी तरह काम नहीं करेगा। इन्हें क्षति उठानी पड़ेगी। इनका नुकसान कर, मैं नहीं चलता। मन नहीं मानता। कुछ और ठहर जाओ महाराज तो मैं चला चलूँगा।

पाँच-छः वर्षों बाद आने पर साधु को पता चला कि वह बैल अब नहीं रहा। बोझ ढोते-ढोते मर गया। योगबल से देखने से पूर्वजन्म का लाला उन्हें दरवाजे पर ही मिल गया। वह कुत्ता बन गया था। वह घर की रखवाली कर रहा था। साधु महाराज ने फिर उसे स्वर्ग चलने को कहा—लाला, अब चल तुझे स्वर्ग पहुँचा ही दूँ। अब तो बोझ भी तुझे नहीं ढोना है।

कुत्ता बन कर बैठे लाला ने कहा—महाराज, देखते नहीं कि मेरी बहू के शरीर पर कितने गहने हैं। बेटे घर में नहीं। यदि कोई चोर आ जाय तो बहू बेचारी लुट जायगी। उसे कौन बचायेगा? तुम जाओ। अभी मैं स्वर्ग नहीं चल सकता।

कुछ वर्ष के बाद योगी महाराज फिर आये तो लाला, घर के सामने नाली में मेंढक के रूप में पड़े थे। उन्होंने उससे स्वर्ग चलने की बात कही।

बार-बार साधु का आकर टोकना मेंढक रूपी लाला को तनिक नहीं भाया। वह झल्लाकर बोला—क्यों मेरे पीछे पड़े हो बाबा! क्या और लोग मर गये हैं? उन्हें ही ले जाओ। मैं यहीं भला हूँ। आते-जाते पोते-पोतियों का मुँह देख लेता हूँ तो मन प्रसन्न हो जाता है। स्वर्ग में क्या तुम्हारा मुँह देखकर निहाल होऊँगा? मेरा पिंड छोड़ो बाबा। मैं नहीं जाता स्वर्ग। मेरा स्वर्ग तो इसी नाली में है।

योगी महाराज अपना-सा मुँह लेकर चले गये। लाला अपनी जगह पड़े रहे। प्रभु के रूप में आये आत्मोन्नति के सुअवसर को बार-बार खोकर वे अधोगति को प्राप्त होते रहे, लेकिन मन से मोह नहीं गया।

यही है, कर्म का चक्र। जिसमें फँसकर जन्मों का चल रहा अन्तहीन क्रम टूटता नहीं। यही माया है। सबको नचा रही है। इसमें फँसकर उबरना मुश्किल है। यह मोह आत्मा को लक्ष्य-भ्रष्ट कर देता है और वह अपने वास्तविक रूप को भूलकर प्रपंच में पड़ा रहता है। साधु-सन्त आकर उसे बार-बार याद दिलाते हैं। उसके सही स्वरूप की ओर संकेत करते हैं, लेकिन उसमें कोई सुधार नहीं होता। वास्तविक शाश्वत आनन्द से दूर भागकर वह बार-बार दुःखों की चक्की में पिसता है।

जल में नाव का रहना अच्छा होता है, पर नाव में जल का होना अच्छा नहीं होता। शरीर संसार में रहे तो कोई हानि नहीं; परन्तु शरीर में संसार का होना अच्छा नहीं।

२८. कल्याणकारी दण्ड

कागभुशुण्डि बड़े ज्ञानी एवं विद्वान् ऋषि थे। सगुण-निर्गुण रूप को लेकर उन्होंने लोमश ऋषि से हठपूर्वक बहुत विवाद किया था। विवाद से लोमश ऋषि क्रोधित हो गये थे और उनके शाप से काकभुशुण्डि

ऋषि को कौए का शरीर मिला किन्तु लोमश ऋषि ने ही पीछे उनको राम-मंत्र दिया तथा अविचल रामभक्ति में सुदृढ़ कर, अविद्या से उन्हें स्थायी मुक्ति दी।

साधु पुरुषों और सन्तों का हृदय वस्तुतः नवनीत के समान कोमल होता है। वे क्रोध भी करते हैं तो कल्याण के लिए ही। ईर्ष्या से दिया हुआ दण्ड ही बुरा होता है। दया से और कल्याण भावना से दिया हुआ दण्ड आशीर्वाद होता है।

२९. जाति न पूछो साधु की

चित्तौड़ की महारानी सन्त रैदास की शिष्या बन गयीं। इससे ब्राह्मणों को बड़ा क्षोभ हुआ। भक्त रैदास हरिजन थे। महारानी को किसी ब्राह्मण गुरु से दीक्षा लेनी चाहिए। चारों तरफ से प्रबल विरोध का स्वर उठ खड़ा हुआ। इससे राजा ने विचार किया कि क्यों नहीं इस बात की परीक्षा ही कर ली जाय कि कौन श्रेष्ठ भक्त है, जिसका शिष्यत्व स्वीकार किया जाय। निश्चित हुआ कि जिस भक्त की पूजा से भगवान् की मूर्ति निकट आ जायगी, उसे ही मान्यता मिलेगी।

पहला अवसर ब्राह्मणों को ही मिला। पूजा-अर्चना होने लगी। स्तुति के श्लोक पढ़े जाने लगे। समवेत स्वर सर्वत्र गूँज गया, किन्तु कोई फल नहीं हुआ। मूर्ति टस-से-मस नहीं हुई। अन्त में भक्त रैदास की बारी आयी। वे भाव-विह्वल हो गये। उनकी आँखों से अश्रुधारा बहने लगी। वे करुण स्वर में गाने लगे—हे प्रभु! या तो अपना पतितपावन नाम चरितार्थ करो या मुझे ही अपने पास बुला लो। उनकी भावनिष्ठा एवं भक्ति का आवेग इतना प्रबल था कि भगवान् की मूर्ति स्वतः उनकी छाती से सट गयी। भक्त रैदास परीक्षा में सफल हुए। वे सर्वश्रेष्ठ भक्त माने गये।

भक्ति में भाव असल चीज है। विह्वल होकर, शरणापन्न होकर जो प्रभु को पुकारेगा, उसे उनके दर्शन होंगे। भक्ति जाति का सापेक्ष नहीं है। 'जाति न पूछो साधु की।' भक्त जाति से परे है, वर्ग से परे है, रंग से परे है। भक्त को भगवान् ने अपने से भी श्रेष्ठ माना है। '**मद्भक्ता यान्ति मामपि**' जब भक्त और भगवान् एक हो गये तो फिर भक्त की श्रेष्ठता की तुलना किससे की जा सकती है?

हिन्दू समाज में ब्राह्मण का बड़ा महत्त्व है, किन्तु भक्ति में कोई जाति-वर्ण नहीं। भक्ति से माया डरती है। ईश्वर से और जाति से कोई सम्बन्ध नहीं। जाति और कुलीनता के प्रभाव में जो डूबा रहता है, उसका उद्धार नहीं होता।

३०. भक्तों की महिमा

महाराज युधिष्ठिर ने राजसूय यज्ञ किया। खूब दान हुआ। हजारों-हजार ऋषि-मुनि-ब्राह्मण जेवनार में जुटे। खूब चहल-पहल रही। यज्ञ की सफलता का चिह्न माना गया है कि आकाश से स्वतः घंटा की ध्वनि होने लगती है। यज्ञ की पूर्णाहुति हो गयी, न मालूम कितने मन धूप-घृत हवन में डाल दिये गये किन्तु आकाश से घंटा ध्वनि नहीं हुई। सब परेशान कि यज्ञ में कौन-सी त्रुटि रह गयी?

त्रुटि का पता नहीं चल रहा था। युधिष्ठिर उदास थे। शेष चारों भाई भी खिन्न थे। ब्राह्मणों से पूछ-ताछ की गयी। कोई सामवेद का ज्ञाता था, कोई ऋग्वेद का, कोई यजुर्वेद का पंडित था तो कोई अथर्ववेद में पारंगत था। बहुत से विप्र एकाधिक वेदों में भी प्रवीण थे। एक से एक धुरन्धर पंडितों का जमघट था। सभी वेद-शास्त्रों के अधिकारी ज्ञाता और महापंडित उपस्थित थे। फिर भी यज्ञ में कहाँ किससे क्या त्रुटि हुई, इसका पता नहीं चल रहा था।

अन्त में युधिष्ठिर श्रीकृष्ण के पास पहुँचे—भगवान्, यज्ञ करना व्यर्थ हो गया। हमें सफलता नहीं मिली। कारण समझ में नहीं आता। आप ही इस संकट से हमें उबार सकते हैं।

श्रीकृष्ण मुस्कुराये—महाराज, आपने जितने ब्राह्मणों को आमंत्रित किया है जो यज्ञशाला में पधारे हैं, वे सब-के-सब अपनी विद्या के अहंकार से दग्ध हैं। उनमें भक्ति का लेशमात्र नहीं है।

—तो क्या किया जाय? क्या राज्य में कोई भी सच्चा भक्त नहीं? युधिष्ठिर ने पूछा।

—है क्यों नहीं, महाराज। आप अमुक भक्त को प्रेमपूर्वक बुलाइए और सादर भोजन कराइए। श्रीकृष्ण ने जिस भक्त की बात कही, वह एक श्वपच था।

युधिष्ठिर परामर्श के अनुसार स्वयं जाकर उस भक्त को भोजन के लिए बुला लाये। महारानी द्रौपदी ने बड़ी स्वच्छता से स्वादिष्ट भोजन तैयार किया। भक्तराज आसन पर विराजमान हुए। द्रौपदी ने स्वयं परोसकर भोजन का थाल उनके सम्मुख रखा। तरह-तरह के व्यंजन परोसे गये। भक्तराज खाने लगे। पहले ही ग्रास के साथ आकाश में घंटे की ध्वनि हुई, किन्तु घण्टा दुबारा नहीं बजा।

फिर कोई दोष रह गया है—श्रीकृष्ण ने कहा। किन्तु बहुत छानबीन के बाद भी किसी त्रुटि का पता नहीं चल सका। अन्त में द्रौपदी ने ही बतलाया—जब भक्त सारे व्यंजनों को एक में ही मिलाकर खाने लगे तो मेरे मन में निन्दा का भाव आया कि वस्तुतः यह है तो भंगी ही, उत्तम भोजन ग्रहण करने का ढंग कैसे जानेगा!

भक्त के इस अपमान के बदले में दुबारा व्यवस्था कर उन्हें खिलाया गया। द्रौपदी ने सचमुच इस बार बड़े प्रेम से उन्हें भोजन कराया। हर ग्रास पर बजने वाली घंटा-ध्वनि से आकाश गूँज उठा। युधिष्ठिर का यज्ञ सफल हो गया।

भक्तों की बड़ी महिमा है। उनकी कोई जाति नहीं होती, वर्ण नहीं होता, धर्म नहीं होता। एकमात्र प्रभु के चरणों में सर्वतोभावेन गिरकर अपने को समर्पित कर देना ही उनका उद्देश्य होता है। इसीलिए कहा जाता है कि भक्त भगवान् से भी बड़े होते हैं।

३१. मुसाफिरखाना

एक राजा के महल में एक फकीर चला गया। राजा ने पूछा—बिना अनुमति के क्यों चले आये?

फकीर ने कहा—मुसाफिरखाना है। चला आया हूँ। मुसाफिरखाने में जाने के लिए इजाजत की क्या जरूरत?

—मुसाफिरखाना नहीं, यह तो मेरा राजमहल है। राजा ने किंचित् क्रोध से कहा।

—इसे किसने बनवाया? फकीर ने राजा से पूछा।

—मेरे स्वर्गीय पूर्वजों ने बनवाया।

—आपके पहले कौन रहता था इसमें?

—मेरे पिता जी।

—उनके पूर्व?

—मेरे पितामह।

—उनके पहले?

—उनके पिता और पितामह...

—इसी से तो मैं कहता हूँ कि यह मुसाफिरखाना है। जो यहाँ आता है, वह टिकता नहीं। जितने आये, चले गये। तुम्हारे पिता या पितामह या अन्य पूर्वज महल को यहीं छोड़कर चले गये। तुम्हारा यह महल ही क्या, पूरा संसार मुसाफिरखाना है।

फकीर की बातों ने राजा के मन को झकझोर दिया। उसे संसार की नश्वरता का ज्ञान हो गया। नश्वर पदार्थों और क्षणिक सांसारिक आनन्दों के पीछे भागते रहना ही अज्ञान है। सच्चा ज्ञान तो प्रभु के चरणों में शरणागत होना है।

३२. असली सेवा

सिन्धु के तट पर एक सन्त भीषण गर्मी में बैठे तपस्या कर रहे थे। उन्हें गर्मी का बिल्कुल ध्यान नहीं था। सिकन्दर ने जाकर उनसे पूछा—महाराज, मैं आपकी सेवा करना चाहता हूँ। आदेश कीजिए।

उस समय सिकन्दर की छाया उन महात्मा के शरीर पर पड़ रही थी। उन्होंने सिकन्दर की ओर बिना देखे ही कहा—तू मेरे मनन, चिन्तन और तपश्चर्या में व्यवधान डाल रहा है। यदि इसी समय यहाँ से चला जा तो मेरी बड़ी सेवा करेगा।

जो सन्त होते हैं, उन्हें परमात्मा की आराधना से बढ़कर, अन्य कोई वस्तु नहीं सुहाती।

३३. भगवान् को भक्त की चिन्ता

एक बार श्री रंगनाथ जी के मन्दिर के एक पुजारी कावेरी में स्नान कर रहे थे। उसी समय एक चाण्डाल वहाँ स्नान करने को उतर आया। भगवान् के प्रेम-रस में वह विह्वल था। प्रभु-प्रेम में विभोर होने से उसकी दृष्टि पुजारी पर नहीं पड़ी। पुजारी श्वपच को देखकर आग-बबूला हो गये। उसकी ढिठाई को देखकर क्रोध की सीमा नहीं रही। क्रुद्ध पुजारी ने एक पत्थर उठाकर श्वपच पर फेंका। पत्थर उसके ललाट पर लगा। ललाट से रक्त की धारा बहने लगी। चोट के कारण वह श्वपच कुछ क्षणों के लिए मूर्च्छित-सा हो गया। कुछ क्षणों के बाद वह सम्भल गया और विनय भरे स्वर में अपने अपराध के लिए पुजारी से क्षमा माँगने लगा।

—मेरी भूल के कारण आपको क्रोध करना पड़ा। इतने समय तक भगवान् की पूजा-अर्चना में विघ्न हो गया। पूजा में विलम्ब करवाने के कारण आपने मुझे उचित ही दंडित किया।

आप कृपालु हैं। मुझे क्षमा करें। श्वपच के बार-बार कहने और गिड़गिड़ाने पर पुजारी का क्रोध शांत हुआ। पुजारी पुनः स्नान करने में लग गये।

स्नानादि से निवृत्त होकर पुजारी शीघ्र ही मन्दिर लौट आये। पूजा की सामग्री लेकर जब वे मन्दिर के भीतर श्री नाथ जी के विग्रह के निकट गये तो उन पर दृष्टि पड़ते ही विस्मित हो गये। विग्रह के ललाट से रक्त की धारा प्रवाहित हो रही थी। पूजा-सामग्री रखकर वे व्यग्रतापूर्वक उस रक्त-स्राव को रोकने की चेष्टा करने लगे। काफी प्रयास के पश्चात् भी जब लहू का बहना नहीं थमा तो पुजारी जी घबराये।

व्यग्र पुजारी की घबराहट को देखकर उसी समय श्री रंगनाथ जी का आदेश हुआ—तुमने मेरे भक्त को पत्थर मारा। उसे भक्त नहीं, श्वपच समझा। यह नहीं सोचा कि मेरा प्रेम ही उसे पागल बनाये हुए है।

—अपराध हो गया प्रभु, क्षमा करें। रक्त-प्रवाह का शमन करें। मुझ पर कृपा करें।

—उस श्वपच भक्त को कन्धे पर बिठाकर जब तक तुम मन्दिर की परिक्रमा नहीं करोगे, रक्त बहना बंद नहीं होगा।

पुजारी भगवान् के आदेश के आगे नतमस्तक हुआ। उसकी दृष्टि निर्मल हो गयी। उसने ऐसा ही किया। ना-ना कहते रहने पर भी उसने श्वपच को कन्धे पर बिठाया और मन्दिर की परिक्रमा करने लगा। परिक्रमा के बाद विग्रह के ललाट से रक्त का बहना अवरुद्ध हो गया।

भगवान् का प्रेम ही वास्तविक है। भक्ति का मार्ग ही उत्तम है। इसे अपनाना चाहिए। भगवान् को भक्तों की चिन्ता करनी ही पड़ती है।

३४. हृदय-परिवर्तन

एक संत के यहाँ चोर आये। सन्त ने पूछा—क्या चाहते हो?

चोरों ने कहा—हमने सुना है कि मन्दिर के लिए तुमने काफी धन संग्रह किया है। सारा धन हमें दे दो।

—जाओ, सामने उस स्थान पर रखा है, ले लो। सन्त ने चोरों को धन रखने का स्थान दिखाकर कहा।

चोर उस स्थान पर गये। जहाँ पर रखा धन मिल गया। उन्होंने गिना तो राशि सन्त के अनुसार ही निकली।

—आपने इतने श्रम से मन्दिर के लिए धन एकत्र किया था फिर हमें सहज ही क्यों दे दिया? चोरों ने सन्त से प्रश्न किया। सन्त के आचरण ने उनके हृदय में सोचने-विचारने की प्रेरणा जगा दी।

—असत्य कैसे बोलता भाई। भगवान् का स्मरण, नाम-जप, पूजन सब तो सत्य की पूजा है। मन्दिर के लिए जो धन होगा, वह मन्दिर में ही लगेगा। इस विश्व में भगवान् से परे कुछ नहीं है। सब में भगवान् ही विराजते हैं और सभी भगवान् के ही रूप हैं। मेरे में भी वही हैं, आपमें भी वे ही हैं। फिर असत्य और छल-कपट का आचरण किससे किया जाय? किससे क्या छिपाया जाय? हमारे लिए तो जैसे भगवान् का नाम प्रिय है, वैसे ही आप प्रिय हैं। आपके प्रति मेरे मन में तो कोई राग-द्वेष नहीं है। मैं तो मानता हूँ कि आप लोगों के रूप में भगवान् ही अपने मन्दिर के लिए एकत्र धन ले जाना चाहते हैं। आप निश्चिन्त होकर ले जायं। कुछ अन्यथा न सोचें।

सन्त के भाव और प्रेम ने चोरों को काफी प्रभावित किया। उनकी आँखें खुल गयीं। उन्होंने सन्त के चरणों पर गिरकर क्षमा माँगी—हमें क्षमा करें। यह धन तो मन्दिर के निर्माण में ही लगेगा। हमारे पास भी कुछ धन है। उसे भी मन्दिर में लगा देने की आज्ञा दें।

मन्दिर का निर्माण हुआ। उन चोरों ने बड़ा श्रम किया और अपने पास का धन भी मिलाकर मन्दिर को अधिकाधिक भव्य बना दिया।

अहिंसाव्रती के सामने हिंसक जीव अपनी हिंसा वृत्ति भूल जाते हैं। सिंह अपने बच्चों को नहीं खाता, क्योंकि वह समझता है कि उनसे उसकी हानि नहीं होगी। जो भी उसके प्रति अहानिप्रद हो जायगा, वह उस पर हिंसा का भाव नहीं करेगा। सद्वृत्तियों के सान्निध्य में कुवृत्तियाँ भी बदल जाती हैं। प्रेम और सत्याचरण ही हृदय-परिवर्तन कराने में सक्षम होता है।

३५. सन्त की महत्ता

एक बार एक सन्त नाव पर कहीं जा रहे थे। वे कभी राजा थे, किन्तु अब वे संसारी वैभव छोड़ चुके थे। राम-नाम की लौ लगाकर वे सन्त हो गये थे। उस नाव का मालिक एक दुष्ट प्रकृति का आदमी था। सद्व्यक्ति उसे सुहाते ही नहीं थे। सन्त को चुपचाप शान्त बैठे देखकर उसे बुरा लगा। उसने अकारण ही उनके मुँह पर जोर से एक थप्पड़ मार दिया। सन्त ने उसे मुस्कुराकर देखा और फिर ध्यानमग्न हो गये।

वह दुष्ट व्यक्ति चिढ़कर दूसरा थप्पड़ मारना ही चाहता था कि आकाशवाणी हुई—इस दुष्ट को दण्ड मिले अतः नाव को डुबो दिया जायगा।

—नहीं भगवान्, ऐसा दण्ड मत दें। सन्त ने प्रार्थना की।

—तब केवल इस दुष्ट को डुबो दिया जाय। फिर आकाशवाणी हुई। सन्त ने फिर इसका विरोध किया—यह दण्ड बहुत कड़ा हो जायगा प्रभु।

—तो फिर इस दुष्ट को क्या दण्ड दिया जाय?

सन्त ने उत्तर दिया—इसे विवेकशील बना दिया जाय और इसकी बुद्धि धर्म तथा ईश्वर की ओर कर दी जाय। यही दण्ड ठीक रहेगा।

'एवमस्तु' आकाशवाणी से स्वर उभरा और सन्त फिर ध्यानमग्न हो गये।

नाव के गन्तव्य तट पर पहुँचने तक उस दुष्ट मनुष्य का मन शुद्ध होकर भगवान् के चरणों की ओर उन्मुख हो चुका था। वह उसी समय सन्त के चरणों पर गिर पड़ा और अपने अपराध के लिए उसने गिड़गिड़ाकर क्षमा याचना की।

यह है सन्त की बड़ाई। सन्त का क्रोध भी दया से प्रेरित था, जिससे एक अत्यन्त अधमवृत्ति के मनुष्य का भी उद्धार हो गया। दयाबुद्धि से दण्ड देना पुण्य है, अच्छा है। यही सन्तवृत्ति होती है। हिंसा अथवा ईर्ष्या की बुद्धि से दण्ड देना पाप है, तामसी वृत्ति का द्योतक है।

३६. ईर्ष्या

एक भक्त थे। बड़े श्रद्धालु। पूरी आस्था से वे माँ शक्ति की पूजा-अर्चना करते थे। उनकी भक्ति से देवी प्रसन्न हो गयीं। वे उनके सम्मुख प्रकट हुईं और भक्त को वरदान के रूप में उन्होंने एक सुन्दर शंख दिया।

—माँ, मैं इस शंख का क्या करूँगा?

—जिस किसी भी वस्तु की इच्छा हो, जिस किसी पदार्थ की जरूरत हो, तुम इस शंख को फूँक देना। तुम्हारी कामना पूरी हो जायगी, किन्तु एक बात याद रखना कि इस शंख को फूँकने से जितना तुमको प्राप्त होगा, उससे दुगुना तुम्हारे पड़ोसी को भी प्राप्त होगा।

देवी वरदान देकर अन्तर्ध्यान हो गयीं। भक्त शंख पाकर अत्यन्त प्रसन्न हुआ। हर वरदान होता ही है दूसरों को लाभ पहुँचाने के लिए। सिद्धियाँ तभी सार्थक होती हैं जब उसका उपयोग जनकल्याण के लिए हो। उस भक्त को शंख पाकर आनन्द तो हुआ लेकिन उसके साथ लगी शर्त उसे अच्छी नहीं लगी।

वर्षों तक कठोर तप करने पर उसे वरदान मिला और उससे बिना कुछ किये-कराये पड़ोसी को दूना लाभ हो जायगा—यह सोच-सोच कर भक्त बहुत परेशान हुआ। उसे पहली बार देवी के न्याय पर सन्देह हुआ।

भक्त जब घर पहुँचा तो उसे एक सुन्दर घर की कमी महसूस हुई। रहने के लिए एक अच्छा मकान तो चाहिए ही। उसने कामना की कि उसकी कुटिया राज-प्रासाद की तरह सुन्दर बन जाय। उसके शंख फूँकते ही महल बनकर तैयार हो गया। भव्य अट्टालिका खड़ी हो गयी। बड़ा प्रसन्न हुआ वह। घूम-घूम कर देखने लगा। जब वह सिंहद्वार से बाहर निकला तो ठगा रह गया। उसके प्रासाद के ठीक सामने वैसे ही दो भव्य महल खड़े थे। वे पड़ोसी के थे। भक्त का चेहरा उतर गया। तप किया उसने और पड़ोसी को मुफ्त में दुगुना लाभ हुआ। वह बेचैन रहने लगा।

उसे धन की जरूरत हुई। वह शंख फूँकना नहीं चाहता था। उसने अन्य उपायों से धन प्राप्त करने की सोची, किन्तु वैसा संभव नहीं हुआ। कोई उपाय नहीं देखकर उसने शंख फूँक दिया। शंख के फूँकते ही उसके सामने हीरे-मोती-जवाहरातों की बड़ी-सी ढेर लग गयी। उसने मालूम किया तो पड़ोसी के यहाँ वैसी दो ढेरों का पता चला। वह कुढ़ने लगा। पड़ोसी की अनायास उन्नति उसे बुरी तरह खटकने लगी। वह इसके निराकरण का उपाय सोचने लगा। आखिर उसे रास्ता सूझ गया।

वह दौड़कर पूजाघर में गया और उसने कामना की—मेरे महल के सामने चार कुएँ खुद जायं। शंख के बजते ही महल के प्रमुख द्वार के सामने चार कुएँ खुद गये। उसके पड़ोसी के भवन के सम्मुख भी आठ कुएँ बन गये। भक्त प्रसन्न हो गया। उसे यह सोच-सोच कर खुशी हो रही थी कि चलो, पड़ोसी का कुछ तो रास्ता रुका। वह भूल गया कि रास्ता तो उसका भी रुक गया है।

ईर्ष्या की आग में बड़ा उत्ताप होता है। वह जंगल की आग की तरह होती है। इसकी जलन में आदमी विवेक खो देता है और अपनी हानि उठाकर भी दूसरों की क्षति करने को उद्यत रहता है। उस भक्त ने भी यही किया। उसने कामना की कि उसकी एक आँख फूट जाय। शंख बजाते ही उसकी एक आँख चली गयी। वह काना हो गया। फिर भी उसे सुख मिला कि चलो पड़ोसी तो दोनों आँखों से हाथ धो बैठा।

ईर्ष्या ऐसी ही बुरी है। ईर्ष्या करने वाले का तो अनहित होता ही है, उसके संगी-साथी और पास-पड़ोस का भी अनभला हो जाता है। वह अपना ही नहीं, पड़ोसियों का भी बुरा करता है।

३७. चिन्ता

एक साधु था। जंगल में रहता और कन्द-मूल खाता। वह झरने का शीतल जल छककर पीता था और किसी पेड़ की छाँह में सोता रहता। एक बार उसने दौड़ते हुए एक हाथी की पूँछ पकड़ ली तो वह वहीं रुक गया। साधु के बल की चर्चा सर्वत्र होने लगी। बात धीरे-धीरे राजा के कानों तक पहुँची। उन्हें भी कौतूहल हुआ। वह जंगल में गया और साधु के विशाल शरीर को देखकर मुग्ध हो गया। उसने हाथ जोड़कर उस साधु से प्रार्थना की—महाराज, आप तो इस राज्य के गौरव हैं। आपकी सेवा करना राज्य का धर्म है। आप रूखा-सूखा खाकर क्यों जंगल में पड़े रहते हैं? आप कृपया महल में पधारिए और वहीं आराम से रहिए।

—नहीं राजन! मैं यहीं ठीक हूँ। मुझे तुम्हारे राज्य और राजमहल से क्या लेना-देना? साधु हूँ। भिक्षाटन मुझे पसन्द नहीं है। मैं मुफ्त की मलाई नहीं उड़ा सकता।

—किन्तु आपसे काम भी क्या लिया जा सकता है? साधु-सन्तों से सेवा लेना धर्म और शास्त्र के विरुद्ध है। राजा ने कहा।

—बिना काम किये मैं अन्न-जल कैसे ग्रहण कर सकता हूँ? अतः आप मुझे यहीं छोड़ दीजिए।

साधु की बात सुनकर राजा सोचने लगा। कुछ देर के बाद उसने साधु से कहा—एक काम आप कर सकते हैं?

—क्या?

—महल में जो भगवान् का मन्दिर है, उसमें बिना नागा किये आप सात बजे संध्या को दीपक जला दिया करें। घी, दीपक, बाती सब आपको मिल जायगा, किन्तु ठीक समय पर दीपक जलाना आपका काम होगा। साधु-सन्त से भगवान् की सेवा लेने में कोई हर्ज नहीं।

राजा की बात सुनकर साधु तैयार हो गया। वह जंगल से महल में आकर रहने लगा। कन्द-मूल फल खाने वाला वह साधु अब राजसी भोजन पर ही पलने लगा। छप्पनों प्रकार के भोजन साधु डटकर करने लगा। इसी प्रकार एक मास व्यतीत हो गया। राजा ने सोचा कि शक्ति तो अब काफी बढ़ गयी होगी। तो क्यों नहीं उनकी ताकत का कमाल देखा जाय।

दूसरे ही दिन व्यवस्था हुई। एक हाथी दौड़ाया गया और साधु बाबा उसकी पूँछ पकड़कर उसे रोकने की चेष्टा करने लगे। आश्चर्य की बात यह हुई कि बेचारे साधु महाराज हाथी की पूँछ के साथ घिसटने लगे। हाथी रुकवा दिया गया। राजा ने सविनय पूछा—बड़े आश्चर्य की बात है। जब आप रूखा-सूखा खाकर जंगल में रहते थे तो आप इतने शक्तिमान् थे कि दौड़ते हुए हाथी को रोक देते थे। अब आपको राजसी सुख-सुविधा प्राप्त है तो आपकी शक्ति खत्म हो गयी। क्या कारण है इसका?

—इसमें अचम्भे की बात नहीं है। यह सच है कि जब मैं जंगल में रहता था तो प्राय: उपवास करना पड़ता था या नदी का ठंडा जल ही अंजुली भर-भर कर पी लेने से तृप्ति हो जाती थी, किन्तु उस समय मुझे चिन्ता नहीं थी। निश्चिंत रहता था। अब राजसी भोजन तो मिलता है, पर ठीक समय पर मन्दिर में दीप जलाने की चिन्ता सिर पर हरदम सवार रहती है। यह चिन्ता का ही कमाल है महाराज।

चिन्ता बड़ी बुरी चीज है। यह चिता के समान है। यह मन को एकाग्र नहीं होने देती और शक्ति क्षण-क्षण छीजती रहती है।

चाह गयी, चिन्ता गई, मनुआ बेपरवाह।
जिनको कछु न चाहिये, वे ही शाहंशाह॥

३८. नम्रता

एक महात्मा थे। सौ वर्षों से भी अधिक उम्र थी। साधना से शरीर की कसावट अभी ठीक थी। उनके शिष्यों को उनमें बड़ी श्रद्धा थी। वे उनका बड़ा आदर करते थे। सन्त को भान हुआ कि अब अन्तकाल निकट है। अत: एक दिन उन्होंने अपने शिष्यों को पास बुलाया। सभी धीरे-धीरे आकर उनके निकट बैठ गये।

महात्मा ने प्रत्येक शिष्य से कहा—जरा मेरे मुँह में देखो तो कितने दाँत बचे हैं?

दाँत तो महाराज, कब के गिर चुके हैं। अब तो एक भी नहीं है। शिष्यों ने उत्तर दिया।

—जिह्वा तो है न? सन्त ने फिर पूछा।

—जी हाँ, जीभ तो विद्यमान है।

—यह कैसे हुआ? जीभ जन्म के समय भी मौजूद थी। दाँत बाद में निकले। पीछे आने वाले को पीछे जाना भी चाहिए। ये सबके सब दाँत पहले ही क्यों खिसक गये?

महात्मा जी का प्रश्न गूढ़ था। शिष्यों ने माथापच्ची की। कोई कारण समझ में आना सहज न था। उन्होंने एक स्वर से आग्रह किया—हमें तो कोई कारण नहीं दिखता कि ऐसा क्यों होता है? आप ही कृपाकर बतलावें।

—यही समझाने के लिए तुम लोगों को मैंने बुलाया है। जीभ को देखो। कितनी नरम है, कितनी गुलगुल है। जिधर से चाहो, जैसे चाहो मोड़ लो। इसमें तनिक भी कठोरता नहीं है। जिह्वा की नम्रता ही इसे बनाये रखती है। दाँत पीछे आकर भी पहले टूट गये क्योंकि वे कठोर हैं। दाँतों को अपनी कठोरता पर घमंड होता है। महात्मा ने समझाया।

नम्रता बड़ी चीज है। इससे सफलता मजबूर होकर चरण चूमती है। अधिक दिनों तक जीवित रहना चाहते हो तो नम्र बनो, कठोर मत बनो। कठोरता विनाश का मार्ग बनाती है और उदारता एवं नम्रता उन्नति का पथ प्रशस्त करती है। जो नम्र हैं, वे प्राय: दूसरों के गुण ही देखते हैं और कठोर व्यक्ति दूसरों के दोष ढूँढ़ते हैं। इसीलिए **'उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्।'** कहा गया है।

३९. कर्त्तव्य

ऋग्वेद की एक कथा है। बड़ी अर्थपूर्ण है। पुरंजय नाम के एक सम्राट् थे। बड़े पुण्यवान्, प्रतापी और धार्मिक थे वे। उन्होंने कई यज्ञ किये थे। देवगण उनके मित्र थे। ऋषियों की उन पर कृपा थी। प्रजा उन्हें मानती थी, उन्हें अपना हितैषी समझती थी। सम्राट् पुरंजय के अधीन कई राजा थे। उन राजाओं को भी वे अपना मित्र मानते थे। धर्म के अनुकूल आचरण करना ही सम्राट् का स्वभाव था।

एक बार पुरंजय ने राजसूय यज्ञ ठान लिया। बड़े-बड़े ऋषि-महर्षि बुलाये गये। पूर्ण विधिविधान से यज्ञ के कार्य शास्त्रोक्त ढंग से हो रहे थे। वेद-ध्वनि से दिशाएँ गूँज रही थीं। हवनकुण्ड में अग्नि की पवित्र लपटें राजा के यज्ञ को उज्ज्वल बना रही थीं। अन्तिम दौर था। पूर्णाहुति होने में अधिक विलम्ब नहीं था।

इसी समय एक किसान वहाँ धड़धड़ाता हुआ आ पहुँचा। साधारण वेशभूषा वाला वह कृषक देखने से ही दीन और भयभीत प्रतीत होता था। आते ही किसान ने सम्राट् की दुहाई दी—महाराज! मैं संकट में हूँ। शरणागत हूँ। आपकी प्रजा हूँ। प्रजा की रक्षा करना आपका धर्म है। आप ही मेरी रक्षा कर सकते हैं।

पुरंजय किसान की ओर देखने लगे। उसकी बात सुनकर ऋषियों को लगा कि यह किसान व्यर्थ ही यज्ञ में बाधा पहुँचा रहा है। आहुति देने वालों के हाथ रुक गये।

—कौन हो तुम? राजा ने पूछा।

—जी, मैं आपकी प्रजा हूँ, आपकी सन्तान की तरह हूँ।

—क्या हुआ, तुम्हारे साथ?

—खेती मेरी जीविका का साधन है। गाय और घोड़े मेरी सम्पदाएँ हैं। दिन-दहाड़े कुछ डाकू मेरी सम्पत्ति लूटकर ले जा रहे हैं। आप ही पर मेरी रक्षा का भार है। रक्षा करें महाराज!

—अवश्य ही मैं रक्षा करूँगा। रक्षा करना मेरा धर्म है। थोड़ी देर ठहरो। यज्ञ समाप्त ही होने वाला है। पूर्णाहुति हो जाने पर, मैं तुम्हारे साथ चलूँगा, राजा ने कहा।

—किन्तु राजन्! तब तक काफी देर हो जायगी। दस्यु भाग जायंगे। मैं लुट जाऊँगा, महाराज! किसान गिड़गिड़ा उठा।

—यज्ञ पूरा किये बिना आप कैसे जा सकते हैं, राजन्! देवता कुपित होंगे, आपका अपयश होगा। इस किसान की बातों पर कान न दें, ऋषियों ने पुरंजय को समझाया।

ऋषियों की बात सुनकर किसान को क्रोध आ गया—'राजा का सबसे प्रथम कर्त्तव्य है प्रजा का पालन, प्रजा की रक्षा करना।

जिस अन्न से यह यज्ञ हो रहा है, हवन में जिस घी की आहुति दी जा रही है, वह हमने पैदा किया है। प्रजा की मेहनत का फल ही है यह सब। यज्ञ है किसलिए? इसीलिए न कि धरती अधिक अन्न उपजावे, समय पर वर्षा हो, प्रजा सुखी और निरोग रहे।'

ऋषिगण चुप हो गये। गँवार जैसा दिखने वाला वह किसान बड़े ज्ञान की बातें कर रहा था। उसके तर्क ठोस थे। उसकी बातों में काफी दम था। ऋषियों को आश्चर्य हुआ किन्तु तप और विद्या के अहंकारवश उन लोगों ने महाराज पुरंजय को फिर समझाना शुरू किया—'महाराज! देवताओं को प्रसन्न करना आपका प्रथम कर्त्तव्य है। आपके मित्र सभी देव आकाश में आ गये हैं। उन्हें हव्य दीजिए और प्रसन्न कर वरदान प्राप्त कीजिए।'

पुरंजय असमंजस में पड़ गये। प्रजा की रक्षा करना राजा का धर्म है तो यज्ञ को पूरा करना भी तो उचित है, शास्त्र का आदेश है। वे मौन हो गये तो यज्ञ का काम फिर चलने लगा। अपनी बात व्यर्थ जाते देखकर, उस कृषक ने धिक्कारते हुए कहा—आप कैसे प्रजापालक हैं? क्या यही आपका कर्त्तव्य है? देवताओं से वरदान पाने की चाह में आप मेरी बात नहीं सुन रहे हैं। यह तो त्याग नहीं लोभ है, घोर स्वार्थ है।

अब राजा से सहा नहीं गया। मन की उलझन सुलझ गयी। दुविधा मिट गयी। वे आसन से उठ खड़े हुए। धनुष उठाकर उस आदमी के साथ चलने को उद्यत हुए तो ऋषियों ने फिर टोका—'यज्ञ बीच में छोड़ कर आप जा रहे हैं। यह देवताओं का अपमान है, हमारे जैसे ऋषियों-मनीषियों का अपमान है, शास्त्रों का अपमान है।'

—आप ठीक कहते हैं, किन्तु राजा का पहला कर्त्तव्य है, प्रजा का पालन। यही धर्म है। यही शास्त्रीय आदेश है। आप लोगों ने यह ज्ञान मुझे दिया है। क्या मैं इस शास्त्रोक्त धर्म का पालन नहीं करूँ? राजा ने पूछा।

—यज्ञ बीच में अधूरा छोड़ना भी महापाप है। हमें भी पाप का भागी बनना पड़ेगा। आमंत्रित देवगण निराश होंगे। अब पूरा राज्य अभिशप्त हो जायगा, ऋषियों ने एक स्वर से कहा।

राजा फिर दुविधा में पड़ गये। क्या करें, क्या न करें। किसान के रूप में कर्त्तव्य की गुहार थी तो राजसूय यज्ञ को पूरा करना जिम्मेवारी की पुकार थी। वे सोचते रहे। विचार करते रहे। ठंडे दिमाग से विचार करने वाला आदमी अपने विवेक से घोर संकट का भी निदान कर लेता है। विवेक की कसौटी पर कर्त्तव्य की जीत हुई। उन्होंने ऋषियों की ओर देखकर नम्रतापूर्वक कहा—मुझे क्षमा करें आप लोग। अनेक यज्ञ किये हैं मैंने। एक अधूरा ही सही, किन्तु अपने कर्त्तव्य से मुँह मोड़ लेना गलत है। प्रजा की रक्षा करना राजा का पहला कर्त्तव्य है।

राजा ने धनुष-बाण धारण कर लिया। यह बात ऋषियों को अखर गयी। वे क्रोधित हो गये। रुष्ट होकर कहने लगे—आपको सम्राट् होने का घमण्ड हो गया है, किन्तु हम भी तपस्वी हैं। हमारी बात आप नहीं मानते तो हम क्यों आपका कल्याण करें? हम आपको शाप देंगे, आपका नाश कर देंगे। सभी ऋषिगण आसन छोड़कर उठ खड़े हुए। उन लोगों की अंजलि में जल था। होंठ हिलने ही वाले थे।

राजा ने मुस्कुराकर कहा—मुझे आप लोगों का शाप स्वीकार होगा, किन्तु कर्त्तव्यविमुखता नहीं।

इसी समय चमत्कार हो गया। न केवल अंजलि में लिया जल ही, वरन् कमण्डल का जल भी सूख गया। ऋषिगण एक दूसरे का मुँह ताकने लगे। वह किसान पास ही में खड़ा मुस्कुरा रहा था। उसकी मुस्कुराहट ने जले पर नमक छिड़कने का काम किया। वे राजा को छोड़कर उस किसान को ही अपने क्रोध का शिकार बनाने को उद्यत हो गये। उन लोगों ने उसे शाप देने के लिए ऊपर हाथ उठाया ही था कि बिजली-सी कौंध गयी। उस किसान के शरीर से तेज की किरणें फूट पड़ीं। एक ज्वाला-सी लपक उठी। ऋषियों की आँखें झपकने लगीं। राजा भी नेत्र मलने लगे। सबने देखा कि वह ज्योतिपुंज किसान के शरीर से निकलकर अग्निकुण्ड में समा गया। कुण्ड में बिना आहुति के ही आग धधक उठी। अग्निदेवता ही किसान बने थे। आकाशवाणी हुई—महाराज! प्रजा के हित का ध्यान सब यज्ञों से बढ़कर है। अग्निदेव आपसे प्रसन्न हैं। बिना पूर्णाहुति के भी, यज्ञ का फल आपको मिलेगा। साथ ही आकाश से पुष्पवर्षा होने लगी।

४०. धैर्य और साधना

एक बार बन्दरों ने आपस में विचार किया कि स्वादिष्ट आमों के फल खाने में डंडा और ढेला खाना पड़ता है, तो क्यों नहीं अपना ही बगीचा लगाया जाय। सबने मिलकर गुठलियों को बो दिया। किसानों को बीज बोते उन्होंने देखा था। फिर उसके निकट ही बैठकर वे पेड़ निकलने की प्रतीक्षा करने लगे। कोई वहाँ से टस-से-मस नहीं होता था, क्योंकि आशंका होती थी कि दूसरा उसकी अनुपस्थिति में सभी फल चट न कर जाय। सुबह से दोपहर हो गयी। सबने खोदकर गुठली निकाली—यह जमा क्यों नहीं? दूसरे दिन फिर खोदकर गुठली निकाली—यह जमा क्यों नहीं? फिर उसे बो दिया। बात दोहराई जाती रही। बीज को नहीं जमना था, नहीं जमा। कैसे जमता? सप्ताह भर के बाद सबने गुठली निकाली और क्रोधवश दूर फेंक दिया।

उन बन्दरों की तरह उतावलापन दिखाने पर वही होगा, जो गुठली के साथ हुआ। धैर्य रखकर भजन-भाव की शर्तों के अनुसार सदाचार का जीवन बिताना होगा। पहले भीतर भरे राग-द्वेष के कूड़े-कचरे को झाड़-बुहार कर साफ करो फिर प्रार्थना के जल से हृदयस्थल को धो दो, फिर उस पर प्रेम का उच्चासन डालकर भगवान् को बैठाओ और उनके सामने, शरणागति की थाली में अहंकार को नैवेद्य की भाँति रख दो। याद रखो, नाम-जप अमोघ शक्ति है। वह कभी निष्फल नहीं होती।

४१. उपदेश

एक महात्मा किसी घर में भिक्षा माँगने गये। घर की देवी भिक्षा देने बाहर आयी। उसने हाथ जोड़कर निवेदन किया—महात्मा जी, कुछ उपदेश दीजिए।

—आज नहीं, कल उपदेश दूँगा, महात्मा ने कहा।

—तो, कल भी यहीं से भिक्षा ग्रहण करने की कृपा कीजिए, देवी ने अनुरोध किया।

दूसरे दिन महात्मा जी पुनः उस देवी के दरवाजे पर भिक्षा लेने पहुँचे। आज उनके कमण्डल में कूड़ा-करकट और गोबर भरा था। उस गृहलक्ष्मी ने उस दिन बड़ी अच्छी खीर बनायी थी। महात्मा जी ने

जोर से हरि ओम् कहा तो वह देवी खीर लिये बाहर आयी। महात्मा ने अपना कमण्डल आगे कर दिया, किन्तु खीर उसमें डालने के पहले ही देवी की दृष्टि उसमें भरी गंदगी पर गयी। ठिठक कर बोली—महाराज, यह कमण्डल तो गन्दगी से भरा है।

—हाँ देवी, गन्दा तो है, किन्तु क्या किया जाय। खीर भी इसी में डाल दो।

देवी बोली—नहीं महाराज! इसमें डालने पर तो खीर खराब हो जायगी। मुझे दीजिए यह कमण्डल। मैं इसे शुद्ध जल से अच्छी तरह स्वच्छ करके लाती हूँ।

महात्मा जी ने कहा—माँ, तुम इस कमण्डल में खीर तभी डालोगी, जब यह स्वच्छ हो जायगा?

—जी हाँ महाराज! अन्यथा खीर खाने योग्य नहीं रह जायगी।

—तो यही मेरा उपदेश है माँ! मन में जब तक नाना प्रकार की चिंताएँ और इच्छाएँ भरी हों, इस कूड़े-करकट और गोबर की भाँति तब तक उपदेशामृत से कोई लाभ नहीं पहुँचेगा। उपदेश प्राप्त करना हो तो उसके पहले मन को निर्मल करना चाहिए। चाह और चिन्ता तथा बुरे संस्कारों को धीरे-धीरे समाप्त करना चाहिए। चित्तशुद्धि होने पर उपदेश तेजी से असर करता है। निर्मल मन में ही ईश्वर का नाम-सुख और आनन्द लहराता है।

४२. मरद बखानौ तोहि

भक्त सूरदास जी अन्धे थे। एक बार वे अकेले कहीं जा रहे थे। मार्ग भयानक था। भक्तराज श्यामसुन्दर के ध्यान में ही डूबे उसी मार्ग से बढ़े चले जा रहे थे। इतने में आनन्दकन्द भगवान् प्रकट हो गये और मार्ग दिखाने के लिए सूरदास का हाथ पकड़ लिया। भक्तराज ने स्पर्श से ही जान लिया—अहा! यह तो मेरे किसुना का हाथ है। उन्होंने हाथ पकड़ लिया कि लीलाधारी हाथ छुड़ाकर भाग निकले। सूरदास ने तत्काल ही ललकार कर कह दिया—

हाथ छुड़ाये जात हो, निबल जानि के मोहि।
हिरदै ते जब जाहुगे, मरद बखानौ तोहि॥

हाथ छुड़ाकर भाग गये, मुझे निर्बल जानकर ही न ऐसा कर रहे हो? जब मेरे हृदय से निकल भागो, तब तुम्हें मर्द जानूँ।

४३. भगत की हुण्डी

प्रसिद्ध भक्त और कवि नरसी मेहता का जन्म जूनागढ़ के एक समृद्ध नागर ब्राह्मण परिवार में हुआ था। वे सदैव भगवान् श्रीकृष्ण के ध्यान में डूबे रहते और साधु-सन्तों की सेवा तथा दीन-दुःखियों की मदद में धन खर्च करते थे। इससे पास का सारा धन खर्च हो गया। उनकी दृष्टि में कोई भेदभाव नहीं था। वे सबको भगवान् की ही प्रतिमूर्ति समझते। कण-कण में प्रभु का दर्शन करते। रूढ़िवादी लोग इससे अप्रसन्न थे। नाते-रिश्ते के लोग भी साथ छोड़ चुके थे।

बेटी सयानी हो गई। नरसी के पास कानी-कौड़ी भी न थी। उनकी धर्मपत्नी मानेकबाई को बहुत चिन्ता हो जाती। किन्तु जैसे भक्त नरसी को कोई चिन्ता ही नहीं हो। वे पूर्ववत् प्रभु की लीला का गायन करने में ही मस्त रहते थे। धीरे-धीरे पत्नी का धीरज छूट गया। एक दिन उसने भक्तराज को आड़े हाथ लिया—देव! कब तक हम लोग बेटी को क्वाँरी घर में बैठाये रहेंगे? आप तो भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र की स्तुति गाने में ही लगे रहते हैं, पास में फूटी-कौड़ी नहीं। कोई सहायता करने वाला भी नहीं है, फिर कैसे बिटिया का विवाह होगा? आप कुछ तो बताइए?

भक्त नरसी ने खीझ, क्रोध और कुछ लाचारी से, तमतमाये पत्नी के चेहरे की ओर देखा और मुस्कुराकर बोले—प्रिये! चिन्ता क्यों करती हो? सारा कुछ द्वारकाधीश पर छोड़ दो। वे स्वयं व्यवस्था करेंगे। मेरी बात सुनो। पिछली रात भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जी मेरे सपने में प्रकट हुए थे और मुझसे कहा था—बेटी के विवाह की चिन्ता मत करो। वह साक्षात् लक्ष्मी है। द्वारिकापुरी के सेठ सामलदास के पास अपनी आवश्यकता भर के रुपयों के लिए एक हुण्डी भेज दो। वह सेठ उसे स्वीकार कर लेगा और धन देगा।

पत्नी मानेकबाई प्रसन्न हो गयी। नरसी मेहता ने हुण्डी लिखी और मानेकबाई के एक विश्वस्त आदमी अहीर रब्बारी को द्वारका से हुण्डी भुना लाने के लिए भेज दिया। उसी समय चार-पाँच तीर्थयात्री द्वारका जा रहे थे। उनके पास नकद रकम थी, जिसे डाकुओं के भय से वे ले नहीं जाना चाहते थे। जब उन्हें द्वारका में भेजने वाली हुण्डी का पता चला तो उन लोगों ने नकद रकम नरसी को दे दी और हुण्डी ले ली। ठीक समय पर विवाह हो गया और पुत्री ससुराल चली गयी।

उधर द्वारका में वे तीर्थयात्री सेठ को खोजते-ढूँढ़ते थक गये। सेठ सामलदास का कहीं पता नहीं। अन्त में वे सोचने लगे कि कहीं नरसी भगत ने उनको ठग तो नहीं लिया? इसके कुछ देर बाद ही एक व्यक्ति आया और उन लोगों से बोला—आप लोग सेठ सामलदास को ढूँढ़ रहे हैं?

—जी हाँ!

—क्या काम है भला?

तीर्थयात्रियों ने हुण्डी दिखा दी। सेठ ने उनका भुगतान भी कर दिया। दो हजार और दे दिये।

—सेठ जी, नरसी भगत के इन अतिरिक्त रुपयों को हम कैसे स्वीकार करें? तीर्थयात्रियों ने कहा।

—यह मुझ पर छोड़ दो। हुण्डी दो और रुपये ले लो।

—हमारे पास कलम भी नहीं है। हस्ताक्षर कैसे होगा पावती का?

—चिन्ता मत करो। मेरे साथ व्यापार विश्वास से ही किये जाते हैं। विश्वास हो। बस, सब कुछ ठीक है।

उन्होंने हुण्डी दे दी और शेष रकम भी लौटते समय नरसी भगत को दे दी।

सेठ के रूप में स्वयं आनन्दकन्द भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ही प्रकट हुए थे, यह प्रतीति तीर्थयात्रियों को नहीं हुई। नरसी को जब सब मालूम हुआ तो उनकी आँखों से प्रेमाश्रु बह चले।

४४. भोजन की शुद्धि

एक बार एक पंडित से हरिव्यास जी ने भोजन का क्या प्रबन्ध हो, सो पूछा। पंडित जी ने खिचड़ी के लिए इच्छा प्रकट की। तदनुसार व्यवस्था की गयी। पंडित जी ने चमड़े के मशक में जो पानी लाया गया, उसी से भोजन बनाया। उन्होंने जब घी माँगा, तो हरिव्यास जी ने चमड़े की पादुका में घी भेजा। इस पर पण्डित जी बहुत कुपित हुए। हरिव्यास जी तब स्वयं आये और बोले—महाराज, आपने जिस प्रकार के पात्र से जल लेकर भोजन बनाया, मैंने उसी वस्तु से बने कटोरे में घी भिजवाया। आप ही बताइए, इसमें क्या दोष हुआ? यह सुनकर पण्डित जी को अपनी त्रुटि का ज्ञान हो गया तथा उन्होंने हरिव्यास जी से क्षमा याचना की।

४५. सुलेमान बादशाह की फकीरी

सुलेमान बादशाह ने फकीरी ली। वे अपने पास केवल एक कपड़ा रखते थे। उसमें कोई रोटी डाल गया था, जिसे बादशाह खा रहे थे। इसी बीच एक महात्मा वहाँ आये। उन्होंने रोटी को झटका देकर फेंक दिया। बादशाह रोटी झाड़कर फिर खाने लगे। किन्तु महात्मा इम्तहान पर तुले थे। उन्होंने रोटी को दो बार फेंका पर दोनों ही बार बादशाह ने कहा—आप जिसे ढूँढ़ते हैं, वह अब नहीं है। न हम अब बादशाह रहे और न उसका अभिमान रहा। इस पर महात्मा ने कहा—अभी आप में त्याग करने का अभिमान है, उसको भी छोड़ना चाहिए। बादशाह उनके चरणों में गिर पड़े और कहा—महाराज! आपसे मुझे बहुमूल्य शिक्षा मिली। सचमुच फकीरी ऐसी होनी चाहिए कि कुछ भी याद न रहे।

४६. हरिजन तो हारे भले

जय तथा पराजय, लाभ और हानि, मूलतः दृष्टिकोण की बातें हैं, इनकी अच्छाई-बुराई इसमें निहित है कि लोग इन स्थितियों को किस रूप से ग्रहण करते हैं, कैसे इनसे प्रभावित होते हैं। एक बार दो राजाओं में युद्ध हुआ। जो जीत गया वह अधिक ऐश्वर्य पाकर विषय-वासना में लिप्त हो गया। उसे अन्त समय में यमदूत कष्ट देने लगे। किन्तु दूसरा जंगल में जा छिपा और उसकी प्रवृत्ति धीरे-धीरे भगवान् की आराधना की ओर हो गयी। अन्त में उसे भगवान् का दर्शन मिला और अशेष आनन्द की प्राप्ति हुई। हारने पर भी प्रभु की शरण में जाने से आनन्द ही आनन्द है।

४७. सन्त की दया

एक बहुत ही उच्चकोटि के महात्मा थे। उनकी ख्याति बहुत तेजी से फैल रही थी, किन्तु वे चाहते नहीं थे कि इस प्रकार विख्यात हों। उन्होंने इसके निराकरण के विचार से भिक्षाटन आरम्भ किया। इसी प्रकार याचक बने एक दिन एक गृहस्थ के दरवाजे पर वे गये और आवाज दी—माँ, भिक्षा दो। उस घर की देवी बड़े ही कर्कश स्वभाव की थी। उस समय एक पुतना लेकर वह अपना घर लीप रही थी, किसी कारण से उस समय वह विशेष रूप से क्रुद्ध थी। सो उसी पुतने को फेंकते हुए उसने महात्मा को मारा और कहा—लो भिक्षा!

सन्त पुतना लेकर लौट आये। उन्होंने स्वच्छ जल से धोकर उसे साफ किया और दीप जलाने के लिए उसी की बत्ती बनायी। वे भगवान् से विनय करने लगे—हे प्रभु, जिसके दिये हुए जीर्ण वस्त्र-खण्ड की बत्ती से प्रकाश हो रहा है, उसके हृदय में भी प्रकाश हो। फलतः उक्त गृहिणी के मन से भी तामसी-वृत्ति हटी तथा धीरे-धीरे उसमें सत्त्व का प्रकाश भरता गया।

४८. सहनशीलता का आचरण

तुकाराम भारतवर्ष के एक महान् संत थे। उन्होंने गृहस्थाश्रम में ही भगवत्प्राप्ति की। वे नितान्त गरीब थे। एक बार दो-तीन दिन तक उनके घर में खाने को कुछ नहीं था। फलतः उन्हें तथा उनकी धर्मपत्नी को उपवास करना पड़ा। इससे पत्नी उन पर काफी क्रुद्ध हो गयी। तीसरे दिन तुकाराम जी जब कहीं से आ रहे थे तो कुछ गाड़ीवान उन्हें राह में मिले जो बैलगाड़ी पर ईख लिए जा रहे थे। उनसे कुछ ईख पाकर तुकाराम जी प्रसन्नतापूर्वक घर आये और बाहर से ही आवाज देकर धर्मपत्नी को बुलाया और कहा—देखो, तुम्हारे लिए बहुत ही मधुर प्रसाद ले आया हूँ। किन्तु धर्मपत्नी ईख देखकर और झल्ला उठी तथा आवेश में पड़कर उससे ही तुकाराम जी के शरीर पर प्रहार करने लगी। गन्ने खण्डित होकर बिखर गये। जब उसका क्रोध कुछ शांत हुआ तथा वह शांत होकर बैठ गयी तो तुकाराम जी ने बड़े प्रेम से उन टुकड़ों को एकत्र किया और दो भागों में उन्हें बाँटकर एक अंश अपनी धर्मपत्नी के आगे रखते हुए करुणा-विचलित स्वर में कहा—देखो, तुम्हारे क्रोध का फल भी अच्छा ही हुआ। गन्ने स्वतः खण्डित हो गये, जिससे इनके वितरण में और चूसने में सुविधा हो गयी। लो, यह तुम्हारा हिस्सा हुआ और यह मेरा। तुकाराम जी के इस व्यवहार से उनकी धर्मपत्नी को बड़ा शोक और पश्चात्ताप हुआ। वह पति के चरणों में गिर पड़ी और क्षमा-याचना करने लगी।

यदि तुकाराम जी का व्यवहार करुणापूर्ण तथा सहिष्णु नहीं होता तो सम्भवतः जीवन कलहमय होता। गृहस्थाश्रम में पारिवारिक जीवन को आनन्दमय बनाने के लिए परस्पर सहनशीलता का आचरण रखना आवश्यक है।

४९. संत की पहचान

एक शिष्य जो बारह वर्षों तक वन में तपस्या कर चुका था, अपने गुरु के दर्शन हेतु उपस्थित हुआ। महात्मा ने शिष्य से कहा—बच्चा, तुममें अभी त्याग का भाव नहीं आया है, अतएव तुम कुछ दिन और तपस्या करो। गुरु की बात मानकर शिष्य फिर जंगल की ओर चला, लेकिन राह चलते सोचने लगा—मुझमें गुरु जी से क्या कमी है, जो उन्होंने ऐसा कहा? यही न कि मैं वृक्ष की छाल लँगोटी के रूप में व्यवहार करता हूँ और एक तुमड़ी भी रखता हूँ, किन्तु गुरु जी के पास कुछ भी नहीं है। ऐसा विचार कर शिष्य ने उसी समय अपनी लँगोटी और तुमड़ी फेंक दी और गुरु के पास लौट जाकर पूछा—महाराज, अब तो मुझमें त्याग आ गया।

गुरुजी ने कहा—बच्चा, तुम्हारी लँगोटी तो वृक्ष से ली गयी थी और तुमड़ी बेल से। इनमें तुम्हारा अपना क्या था, जो तुमने त्यागा? ये वस्तुएँ लेते समय तुमने इनके असली स्वामी को धन्यवाद तक नहीं दिया। इस जगत् में मनुष्य का है ही क्या, जिसका वह त्याग करेगा? यदि तुम क्रोध, मोह, मद-लोभ का और विषय का त्याग करो, तभी तुम्हारा त्याग करना सार्थक समझा जायगा।

५०. चाण्डाल का स्पर्श

यमुना जी के पावन तट पर एक सन्त पर्णकुटी बना कर रहते थे। एक रोज उन्होंने अपने कौपीन आदि को साफ किया और सूखने के लिए रेत पर फैला दिया तथा कुटी में बैठकर भजन करने लगे। तभी एक चाण्डाल आया और यमुना में स्नान करने लगा। स्नानोपरान्त उसने अपने कपड़े भी धोने शुरू किये।

बाहर से कपड़े धोने की आवाज आने पर सन्त उत्सुकतावश बाहर आये और देखा कि एक चाण्डाल कपड़े धो रहा है और उसके छींटे रेत पर सूख रहे उनके कपड़ों पर पड़ रहे हैं। सन्त ने चाण्डाल को भद्दी गालियाँ देते हुए कहा—मूर्ख, तुझे दिखाई नहीं देता कि तेरे अपवित्र कपड़ों के छींटों ने मेरे कपड़ों को अपवित्र कर दिया। आवेश में आकर उन्होंने चाण्डाल को दो-चार चाँटे भी लगा दिये। परन्तु चाण्डाल करबद्ध खड़ा रहा। सन्त ने कहा—खबरदार, फिर इस स्थान पर आने की कोशिश मत करना।

चाण्डाल कपड़े धोते-धोते पसीने से लथपथ हो रहा था, इसलिए वह यमुना जी में कूद पड़ा। सन्त ने कड़ी आवाज में कहा—'मूर्ख, अभी तो पसीने से तर हो रहा है बिना विश्राम किये ही पानी में कूद पड़ा! सर्द-गर्म होगा तो मरेगा, फिर तू तो नहा चुका है। दुबारा नहाने की तुझे क्या आवश्यकता पड़ी?'

चाण्डाल बोला—महाराज जी! आपने भी तो पहले स्नान कर लिया है, फिर क्यों नहाने को प्रस्तुत हैं?

सन्त बोले—मुझे तो तुझ चाण्डाल का स्पर्श हो गया है, इसीलिए पुनः नहा रहा हूँ।

चाण्डाल बोला—और मुझे तो महाचाण्डालरूपी आपके क्रोध ने स्पर्श कर लिया था, इसीलिए नहाना जरूरी हो गया था।

५१. संन्यासी का भण्डारा

बहुत दिन हुए, मथुरा में एक वैरागी रहते थे। सन्त-सेवा वे बड़ी लगन से किया करते थे। एक बार उनकी इच्छा हुई कि प्रयाग के कुम्भ में चलकर एक बृहद् भण्डारा करूँ। इसलिए उन्होंने चाँदी के बहुत से सिक्के एकत्र किये और अपने कम्बल के अन्दर एक झोली बनाकर उसमें रखते गये। कुम्भ का समय निकट आया जान, अपनी कुटिया से भण्डारा हेतु वे चल पड़े। मार्ग में अन्धेरा होने पर एक वैश्य के आग्रह पर उसके यहाँ ठहर गये। वैश्य के कोई सन्तान नहीं थी। इसलिए वह साधुओं की सेवा प्रायः किया करता था। उसने सन्त की बड़ी आवभगत की। रात्रि में सन्त को शौच जाने की आवश्यकता हुई और वे जब मैदान की ओर चले गये तो वह वैश्य कुवृत्तिवश उनका बिछावन टटोलने लगा। अन्ततः उसने कम्बल का वह भाग जहाँ सन्त ने चाँदी के सिक्के जमा कर रखे थे, देख लिया। तब उसके मन में पाप का भाव और भी प्रबल हो गया। सभी सिक्के उसने निकाल लिए और उसी वजन के पत्थर के टुकड़े कम्बल में डाल दिये। सरल-मन सन्त उस नीच वैश्य के कुकृत्य को परख नहीं सके और प्रातः वे कुम्भ के लिए बिदा हो गये। कुम्भ में काफी भीड़ थी। देश भर के प्रख्यात सन्त एकत्रित हुए थे। उन्होंने खुशी-खुशी बहुत सारे साधुओं को भंडारे के लिए निमंत्रित कर दिया और फिर आवश्यक सामग्री खरीदने हेतु दुकान पर गये। मगर जब कम्बल की झोली में उन्होंने हाथ डाला तो सन्न रह गये। उसमें तो मात्र पत्थर के टुकड़े धरे थे। सन्त को बड़ा दुःख हुआ और उसी समय संगम के गहरे जल में कूदकर उन्होंने आत्महत्या कर ली। चारों ओर हल्ला मच गया। साधु-समाज निमंत्रित होकर ही रह गया। इधर वैश्य का व्यापार उस सन्त के सिक्कों से चमक उठा। इतना ही नहीं, उसे एक पुत्र की भी प्राप्ति हुई। वृद्धावस्था में इस पुत्र को पाकर वैश्य की प्रसन्नता का ठिकाना न रहा। बड़े प्यार से उसका लालन-पालन उसने किया। बच्चा देखने में अत्यन्त सुन्दर भी था। जब वह कुछ बड़ा हुआ तो उसकी अभिरुचि पूजा-पाठ एवं दान में दिन-दिन बढ़ने लगी। उसके माता-पिता तो थे कंजूस, पर इकलौते पुत्र की इच्छा के विरुद्ध उन्हें कुछ कहते नहीं बनता था। उसकी शादी भी एक सुन्दर कन्या से उन्होंने कर दी।

प्रयाग में इस बार जब अर्द्धकुम्भ लगा तो माता-पिता एवं स्त्री को साथ लेकर लड़का मेले में गया। उसने समस्त साधुओं के दर्शन किये और अपने माता-पिता से कहा—मैं दो सौ साधुओं का भण्डारा करवाना चाहता हूँ। जब माता-पिता ने हामी भर दी तो उसने सब साधुओं को निमंत्रण दिया तथा बड़े प्रेम से अनेक प्रकार के भोज्य-पदार्थ बनवा कर सन्तों की पंगत करायी। उसी भण्डारे के सन्तों का जूठन जब लड़का स्वयं खा रहा था, तभी उसके पेट में जोरों का दर्द उठा। डॉक्टर बुलाये गये किन्तु देखने के बाद डॉक्टरों ने कहा—यह अब कुछ देर का ही मेहमान है। बच नहीं सकेगा। माता-पिता पर तो मानो वज्र ही गिर पड़ा। सब-के-सब रोने और विलाप करने लगे।

तब लड़का सबको डाँटकर, हँसते हुए बोला—आज से १८ वर्ष पूर्व की घटना याद करो। मैं वही साधु हूँ, जिसकी पूँजी तुमने कम्बल से चुराई थी। कुम्भ के अवसर पर साधुओं का भण्डारा कराने की मेरी बड़ी इच्छा थी। आज वह पूर्ण हुई। फिर वह अपनी स्त्री की तरफ मुँह करके बोला—यह पूर्वजन्म में एक शूद्र की कन्या थी। मेरे प्रति इसका काम-भाव था, किन्तु मैंने कभी इसके प्रति बुरे भाव नहीं रखे। इस जन्म में भी मैंने इसका स्पर्श तक नहीं किया। साधुओं के प्रति काम-भाव रखना घोर पाप है, इसी कारण यह अब वैधव्य को प्राप्त होगी। अगर अभी भी यह भगवद्निष्ठा रखते हुए, साधन-भजन करे तो इसका कल्याण हो जायगा।

नारायण-नारायण कहते हुए लड़के ने प्राण त्याग किया।

मनुष्य को अपने किये का फल स्वयं भोगना ही पड़ता है, चाहे अनेक कल्प क्यों न बीत जायं। कर्म का नाश नहीं होता, सुख और दुःख देने वाला संसार में कोई दूसरा नहीं, अपना कर्म ही होता है।

५२. सन्त रैदास की ईश्वरभक्ति

सन्त रैदास की ईश्वरभक्ति लोक विख्यात थी। वे निस्पृह रूप से प्रभुभक्ति किया करते थे। भगवान् बराबर अपने इस प्रिय भक्त के काम समय-समय सँभाला करते थे।

एक बार चित्तौड़ की रानी झाली ने रैदासजी को अपने राज दरबार में भोजन पाने के निमित्त निमन्त्रित किया और बड़े आदर-सत्कार के साथ बुलाया। इस अवसर पर उसने ब्राह्मणों को खूब दान दिया और उन्हें भी महल में ही भोजन का न्योता दिया। ब्राह्मणों ने न्योता तो स्वीकार कर लिया, परन्तु यह जानकर कि महारानी एक चर्मकार की शिष्या हैं, उन्होंने केवल कोरा सीधा (अन्न) लेना स्वीकार किया। उन्होंने भोजन स्वयं बनाया और पंक्ति में खाने बैठे। परन्तु उनके आश्चर्य की सीमा न रही, जब प्रत्येक पंक्ति में, दो ब्राह्मणों के अन्तर पर रैदासजी बैठकर प्रसाद पाते दीख पड़े। इस चमत्कार को देखकर ब्राह्मण उनके चरणों में गिरकर क्षमा-याचना करने लगे। बहुत से ब्राह्मणों ने उनसे दीक्षा ग्रहण की। उसी समय रैदास जी ने अपने कंधे की चमड़ी उधेड़ते हुए कहा—सगा जनेऊ तो यह है। ब्राह्मणों ने देखा कि रैदास जी के कंधे की चमड़ी के अन्दर पीत यज्ञोपवीत सुशोभित है।

५३. जीवन की सार्थकता

एक राजा सांसारिक विषय-भोग में बुरी तरह आसक्त था। उसने बहुत सारे ग्रन्थादि का अध्ययन किया था। बराबर संत-विद्वानों की सभा बुलाता, पर माया-मोह के चक्र से मुक्त नहीं हो पाता था। एक बार एक महात्मा ने उससे कहा—राजन्! आज से सातवें दिन तेरी मृत्यु होने वाली है।

यह सुन कर राजा बहुत भयभीत हुआ। सारे राजकीय सुख और ऐश-आराम की वस्तुएँ उसे काँटे के समान प्रतीत होने लगीं। मृत्यु के भय से व्याकुलता बढ़ने लगी और चिन्ता से वह अत्यन्त दुर्बल हो गया।

एक रोज उन्हीं महात्मा ने आकर पूछा—राजन्! सारे सुख-साधन उपलब्ध होते हुए भी तुम क्षीणकाय क्यों हो गये?

राजा ने कहा—महाराजजी! मेरे मन पर तो हर समय मृत्यु का भय सवार है, फलतः भोग के पदार्थ फीके प्रतीत हो रहे हैं। चिन्ता से मन विकल है, कुछ भी अच्छा नहीं लगता।

महात्मा ने कहा—राजन्, जब सम्भावित मृत्यु के स्मरणमात्र से सारे भोग फीके जान पड़ते हैं तो यह मान लो कि मृत्यु तो एक न एक दिन होनी ही है। यह मान लोगे तो शान्ति एवं प्रसन्नता का ही अनुभव होगा। मृत्यु भय दूर भागेगा।

सांसारिक विषयों में विरक्ति जाग्रतृ करने के लिए दो अनुपम साधन हैं—एक तो हर समय सर पर मौत सवार है इसकी स्मृति, दूसरा जीवन के कल्याण के लिए श्रीनारायण का चिन्तन एवं स्मरण।

५४. सोऽहम्-सोऽहम् का जप

एक बार राजा जनक गंगा किनारे बैठकर आत्म साधना में संलग्न थे। ऊँचे स्वर से वे अविराम 'सोऽहम्-सोऽहम्' का जाप कर रहे थे। उसी समय संयोग से अष्टावक्र मुनि उधर से निकले। वे महाज्ञानी थे। राजा जनक के 'सोऽहम्' का जाप सुनकर वे रुक गये। फिर उन्होंने एक हाथ में पानी भरा कटोरा लिया और दूसरे में छड़ी ली तथा कुछ दूरी पर खड़े होकर जोर-जोर से चिल्लाने लगे—मैं पानी का कटोरा हूँ, मैं छड़ी हूँ।

राजा जनक के कान में जब यह आवाज पहुँची तो उन्होंने जाप करते हुए अष्टावक्र की ओर देखा। किन्तु जब अष्टावक्र ने अपना जाप बन्द नहीं किया तो उन्होंने डाँटकर पूछा—व्यर्थ क्यों चिल्ला रहे हो?

अष्टावक्र ने दोनों हाथ बारी-बारी से उठाते हुए कहा—मैं पानी का कटोरा हूँ, मैं छड़ी हूँ।

जनक बोले—वह तो दिखाई दे ही रहा है।

अष्टावक्र ने कहा—तुम 'सोऽहम्' की रट क्यों लगाये हो? अरे, तुम तो हो ही। यह क्या तुम्हें नहीं दीख रहा है?

कुछ क्षण रुककर अष्टावक्र ने कहा—मंत्र को यंत्रवत् रटने से कुछ नहीं होता। उसे अन्तर की चेतना के साथ जोड़ने पर ही यथार्थ फल की प्राप्ति होती है।

अष्टावक्र द्वारा नयी दिशा पाकर राजा जनक ने धन्यता का अनुभव किया।

५५. सब तो स्त्री ही हैं

दक्षिण भारत में महेन्द्र प्रताप सिंह नामक एक राजा था। उसको कोई सन्तान नहीं थी। चौथेपन में सन्त-कृपा से उसे एक कन्या की प्राप्ति हुई, परन्तु उसमें एक विचित्रता थी। वह होश सम्भालने के बाद भी नंगी ही रहने लगी। सयानी होने के बावजूद, लाख प्रयत्न करने पर भी वह वस्त्र पहनने का नाम तक नहीं लेती थी। दिन भर वह भगवान् की पूजा बड़े प्रेम से करती थी और सदैव श्रीनारायण के ध्यान में मग्न रहा करती।

एक बार एक महात्मा राज दरबार में आये। राजा ने उनका यथोचित सत्कार किया और उनसे प्रार्थना की—महाराज जी! मेरी एक कन्या है, जो न जाने क्यो नंगी रहा करती है, वस्त्र पहनना चाहती ही नहीं। अब उसकी शादी कैसे होगी? आप कृपा करें तो उसकी बुद्धि सुधरे।

महात्मा ने कहा—तुम अपनी कन्या को मेरे पास बुलाओ।

राजा ने कन्या से महात्मा के दर्शनार्थ चलने को कहा। कन्या सहर्ष तैयार हो गयी और अपनी माँ से पहनने के लिए वस्त्र माँगे। दोनों दम्पति की प्रसन्नता का ठिकाना न रहा। रानी बड़ी तत्परता से उसे नये-नये वस्त्राभूषणों से सुसज्जित कर महात्मा के पास ले आयी। कन्या महात्मा के चरणों में दण्डवत् निवेदन कर एक ओर खड़ी हो गयी।

महात्मा ने कहा—बेटी, तूने आज तक कभी वस्त्र नहीं पहने। किसी से लज्जा अनुभव तुझे नहीं हुई। किन्तु मेरे पास वस्त्र पहन कर आयी, इसका कारण बतलाओ।

कन्या बोली—महाराज जी, यहाँ तो सबके सब स्त्री ही हैं, फिर उनसे पर्दा करने की क्या आवश्यकता है?

कन्या के प्रत्युत्तर से सभी लोग विस्मित हो गये। महात्मा कन्या के कथन का रहस्य जान गये। उन्होंने कहा—देखो राजन्, तुम्हारी कन्या भावनिष्ठ और संस्कार-सम्पन्न है, इसके उत्तर का रहस्य तुम लोग नहीं जान पाये। वास्तव में तुम सबके सब स्त्री ही हो। पुरुष तो वही है, जिसने अपनी इन्द्रियों पर साधना द्वारा विजय प्राप्त कर ली है। वैराग्यवान् को ही सच्चे पुरुष की संज्ञा शास्त्रकारों ने दी है। तुम इसके लिए अलग महल बनवा दो। उसमें यह प्रभु-भजन करती हुई जीवन-यापन करेगी। इसके तो प्रियतम श्रीनारायण हैं।

५६. कर्म में भावना की प्रधानता

भगवती भागीरथी के निकट महर्षि वसिष्ठ अपनी सहधर्मिणी अरुन्धती के साथ आश्रम में थे। एक समय दुर्वासा ऋषि वहाँ पधारे। अरुन्धती ने उनके भोजनार्थ बहुत सारे व्यंजन बनाये। भगवान् को भोग लगाकर ऋषि के आगे थाली में सब कुछ परोस कर रखा गया। धीरे-धीरे दुर्वासा उस दिन आश्रम का सारा भोजन चट कर गये। अरुन्धती ने गुरुकुल में रहने वाले ब्रह्मचारियों के लिए दुबारा भोजन बनाया और उनके पास जाने के लिए बाहर निकली। जोरों की वर्षा होने से गुरुकुल और आश्रम के बीच की नदी उमड़ पड़ी थी। वह निरुपाय हो पुनः आश्रम पर लौट आयीं। महर्षि को इसका बोध हुआ तो उन्होंने कहा—देखो, तुम जाकर नदी से विनती करो कि निराहारी दुर्वासा को भोजन देने से यदि मैंने पुण्यार्जन किया हो तो उसके प्रताप से मुझे मार्ग मिल जाय और मैं पार हो जाऊँ। पति की बातों से अरुन्धती के मन में सन्देह उत्पन्न होने लगा कि अभी कुछ देर पूर्व जो सारे आश्रम का भोजन चट कर गये हैं, उन्हें ये निराहारी बतला रहे हैं। यह कैसी बात है? परन्तु पति आज्ञा को शिरोधार्य कर वे नदी तट पर पहुँची और नदी से तदनुसार अनुरोध किया। तुरन्त ही नदी का प्रवाह रुक गया और वह पार चली गयीं। इस घटना पर उनके आश्चर्य का ठिकाना न था। ब्रह्मचारियों को भोजन कराकर वह वापस लौट आयीं।

दूसरे दिन पुनः दुर्वासा के लिए अरुन्धती ने भोजन तैयार किया किन्तु दुर्वासा, उस दिन अल्प भोजन में ही तृप्त हो गये। जब वह फिर ब्रह्मचारियों के लिए भोज्य सामग्री लेकर नदी तट पर पहुँची तो वही दृश्य उपस्थित था। पानी ज्यादा होने के कारण पार जाना कठिन था। वह महर्षि के पास लौट आईं। आज महर्षि ने कहा—प्रिये, जाकर तुम नदी से कहो कि अगर मैं बाल ब्रह्मचारी वसिष्ठ की पत्नी होऊँ तो मुझे मार्ग मिल जाय। अरुन्धती पति के आदेशानुसार पुनः नदी तट पर पहुँची और अनुरोध किया। नदी कल की भाँति ही आज पुनः शान्त हो गयी और वह पार चली गयीं। अरुन्धती को परम आश्चर्य हुआ कि सौ-सौ पुत्रों के पिता, ब्रह्मचारी कैसे रहे और उनके इस कथन को नदी ने स्वीकार कैसे किया? अरुन्धती ने अपनी शंका जब पति से व्यक्त की तो महर्षि ने कहा—देखो शुभे, क्रिया प्रधान नहीं, भावना प्रधान है। उसी के अनुरूप फलाफल की प्राप्ति होती है। प्रभु-प्रेमी भक्त, अहर्निश अपने इष्ट के ध्यान में मग्न रहते हैं और अन्य कर्मों के आचरण में वे निर्लिप्त रहते हैं। यही तुम्हारी शंका का समाधान है।

५७. भजन और विषयासक्ति का संस्कार

सरयूजी के किनारे एक गाँव में एक मछुआ रहता था। गृहकलह के कारण एक बार उसके मन में साधु बनने की इच्छा जाग्रत् हुई। उसने अपनी अभिलाषा अपने परिवार वालों से व्यक्त की। परिवार वालों ने उसे काफी समझाया, पर जब उसने किसी की सलाह नहीं मानी तो सरयू किनारे ही उन लोगों ने मछुए के लिए एक कुटिया बनवा दी। मछुआ मालादि लेकर उस कुटिया में रहकर भजन करने लगा। परिवार वाले

दोनों जून भोजन पहुँचा दिया करते थे और तट से थोड़ी ही दूर घर होने के कारण, वे मछली पकड़ने का जाल भी जल में डाल दिया करते थे तथा समय-समय पर उसे निकाल लिया करते थे।

पहले तो कुछ दिनों तक वह मछुआ खूब मन से भजन करता रहा, परन्तु वास्तविक वैराग्य तो था नहीं, अत: कुछ दिन बीतने के बाद जो वह उच्चारण करता था 'सीताराम सीताराम' सो अब बीच-बीच में 'सीताराम....फँसा रे, सीताराम.....फँसा रे' कहने लगा। अर्थात् वह भजन भी करता रहता और जब जाल में मछली फँसती तो 'फँसा रे.....फँसा रे' कहकर घर वालों को संकेत भी दे देता। इसी प्रकार धीरे-धीरे पूर्व संस्कार ने जब और जोर पकड़ा, तब वह केवल 'फँसा रे, फँसा रे' ही कहने लगा। ऐसे भजन से कोई लाभ नहीं। कबीर ने कहा है—

माला तो कर में फिरै, जीभ फिरै मुख माहिं।
मनुवा तो दस दिसि फिरै, यह तो सुमिरन नाहिं॥

५८. गुरुनानक की गिनती

संत नानक का मन पढ़ने-लिखने में नहीं लगता था। यह देखकर उनके पिता ने शहर में अपनी दुकान पर उनको बिठाया। सोचा, जब इनका मन पढ़ने-लिखने में नहीं लगता, तो कम से कम दुकान चला कर वह अपना भरण-पोषण तो कर लेगा।

एक रोज नानक के पिता दुकान पर नहीं थे। कोई ग्राहक गेहूँ लेने आया। उसने बीस सेर गेहूँ माँगा। नानक ने तौलना शुरू किया। एक-एक सेर गेहूँ तौलकर वे पलड़ा ग्राहक की बोरी में डालते गये। एक—दो....तीन....दस....तेरह और गिनती आगे बढ़ी ही नहीं। तेरह...तेरा....तेरा....तेरा कहते हुए नानक तौलते रहे। ग्राहक की बोरी भर गयी और गेहूँ बाहर गिरने लगा। इतने में उनके पिता आ गये। देखा तो नानक गिन रहे हैं—'तेरा, तेरा...।' क्रोधित होकर उन्होंने नानक को रोका और पूछा—कैसे गिन रहे हो? नानक ने जवाब दिया—पिताजी, मुझे तो 'तेरा' के आगे कोई गिनती आती ही नहीं। और पिताजी, यही तो सच्ची गिनती है। जो कुछ है सो उसी प्रभु का है, 'तेरा-तेरा' करके उसे लौटाना है बस।

मेरा मुझमें कुछ नहीं, जो कुछ है सो तोर।
तेरा तुझको सौंपते, क्या लागत है मोर॥

५९. श्रीनारायण का वात्सल्य

एक योगभ्रष्ट सन्त का पुनर्जन्म हुआ, परन्तु उन्हें अपने पूर्वजन्म की स्मृति थी। अत: वे अपने मन को सर्वदा श्रीनारायण के चरणों में लगाये रखते। उन्हीं के ध्यान में मग्न रहा करते तथा बाल्यावस्था में भी बड़े मधुर स्वर में भगवन्नाम संकीर्तन किया करते थे। एक दिन वे अपनी मौज में मिट्टी से खेल रहे थे। राजा की सवारी उधर से गुजरी। राजा ने अकेले ही मिट्टी से खेलते हुए लड़के से पूछा—तू मिट्टी से क्यों खेल रहा है? बालक संत ने उत्तर दिया—शरीर नश्वर है, यह मिट्टी में ही मिल जायगा, इसलिए मिट्टी से ही खेल रहा हूँ।

राजा बालक के बोधयुक्त उत्तर से प्रसन्न हो गया। उसने कहा—तू मेरे साथ रहेगा? बालक ने उत्तर दिया—जरूर रहूँगा, पर मेरी चार शर्तें हैं—मैं सोऊँ तो तू सदा जागकर मेरी रक्षा कर, मैं खाऊँ पर तू कुछ भी न खा, मैं पहनूँ पर तू कुछ भी न पहन और मैं जहाँ जाऊँ वहाँ सदा मेरे साथ रह। राजा ने कहा—तेरी शर्तें तो असम्भव हैं। मैं तुझे साथ भी रख सकता हूँ, सोने पर तेरी रक्षा भी कर सकता हूँ। मैं जो कुछ खाऊँ वही तुझे खिला सकता हूँ और जैसा वस्त्राभूषण पहनूँ वैसे ही पहना सकता हूँ, परन्तु मैं कभी सोऊँ नहीं या खाऊँ-पहनूँ नहीं, यह कैसे हो सकता है? इस पर संत-बालक ने कहा—जब मेरी शर्तें ही पूरी नहीं कर सकते, तो मुझे साथ क्या रखोगे? मेरा स्वामी ऐसा है, जो स्वयं सदा जागता है, सोते-जागते सदा मेरी रक्षा करता है। स्वयं कुछ भी खाता-पहनता नहीं और मेरा साथ तो वह कभी त्यागता ही नहीं। ऐसे अपने इष्ट श्रीनारायण को छोड़कर मैं तुम्हारे जैसे के साथ रहने के लिए क्यों जाऊँ भला?

६०. संत श्यामदास के इष्ट बालकृष्ण

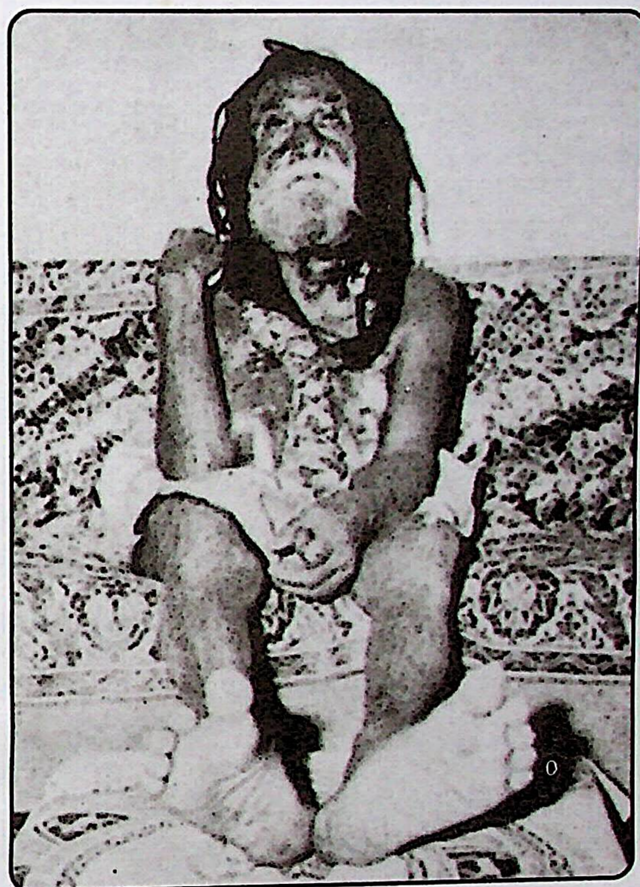
वृन्दावन में संत श्यामदासजी रहते थे। वे बालकृष्ण के उपासक थे। उनकी भावना थी कि वे नन्द हैं और बालकृष्ण उनके पुत्र। जब वे यमुनाजी स्नान करने जाते तो बालकृष्ण को साथ ले जाते, भोजन करने बैठते तो ऐसी भावना रखते कि कन्हैया मेरी गोद में बैठकर खा रहा है। कभी-कभी प्रेम विभोर हो वात्सल्यभाव के कारण वे बिगड़ पड़ते और कहते—देख, तू बड़ा हठ करता है, जल्दी-जल्दी भोजन नहीं करता, बराबर खाली पेट ही उठ जाता है। अब तुझे चाँटे लगेंगे। इस प्रकार वे अपने इष्ट बालकृष्ण के ध्यान में सतत तन्मय रहा करते थे। अहर्निश उनकी मानसिक सेवा चलती रहती थी।

महात्मा के मन में एक बार गंगा स्नान करने की अभिलाषा जाग्रत हुई। वे शिवपुरी काशी जाने को तैयार हुए, परन्तु उन्हें लगा कि कन्हैया कह रहा है—बाबा मैं तुम्हारा पुत्र हूँ। अभी छोटा हूँ, मुझे अकेले छोड़कर कहाँ जाओगे? अस्तु वात्सल्यातिरेक के कारण उन्होने गंगा स्नान की योजना स्थगित कर दी। सोचा, मेरा प्यारा कन्हैया अभी बच्चा है, इसे छोड़कर कहीं जाना अच्छा नहीं है। इस प्रकार अपने इष्ट बालकृष्ण की सेवा करते-करते महात्मा वृद्धावस्था को प्राप्त हो गये परन्तु उनका कृष्ण तब भी बच्चा ही रहा। वे अपने इष्ट की बाल-भावना से ही सेवा-अर्चा करते रहे और एक दिन इसी प्रकार प्रभुचिन्तन करते-करते उन्होंने पाँचभौतिक शरीर का परित्याग कर दिया।

सन्त-मण्डली भगवन्नाम संकीर्तन करती हुई दाह-संस्कार हेतु उनके शव को यमुना मैया के किनारे ले आयी। सभी चिता रचाने की तैयारी में लगे ही थे कि एक सात वर्ष का दिव्यतेजोमंडित बालक, माथे पर गंगाजल का कलश लिये पहुँचा और सभी को सम्बोधित करते हुए बोला—ये मेरे पूज्य पिता हैं, मैं इनका मानस-पुत्र हूँ। इनकी तीव्र इच्छा थी कि गंगास्नान को जायं, परन्तु मेरे ही कारण इनकी यह इच्छा पूर्ण नहीं हो सकी। आज मैं गंगाजल लाया हूँ, इन्हें स्नान कराऊँगा। पिता की अन्तिम इच्छा को पूर्ण करना पुत्र का कर्त्तव्य होता है। यह कहकर उस तेजोमय बालक ने शव को गंगाजल से स्नान कराया, माथे पर तिलक-छाप लगाया, पुष्प की सुन्दर माला पहनाई, प्रदक्षिणा की तथा पाँव पर माथा टेक, अग्नि-संस्कार सम्पन्न किया। उसके बाद ही वह दिव्य तेजस्वी बालक कहीं अंतर्धान हो गया। तब सभी उपस्थित संतों को बोध हुआ कि महात्मा को तो कोई संतान ही नहीं थी, वे तो बालकृष्ण को अपना पुत्र मानते थे। भगवान् ने ही आकर इनका दाह-संस्कार किया है।

जिस भाव से भक्त ईश्वर का भजन करता है, वे उसे उसी भाव से अपनाते हैं।

००



अमितविभूति श्री बाबा की भाव-मुद्राएँ

दिव्य-दर्शन के कुछ विशिष्ट प्रकरण

१. टंडन जी को राजर्षि की उपाधि

ज्ञान-विज्ञान के पारंगत विद्वान्, ऋषि-ब्रह्मर्षि कहे जाते थे। राजनीति एवं राष्ट्रसेवा में लगे लोग राजर्षि के पद के अधिकारी होते थे। प्राचीन काल में यह मानद काम ऋषि-महर्षि ही करते थे। आधुनिक काल में राजनीति में रहते हुए भी महात्मा गाँधी जैसे महापुरुष, महाप्राण-महात्मा ही थे। इसी प्रकार श्री पुरुषोत्तम दास टंडन का चरित्र, ज्ञान, देशभक्ति तथा राष्ट्रनिष्ठा—सभी परम पवित्र थे। इस कारण अनेक उच्चाशय सुधी महानुभावों ने श्री बाबा से कृपा करके प्रार्थना की कि वे टण्डन जी को किसी मानद उपाधि से अलंकृत करें। श्री महाराज ने आदेश दिया कि सबकी यदि ऐसी इच्छा है तो वे पुरुषोत्तम दास टंडन जैसे तपस्वी-त्यागी राजनेता को सम्मानद उपाधि देंगे। तुम सब उन्हें यहाँ लिवा लाओ। प्रयाग जाकर लोगों ने टंडन जी को सूचित किया और वे श्री महाराज के करकमलों से, प्रसादस्वरूप मानद-उपाधि प्राप्त करने के लिए सहर्ष तैयार हो गये। उस समय पुरुषोत्तमदास जी कांग्रेस पार्टी के अध्यक्ष थे और कट्टर आदर्शवादी राजनीति के अगुआ माने जाते थे। टंडन जी का व्यक्तित्व श्रेष्ठ एवं निर्विवाद था। उन्हें हिन्दू, मुसलमान, सिख, ईसाई सभी समान रूप से आदर देते थे। नैतिकता, सदाचार, आदर्शवाद आदि उनके लक्ष्य बड़े ही उच्च थे। टंडन जी ने देवरिया, गोरखपुर आदि जनपदों का अपना कार्यक्रम बनाया और श्री महाराज जी के आश्रम पर आने की तिथि भी निश्चित हो गयी। लाखों लोग इस आयोजन को देखने के लिये सरयू तट पर उमड़ पड़े। टंडन जी जिस समय सरयू तट पर पहुँचे, उन्हें अपार जनसमुद्र चारों ओर दिखाई दिया। वह परम प्रसन्न थे। उपस्थित विद्वानों ने स्वस्तिवाचनपूर्वक वेद-ध्वनि की। महाराज जी ने उन्हें १५-४-४८ को राजर्षि पद से अलंकृत किया। चारों ओर से श्री महाराजजी की जय की ध्वनि होने लगी। तत्कालीन जगद्गुरु शंकराचार्य पद पर प्रतिष्ठित श्री ब्रह्मानन्द जी सरस्वती ने, जो श्री करपात्रीजी के गुरु थे, टंडन जी की उपाधि का भूरिश: अनुमोदन किया। लखनऊ में राजर्षि का अभिनन्दन करने वाले लोगों में तत्कालीन प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू भी थे।

इस प्रकार टंडन जी का सम्मान, राजनीति में आदर्श और नैतिकता का ही सम्मान बन गया। टंडन जी सर्वत्र राजर्षि के रूप में ही प्रसिद्ध हो गये।

२. श्री बाबा द्वारा जगद्गुरु की उपाधि

सन् १९५४ का कुम्भ मेला कई दृष्टियों से अपनी पृथक् महत्ता रखता था। कई वर्षों के अवरोध, आग्रह के बाद श्री बाबा पहले-पहल तीर्थराज प्रयाग में कुम्भ मेले के अवसर पर उस वर्ष पधारे थे। श्री बाबा कुम्भ मेला में आ रहे हैं, यह समाचार बड़े ही औत्सुक्य और आनन्द का विषय बन गया था। लोग चाहते थे कि श्री बाबा को कुम्भ मेला में महती शोभा-यात्रा और राजकीय सम्मान के साथ लाया जाय। देशरत्न डॉ० राजेन्द्रप्रसाद, उत्तर प्रदेश के तत्कालीन राज्यपाल कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी, डॉ० सम्पूर्णानन्द, श्री लालबहादुर शास्त्री, श्री चन्द्रभानु गुप्त आदि भी श्री महाराज जी के स्वागत में उत्सुकता प्रकट कर रहे थे। श्री बाबा का मंच झूसी की ओर दारागंज के पीपा पुल से ऊपर की ओर गंगाजी में निर्मित था। किंतु सहसा लोगों ने देखा कि किसी को सूचना भी नहीं हुई और बाबा मंच पर विराजमान हैं। स्वागत की सारी तैयारी बेकार हो गयी, किन्तु महाराज जी के पधारने का समाचार तुरन्त मेले भर में फैल गया। झुंड-के-झुंड लोग दर्शनों में आने लगे।

इस अवसर पर जो महत्वपूर्ण कार्य श्री बाबा के माध्यम से सम्पन्न हुए, वे निश्चय ही ऐतिहासिक महत्व रखते हैं। इसी अवसर पर राजर्षि पुरुषोत्तम दास टंडन के भारतीय संस्कृति सम्मेलन का उद्घाटन भी होना था, जिसमें देशरत्न डॉ० राजेन्द्रप्रसाद जी को श्री महाराज जी का शुभ आशीर्वाद भी दिया जाना था। लगभग ५०० छात्राओं ने शंखध्वनि करके इस सम्मेलन का मंगलगान प्रस्तुत किया, तदनन्तर डॉ० राजेन्द्रप्रसाद श्री महाराज जी का पूजन करने के लिए उनके मंच के पास पधारे। श्री महाराज जी के विधिवत् पूजन के बाद, जब राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्रप्रसाद को उन्होंने आशीर्वाद दिया तो गगनस्पर्शी जय-जयकार के घोष से सारा वातावरण आप्लुत हो गया। बड़े ही समारोह के साथ यह कार्य सम्पन्न हुआ।

इसके बाद और भी कितने ही समारोह श्री महाराज जी के शुभाशीर्वाद से सम्पन्न हुए। इसी सिलसिले में श्री-वैष्णव सम्मेलन का भी अपना पृथक् महत्त्व था। मूर्धन्य श्री-वैष्णव संत श्री स्वामी वीर राघवाचार्य जी महाराज तथा प्राय: उत्तर भारत के समस्त श्री-वैष्णव संत-महात्मा वहाँ उपस्थित थे और सबका आग्रह था कि इस समारोह में योगीश्वर श्री देवराहा बाबा जी महाराज दर्शन दें और तदनुसार श्री महाराज सचमुच ही इस सम्मेलन में पधारे।

इसी सम्मेलन में गोवर्धन पीठ, वृन्दावन के वैष्णवाचार्य स्वामी रघुनाथाचार्य जी को जगद्गुरु श्रीरामानुजाचार्य जी के महनीय पद पर अभिषिक्त करना था। श्री महाराज के द्वारा ही यह कार्य होना चाहिए, ऐसा लोगों का आग्रह था। परिणामस्वरूप श्री बाबा इस सम्मेलन में भी पधारे। श्री-वैष्णवों का अपार आनन्द और अद्भुत स्वागत अकथनीय था। श्री महाराज जी का पूजन विधिवत् सम्पन्न हुआ। तदनन्तर श्री स्वामी रघुनाथाचार्य जी को जगद्गुरु श्रीरामानुजाचार्य पद पर श्री बाबा ने अभिषिक्त किया।

जगद्गुरु श्रीस्वामी रघुनाथाचार्यजी का अपना विशिष्ट महत्त्व है। इनके शिष्यों की संख्या पूरे भारत में कई लाख है। इनका व्यक्तित्त्व बड़ा ही आकर्षक और तपोमय है। श्री महाराज जी के द्वारा इनको यह पद प्रदान किये जाने से उसमें और भी निखार आ गया और इन्होंने धर्म और संस्कृति की सेवा के साथ-साथ श्री-वैष्णवता की महती अभिवृद्धि की।

३. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर को 'ब्रह्मर्षि' उपाधि

श्री महाराज जी का पावन तप:स्थल, जो कि अब श्री देवराहा बाबा आश्रम के नाम से विश्व-प्रसिद्ध हो चुका है, सरयू तट पर एकान्त में अवस्थित है। यहाँ श्री महाराज जी के दर्शन के अतिरिक्त और किसी भी प्रकार का कोलाहल नहीं रहता। परन्तु १९६२ का वर्ष इस दृष्टि से अपवाद स्वरूप ही माना जायगा, जबकि विश्व भर के

विद्वान्, विचारक, जननेता, प्रशासक तथा अधिकारीगण यहाँ पहुँचने लगे और जनता की अपार भीड़ सहसा यहाँ उमड़ पड़ी। इस स्थान पर उस वर्ष बड़े ही महत्त्वपूर्ण आयोजन चल रहे थे।

आश्रम पर श्री राधेश्याम मंदिर की प्रतिष्ठा का महोत्सव और उसके उपलक्ष्य में होने वाला यज्ञ, अपना पृथक् ही महत्त्व रखता था। इसके अतिरिक्त श्री मदनमोहन मालवीय के जन्मशती-महोत्सव में विश्व भर से अनेक विद्वान् आये हुए थे और इसी समय वेद के विचक्षण विद्वान् महामनीषी श्रीपाद दामोदर सातवलेकर जी का शुभागमन आश्रम में हुआ। वैदिक ग्रन्थों के शोध तथा प्रामाणिक भाष्य-रचना के द्वारा श्रीपाद दामोदर जी देश के विद्वानों में अपना अद्वितीय स्थान बना चुके थे। १०५ वर्ष की दीर्घायु में अपना पार्थिव शरीर छोड़ने वाले ये मनीषी विद्वान्, जीवन-भर उद्घोष करते थे कि मैं वैदिक पद्धति से अपना जीवन बिताकर शतंजीवी होने का उदाहरण प्रस्तुत करना चाहता हूँ और उन्होंने सचमुच यह प्रत्यक्ष प्रमाणित भी कर दिया। उस समय देश के ऐसे महाविद्वान् का समागम देश के ही सर्वोच्च आध्यात्मिक तत्त्ववेत्ता ब्रह्मर्षि श्री देवराहा बाबा जी महाराज से हो रहा था, जो इनके वैदुष्य से पूर्णत: प्रसन्न थे। इसी उपक्रम में श्री महाराजजी ने इन्हें 'ब्रह्मर्षि' की महनीय उपाधि से विभूषित किया। श्री सालवलेकर जी इस कृपा से अभिभूत हुए और इस सम्बन्ध में जो उन्होंने अपने उद्गार प्रकट किये, वे बड़े ही हृदयस्पर्शी थे। उन्होंने कहा—'मैं अपनी दीर्घायु में देश-भर में सुप्रसिद्ध साधु, महात्मा, योगियों के सान्निध्य में आया हूँ। आजतक योगिराज श्री देवराहा बाबा जी महाराज का नाम केवल सुनता ही था, आज प्रत्यक्ष आकर दर्शन प्राप्त कर, अभूतपूर्व आनन्द एवं गौरव अनुभव कर रहा हूँ। मेरा जीवन वैदिक मंत्रों के अनुसंधान में अवश्य लगा था परन्तु वेद के साक्षात्कर्ता ऋषियों के दर्शन नहीं कर पाया था। आज मैं ऐसे महापुरुष के सम्मुख हूँ, जो वैदिक ऋषियों की गरिमा से मंडित हैं। अत: अपने आपको मैं धन्य अनुभव करता हूँ।'

४. विश्व संस्कृत सम्मेलन और श्री बाबा

१९६५ के कुम्भ के अवसर पर गंगा-यमुना के संगम स्थल पर विश्व संस्कृत सम्मेलन का आयोजन हुआ। इस विराट् संस्कृत सम्मेलन के अध्यक्ष ने श्री देवराहा बाबा से सम्मेलन में उपस्थित होकर आशीर्वचन कहने की प्रार्थना बहुत अनुनयपूर्वक की थी, जिसे श्री बाबा ने स्वीकार किया था।

२० फरवरी, १९६५ को निर्दिष्ट समय पर पधार कर श्री बाबा ने उस पुण्यभूमि को सुशोभित किया। 'श्री हरि स्मरणम्' के साथ अमृतवाणी आरम्भ हुई। चारों वेद, स्मृति, दर्शन, १८ पुराण, उपनिषद्, पाणिनीय्य व्याकरण, मुख्य शास्त्रों और काव्यरत्नों के कतिपय अंश उद्धृत करते हुए, श्री बाबा ने संस्कृत भाषा की महत्ता स्पष्ट की। कहा—'वेद आदि सकल शास्त्रों की संस्कृत ही कुंजी है, संस्कृत भाषा को अपनाने से ही सारे ज्ञान का मार्ग सुगम हो सकता है। जब श्री बाबा ने सामवेद के एक अध्याय के कुछ मंत्रों का उल्लेख किया, तब विद्वान् श्रोतागण श्रद्धा-विनत हुए क्योंकि अध्ययन-सागर के ऐसे रत्न, वर्ष-वर्षान्तर मनन-चिन्तन के बाद भी दुर्लभ बने रहते हैं।'

महाराज ने ब्रह्मचर्य पर प्रकाश डालते हुए उपदेश किया कि ब्रह्मचर्य से ही ब्रह्मरन्ध्र में सहस्रदल पर स्थित, कोटि सूर्य के प्रकाश सदृश ब्रह्मज्योति का दर्शन संभव है।

५. अखण्ड श्रीरामज्योति का प्रज्ज्वलन

श्री बाबा के द्वारा अनन्त कल्याणकारी कार्यों में से अखण्ड श्रीराम ज्योति का प्रज्ज्वलन भी एक अत्यन्त लोकोपकारी कार्य है। यह संस्कृति में एक नवीन अध्याय के समान महत्त्वपूर्ण है। देश में श्री रामचरित मानस की चतुश्शती का आयोजन बड़े ही धूमधाम से चल रहा था। विदेशों में भी लोग श्रीरामचरित मानस की चतुश्शती मना रहे थे। परन्तु मानस के सम्बन्ध में मनाये जाने वाले ये उत्सव, मात्र परम्परा का निर्वाह करते नजर आ रहे थे। इनके द्वारा स्थायी रूप से जनमानस निर्माण करने के सम्बन्ध में, कोई प्रभाव नहीं हो रहा था।

'अखण्ड श्रीरामज्योति' एक भावपूर्ण, प्रेरणा प्रदान करने वाली सुन्दर प्रतिमा के रूप में विराजमान है। पांच फुट ऊँचा एक छोटा रजत-मण्डप बनाया गया, जिसके बीच में गोस्वामी तुलसीदास जी की प्रतिमा विराजमान है। इसी प्रतिमा के हाथ में यह ज्ञान-विज्ञान और संस्कृति के प्रतीक स्वरूप दीपक प्रज्ज्वलित किया गया है। उसी दीप का प्रज्ज्वालन श्री बाबा ने ५ फरवरी, १९७३ को तीर्थराज प्रयाग में किया। दीपक के समक्ष अखण्ड श्रीरामचरित मानस का पाठ भी निरन्तर चलता रहे, इसकी व्यवस्था की गयी है। यह कार्य लोकहित में और भी प्रशस्त बन जाता है, जबकि इसे स्थान-स्थान पर ले जाकर जगह-जगह लोगों में धर्म, संस्कृति और भगवद्भक्ति का पवित्र संदेश पहुँचाने की चेष्टा की जाती है। अभी तक देश के सैकड़ों स्थानों में यह ज्योति प्रकाश कर चुकी है और इसकी यात्रा निरंतर जारी रहेगी। चार धामों की यात्रा का कार्यक्रम लेकर यह दिव्य ज्योति, मार्ग में अनेक स्थानों पर धार्मिक आयोजन द्वारा श्री रामचरित मानस के आदर्शों की स्थापना कर रही है।

६. श्रीलक्ष्मीनारायण महायज्ञ

अनन्त श्रीविभूषित योगिराज देवराहा बाबा के पूज्य विग्रह की प्राण-प्रतिष्ठा के परम पुनीत अवसर पर दिनांक १७ जून, १९७५ से २३ जून, १९७५ ई० तदनुसार वि० ८। ९ ज्येष्ठ शुक्ल २०३२ से ज्येष्ठ पूर्णिमा तक श्री महाराज जी के लाररोड (देवरिया, उ०प्र०) निकटस्थ सरयू तटवर्ती आश्रम के समीप सुविशाल लक्ष्मीनारायण महायज्ञ सम्पन्न हुआ।

महायज्ञ का तीन स्तरों में बना बांस और फूस का मंडप बड़ा ही भव्य दिखता था। इसके नीचे लगभग दो हाथ ऊँची तथा ३२ हाथ की लम्बाई-चौड़ाई वाली वर्गाकार वेदी स्थित थी। चारों ओर बांस के मेहराबदार घेरे थे, जिनमें श्रोताओं के आने-जाने के लिए द्वार बने हुए थे। पूरे यज्ञ-मंडप को बड़े सुरुचिपूर्ण ढ़ंग से सजाया गया था। वेदी के चतुर्दिक दसों अवतारों की सुन्दर मूर्तियाँ स्थापित थीं। बीचों-बीच ऊँची प्रधान वेदी थी, जहाँ चक्राब्ज-मण्डल पर मुख्य यज्ञ-कलश धरा था। उसके सम्मुख श्री लक्ष्मीनारायण के दिव्य युगल विग्रह थे। वेदी पर हवन के आठ कुण्ड बने थे, जो विभिन्न आकारों के थे तथा उनके आहूत देवता भी भिन्न थे—

—पूर्व में चतुरश्र (चौकोर) कुण्ड—आहूत देवता श्री वासुदेव।

—आग्नेयकोण (दक्षिण-पूर्व) में योनिकुण्ड—देवता श्री पुरुष।

—दक्षिण में अर्द्धचन्द्रकुण्ड—देवता श्री संकर्षण।

—नैर्ऋत्यकोण में (दक्षिण-पश्चिम) त्रिकोण कुण्ड—देवता श्री सत्य।

—पश्चिम में वृतकुण्ड—देवता श्री प्रद्युम्न और श्री महालक्ष्मी।

—वायव्यकोण (पश्चिमोत्तर) में षट्कोण कुण्ड—देवता श्री अच्युत।

—उत्तर में पद्मकुण्ड—देवता श्री अनिरुद्ध।

—ईशान कोण (पूर्वोत्तर) में अष्टाश्र कुण्ड—देवता श्री अनन्त।

महायज्ञ पांचरात्र विधि से सम्पन्न हुआ, जो विशुद्ध वैष्णव पद्धति है। इसमें दक्षिण भारत के अनेक गणमान्य पंडित योग देने के लिए आमंत्रित हुए। उनके अतिरिक्त वाराणसी के ३६ और अनेक स्थानीय पंडित भी थे। इस प्रकार विशेषतः यज्ञ की विभिन्न विधियों में भाग लेने वाले पंडितों की कुल संख्या लगभग ७५ थी, जिसमें अनेक अपने-अपने विषय के उद्भट विद्वान् थे।

यज्ञ में अनेक विद्वानों एवं सुधी महात्माओं की प्रवचन-सभा, ९ दिनों तक लगातार चलती रही। आयोजन एक विशाल पंडाल में हुआ, जिसमें लगभग ५० हजार श्रोताओं के बैठने का स्थान था। प्रवचन-सभा पूर्वाह्न एवं संध्या समय चलती थी।

७. हरिद्वार में गजेन्द्र रक्षा

१९६२ के कुम्भ में श्री बाबा हरिद्वार में विराजमान थे। मेले में वैष्णव खालसा के महन्त का हाथी मदान्ध हो उठा था। सभी भयभीत हो गये। मेले के पुलिस अधीक्षक ने विवश होकर, मेरठ वटालियन के सूबेदार को, दूसरे दिन आठ बजे सुबह हाथी को गोली मार देने का आदेश दिया। सूबेदार को भारी चिन्ता हो गयी कि कुम्भ जैसे पावन पर्व के अवसर पर, हरिद्वार क्षेत्र में एक हाथी की हत्या का पाप उसे करना पड़ेगा। वह श्री बाबा के निकट आया और बोला—महाराज, कुम्भ में सभी पुण्य के लिए आते हैं, किन्तु मुझे हत्या करने का आदेश हुआ है। एक हाथी पागल हो गया है, उसी को मारना है। कर्त्तव्यपालन की बात है। क्या करूँ? मन में बड़ा विक्षोभ मालूम हो रहा है। बाबा ने कहा—वह हाथी तो बड़ा ही पुण्यात्मा है, उसे कैसे मारोगे?

सूबेदार ने उत्तर दिया—महाराज, मैं उसे नहीं भी मारूँ तो कोई दूसरा मारेगा ही, हाकिम का हुक्म है।

श्री बाबा ने कहा—अच्छा तो मैं हाकिम के हुक्म को रद्द करने का ही उपाय किये देता हूँ। प्रसाद के ये आम लो, इतना तुम्हारे लिए और यह तुम्हारे हाकिम के लिए है। उन्हें जाकर प्रसाद दो और कहो कि बाबा ने दर्शन में अभी ही बुलाया है और यह प्रसाद है, हाथी के लिए। उसके निकट जाकर अपने हाथ से उसे प्रसाद खिलाना।

सूबेदार को चिन्ता हुई कि हाथी तो बिगड़ा हुआ है, उसे अपने हाथ से प्रसाद खिलाना कैसे सम्भव होगा? बाबा ने कहा—चिन्ता की कोई बात नहीं, उसे जाकर पहले दंडवत् करना, वह तुम्हें आशीर्वाद देगा, तुम उसे प्रेम से प्रसाद खिलाना और कहना कि मैंने प्रसाद विशेषतः उसी के लिए भेजा है। वह बहुत स्नेह से प्रसाद ग्रहण करेगा। निश्चिन्त रहो।

सूबेदार ने जाकर पहले हाकिम को प्रसाद दिया और महाराज का आदेश उन्हें बताया। हाकिम तुरन्त अपनी गाड़ी पर बाबा के दर्शन में पहुँचे। श्री बाबा ने कहा—हाथी अब शान्त हो जायगा। उसको मैंने सूबेदार के द्वारा प्रसाद भेजा है और कह दिया है कि प्रसाद के आम उसे अपने हाथ से खिलाना। हाथी को अब गोली मारने की आवश्यकता नहीं।

हाकिम ने कृतज्ञता प्रकट की और कहा—अब जब महाराज जी की ऐसी कृपा हो गयी है तो निश्चय ही हम हिंसा से बच जायंगे।

उधर जब सूबेदार हाथी को प्रसाद खिलाने गया तो आदेशानुसार पहले हाथी की अभ्यर्थना की और प्रसाद के फल हाथ में लेकर खड़ा हो गया। हाथी ने सूँड़ उठाकर आशीर्वाद दिया और फिर बड़े स्नेह से हाथ से प्रसाद लेकर खाया। इसके बाद सूबेदार की जेब की ओर जब हाथी ने सूँड़ बढ़ायी तो उसने गिड़गिड़ाकर कहा—यह प्रसाद तो मेरे हिस्से का है भाई।

हाथी ने सूँड़ वापस कर ली। इस प्रकार हाथी का पागलपन जाता रहा और उसकी जान बच गयी। अधिकारियों का संकट भी टल गया। बाद में उस हाथी को आगे रखकर लोगों ने जुलूस निकाला और बाबा की जय-जयकार की।

८. पशु प्रकृति का परिवर्तन

श्री बाबा के सरयू-तटवर्ती आश्रम के समीप नरियाँव ग्राम में, एक भैंसा बावला होकर खूनी बन गया। किसी अच्छे पोशाक वाले को यदि वह देख लेता था तो अकारण ही उसके पीछे पड़ जाता था और उसे पटक देता था। इसकी शिकायत लार के तत्कालीन सरकारी अधिकारियों को दी गयी। उन्होंने उस भैंसे को गोली मार देने का आदेश स्थानीय दारोगा को दिया। भैंसे को मारने के लिए लोगों की भीड़ के साथ दारोगा अपनी बन्दूक लेकर पहुँचे। भैंसा भागा-भागा श्री बाबा के मंच के समीप पहुँचा और वहीं खड़ा हो गया। पीछे-पीछे लोगों की भीड़ थी और बन्दूक से लैस दारोगा थे। पूज्य बाबा को जब मालूम हुआ कि दारोगा भैंसे को मारने आये हैं तो उन्होंने दारोगा को बुलाकर कहा—भक्त, तुम वापस जाओ, यह भैंसा मेरी शरण में आ गया है, अब किसी को भी यह नहीं मारेगा। जाकर अपने अफसर से कह देना कि बाबा ने यह कहा है और मारने से मना कर दिया है। ऐसा ही हुआ। तब से भैंसे में आश्चर्यजनक परिवर्तन हुआ। वह बिल्कुल शांत हो गया। किसी पर आक्रमण करने की उसकी आदत सर्वथा छूट गयी।

पूज्य बाबा के आश्रम के समीप ही नदी में एक घड़ियाल आ गया। कुछ नाविकों को जब इसका पता चला तो चरवाहों की राय से उन्होंने वहाँ जाल लगा दिया। संयोगवश जाल में घड़ियाल पकड़ा भी गया। घड़ियाल को रस्सी में बाँधकर आसपास के गाँवों में तमाशा दिखाने के लिए वे नाविक उसको खींच-खींच कर ले जाने लगे। घड़ियाल मृतप्राय हो गया। इसकी सूचना जब बाबा को मिली तो उन लोगों को उन्होंने बुलवाया और घड़ियाल का बन्धन खुलवा कर उसे सम्बोधित करते हुए कहा—'तुम अब मुक्त हो गये, चाहो तो पानी में चले जाओ।' बाबा की वाणी सुनते ही घड़ियाल में तत्क्षण चेतना आ गयी और वह सरकते-सरकते पानी में चला गया। उसके बाद बहुत वर्षों तक वह घड़ियाल पूज्य बाबा के मंच के सामने उनके दर्शन हेतु निकलता था, मानो उसके पूर्व जन्मों के सारे संस्कार जाग्रत हो गये हों और वह मुक्ति के लिए आतुर हो।

॥ श्रीकृष्णार्पणमस्तु ॥

ब्रह्मर्षि योगिराज श्रीदेवराहा बाबा सरकार की जय



